श्रीकेशवमिश्र प्रणीता

तर्कभाषा

हिन्दी व्याख्या सहित

व्याख्याकार
श्री बदरीनाथ शुक्लः
वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालये
न्यायवैशेषिकविभागस्य
प्राध्यापकः अध्यक्षश्च

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: पटना :: वाराणसी

प्रस्तुत ग्रंथ न्याय और वैशेषिक दर्शन के प्रतिपाद्य विषयों का ज्ञान कराने वाली अपने ढंग की अनुपम कृति है। अकेले इसके अध्ययन से दोनों शास्त्रों का समीचीन परिचय प्राप्त हो जाता है। इसके पूर्व जितनी भी व्याख्याएं हैं वे सब अनेक स्थानों में अपूर्ण एवं अपर्याप्त हैं, मूल ग्रंथ में ऐसे कई स्थल हैं जिनका यथेष्ट मर्मज्ञान उन व्याख्याग्रंथों से नहीं हो पाता। इन्हीं सभी अभावों को दूर करने के लिए प्रस्तुत व्याख्या तैयार की गई है। इसमें यथास्थान मूल ग्रंथ के प्रत्येक स्थल का पर्याप्त स्पष्टीकरण किया गया है और यथापेक्ष कुछ विस्तृत विवेचन तथा अनेकत्र अनेक विषयों के सम्बन्ध में अन्य दर्शनों के दृष्टिकोण का सन्निवेश किया गया है। इस बात का पूरा प्रयत्न किया गया है कि प्रतिपाद्य विषय का विशद विवेचन हो किन्तु विशदीकरण के प्रयास में वह भाषाशैथिल्य न आने पाए जिसके कारण बहुधा आधुनिक व्याख्याग्रंथों में अनजाने विषय-संबंधी त्रुटियां स्थान पा जाती हैं।

मूल्य १०-००

श्रीकेशवमिश्रप्रणीता

तर्कभाषा

हिन्दीव्याख्यासहिता

व्याख्याकारः

श्रीबदरीनाथशुक्लः

वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालये

न्यायवैशेषिकविभागस्य

प्राध्यापकः अध्यक्षश्च

प्रकाशक :

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली : वाराणसी : पटना :

मो ती ला ल ब ना र सी दा स
चौक, वाराणसी
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
अशोक राजपथ, पटना (बिहार)

प्रथम संस्करण १९६८
मूल्य—१० रु.

श्री सुन्दर लाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, चौक, वाराणसी, द्वारा प्रकाशित तथा मोहनलाल, केशव मुद्रणालय, पाण्डेपुर पिसनहरिया, वाराणसी, द्वारा मुद्रित।

PREFACE

The Tarkabhāṣā of Keśavamiśra is a useful manual of Navya-Nyāya. It is indeed a fact that almost every important branch of philosophical literature in Sanskrit which was written after Gaṅgeśa Upādhyāya had composed his magnum opus, the Tattvacintāmaṇi, cannot be understood and appreciated unless the reader is acquainted with the techincal terms and expressions of neo-logic. It is, therefore, that writers of the Nyāya-Vaiśeṣika school felt it necessary to compose short treatises which would enable the beginner to equip himself with the knowledge of the technical terms of Navya-Nyāya and their meanings. Keśavamiśra's Tarkabhāṣā is one such endeavour which is popular among our teachers and students of neo-logic. The usefulness of this Nyāya text has been widely recognised and it has found a place in the curriculum of study in Sanskrit examinations held in different parts of our country.

In this context an edition of this text is a desideratum and particularly so, if it be accompanied by a commentary in one of our regional languages. The present edition of the Tarkabhāṣā contains a commentary in lucid Hindi by one of our front-rank Naiyāyikas of the day Pandit Badri Nath Śukla, Professor and Head of the Department of Nyāya at Varaṇseya Sanskrit University. It is indeed very gratifying to note that the scholar has taken adequate pains to elucidate the text with as much clarity as possible. He has discussed the derivation of almost all the important technical terms to show how their meanings are to be found out. At places he has also demonstrated how the deeper implications of this text are to be studied. To cite an example, even the ordinary student

of Sanskrit knows that a definition must be free from the three defects of avyāpti, ativyāpti and asambhava. But he is to answer which particular fallacy of reasoning is involved if any definition suffers from any one of these three defects. Thus he must know that in the case of avyāpti, the hetu is bhāgāsiddha, in the case of ativyāpti it is vyabhicāri, while in the case of asambhava it is svarupāsiddha. The learned author, I am confident, has done a distinct service to our present-day teachers and studeuts of Indian philosophy in general and of Navya-Nyāya in particular by writing fairly exhaustive comments on a subject which is difficult to grasp. It is expected that scholars who would read them would be able to understand the cardinal and more obstruse texts of Indian philosophy.

I wish the edition will receive wide appreciation from those for whom it is intended.

Gaurinath Śastri
Vice-chancellor,
Varaṇaseya Sanskrit University,
Varaṇasi.

August 20, 1968

प्रस्तावना

भारतवर्ष संसार के सभ्य देशों में सबसे प्राचीन और सब में अग्रगण्य है। उसका 'भारत' यह नाम जहाँ एक ओर 'भरतस्य इदम्—महाराज भरत द्वारा संगठित-उनकी नीतियों पर परिचालित राष्ट्र' के अर्थ में अन्वर्थ है, वहीं दूसरी ओर 'भा-ज्ञान में, रत-सँल्लग्न तत्त्वज्ञान के अर्जन में निरन्तर व्यापृत' इस अर्थ में भी अन्वर्थ है। उसकी पहली अन्वर्थता उसके उस प्राचीनतम वैज्ञानिक समाजरचना से प्रमाणित होती है जो वर्णाश्रमव्यवस्था के नाम से चिरविदित है और जो आज भौतिक विज्ञान के उत्कर्ष के इस मध्याह्न काल में भी अपना शिर उठाए हुए है और दूसरी अन्वर्थता इस राष्ट्र के विद्याप्रेमी सज्जनों की उस चिरन्तन ज्ञानसाधना से प्रमाणित होती है जिसके फलस्वरूप संस्कृत भाषा के माध्यम से उच्च कोटि के अनेकों शास्त्र आज भी हमें उपलब्ध हो रहे हैं। ऐसे शास्त्रों में, ऐसी विद्याओं में 'आन्वीक्षिकी' का स्थान सर्वप्रथम है। उसके बारे में न्यायदर्शन, प्रथमसूत्र के वात्स्यायनभाष्य में उद्धृत यह उक्ति सर्वथा सत्य है—

> प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
> आश्रयः सर्वधर्माणां सेयमान्वीक्षिकी मता ।।

आन्वीक्षिकी सम्पूर्ण विद्याओं का प्रकाशक, समस्त कर्मों का साधक और समग्र धर्मों का आश्रय है।

आन्वीक्षिकी--

'आन्वीक्षिकी' का अर्थ है प्रत्यक्षदृष्ट तथा शास्त्रश्रुत विषयों के तात्त्विक स्वरूप को अवगत कराने वाली विद्या। इस विद्या का ही नाम है न्यायविद्या वा न्यायशास्त्र। जैसा कि वात्स्यायन ने कहा है —

प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणमन्वीक्षा। तथा प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी--न्यायविद्या--'न्यायशास्त्रम्' (न्यायभाष्य १ सूत्र)

आन्वीक्षिकी में स्वयं न्याय का तथा न्याय की प्रणाली से अन्य विषयों का प्रतिपादन होने से उसे न्यायविद्या वा न्यायशास्त्र कहा जाता है।

इसे यत्र तत्र हेतुविद्या, हेतुशास्त्र, तर्कशास्त्र आदि अन्यान्य नामों से भी व्यवहृत किया गया है।

न्याय—

'न्याय' विचार की उस प्रणाली का नाम है जिसमें वस्तु-तत्त्व के निर्धारणार्थ सभी प्रमाणों का उपयोग किया जाता है। वात्स्यायन ने **'प्रमाणैः अर्थपरीक्षणं न्यायः'** (न्या. भा. १ सू.) कह कर यही मत व्यक्त किया है।

'न्याय' शब्द से उन वाक्यों के समुदाय को भी अभिहित किया जाता है जो अन्य पुरुष को अनुमान के माध्यम से किसी विषय का बोध कराने के उद्देश्य से प्रयुक्त किये जाते हैं। वात्स्यायन ने उसे 'परमन्याय' कह कर वाद, जल्प, वितण्डारूप विचारों का मूल एवं तत्त्वनिर्णय का आधार बताया है। जैसे—

'साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते, तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्यावयवा उच्यन्ते। तेषु प्रमाणसमवायः आगमः प्रतिज्ञा, हेतुरनुमानम्, उदाहरणं प्रत्यक्षम्, उपमानमुपमानम्, सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति। सोऽयं परमो न्याय इति। एतेन वादजल्पवितण्डाः प्रवर्तन्ते, नातोऽन्यथेति। तदाश्रया च तत्त्वव्यवस्था।

(न्या० भा० १ सू०)

जिस अर्थ का साधन करना अभीष्ट है उसकी सिद्धि जिस वाक्यसमूह का प्रयोग करने पर सम्पन्न होती है, प्रतिज्ञा आदि पांच वाक्य उस वाक्यसमूह-न्यायवाक्य के अवयव कहे जाते हैं। उन वाक्यों में सभी प्रमाणों का समावेश होता है। जैसे प्रतिज्ञा में शब्द प्रमाण का; 'हेतु' में अनुमान प्रमाण का; 'उदाहरण' में प्रत्यक्ष प्रमाण का और 'उपनय' में उपमान प्रमाण का। 'निगमन' से एक अर्थ के साधन में सभी प्रमाणों के योगदान का प्रदर्शन होता है। यह शब्दसमूह 'परमन्याय' है। इसी के द्वारा वाद, जल्प, वितण्डात्मक कथायें की जाती हैं। इसके विना वाद आदि कथायें सम्भव ही नहीं हो सकतीं। तत्त्वनिर्णय भी इसी पर आश्रित होता है।

न्यायशास्त्र के भेद—

भारत के दार्शनिक वाङ्मय में न्यायशास्त्र के दो भेद माने गये हैं। वैदिक न्याय और अवैदिक न्याय। वैदिकन्याय को आधुनिक ऐतिहासिकों ने 'ब्राह्मणन्याय' की संज्ञा दे रखी है। यह न्याय गौतमीय न्याय, काणाद न्याय, कापिल न्याय, पातञ्जल न्याय, जैमिनीय न्याय और वैयासिक न्याय के रूप में पल्लवित और पुष्पित हुआ है। इन सभी न्यायों में गौतमीय न्याय ही अपने स्वरूप और विषय के विस्तार तथा अपनी गरिमा और गभीरता के कारण 'न्यायशास्त्र' के गौरवपूर्ण नाम से अभिहित होता है। अवैदिक न्याय के दो भेद हैं—बौद्धन्याय और जैनन्याय, जिनकी चर्चा बाद में की जायगी।

न्यायशास्त्र के प्रवर्तक गौतम मुनि ने 'निःश्रेयस-मोक्ष' को ही उस शास्त्र का

प्रयोजन माना है और उसे प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से साध्य बताया है। यथा—

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प वितण्डा, हेत्वाभास, च्छल, जाति, निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। (न्या० द० १।१।१)

मुनि का अभिप्राय यह है कि न्यायशास्त्र के अध्ययन से पदार्थों का तत्त्वज्ञान होता है और उससे आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। उसका क्रम यह है—

तत्त्वसाक्षात्कार से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति; मिथ्याज्ञान की निवृत्ति से राग, द्वेष, मोहरूप दोषों की निवृत्ति; दोषों की निवृत्ति से धर्म एवं अधर्मरूप प्रवृत्ति की निवृत्ति; प्रवृत्ति की निवृत्ति से पुनर्जन्म की निवृत्ति और पुनर्जन्म की निवृत्ति से समस्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्तिरूप अपवर्ग-निःश्रेयस-मोक्ष की प्राप्ति। यथा—

'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः' (न्या० द० १।१।२)

न्यायशास्त्र का आद्य ग्रन्थ है 'न्यायसूत्र'। जिसे न्यायदर्शन भी कहा जाता है। यह महर्षि गौतम की अपनी रचना है जो जगत् की विविध यातनावों से पीड़ित प्राणिवर्ग के कल्याणार्थ की गई है। जैसा कि गङ्गेशोपाध्याय ने अपने 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थ के आरम्भ में कहा है—

'अथ जगदेव दुःखपङ्कनिमग्नमुद्दिधीर्षुः अष्टादशविद्यास्थानेष्वभ्यर्हिततमामान्वीक्षिकीं परमकारुणिको मुनिः प्रणिनाय'।

न्यायदर्शन में कुल पाँच अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। प्रथम अध्याय में ग्यारह प्रकरण, एकसठसूत्र; द्वितीय अध्याय में तेरह प्रकरण, एक सौ तैंतीस सूत्र; तृतीय अध्याय में सोलह प्रकरण एक सौ पैंतालीस सूत्र; चतुर्थ अध्याय में बीस प्रकरण, एक सौ अठारह सूत्र और पञ्चम अध्याय में चौबीस प्रकरण, सड़सठ सूत्र हैं। इस प्रकार न्यायदर्शन के ५२८ सूत्रों में प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का विशद वर्णन किया गया है।

दो धारायें—

गौतमप्रणीत वैदिक न्यायशास्त्र के समग्र वाङ्मय को दो धारावों में विभक्त किया जा सकता है- प्रमेयप्रधान और प्रमाणप्रधान। जिसमें प्रमेय के प्रतिपादन की प्रधानता होती है उसे प्रमेयप्रधान और जिसमें प्रमाण के प्रतिपादन की

प्रधानता होती है उसे प्रमाणप्रधान कहा जाता है। गौतम से गङ्गेशोपाध्याय के पूर्व तक के न्यायविद् विद्वानों की कृतियां प्रमेयप्रधान हैं और गङ्गेशोपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि तथा उस पर आधारित परवर्ती विद्वानों की समग्र कृतियाँ प्रमाणप्रधान हैं। प्रमेयप्रधान ग्रन्थराशि को प्राचीनन्याय तथा प्रमाणप्रधान ग्रन्थराशि को नव्यन्याय कहा जाता है।

'न्यायदर्शन' में प्रमेय के प्रतिपादन की प्रधानता है, प्रमाण के प्रतिपादन की प्रधानता नहीं है, क्योंकि पाँच अध्यायों के 'न्यायदर्शन' के थोड़े ही सूत्र प्रमाण के प्रतिपादन में विनियुक्त हैं। जैसे प्रथम अध्याय, प्रथम आह्निक, प्रमाण-लक्षण–प्रकरण के ६; द्वितीय अध्याय, प्रथम आह्निक, प्रमाणसामान्यपरीक्षा-प्रकरण के १३; प्रत्यक्षपरीक्षा–प्रकरण के १२; अनुमानपरीक्षा–प्रकरण के २; उपमान–परीक्षा–प्रकरण के ५; शब्दसामान्यपरीक्षा–प्रकरण के ८; शब्दविशेषपरीक्षा-प्रकरण के १२ तथा द्वितीय अध्याय, द्वितीय आह्निक, प्रमाणचतुष्ट्वपरीक्षा-प्रकरण के १२ सूत्र। इस प्रकार 'न्यायदर्शन' के ५२८ सूत्रों में केवल ७० सूत्रों में ही प्रमाण का प्रतिपादन किया गया है। अन्य समस्त सूत्रों में आत्मा आदि १२ प्रमेय तथा उनके किसी प्रभेद में अन्तर्भूत होने वाले पदार्थों का प्रतिपादन है। अतः प्रमेय के प्रतिपादन की प्रधानता के कारण 'न्यायदर्शन' प्रमेयप्रधान ग्रन्थ है। इस मूलग्रन्थ के प्रमेयप्रधान होने से इस ग्रन्थ में स्वीकृत क्रम से पदार्थों का प्रदिपादन करने के लिये जो ग्रन्थ प्रणीत हुये हैं वे सब भी प्रमेयप्रधान हैं। 'न्यायसूत्र' से गङ्गेशोपाध्याय के पूर्व तक के प्रायः सभी ग्रन्थ या तो 'न्यायसूत्र' के क्रम से रचित हैं, या किसी प्रमेय-विशेष का प्रधानरूप से प्रतिपादन करने के लिये प्रणीत हैं, अतः वे सब ग्रन्थ प्रमेय-प्रधान हैं और प्रमेयप्रधान होने से 'प्राचीनन्याय' हैं।

गङ्गेशोपाध्याय की 'तत्त्वचिन्तामणि' में 'प्रमाण' का बड़ा गम्भीर और विस्तृत प्रतिपादन किया गया है। अतः वह तथा उसकी टीका, प्रटीका, टिप्पणी आदि के रूप में अथवा उसके किसी एक अंश के विस्तृत विवेचन के रूप में जो ग्रन्थ प्रणीत हुये हैं, वे सब प्रमाणप्रधान हैं और प्रमाणप्रधान होने से 'नव्यन्याय' हैं।

प्राचीनन्याय और नव्यन्याय में जो भेद है वह मुख्यतया उनकी भाषा और शैली पर आधारित है। उन दोनों के ग्रन्थों की भाषा और शैली में इतना पर्याप्त और स्पष्ट अन्तर है जो साधारण अध्येता को भी तिरोहित नहीं रह पाता। प्राचीन-न्याय के ग्रन्थों में जहाँ प्रकारता, विशेष्यता, संसर्गता, प्रतियोगिता, अनुयोगिता, अवच्छेदकता, अवच्छेद्यता, निरूपकता, निरूप्यता आदि शब्द कठिनाई से प्राप्त होते हैं वहीं नव्यन्याय के ग्रन्थों में इनकी भरमार रहती है। नव्यन्याय के ये शब्द

उसमें प्रवेश चाहने वाले अध्येताओं को ठीक उसी प्रकार भयावने लगते हैं जैसे किसी महान् अरण्य में प्रवेश करने वाले मनुष्यों को सिंह, व्याघ्र आदि उसके बड़े बड़े हिंसक जन्तु।

दोनों की शैली में भी महान् भेद है। प्राचीन न्याय की भाषा सरल और निराडम्बर होने पर भी प्रायोगिक शैली के कारण इतनी संक्षिप्त एवं सांकेतिक होती है कि उसका प्रतिपाद्य विषय अनेकत्र शीघ्रता से स्फुट नहीं हो पाता। बहुत से अनुमान ऐसे प्रयुक्त होते हैं, शैली की दुःशीलता के कारण ही जिनका अनुमानत्व स्पष्ट नहीं हो पाता। पक्ष, साध्य और हेतु की विशद प्रतिपत्ति नहीं हो पाती। किन्तु नव्यन्याय की भाषा आडम्बर-पूर्ण तथा ऊपर से स्वरूपतः दुर्गम होने पर भी शैली की शालीनता के कारण अर्थतः अत्यन्त स्पष्ट होती है। पारिभाषिक शब्दावली का परिचय रहने पर भाषा वा शैली के कारण प्रतिपाद्य विषय के समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। कहीं कोई अस्पष्टता नहीं रहती। विषय तथा प्रतिपादन दोनों के गुण-दोष चन्द्रमा की धवलिमा और कालिमा के समान स्पष्ट दीख पड़ते हैं।

प्राचीनन्याय और नव्यन्याय में एक और भी अन्तर है। वह यह कि प्राचीन न्याय में विषय का प्रतिपादन स्थूल होता है। उसके विचार तलस्पर्शी नहीं होते। वे विषय के बाह्य कलेवर का ही स्पर्श कर रुक जाते हैं। किन्तु नव्यन्याय में विषय का प्रतिपादन सूक्ष्म होता है। सूक्ष्म ही नहीं परम सूक्ष्म होता है। उसके विचार विषय के सर्वाङ्ग का स्पर्श करते हैं। वे उसके अन्तर में प्रविष्ट हो उसे निर्ममता के साथ खुरेदते हैं। उसका कठोर और निष्पक्ष परीक्षण कर उसके श्वेत और काले दोनों पक्ष अध्येता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। अनेक आलोचक तो उसके सूक्ष्मतम प्रतिपादन को 'बाल की खाल निकालना' कह कर उसका उपहास करते हैं।

हाँ तो, तथ्य यह है कि न्यायशास्त्र के, प्राचीनन्याय और नव्यन्याय नाम के जो दो प्रस्थान प्रतिष्ठित हैं उनका आधार है प्रतिपाद्य विषय का गौणप्रधानभाव तथा भाषा और शैली की भिन्नता। किन्तु दोनों प्रस्थानों का मूल स्रोत एक ही है, और वह है पूर्वनिर्दिष्ट 'न्यायदर्शन' अथवा 'न्यायसूत्र'।

'न्यायदर्शन' का प्रणेता—

'न्यायदर्शन–न्यायसूत्र' के प्रणेता के विषय में विद्वानों में मतभेद है और उसके कई प्रामाणिक आधार हैं। जैसे—

(१)—क—कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्।
गोतमेन तथा न्यायं सांख्यं तु कपिलेन वै॥
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय २६३)

कणादने महान् वैशेषिक शास्त्र की, गोतम ने न्यायशास्त्र को तथा कपिल ने सांख्य-शास्त्र की रचना की।

ख—एषा मुनिप्रवरगोतसूत्रवृत्तिः
श्रीविश्वनाथकृतिना सुगमाल्पवर्णा।
श्रीकृष्णचन्द्रचरणाम्बुजचञ्चरीक-
श्रीमच्छिरोमणिवचःप्रचयैरकारि॥

(न्यायसूत्र, विश्वनाथवृत्ति)

'विश्वनाथ' ने श्रीकृष्ण के चरणकमल के भ्रमरभूत तार्किकशिरोमणि रघुनाथ के वचनों के अनुसार मुनिप्रवर गोतम के न्यायसूत्रों पर सुबोध और संक्षिप्त शब्दों में इस 'वृत्ति' का निर्माण किया।

ग—मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेतैव यथा वित्थ तथैव सः॥

• नैषध, सर्ग १९।

जिस व्यक्ति ने ऐसे न्यायशास्त्र का उपदेश दिया जिसके अनुसार चेतन मानव मुक्त होने पर चेतनारहित हो पत्थर जैसा हो जाता है उस गोतम को गोतम ही—पूरा बैलही समझो।

इन प्रामाणिक वचनों तथा विद्वत्समाज की प्रसिद्धि और धारणा के अनुसार 'न्याय-सूत्र' के रचयिता हैं—गोतममुनि।

२--भोः काश्यपगोत्रोऽस्मि। साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये। मानवीयं धर्मशास्त्रं माहेश्वरं योगशास्त्रं, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं, मेधातिथेर्न्यायशास्त्रं, प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च। (प्रतिमानाटक, अङ्क ५)

मैंने अङ्ग-उपाङ्गों सहित वेद का, मनुके धर्मशास्त्रका महेश्वरके योगशास्त्रका बृहस्पतिके अर्थशास्त्रका, मेधातिथिके न्यायशास्त्रका और प्रचेतस् के श्राद्धकल्पका अध्ययन किया है।

इस वचन के अनुसार न्यायशास्त्र के निर्माता हैं--मेधातिथि।

(३)—क--योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरम्।
तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्तयत्॥

(न्यायभाष्य)

वक्तावों में श्रेष्ठ ऋषि अक्षपाद को जिस न्याय का स्वतः स्फुरण हुआ, वात्स्यायन ने उस पर इस भाष्य—न्यायभाष्य की रचना की।

ख--यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतोः करिष्यते तस्य मया निबन्धः ॥

(न्यायवार्तिक)

मुनियों में परम श्रेष्ठ अक्षपाद ने जगत् को तापमुक्त करने के लिये जिस न्यायशास्त्र का उपदेश किया, उस शास्त्र के सम्बन्ध में कुतार्किकों द्वारा फैलाये गये अज्ञान को नष्ट करने के लिये उस शास्त्र के ऊपर मैं निबन्ध की रचना करूँगा।

ग—अथ भगवता अक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते व्युत्पादिते च भगवता पक्षिलस्वामिना किमपरमवशिष्यते, यदर्थं वार्तिकारम्भः ?।

(न्या. वा. तात्पर्यटीका)

जब भगवान् अक्षपादने मोक्षप्रद न्यायशास्त्र का प्रणयन कर दिया और भगवान् पक्षिलस्वामी–वात्स्यायनने उसकी व्याख्या कर दी, तब क्या शेष रह गया जिसे बताने के लिये वार्तिक के निर्माण की आवश्यकता हुई ?

घ—अक्षपादप्रणीतो हि विततो न्यायपादपः।
सान्द्रामृतरसस्यन्दफलसन्दर्भनिर्भरः ॥

(न्यायमञ्जरी १ परि०)

अक्षपादने अमृतरससे भरपूर फलों से लदे विशाल न्यायवृक्ष का विरोपण किया है।

इन वचनों के अनुसार न्यायशास्त्र के प्रणेता हैं—अक्षपाद।

प्रश्न यह उठता है कि उक्त तीनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं या भिन्न-भिन्न व्यक्ति के हैं ? यदि तीनों नाम एक ही व्यक्ति के हों तब तो इस बात को प्रमाणित कर देने भर की आवश्यकता है और अन्य कोई समस्या नहीं है। हाँ, यदि तीनों नाम भिन्न भिन्न व्यक्ति के हों तो यह निर्णय करना एक बड़ी समस्या होगी कि उन तीन व्यक्तियों में कौन व्यक्ति न्यायशास्त्र का रचयिता है ? यदि किसी प्रकार किसी एक व्यक्ति के पक्ष में कोई प्रमाण मिल भी जाय तो फिर इस प्रश्न का उत्तर देना एक दुष्कर कार्य होगा कि जब प्रमाणों द्वारा यह निश्चित हो जाता है कि अमुक व्यक्ति न्यायशास्त्र का निर्माता है तब अन्य दो व्यक्तियों को उसका निर्माता कहने का क्या आधार और क्या अभिप्राय है ?

इस जटिल प्रश्न के समाधान में निम्न वचन से पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है।

मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः।
विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम् ॥

(महाभारत,शान्तिपर्व अध्याय २६५)

पत्नी के मर्यादा–अतिक्रमणका विचार कर महान् प्राज्ञ मेधातिथि गौतम उस समय से तपस्या में अवस्थित हुये।

इस महाभारतीय वचन से मेधातिथि और गौतम की एकता प्रमाणित हो जाने से अब न्यायशास्त्र के दो ही रचयिता रह जाते हैं - गौतम और अक्षपाद। अतः अब इतना ही निश्चय करना शेष रह जाता है कि गौतम और अक्षपाद दो व्यक्ति हैं अथवा उन दोनों नामों का कोई एक ही व्यक्ति है ?

गौतम और अक्षपाद नाम के दो व्यक्तियों ने न्यायशास्त्र की रचनाकी है, इस बात की उपपत्ति दो प्रकार से की जा सकती है। एक तो यह कि दोनों व्यक्तियों ने मिल कर अपने सम्मिलित प्रयास से समान उत्तरदायित्व के साथ न्यायशास्त्र के निर्माणकार्य को सम्पन्न किया हो, और दूसरा यह कि एक ने दूसरे के विचारों का संकलन कर और उसमें अपेक्षित अंश को अपनी ओर से जोड़कर उसे सूत्रात्मक भाषा में क्रमबद्ध किया हो। इन प्रकारों में पहला प्रकार तभी सम्भव हो सकता है जब दोनों व्यक्ति एक समय में एक साथ रहे हों तथा मिल कर साहित्यरचना का कार्य किये हों। इसी प्रकार दूसरा पक्ष तब सम्भव हो सकता है जब किसी एक के नाम से न्यायदर्शन के विषय विकीर्णरूप में यत्र तत्र विद्यमान रहे हों और बाद में दूसरे व्यक्ति ने उन सब का संकलन कर उन्हें क्रमबद्ध किया हो। पर इन दोनों बातों में कहीं कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। अतः यही मानना उचित प्रतीत होता है कि गौतम और अक्षपाद नाम के दो व्यक्ति न्याय-शास्त्र के रचयिता नहीं हैं किन्तु न्यायशास्त्र का रचयिता एक ही व्यक्ति है। गौतम और अक्षपाद उसीके दो नाम हैं। एक ही व्यक्ति को किसीने गौतमनाम से और किसी ने अक्षपादनाम से न्यायशास्त्र का रचयिता कहा है। वाचस्पतिमिश्र ने तो न्यायशास्त्र के रचयिता को उक्त दोनों नामों से अभिहित किया है। जैसे 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' के आरम्भ में —

'अथ भगवता अक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते' इस वाक्य सेनिःश्रेयस के हेतुभूत न्यायशास्त्रको भगवान् अक्षपाद से प्रणीत कहा गया है और 'न्यायसूचीनिबन्ध' में

> यदलम्भि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम्।
> श्रीगोतमसुगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्॥
> संसारजलधिसेतौ वृषकेतौ सकलदुःखशमहेतौ।
> एतस्य फलमखिलमर्पितमेतेन प्रीयतामीशः॥

इस वाक्य से न्यायशास्त्र को गोतममुनि की चिरन्तन सुगवी-सुन्दरवाणी कहा गया है।

न्यायशास्त्रनिर्माता के उक्त दो नामों में 'गोतम' यह स्वाभाविक नाम है और 'अक्षपाद' यह औपाधिक नाम है। भाष्यकार वात्स्यायन, वार्तिककार उद्योतकर, टीकाकार वाचस्पतिमिश्र, न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट आदिने उपर्युक्त उद्धरणों के अनुसार इस औपाधिक नाम से ही न्यायशास्त्र के निर्माता की चर्चा की है। 'अक्षपाद' नाम की

औपाधिकता के विषय में नैयायिकमण्डली में सुख्यात इस किम्वदन्ती की चर्चा बहुधा होती है कि गोतममुनि का मन निरन्तर तत्त्वचिन्तन में लगा रहता था, नेत्र को उसका सहयोग नहीं मिल पाता था, अतः चलते समय वे गिरकर आहत हो जाया करते थे। इस लिये महेश्वर ने कृपा कर उनके पैर में एक ऐसे नये नेत्र की रचना कर दी जिसे मन के सहयोग की अपेक्षा न थी। इस नये नेत्र के मिलने से वे अक्षपादनाम से प्रसिद्ध हुये और उनके दोनों कार्यों चलने फिरने और तत्त्वचिन्तन करने की बाधायें दूर हो गई।

न्यायसूत्रकार गोतम कौन ?

वेदसंहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, पुराण, मनुस्मृति, वाल्मीकिरामायण, महाभारत आदि में गोतम की चर्चा अनेकत्र प्राप्त होती है। जैसे—

सभायते गोतम इन्द्र नव्यमतक्षद् ब्रह्म हरियोजनाय।
सुनीथाय नः शवसान नोधाः प्रातर्मक्षू धिया वसुर्जगम्यात्॥

(ऋक् १ अष्टक, ५ अध्याय, ६२ सूक्त)

'विदेहो ह माधवोऽग्निं वैश्वानरं मुखे बभत्। तस्य गोतमो राहूगण ऋषिः पुरोहित आस'। (शतपथ १ काण्ड, ४ अध्याय)

'इमावेव गोतमभारद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भारद्वाजः, इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयमेव जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिः'।

(बृह० उप० २ अध्याय, २ ब्राह्मण)

अथोशिज इति ख्यात आसीद् विद्वान् ऋषिः पुरा।
पत्नी वै ममता नाम बभूवास्य महात्मनः॥

सोऽशपत्तं ततः क्रुद्ध एवमुक्तो बृहस्पतिः।
यस्मात्त्वमीदृशे काले गर्भस्थोऽपि निषेधसि।
मामेवमुक्तवांस्तस्मात्तमो दीर्घं प्रवेक्ष्यति॥

ततो दीर्घतमा नाम शापाद् ऋषिरजायत।
गोऽभ्याहते तमसि गोतमस्तु ततोऽभवत्॥

(मात्स्य, २८ अ०)

मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गोतमस्तपसि स्थितः।

(महाभारत शान्तिपर्व, २६६ अ०)

जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रात्रिगोतमाः।
वसिष्ठकश्यपागस्त्या मुनयो गोत्रकारिणः॥

(मनु० १ अ०)

ये थोड़े से वचन उदाहरणार्थ उद्धृत किये गये हैं। ऐसे और भी बहुत से वचन हैं जिनसे अनेक गोतमों का अस्तित्व अवगत होता है। अब प्रश्न यह होता है कि इन गोतमों में किस गोतम ने न्यायदर्शन की रचना की ? किन्तु प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर देने के पूर्व यह देख लेना आवश्यक है कि ये सभी गोतम भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं अथवा किसी एक ही व्यक्ति का भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न रूप में गोतम नाम से उल्लेख किया गया है। इन दो पक्षों में पहले ही पक्ष में यह प्रश्न उठेगा कि किस गोतम ने न्यायदर्शन की रचना की ?। दूसरे पक्ष में एक ही गोतम होने से उक्त प्रश्न की सम्भावना ही नहीं हो सकती। किन्तु विचार करने पर दूसरा पक्ष ठीक नहीं जँचता क्यों कि उपर्युक्त गोतमों के जन्म, कर्म, चरित्र आदि में महान् अन्तर है। अतः पहले पक्ष में उक्त प्रश्न का उत्थान सम्भव होने से यह निर्णय करना आवश्यक है कि इन विभिन्न गोतमों में किस गोतम ने न्यायशास्त्र की रचना की है ?

उत्तर में यही कहा जा सकता है कि इस बात का जब कहीं कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता कि इन सब गोतमों में किस गोतम ने न्यायशास्त्र की रचना की, तब न्यायशास्त्र के अध्येता-अध्यापकों की परम्परा में जो प्रसिद्धि है उसी के आधार पर इस प्रश्न का समाधान करना उचित है। परम्परा यही बताती है कि मिथिला में जनकपुर के निकट जिस गोतम का आश्रम था, जो विदेहराज जनक के पुरोधा थे, जिनकी पत्नी अहल्या को श्रीराम के चरणरजःस्पर्श से शिलात्व से मुक्ति मिली थी, वे बड़े तपस्वी, योगी तथा अगाध ज्ञान से सम्पन्न परमकारुणिक महर्षि थे। उन्होंने ही न्यायदर्शन का प्रणयन कर मिथिला को न्यायविद्या की जन्मभूमि होने का गौरव प्रदान किया था।

परम्परा की इस उक्ति में पूर्ण सत्यता प्रतीत होती है, क्यों कि न्यायविद्या का प्रादुर्भाव यदि मिथिला में न होकर कहीं अन्यत्र हुआ होता तो सबसे पहले मिथिला में ही उसके अध्ययन–अध्यापन का प्रचार क्यों होता ? और वाचस्पतिमिश्र, उदयनाचार्य, गङ्गेशोपाध्याय जैसे बड़े-बड़े नैयायिकों का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव मिथिला में ही क्यों होता ?

'न्यायसूत्र' की रचना को इतना अधिक प्राचीन मानने पर प्रश्न यह उठता है कि यदि 'न्यायसूत्र' इतना प्राचीन है तब चौथे अध्याय के सूत्रों में शून्यवाद, बाह्यार्थभङ्गवाद आदि अर्वाचीन बौद्धमतों का खण्डन कैसे सम्भव हो सकता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट की निम्न पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं।

'आदिसर्गात्प्रभृति वेदवदिमा विद्याः प्रवृत्ताः, संक्षेपविस्तारविवक्षया तु तांस्तांस्तत्र कर्तृ्न्नाचक्षते'।

वेद के समान समस्त विद्यायें सृष्टि के आरम्भकाल से ही विद्यमान हैं। जब कोई

पुरुष किसी विद्या का संक्षेप वा विस्तार की विवक्षा से नये ढंग से वर्णन करता है तब उसे उस विद्या का कर्ता कहा जाता है।

जयन्तभट्ट का यह दृष्टिकोण सर्वथा उचित है। 'न्यायसूत्र' में जिन मतों का निरास किया गया है वे सब अत्यन्त चिरन्तन हैं। वे किसी विशेष समय में किसी विशेष पुरुष के मस्तिष्क में 'इदम्प्रथम' रूप में उद्भावित नहीं हुए हैं। उन्हीं पुरातन मतों को बुद्ध आदि ने अपने समय में परिष्कृत और पल्लवित किया है। इस लिये शून्य-वाद आदि मतों को अर्वाचीन मान कर इनके परिष्कारक और प्रचारक पुरुषों के पीछे 'न्यायसूत्र' को खींचना युक्तिसंगत नहीं है। अन्यथा वेद, उपनिषद्, आदि में भी उन मतों का निर्देश होने के कारण उनकी भी बौद्धकाल से पश्चाद्भाविता माननी पड़ जायगी, जिसे आज का कोई आधुनिक ऐतिहासिक भी मानने को तैयार नहीं हो सकता।

इस प्रकार न्यायशास्त्र के पण्डितों की परम्परा के अनुसार त्रेतायुग में विद्यमान महर्षि गोतमद्वारा मिथिला की पावन अवनी मे निःश्रेयस के स्रोत 'न्यायसूत्र' की रचना सिद्ध होती है।

आधुनिक इतिहासकार उक्त परम्परा की उपेक्षा कर इतिहास-अन्वेषण की अर्वाचीन प्रणाली के अनुसार अपना मत निर्धारित करते हुए कहते हैं कि 'न्यायसूत्र' में विभिन्न काल के विभिन्न दार्शनिक मतों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनमें बौद्धमत का प्रामुख्य है। अतः उन सबों को दृष्टि में रखते हुए जब 'न्यायसूत्र' की रचना के काल का विचार किया जाता है तब वह ईसा प्रथम शती के पूर्व कथमपि नहीं जा पाता, अतः 'न्यायसूत्र' की रचना का समय ईसा दूसरी शती के मध्य तक मानना बुद्धिसंगत प्रतीत होता है।

आधुनिक इतिहासकारों का यह भी कथन है कि गोतम और अक्षपाद एक व्यक्ति नहीं, किन्तु दो भिन्न व्यक्ति हैं। न्यायशास्त्र का निर्माण बहुत कुछ गोतम ने ही किया था। बाद में अक्षपादने गोतमद्वारा प्रस्तुत की गयी सारी सामग्री को लेकर अपने नूतन विचारों का सन्निवेश करते हुए 'न्यायशास्त्र' की क्रमबद्ध रचना की जो आज हमारे सम्मुख विद्यमान है। अक्षपाद के समय के लोग यह जानते थे कि 'न्यायशास्त्र' की रचना एकमात्र अक्षपाद की अपनी ही कृति नहीं है किन्तु उसका बहुत सा भाग गोतम की प्रज्ञा की देन है अतः उसी समय से कुछ लोग उस कृति को गोतमीय कृति, कुछ लोग अक्षपादीय कृति, और कुछ लोग गोतमाक्षपादीय अथवा अक्षपादगोतमीय कृति कहने लगे और यह व्यवहार परम्परा से उत्तरकाल में भी अनुस्यूत हो गया। इस प्रकार आधुनिक इतिहासकारों के मत से 'न्यायशास्त्र' गोतम और अक्षपाद के मिलित चिन्तन और प्रयत्न की देन है।

प्राचीनन्याय के कतिपय आचार्य—

वात्स्यायन—

प्राचीनन्याय के आचार्यों में वात्स्यायन का प्रमुख स्थान है। इन्हों ने अक्षपाद गौतम के 'न्यायसूत्र' पर एक भाष्य की रचना की है जो 'न्यायभाष्य' तथा 'वात्स्यायनभाष्य' इन नामों से प्रसिद्ध है और वह उच्च कोटि के प्राचीन तथा अर्वाचीन परम्परा के अनेक विद्वानों के टीकाग्रन्थों से मण्डित है।

न्यायभाष्यकार का नाम—

'न्यायभाष्य' निर्माता के नाम के विषय में कई मत हैं। स्वयं न्यायभाष्यकारने अपने को 'वात्स्यायन' नाम से निर्दिष्ट किया है। जैसे—

योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरः।
तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्तयत्॥

वार्तिककार 'भारद्वाज' ने भी अपने 'न्यायवार्तिक' के अन्त में इसी नाम से न्यायभाष्यकार का स्मरण किया है। जैसे—

यदक्षपादप्रतिभो भाष्यं वात्स्यायनो जगौ।
अकारि महतस्तस्य भारद्वाजेन वार्तिकम्॥

वाचस्पति मिश्रने 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' के आरम्भ में 'न्यायभाष्यकार' को **'पक्षिल स्वामी'** के नाम से निर्दिष्ट किया है। जैसे—

'अथ भगवता अक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे व्युत्पादिते च भगवता पक्षिलस्वामिना किमपरमवशिष्यते यदर्थं वार्तिकारम्भः'?।

हेमचन्द्र के अभिधानचिन्तामणि, मर्त्यकाण्ड में वात्स्यायन के आठ नाम बताये गये हैं। जैसे—

वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः॥

पुरुषोत्तम देव के त्रिकाण्डशेषकोश, ब्रह्मवर्ग में निम्न वचन उपलब्ध होता है।

विष्णुगुप्तस्तु कौण्डिन्यश्चाणक्यो द्रामिलोंऽशुकः।
वात्स्यायनो मल्लिनागपक्षिलस्वामिनावपि॥

इन सब वचनों को देखने से इतनी बात तो निर्विवाद जान पड़ती है कि न्यायभाष्यकारके 'वात्स्यायन' और 'पक्षिल' यह दो नाम बहुसम्मत हैं। फिर भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह दोनों मुख्य नाम हैं अथवा इनमें कोई एक मुख्य

है और दूसरा औपाधिक है, क्योंकि दोनों बातें सम्भव हैं। यह हो सकता है कि इन नामों में 'वात्स्यायन' नाम सांस्कारिक हो तथा 'पक्षिल' नाम व्यावहारिक-पुकारू हो, और इस प्रकार दोनों नाम प्रमुख हों।

अथवा यह भी हो सकता है कि गोत्र का निर्देशक होने से 'वात्स्यायन' नाम औपाधिक हो और 'पक्षिल' नाम मुख्य हो, या 'वात्स्यायन' नाम ही मुख्य हो और 'पक्षिल' नाम 'पक्षिणः—प्रतिपक्षिणः लाति–आदत्ते–निग्रहस्थाने गृह्णाति' इस व्युत्पत्ति से 'विपक्षियों के निग्रहकर्ता' अर्थ में, अथवा 'पक्षिणः–खगान् लाति–आदत्ते–सस्नेहं सकृपं गृह्णाति' इस व्युत्पत्ति से 'पक्षी पर्यन्त प्राणियों के प्रति कृपालु–स्नेही' अर्थ में औपाधिक हो। पर जब मुझे अपनी समझ की बात कहनी होगी तो मैं यही कहना चाहूँगा कि इन दोनों नामों में 'वात्स्यायन नाम ही मुख्य है, क्योंकि इस नामका निर्देश स्वयं भाष्यकारने किया है। अतः उस निर्देशको गोत्र का निर्देश नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि उसे गोत्र का निर्देश माना जायगा तो उस गोत्र के अनेकों व्यक्ति होने के कारण उस निर्देश से भाष्यकार का व्यक्तिगत परिचय नहीं होगा। फलतः उस निर्देश की कोई उपयोगिता न होगी।

वाचस्पति मिश्र ने जो 'पक्षिल' नाम का निर्देश किया है उसे औपाधिक नाम का निर्देश माना जा सकता है; क्यों कि विनय और श्रद्धा के द्योतनार्थ उनके द्वारा मुख्य नाम का निर्देश न होकर औपाधिक नाम का निर्देश होना ही उचित है। भाष्य में अनेक प्रतिपक्षी मतों का खण्डन है, अतः 'प्रतिपक्षी के निग्रहकर्ता' अर्थ में अथवा पक्षी के समान जो अल्पज्ञ हैं उनके हितार्थ 'न्यायसूत्र' पर भाष्यनिर्माण करने की कृपा के कारण 'सर्वभूतकारुणिक' अर्थ में 'पक्षिल' इस औपाधिक नाम का निर्देश सर्वथा उचित हो सकता है।

वात्स्यायन का निवासस्थान—

वात्स्यायन के निवासस्थान के सम्बन्ध में विचार करने पर यह बात अधिक संगत प्रतीत होती है कि न्यायसूत्रकार गौतम के समान न्यायभाष्यकार वात्स्यायन को भी मिथिला का ही निवासी माना जाय, क्योंकि जब 'न्यायसूत्र' का निर्माण मिथिला में हुआ, तब यह स्वाभाविक है कि उसके भाष्य का निर्माण भी मिथिला में ही हो, क्यों कि मिथिला में बने 'न्यायसूत्र' के अध्ययन अध्यापन, व्याख्यान और अनुव्याख्यान की सुविधा और सम्भावना उतने सुदूर पूर्वकाल में जितनी मिथिला में हो सकती थी, उतनी मिथिला से दूरवर्ती किसी अन्य प्रदेश में नहीं हो सकती थी। यदि 'न्यायसूत्र' के निर्माणकाल और न्यायभाष्य के निर्माणकाल के परस्पर विप्रकर्षको देखते हुये यह सम्भावना भी की जाय कि इतनी लम्बी अवधि में

प्रधानता होती है उसे प्रमाणप्रधान कहा जाता है। गौतम से गङ्गेशोपाध्याय के पूर्व तक के न्यायविद् विद्वानों की कृतियां प्रमेयप्रधान हैं और गङ्गेशोपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि तथा उस पर आधारित परवर्ती विद्वानों की समग्र कृतियाँ प्रमाणप्रधान हैं। प्रमेयप्रधान ग्रन्थराशि को प्राचीनन्याय तथा प्रमाणप्रधान ग्रन्थराशि को नव्यन्याय कहा जाता है।

'न्यायदर्शन' में प्रमेय के प्रतिपादन की प्रधानता है, प्रमाण के प्रतिपादन की प्रधानता नहीं है, क्योंकि पाँच अध्यायों के 'न्यायदर्शन' के थोड़े ही सूत्र प्रमाण के प्रतिपादन में विनियुक्त हैं। जैसे प्रथम अध्याय, प्रथम आह्निक, प्रमाणलक्षण–प्रकरण के ६; द्वितीय अध्याय, प्रथम आह्निक, प्रमाणसामान्यपरीक्षा-प्रकरण के १३; प्रत्यक्षपरीक्षा–प्रकरण के १२; अनुमानपरीक्षा–प्रकरण के २; उपमान–परीक्षा–प्रकरण के ५; शब्दसामान्यपरीक्षा–प्रकरण के ८; शब्दविशेषपरीक्षा प्रकरण के १२ तथा द्वितीय अध्याय, द्वितीय आह्निक, प्रमाणचतुष्ट्वपरीक्षा-प्रकरण के १२ सूत्र। इस प्रकार 'न्यायदर्शन' के ५२८ सूत्रों में केवल ७० सूत्रों में ही प्रमाण का प्रतिपादन किया गया है। अन्य समस्त सूत्रों में आत्मा आदि १२ प्रमेय तथा उनके किसी प्रभेद में अन्तर्भूत होने वाले पदार्थों का प्रतिपादन है। अतः प्रमेय के प्रतिपादन की प्रधानता के कारण 'न्यायदर्शन' प्रमेयप्रधान ग्रन्थ है। इस मूलग्रन्थ के प्रमेयप्रधान होने से इस ग्रन्थ में स्वीकृत क्रम से पदार्थों का प्रदिपादन करने के लिये जो ग्रन्थ प्रणीत हुये हैं वे सब भी प्रमेयप्रधान हैं। 'न्यायसूत्र' से गङ्गेशोपाध्याय के पूर्व तक के प्रायः सभी ग्रन्थ या तो 'न्यायसूत्र' के क्रम से रचित हैं, या किसी प्रमेयविशेष का प्रधानरूप से प्रतिपादन करने के लिये प्रणीत हैं, अतः वे सब ग्रन्थ प्रमेयप्रधान हैं और प्रमेयप्रधान होने से 'प्राचीनन्याय' हैं।

गङ्गेशोपाध्याय की 'तत्त्वचिन्तामणि' में 'प्रमाण' का बड़ा गम्भीर और विस्तृत प्रतिपादन किया गया है। अतः वह तथा उसकी टीका, प्रटीका, टिप्पणी आदि के रूप में अथवा उसके किसी एक अंश के विस्तृत विवेचन के रूप में जो ग्रन्थ प्रणीत हुये हैं, वे सब प्रमाणप्रधान हैं और प्रमाणप्रधान होने से 'नव्यन्याय' हैं।

प्राचीनन्याय और नव्यन्याय में जो भेद है वह मुख्यतया उनकी भाषा और शैली पर आधारित है। उन दोनों के ग्रन्थों की भाषा और शैली में इतना पर्याप्त और स्पष्ट अन्तर है जो साधारण अध्येता को भी तिरोहित नहीं रह पाता। प्राचीनन्याय के ग्रन्थों में जहाँ प्रकारता, विशेष्यता, संसर्गता, प्रतियोगिता, अनुयोगिता, अवच्छेदकता, अवच्छेद्यता, निरूपकता, निरूप्यता आदि शब्द कठिनाई से प्राप्त होते हैं वहीं नव्यन्याय के ग्रन्थों में इनकी भरमार रहती है। नव्यन्याय के ये शब्द

उसमें प्रवेश चाहने वाले अध्येताओं को ठीक उसी प्रकार भयावने लगते हैं जैसे किसी महान् अरण्य में प्रवेश करने वाले मनुष्यों को सिंह, व्याघ्र आदि उसके बड़े बड़े हिंसक जन्तु।

दोनों की शैली में भी महान् भेद है। प्राचीन न्याय की भाषा सरल और निराडम्बर होने पर भी प्रायोगिक शैली के कारण इतनी संक्षिप्त एवं सांकेतिक होती है कि उसका प्रतिपाद्य विषय अनेकत्र शीघ्रता से स्फुट नहीं हो पाता। बहुत से अनुमान ऐसे प्रयुक्त होते हैं, शैली की दुःशीलता के कारण ही जिनका अनुमानत्व स्पष्ट नहीं हो पाता। पक्ष, साध्य और हेतु की विशद प्रतिपत्ति नहीं हो पाती। किन्तु नव्यन्याय की भाषा आडम्बर-पूर्ण तथा ऊपर से स्वरूपतः दुर्गम होने पर भी शैली की शालीनता के कारण अर्थतः अत्यन्त स्पष्ट होती है। पारिभाषिक शब्दावली का परिचय रहने पर भाषा वा शैली के कारण प्रतिपाद्य विषय के समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। कहीं कोई अस्पष्टता नहीं रहती। विषय तथा प्रतिपादन दोनों के गुण-दोष चन्द्रमा की धवलिमा और कालिमा के समान स्पष्ट दीख पड़ते हैं।

प्राचीनन्याय और नव्यन्याय में एक और भी अन्तर है। वह यह कि प्राचीन न्याय में विषय का प्रतिपादन स्थूल होता है। उसके विचार तलस्पर्शी नहीं होते। वे विषय के बाह्य कलेवर का ही स्पर्श कर रुक जाते हैं। किन्तु नव्यन्याय में विषय का प्रतिपादन सूक्ष्म होता है। सूक्ष्म ही नहीं परम सूक्ष्म होता है। उसके विचार विषय के सर्वाङ्ग का स्पर्श करते हैं। वे उसके अन्तर में प्रविष्ट हो उसे निर्ममता के साथ खुरेदते हैं। उसका कठोर और निष्पक्ष परीक्षण कर उसके श्वेत और काले दोनों पक्ष अध्येता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। अनेक आलोचक तो उसके सूक्ष्मतम प्रतिपादन को 'बाल की खाल निकालना' कह कर उसका उपहास करते हैं।

हाँ तो, तथ्य यह है कि न्यायशास्त्र के, प्राचीनन्याय और नव्यन्याय नाम के जो दो प्रस्थान प्रतिष्ठित हैं उनका आधार है प्रतिपाद्य विषय का गौणप्रधानभाव तथा भाषा और शैली की भिन्नता। किन्तु दोनों प्रस्थानों का मूल स्रोत एक ही है, और वह है पूर्वनिर्दिष्ट 'न्यायदर्शन' अथवा 'न्यायसूत्र'।

'न्यायदर्शन' का प्रणेता—

'न्यायदर्शन—न्यायसूत्र' के प्रणेता के विषय में विद्वानों में मतभेद है और उसके कई प्रामाणिक आधार हैं। जैसे—

(१)—क—कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्।
गोतमेन तथा न्यायं सांख्यं तु कपिलेन वै॥
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय २६३)

कणादने महान् वैशेषिक शास्त्र की, गोतम ने न्यायशास्त्र को तथा कपिल ने सांख्य-शास्त्र की रचना की ।

ख—एषा मुनिप्रवरगोतसूत्रवृत्तिः
श्रीविश्वनाथकृतिना सुगमाल्पवर्णा ।
श्रीकृष्णचन्द्रचरणाम्बुजचञ्चरीक-
श्रीमच्छिरोमणिवचःप्रचयैरकारि ॥

(न्यायसूत्र, विश्वनाथवृत्ति)

'विश्वनाथ' ने श्रीकृष्ण के चरणकमल के भ्रमरभूत तार्किकशिरोमणि रघुनाथ के वचनों के अनुसार मुनिप्रवर गोतम के न्यायसूत्रों पर सुबोध और संक्षिप्त शब्दों में इस 'वृत्ति' का निर्माण किया ।

ग—मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।
गोतमं तमवेतैव यथा वित्थ तथैव सः ॥

• नैषध, सर्ग १६ ।

जिस व्यक्ति ने ऐसे न्यायशास्त्र का उपदेश दिया जिसके अनुसार चेतन मानव मुक्त होने पर चेतनारहित हो पत्थर जैसा हो जाता है उस गोतम को गोतम ही—पूरा बैलही समझो ।

इन प्रामाणिक वचनों तथा विद्वत्समाज की प्रसिद्धि और धारणा के अनुसार 'न्याय-सूत्र' के रचयिता हैं—गोतममुनि ।

२--भोः काश्यपगोत्रोऽस्मि । साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये । मानवीयं धर्मशास्त्रं माहेश्वरं योगशास्त्रं, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं, मेधातिथेर्न्यायशास्त्रं, प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च । (प्रतिमानाटक, अङ्क ५)

मैंने अङ्ग-उपाङ्गों सहित वेद का, मनुके धर्मशास्त्रका महेश्वरके योगशास्त्रका बृहस्पतिके अर्थशास्त्रका, मेधातिथिके न्यायशास्त्रका और प्रचेतस् के श्राद्धकल्पका अध्ययन किया है ।

इस वचन के अनुसार न्यायशास्त्र के निर्माता हैं—मेधातिथि ।

(३)—क--योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरम् ।
तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्तयत् ॥

(न्यायभाष्य)

वक्तावों में श्रेष्ठ ऋषि अक्षपाद को जिस न्याय का स्वतः स्फुरण हुआ, वात्स्यायन ने उस पर इस भाष्य—न्यायभाष्य की रचना की ।

ख--यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद ।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतोः करिष्यते तस्य मया निबन्धः ॥

(न्यायवार्तिक)

मुनियों में परम श्रेष्ठ अक्षपाद ने जगत् को तापमुक्त करने के लिये जिस न्यायशास्त्र का उपदेश किया, उस शास्त्र के सम्बन्ध में कुतार्किकों द्वारा फैलाये गये अज्ञान को नष्ट करने के लिये उस शास्त्र के ऊपर मैं निबन्ध की रचना करूँगा ।

ग--अथ भगवता अक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते व्युत्पादिते च भगवता पक्षिलस्वामिना किमपरमवशिष्यते, यदर्थं वार्तिकारम्भः ? ।

(न्या. वा. तात्पर्यटीका)

जब भगवान् अक्षपादने मोक्षप्रद न्यायशास्त्र का प्रणयन कर दिया और भगवान् पक्षिलस्वामी-वात्स्यायनने उसकी व्याख्या कर दी, तब क्या शेष रह गया जिसे बताने के लिये वार्तिक के निर्माण की आवश्यकता हुई ?

घ—अक्षपादप्रणीतो हि विततो न्यायपादपः ।
सान्द्रामृतरसस्यन्दफलसन्दर्भनिर्भरः ॥

(न्यायमञ्जरी १ परि०)

अक्षपादने अमृतरससे भरपूर फलों से लदे विशाल न्यायवृक्ष का विरोपण किया है ।

इन वचनों के अनुसार न्यायशास्त्र के प्रणेता हैं—अक्षपाद ।

प्रश्न यह उठता है कि उक्त तीनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं या भिन्न-भिन्न व्यक्ति के हैं ? यदि तीनों नाम एक ही व्यक्ति के हों तब तो इस बात को प्रमाणित कर देने भर को आवश्यकता है और अन्य कोई समस्या नहीं है । हाँ, यदि तीनों नाम भिन्न भिन्न व्यक्ति के हों तो यह निर्णय करना एक बड़ी समस्या होगी कि उन तीन व्यक्तियों में कौन व्यक्ति न्यायशास्त्र का रचयिता है ? यदि किसी प्रकार किसी एक व्यक्ति के पक्ष में कोई प्रमाण मिल भी जाय तो फिर इस प्रश्न का उत्तर देना एक दुष्कर कार्य होगा कि जब प्रमाणों द्वारा यह निश्चित हो जाता है कि अमुक व्यक्ति न्यायशास्त्र का निर्माता है तब अन्य दो व्यक्तियों को उसका निर्माता कहने का क्या आधार और क्या अभिप्राय है ?

इस जटिल प्रश्न के समाधान में निम्न वचन से पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है ।

मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः ।
विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम् ॥

(महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय २६५)

पत्नी के मर्यादा-अतिक्रमणका विचार कर महान् प्राज्ञ मेधातिथि गौतम उस समय से तपस्या में अवस्थित हुये ।

इस महाभारतीय वचन से मेधातिथि और गौतम की एकता प्रमाणित हो जाने से अब न्यायशास्त्र के दो ही रचयिता रह जाते हैं - गौतम और अक्षपाद। अतः अब इतना ही निश्चय करना शेष रह जाता है कि गौतम और अक्षपाद दो व्यक्ति हैं अथवा उन दोनों नामों का कोई एक ही व्यक्ति है ?

गौतम और अक्षपाद नाम के दो व्यक्तियों ने न्यायशास्त्र की रचनाकी है, इस बात की उपपत्ति दो प्रकार से की जा सकती है। एक तो यह कि दोनों व्यक्तियों ने मिल कर अपने सम्मिलित प्रयास से समान उत्तरदायित्व के साथ न्यायशास्त्र के निर्माणकार्य को सम्पन्न किया हो, और दूसरा यह कि एक ने दूसरे के विचारों का संकलन कर और उसमें अपेक्षित अंश को अपनी ओर से जोड़कर उसे सूत्रात्मक भाषा में क्रमबद्ध किया हो। इन प्रकारों में पहला प्रकार तभी सम्भव हो सकता है जब दोनों व्यक्ति एक समय में एक साथ रहे हों तथा मिल कर साहित्यरचना का कार्य किये हों। इसी प्रकार दूसरा पक्ष तब सम्भव हो सकता है जब किसी एक के नाम से न्यायदर्शन के विषय विकीर्णरूप में यत्र तत्र विद्यमान रहे हों और बाद में दूसरे व्यक्ति ने उन सब का संकलन कर उन्हें क्रमबद्ध किया हो। पर इन दोनों बातों में कहीं कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। अतः यही मानना उचित प्रतीत होता है कि गौतम और अक्षपाद नाम के दो व्यक्ति न्याय-शास्त्र के रचयिता नहीं हैं किन्तु न्यायशास्त्र का रचयिता एक ही व्यक्ति है। गौतम और अक्षपाद उसीके दो नाम हैं। एक ही व्यक्ति को किसीने गौतमनाम से और किसी ने अक्षपादनाम से न्यायशास्त्र का रचयिता कहा है। वाचस्पतिमिश्र ने तो न्यायशास्त्र के रचयिता को उक्त दोनों नामों से अभिहित किया है। जैसे 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' के आरम्भ में -

'अथ भगवता अक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते' इस वाक्य सेनिःश्रेयस के हेतुभूत न्यायशास्त्रको भगवान् अक्षपाद से प्रणीत कहा गया है और 'न्यायसूचीनिबन्ध'में

यदलम्भि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम्।
श्रीगोतमसुगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्॥
संसारजलधिसेतौ वृषकेतौ सकलदुःखशमहेतौ।
एतस्य फलमखिलमर्पितमेतेन प्रीयतामीशः॥

इस वाक्य से न्यायशास्त्र को गोतममुनि की चिरन्तन सुगवी-सुन्दरवाणी कहा गया है।

न्यायशास्त्रनिर्माता के उक्त दो नामों में 'गोतम' यह स्वाभाविक नाम है और 'अक्षपाद' यह औपाधिक नाम है। भाष्यकार वात्स्यायन, वार्तिककार उद्योतकर, टीकाकार वाचस्पतिमिश्र, न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट आदिने उपर्युक्त उद्धरणों के अनुसार इस औपाधिक नाम से ही न्यायशास्त्र के निर्माता की चर्चा की है। 'अक्षपाद' नाम की

औपाधिकता के विषय में नैयायिकमण्डली में सुख्यात इस किम्वदन्ती की चर्चा बहुधा होती है कि गोतममुनि का मन निरन्तर तत्त्वचिन्तन में लगा रहता था, नेत्र को उसका सहयोग नहीं मिल पाता था, अतः चलते समय वे गिरकर आहत हो जाया करते थे। इस लिये महेश्वर ने कृपा कर उनके पैर में एक ऐसे नये नेत्र की रचना कर दी जिसे मन के सहयोग की अपेक्षा न थी। इस नये नेत्र के मिलने से वे अक्षपादनाम से प्रसिद्ध हुये और उनके दोनों कार्यों चलने फिरने और तत्त्वचिन्तन करने की बाधायें दूर हो गईं।

न्यायसूत्रकार गोतम कौन ?

वेदसंहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, पुराण, मनुस्मृति, वाल्मीकिरामायण, महाभारत आदि में गोतम की चर्चा अनेकत्र प्राप्त होती है। जैसे—

सभायते गोतम इन्द्र नव्यमतक्षद् ब्रह्म हरियोजनाय।
सुनीथाय नः शवसान नोधाः प्रातर्मक्षू धिया वसुर्जगम्यात्॥

(ऋक् १ अष्टक, ५ अध्याय, ६२ सूक्त)

'विदेहो ह माधवोऽग्निं वैश्वानरं मुखे बभत्। तस्य गोतमो राहूगण ऋषिः पुरोहित आस'। (शतपथ १ काण्ड, ४ अध्याय)

'इमावेव गोतमभारद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भारद्वाजः, इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयमेव जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिः'।

(बृह० उप० २ अध्याय, २ ब्राह्मण)

अथोशिज इति ख्यात आसीद् विद्वान् ऋषिः पुरा।
पत्नी वै ममता नाम बभूवास्य महात्मनः॥
सोऽशपत्तं ततः क्रुद्ध एवमुक्तो बृहस्पतिः।
यस्मात्त्वमीदृशे काले गर्भस्थोऽपि निषेधसि।
मामेवमुक्तवांस्तस्मात्तमो दीर्घं प्रवेक्ष्यति॥
ततो दीर्घतमा नाम शापाद् ऋषिरजायत।
गोऽभ्याहते तमसि गोतमस्तु ततोऽभवत्॥

(मात्स्य, २८ अ०)

मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गोतमस्तपसि स्थितः।

(महाभारत शान्तिपर्व, २६६ अ०)

जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रात्रिगोतमाः।
वसिष्ठकश्यपागस्त्या मुनयो गोत्रकारिणः॥

(मनु० १ अ०)

ये थोड़े से वचन उदाहरणार्थ उद्धृत किये गये हैं। ऐसे और भी बहुत से वचन हैं जिनसे अनेक गोतमों का अस्तित्व अवगत होता है। अब प्रश्न यह होता है कि इन गोतमों में किस गोतम ने न्यायदर्शन की रचना की ? किन्तु प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर देने के पूर्व यह देख लेना आवश्यक है कि ये सभी गोतम भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं अथवा किसी एक ही व्यक्ति का भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न रूप में गोतम नाम से उल्लेख किया गया है। इन दो पक्षों में पहले ही पक्ष में यह प्रश्न उठेगा कि किस गोतम ने न्यायदर्शन की रचना की ?। दूसरे पक्ष में एक ही गोतम होने से उक्त प्रश्न की सम्भावना ही नहीं हो सकती। किन्तु विचार करने पर दूसरा पक्ष ठीक नहीं जँचता क्यों कि उपर्युक्त गोतमों के जन्म, कर्म, चरित्र आदि में महान् अन्तर है। अतः पहले पक्ष में उक्त प्रश्न का उत्थान सम्भव होने से यह निर्णय करना आवश्यक है कि इन विभिन्न गोतमों में किस गोतम ने न्यायशास्त्र की रचना की है ?

उत्तर में यही कहा जा सकता है कि इस बात का जब कहीं कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता कि इन सब गोतमों में किस गोतम ने न्यायशास्त्र की रचना की, तब न्यायशास्त्र के अध्येता-अध्यापकों की परम्परा में जो प्रसिद्धि है उसी के आधार पर इस प्रश्न का समाधान करना उचित है। परम्परा यही बताती है कि मिथिला में जनकपुर के निकट जिस गोतम का आश्रम था, जो विदेहराज जनक के पुरोधा थे, जिनकी पत्नी अहल्या को श्रीराम के चरणरजःस्पर्श से शिलात्व से मुक्ति मिली थी, वे बड़े तपस्वी, योगी तथा अगाध ज्ञान से सम्पन्न परमकारुणिक महर्षि थे। उन्होंने ही न्यायदर्शन का प्रणयन कर मिथिला को न्यायविद्या की जन्मभूमि होने का गौरव प्रदान किया था।

परम्परा की इस उक्ति में पूर्ण सत्यता प्रतीत होती है, क्यों कि न्यायविद्या का प्रादुर्भाव यदि मिथिला में न होकर कहीं अन्यत्र हुआ होता तो सबसे पहले मिथिला में ही उसके अध्ययन-अध्यापन का प्रचार क्यों होता ? और वाचस्पतिमिश्र, उदयनाचार्य, गङ्गेशोपाध्याय जैसे बड़े-बड़े नैयायिकों का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव मिथिला में ही क्यों होता ?

'न्यायसूत्र' की रचना को इतना अधिक प्राचीन मानने पर प्रश्न यह उठता है कि यदि 'न्यायसूत्र' इतना प्राचीन है तब चौथे अध्याय के सूत्रों में शून्यवाद, बाह्यार्थभङ्गवाद आदि अर्वाचीन बौद्धमतों का खण्डन कैसे सम्भव हो सकता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट की निम्न पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं।

'आदिसर्गात्प्रभृति वेदवदिमा विद्याः प्रवृत्ताः, संक्षेपविस्तारविवक्षया तु ताँस्ताँस्तत्र कर्त्तृनाचक्षते'।

वेद के समान समस्त विद्यायें सृष्टि के आरम्भकाल से ही विद्यमान हैं। जब कोई

पुरुष किसी विद्या का संक्षेप या विस्तार की विवक्षा से नये ढंग से वर्णन करता है तब उसे उस विद्या का कर्ता कहा जाता है।

जयन्तभट्ट का यह दृष्टिकोण सर्वथा उचित है। 'न्यायसूत्र' में जिन मतों का निरास किया गया है वे सब अत्यन्त चिरन्तन हैं। वे किसी विशेष समय में किसी विशेष पुरुष के मस्तिष्क में 'इदम्प्रथम' रूप में उद्भावित नहीं हुए हैं। उन्हीं पुरातन मतों को बुद्ध आदि ने अपने समय में परिष्कृत और पल्लवित किया है। इस लिये शून्य-वाद आदि मतों को अर्वाचीन मान कर इनके परिष्कारक और प्रचारक पुरुषों के पीछे 'न्यायसूत्र' को खींचना युक्तिसंगत नहीं है। अन्यथा वेद, उपनिषद्, आदि में भी उन मतों का निर्देश होने के कारण उनकी भी बौद्धकाल से पश्चाद्भाविता माननी पड़ जायगी, जिसे आज का कोई आधुनिक ऐतिहासिक भी मानने को तैयार नहीं हो सकता।

इस प्रकार न्यायशास्त्र के पण्डितों की परम्परा के अनुसार त्रेतायुग में विद्यमान महर्षि गोतमद्वारा मिथिला की पावन अवनी में निःश्रेयस के स्रोत 'न्यायसूत्र' की रचना सिद्ध होती है।

आधुनिक इतिहासकार उक्त परम्परा की उपेक्षा कर इतिहास-अन्वेषण की अर्वाचीन प्रणाली के अनुसार अपना मत निर्धारित करते हुए कहते हैं कि 'न्यायसूत्र' में विभिन्न काल के विभिन्न दार्शनिक मतों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनमें बौद्धमत का प्रामुख्य है। अतः उन सबों को दृष्टि में रखते हुए जब 'न्यायसूत्र' की रचना के काल का विचार किया जाता है तब वह ईसा प्रथम शती के पूर्व कथमपि नहीं जा पाता, अतः 'न्यायसूत्र' की रचना का समय ईसा दूसरी शती के मध्य तक मानना बुद्धिसंगत प्रतीत होता है।

आधुनिक इतिहासकारों का यह भी कथन है कि गोतम और अक्षपाद एक व्यक्ति नहीं, किन्तु दो भिन्न व्यक्ति हैं। न्यायशास्त्र का निर्माण बहुत कुछ गोतम ने ही किया था। बाद में अक्षपादने गोतमद्वारा प्रस्तुत की गयी सारी सामग्री को लेकर अपने नूतन विचारों का सन्निवेश करते हुए 'न्यायशास्त्र' की क्रमबद्ध रचना की जो आज हमारे सम्मुख विद्यमान है। अक्षपाद के समय के लोग यह जानते थे कि 'न्यायशास्त्र' की रचना एकमात्र अक्षपाद की अपनी ही कृति नहीं है किन्तु उसका बहुत सा भाग गोतम की प्रज्ञा की देन है अतः उसी समय से कुछ लोग उस कृति को गोतमीय कृति, कुछ लोग अक्षपादीय कृति, और कुछ लोग गोतमाक्षपादीय अथवा अक्षपादगोतमीय कृति कहने लगे और यह व्यवहार परम्परा से उत्तरकाल में भी अनुस्यूत हो गया। इस प्रकार आधुनिक इतिहासकारों के मत से 'न्यायशास्त्र' गोतम और अक्षपाद के मिलित चिन्तन और प्रयत्न को देन है।

प्राचीनन्याय के कतिपय आचार्य—

वात्स्यायन—

प्राचीनन्याय के आचार्यों में वात्स्यायन का प्रमुख स्थान है। इन्हों ने अक्षपाद गौतम के 'न्यायसूत्र' पर एक भाष्य की रचना की है जो 'न्यायभाष्य' तथा 'वात्स्यायनभाष्य' इन नामों से प्रसिद्ध है और वह उच्च कोटि के प्राचीन तथा अर्वाचीन परम्परा के अनेक विद्वानों के टीकाग्रन्थों से मण्डित है।

न्यायभाष्यकार का नाम—

'न्यायभाष्य' निर्माता के नाम के विषय में कई मत हैं। स्वयं न्यायभाष्यकारने अपने को 'वात्स्यायन' नाम से निर्दिष्ट किया है। जैसे—

> योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरः।
> तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्तयत्॥

वार्तिककार 'भारद्वाज' ने भी अपने 'न्यायवार्तिक' के अन्त में इसी नाम से न्यायभाष्यकार का स्मरण किया है। जैसे—

> यदक्षपादप्रतिभो भाष्यं वात्स्यायनो जगौ।
> अकारि महतस्तस्य भारद्वाजेन वार्तिकम्॥

वाचस्पति मिश्रने 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' के आरम्भ में 'न्यायभाष्यकार' को **'पक्षिल स्वामी'** के नाम से निर्दिष्ट किया है। जैसे—

'अथ भगवता अक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे व्युत्पादिते च भगवता पक्षिलस्वामिना किमपरमवशिष्यते यदर्थं वार्तिकारम्भः'?।

हेमचन्द्र के अभिधानचिन्तामणि, मर्त्यकाण्ड में वात्स्यायन के आठ नाम बताये गये हैं। जैसे—

> वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः।
> द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः॥

पुरुषोत्तम देव के त्रिकाण्डशेषकोश, ब्रह्मवर्ग में निम्न वचन उपलब्ध होता है।

> विष्णुगुप्तस्तु कौण्डिन्यश्चाणक्यो द्रामिलोंऽशुकः।
> वात्स्यायनो मल्लिनागपक्षिलस्वामिनावपि॥

इन सब वचनों को देखने से इतनी बात तो निर्विवाद जान पड़ती है कि न्यायभाष्यकारके 'वात्स्यायन' और 'पक्षिल' यह दो नाम बहुसम्मत हैं। फिर भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह दोनों मुख्य नाम हैं अथवा इनमें कोई एक मुख्य

है और दूसरा औपाधिक है, क्योंकि दोनों बातें सम्भव हैं। यह हो सकता है कि इन नामों में 'वात्स्यायन' नाम सांस्कारिक हो तथा 'पलिक्ष' नाम व्यावहारिक-पुकारू हो, और इस प्रकार दोनों नाम प्रमुख हों।

अथवा यह भी हो सकता है कि गोत्र का निर्देशक होने से 'वात्स्यायन' नाम औपाधिक हो और 'पक्षिल' नाम मुख्य हो, या 'वात्स्यायन' नाम ही मुख्य हो और 'पक्षिल' नाम 'पक्षिणः—प्रतिपक्षिणः लाति–आदत्ते–निग्रहस्थाने गृह्णाति' इस व्युत्पत्ति से 'विपक्षियों के निग्रहकर्ता' अर्थ में, अथवा 'पक्षिणः–खगान् लाति–आदत्ते–सस्नेहं सकृपं गृह्णाति' इस व्युत्पत्ति से 'पक्षी पर्यन्त प्राणियों के प्रति कृपालु–स्नेही' अर्थ में औपाधिक हो। पर जब मुझे अपनी समझ को बात कहनी होगी तो मैं यही कहना चाहूँगा कि इन दोनों नामों में 'वात्स्यायन नाम ही मुख्य है, क्योंकि इस नामका निर्देश स्वयं भाष्यकारने किया है। अतः उस निर्देशको गोत्र का निर्देश नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि उसे गोत्र का निर्देश माना जायगा तो उस गोत्र के अनेकों व्यक्ति होने के कारण उस निर्देश से भाष्यकार का व्यक्तिगत परिचय नहीं होगा। फलतः उस निर्देश की कोई उपयोगिता न होगी।

वाचस्पति मिश्र ने जो 'पक्षिल' नाम का निर्देश किया है उसे औपाधिक नाम का निर्देश माना जा सकता है; क्यों कि विनय और श्रद्धा के द्योतनार्थ उनके द्वारा मुख्य नाम का निर्देश न होकर औपाधिक नाम का निर्देश होना ही उचित है। भाष्य में अनेक प्रतिपक्षी मतों का खण्डन है, अतः 'प्रतिपक्षी के निग्रहकर्ता' अर्थ में अथवा पक्षी के समान जो अल्पज्ञ हैं उनके हितार्थ 'न्यायसूत्र' पर भाष्यनिर्माण करने की कृपा के कारण 'सर्वभूतकारुणिक' अर्थ में 'पक्षिल' इस औपाधिक नाम का निर्देश सर्वथा उचित हो सकता है।

वात्स्यायन का निवासस्थान—

वात्स्यायन के निवासस्थान के सम्बन्ध में विचार करने पर यह बात अधिक संगत प्रतीत होती है कि न्यायसूत्रकार गौतम के समान न्यायभाष्यकार वात्स्यायन को भी मिथिला का ही निवासी माना जाय, क्योंकि जब 'न्यायसूत्र' का निर्माण मिथिला में हुआ, तब यह स्वाभाविक है कि उसके भाष्य का निर्माण भी मिथिला में ही हो, क्यों कि मिथिला में बने 'न्यायसूत्र' के अध्ययन अध्यापन, व्याख्यान और अनुव्याख्यान की सुविधा और सम्भावना उतने सुदूर पूर्वकाल में जितनी मिथिला में हो सकती थी, उतनी मिथिला से दूरवर्ती किसी अन्य प्रदेश में नहीं हो सकती थी। यदि 'न्यायसूत्र' के निर्माणकाल और न्यायभाष्य के निर्माणकाल के परस्पर विप्रकर्षको देखते हुये यह सम्भावना भी की जाय कि इतनी लम्बी अवधि में

'न्यायसूत्र के' अध्ययन–अध्यापनका प्रचार मिथिला के दूरस्थ प्रदेशों में भी हो सकता है, तब भी इस प्रश्न का क्या उत्तर होगा कि जहाँ न्यायसूत्र का प्रादुर्भाव हुआ वहाँ उसका भाष्य न लिखा जाकर अन्य प्रदेश में क्यों लिखा गया ? और यदि लिखा गया तो भाष्य की रचना के बाद उस प्रदेश में न्याय विषय पर पुनः कोई महत्त्व-पूर्ण रचना क्यों नहीं हुई ? पर मिथिला के सम्बन्ध में ऐसे प्रश्न का कोई अवसर नहीं है, क्यों कि वहाँ 'न्यायसूत्र' के उपजीवी ग्रन्थों को रचना निरन्तर होती रही।

वात्स्यायन का समय—

वात्स्यायन के समय के सम्बन्ध में विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि ऐसी कोई सामग्री अभी तक हस्तगत नहीं हो सकी है जिसके आधार पर उनके समय के विषय में कोई निर्णयात्मक बात कही जा सके। अतः इस समय केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे न्यायसूत्र की रचना के बहुत बाद के हैं, क्यों कि उनके भाष्य को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि उनके समय तक न्यायदर्शन के अनेक सूत्रों के अर्थ के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यतायें बन चुकी थीं और सूत्रों में व्यक्त किए गये सिद्धान्तों के विरुद्ध अनेक मत खड़े हो गये थे। जैसे प्रमात्व को स्वतः और परतः दुर्ज्ञेय बताते हुए प्रमाण आदि पदार्थों के तत्त्वज्ञान को असाध्य कह कर न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र को असंगत घोषित कर दिया गया था। अतः भाष्यकार को **'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्ति-सामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणम्'** कह कर प्रमात्व के परतोग्राह्यत्व का समर्थन करते हुए सूत्र की संगति बतानी पड़ी।

इसी प्रकार सूत्रकारने 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' इस सूत्र से बताया था कि सर्वविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है, पर इसके विरुद्ध यह मत खड़ा हो गया था कि मोक्ष में दुःख की केवल निवृत्ति ही नहीं होती, अपितु नित्य सुख की अभिव्यक्ति भी होती है। अतः भाष्यकार को **'नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षे व्यज्यते, तेनाभिव्यक्ते-नात्यन्तं विमुक्तः सुखी भवतीति केचिन्मन्यन्ते। तेषां प्रमाणाभावादनुपपत्तिः'** कहकर उस मत का खण्डन करना पड़ा।

इसी प्रकार 'कालात्ययापदिष्टः कालातीतः' इस सूत्र का कुछ लोगोंने न्याय के अव-यवों का क्रमहीन प्रयोग करने पर कालातीत होता है, यह अर्थ समझ लिया था, अतः भाष्यकार को **'अवयवविपर्यासवचनं सूत्रार्थः······अवयवविपर्यासवचनम-प्राप्तकालमिति निग्रहस्थानमुक्तं तदेवेदं पुनरुच्यत इति। अतस्तन्न सूत्रार्थः।'** कह कर उसका खण्डन करना पड़ा।

ऐसे अनेक उदाहरण भाष्य में प्राप्य हैं। इसलिए इतना अवश्य ही सत्य है कि

अक्षपाद गोतम के 'न्यायसूत्र' तथा वात्स्यायन के 'न्यायभाष्य' में लम्बा कालविप्रकर्ष है, पर वह कितना है और 'न्यायभाष्य' की रचना का वास्तव समय क्या है ? इस बात का 'इदमित्त्थं' रूप से निर्णय अशक्य है ।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर न्यायशास्त्र के प्राचीन पण्डितों में वात्स्यायन के सम्बन्ध में जो मान्यता चिरकाल से प्रतिष्ठित है, उसके अनुसार साररूप में यही कहा जा सकता है कि 'वात्स्यायन' 'अक्षपाद गोतम' के समान ही योगप्रभव अलौकिक प्रतिभा से सम्पन्न एक महान् ऋषि थे । मिथिला में ही कहीं उनका आश्रम था । महर्षि गोतम ने 'न्यायसूत्र' द्वारा जिन अर्थतत्त्वों का उपदेश किया था, वे विभिन्न मतवादों में पड़ दुर्ज्ञेय होने लग गये थे । अतः वात्स्यायन ऋषि ने 'न्यायसूत्र' के वास्तव अर्थ को स्वच्छ और सुबोध करने के लिये उस पर एक भव्य भाष्य का निर्माण किया ।

आधुनिक ऐतिहासिकों का मत उक्त मत से अत्यन्त भिन्न है । उनमें अधिक लोगोंने 'वात्स्यायन' शब्द को गोत्र का निर्देशक, 'पक्षिलस्वामी' शब्द को मुख्यनाम और 'द्रामिल' शब्द को जातीय वा देशीय उपाधि का सूचक मान कर न्यायभाष्यकार को वात्स्यायन गोत्रीय वताते हुए उन्हें 'पक्षिलस्वामी द्रामिल' नाम से व्यपदिष्ट किया है । उनका कहना है कि भाषाप्रवाह के तरङ्गों के घात-प्रतिघात से 'द्रामिल' का 'द्राविड़' हो जाना वा 'द्राविड़' का 'द्रामिल' हो जाना दुःशक नहीं है । एवं पक्षिलस्वामी नाम में मद्रास में प्रचलित रामस्वामी, शिवस्वामी, कुप्पूस्वामी, चिन्नस्वामी आदि नामों का नितान्त साम्य है ।

न्यायदर्शन, द्वितीय अध्याय, प्रथम आह्निक, ४२ वें सूत्र के भाष्य में वर्तमान काल के अस्तित्व का समर्थन करते समय भाष्यकार ने—

'नानाविधा चैकार्था क्रिया पचतीति—स्थाल्यधिश्रयणमुदकासेचनं तण्डुलावपनमेधोऽपसर्पणमग्न्यभिज्ज्वालनं दर्वीघट्टनं मण्डस्रावणमधोऽवतारणमिति'

कह कर चावल पकाने की प्रक्रिया का निर्देश किया है। यह प्रक्रिया मद्रास में विशेष प्रचलित है ।

इन बातों से ज्ञात होता है कि न्यायभाष्यकार वात्स्यायन मद्रास के निवासी थे और उस समय के प्रसिद्ध शिक्षाकेन्द्र 'काञ्ची' नगर में जो अब 'कञ्जीवरम्' नाम से प्रसिद्ध है, रहते थे ।

समय के विषय में उनका कहना है कि न्यायदर्शन, प्रथम सूत्र के भाष्य में उपलभ्यमान—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां सेयमान्वीक्षिकी मता ॥

यह वाक्य चौथी वै. शती के प्रथम चरण में स्थित चाणक्य के अर्थशास्त्र का वाक्य है। इसी प्रकार न्यायदर्शन ५ अ० २ आ० १० वें सूत्र के भाष्य में उपलभ्यमान 'दश दाडिमानि, षडपूपाः' यह वाक्य दूसरी शती में विद्यमान पतञ्जलि के महाभाष्य का वाक्य है। अतः न्यायभाष्यकार का समय चौथी शती है।

भारद्वाज–उद्योतकर —

भारद्वाज–उद्योतकर अगाध आर्ष प्रतिभा से सम्पन्न एक महान् नैयायिक हैं। इन्होंने वात्स्यायन के न्यायभाष्य पर एक महनीय ग्रन्थ की रचना की है जो 'न्यायवार्तिक' के नाम से प्रख्यात है। इस ग्रन्थ में न्यायसूत्र और न्यायभाष्य दोनों की व्याख्या की गई है। ग्रन्थ का आरम्भ निम्नाङ्कित पद्य से हुआ है।

यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः॥

वाचस्पतिमिश्र ने अपनी 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' में इस श्लोक की व्याख्या के प्रसङ्ग में 'न्यायवार्तिक' की रचना का प्रयोजन बताते हुये कहा है कि—

'यद्यपि भाष्यकृता कृतव्युत्पादनमेतत् तथापि दिङ्नागप्रभृतिभिरर्वाचीनैः कुहेतुसन्तमससमुत्थापनेनाच्छादितं शास्त्रं न तत्त्वनिर्णयाय पर्याप्तमित्युद्योतकरेण स्वनिबन्धोद्योतेन तदपनीयते'

मुनिवर अक्षपादने जगत् को सब प्रकार के दुःखों से निर्मुक्त करने के उद्देश्य से न्यायशास्त्र का प्रणयन किया और वात्स्यायन ने उस पर भाष्य लिख कर उसे सर्वसाधारण के लिये सुबोध बना दिया। किन्तु दिङ्नाग आदि अर्वाचीन बौद्ध नैयायिकों ने कुतर्क के निविड़ तम का प्रसार कर सूत्र और भाष्य दोनों को अभिभूत कर दिया। जिसके परिणामस्वरूप शास्त्रद्वारा पदार्थों का तत्त्वनिर्णय दुर्घट हो गया। इसलिये 'उद्योतकर-भारद्वाज' ने न्यायशास्त्र को उसके निसर्ग निर्मल रूप में पुनः प्रतिष्ठित करने के हेतु बौद्ध नैयायिकों के समस्त कुतर्क-तमस को निरस्त करने के लिये अपने ग्रन्थरूप उद्योत का अवद्योतन किया।

वार्तिककार कौन ?

'न्यायवार्तिक' के अन्त में निम्न श्लोक उपलब्ध होता है।

यदक्षपादप्रतिभो भाष्यं वात्स्यायनो जगौ।
अकारि महतस्तस्य भारद्वाजेन वार्तिकम्॥

इस श्लोक से ज्ञात होता है कि न्यायवार्तिक 'भारद्वाज' की कृति है, किन्तु वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिक को 'उद्योतकर' की वाणी बतायी है, और इसकी पुष्टि के लिये

'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' के आरम्भ और अन्त दोनों स्थानों में इस बात का उल्लेख किया है।

आरम्भ का वचन इस प्रकार है—

उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्।
इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम् ॥

कुतर्कपूर्ण निबन्धों के दुस्तर पङ्क में पड़ी हुई 'उद्योतकर' की अतिजीर्ण गवी–वाणी का उद्धार कर कुछ पुण्य अर्जित करना चाहता हूँ।

अन्त का वचन इस प्रकार है—

यदलम्भि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम्।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात् ॥
संसारजलधिसेतौ वृषकेतौ सकलदुःखशमहेतौ।
फलमखिलमर्पितमेतेन प्रीयतामीशः ॥

कुतर्कपूर्ण निबन्धों के दुस्तर पङ्क में पड़ी हुई 'उद्योतकर' की अतिजीर्ण गवी-वाणी का उद्धार करने में जो कुछ पुण्य मुझे प्राप्त हुआ है उसका सम्पूर्ण फल संसारसागर के सेतु, दुःखों का विनाश करने वाले भगवान् वृषमध्वज को समर्पित करता हूँ, इससे भगवान् शङ्कर प्रसन्न हों।

इस प्रकार 'वार्तिक' के उपर्युक्त शब्दों के अनुसार वार्तिककारका नाम 'भारद्वाज' है और वाचस्पतिमिश्र के शब्दों के अनुसार वार्तिककारका नाम 'उद्योतकर' है। 'वासदत्ता' में 'वसुबन्धु' ने भी **'न्यायस्थितिमिव उद्योतकरस्वरूपाम्'** कह कर 'उद्योतकर' नाम से ही वार्तिककार का स्मरण किया है। अब प्रश्न यह होता है कि वार्तिक के उक्त पद्य में भारद्वाज का उल्लेख वार्तिककार के गोत्र का सूचक है अथवा नाम का सूचक है? इसी प्रकार वाचस्पति मिश्र के उक्त कथनों में 'उद्योतकर' शब्द का उल्लेख वार्तिककारके नाम का सूचक है अथवा गुणमूलक उपाधिका सूचक है? यदि वार्तिक का 'भारद्वाज' शब्द गोत्र का और वाचस्पति मिश्र का 'उद्योतकर' शब्द उपाधिका सूचक माना जायगा तो वार्तिककार का नाम अज्ञान के अन्धकार में ही पड़ा रह जायगा। अतः उन दोनों शब्दों में किसी को नाम का सूचक अवश्य मानना होगा? पर यह निश्चय कैसे हो कि उक्त शब्दों में कौन सा शब्द नामपरक है? इस सम्बन्ध में मेरा अपना विचार यह है कि 'वार्तिक' का 'भारद्वाज' शब्द गोत्रपरक नहीं है, किन्तु नामपरक ही है, क्योंकि यदि उसे गोत्रपरक माना जायगा तो भारद्वाज गोत्र के अनेक व्यक्ति

होने के कारण उससे वार्तिककार का व्यक्तिगत परिचय न हो सकेगा और उस दशा में वार्तिककार के लिये उस शब्द के प्रयोग की कोई सार्थकता ही न होगी। अतः यही मानना उचित प्रतीत होता है कि वार्तिककार ने 'भारद्वाज' शब्द से अपने गोत्र की सूचना नहीं दी है किन्तु अपने नाम की ही सूचना दी है।

वार्तिककार के प्रति वाचस्पति मिश्र के हृदय में अपार श्रद्धा है। अतः उन्होंने अपने ग्रन्थ 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' में वार्तिककार का उल्लेख उनके नाम से नहीं किया है अपि तु उनकी कृति 'न्यायवार्तिक' को बौद्ध नैयायिकों के कुतर्क-तमस का अपनयन करने वाला उद्योत मान कर 'उद्योतकर' की उपाधि से ही उनका स्मरण किया है। मेरे इस कथन की पुष्टि उनके पूर्वोक्त वाक्य के **'उद्योतकरेण स्वनिबन्धोद्योतेन तदपनीयते'** इस भाग से भी सम्पन्न होती है।

इस प्रकार 'न्यायवार्तिककार कौन ?' इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि 'उद्योतकर' इस औपाधिक नाम से प्रसिद्ध 'भारद्वाज' नाम के ऋषि वा ऋषिकल्प विद्वान् ही न्यायवार्तिककार हैं।

स्थान—

न्यायवार्तिककार के स्थान के बारे में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग उनके 'पाशुपताचार्य' उपाधि के आधार पर उन्हें कश्मीरी बताते हैं। उनका कहना है कि कश्मीर पाशुपतसम्प्रदाय की आविर्भावभूमि है। वहाँ के विद्वानों ने अपने को पाशुपतसम्प्रदाय से सम्बद्ध मानने में अपना गौरव माना है। अतः 'पाशुपताचार्य' उपाधि से अभिहित होने वाले न्यायवार्तिककार को कश्मीरनिवासी मानना ही उचित है।

कुछ लोगों ने उन्हें भी मैथिल ही माना है। उन लोगों का कथन है कि न्यायशास्त्र के मूलकर्ता गौतम और भाष्यकर्ता वात्स्यायन दोनों मैथिल हैं। वार्तिककार के परवर्ती वाचस्पति मिश्र और उदयनाचार्य भी मैथिल हैं। अतः बीच में एक वार्तिककार को कश्मीरी कहना उचित नहीं प्रतीत होता।

समय—न्यायवार्तिककार के समय के बारे में अभी तक केवल इतना ही निश्चय हो पाया है कि वह बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग, वसुबन्धु और नागार्जुन के परवर्ती हैं, क्योंकि उन्होंने अपने न्यायवार्तिक में इन विद्वानों के मतों का खण्डन किया है। साथ ही यह भी निर्विवाद है कि यह 'वासवदत्ता' के रचयिता 'सुबन्धु' के पूर्ववर्ती हैं क्योंकि सुबन्धु ने अपने उक्त गद्यकाव्यग्रन्थ में **'न्यायस्थितिमिव उद्योतकरस्वरूपां ....वासवदत्तां ददर्श'** इस प्रकार वार्तिककार उद्योतकर का स्पष्ट निर्देश किया है।

नव्यन्याय के कतिपय आचार्य

गङ्गेश वा गङ्गेश्वर उपाध्याय—(१२०० ई० उ०)

गङ्गेश मिथिला के सर्वश्रेष्ठ नैयायिक हैं। 'दरभङ्गा' के दक्षिणपूर्व कोण में 'कमला' नदी के तट पर स्थित 'कोरियांव' नामक ग्राम में एक ब्राह्मणविद्वत्कुल में इनका जन्म हुआ था। पहले पर्याप्त समय तक ये अध्ययन से विरत थे, किन्तु काली की आराधना से जब इन्हें न्यायनिष्णात पण्डित होने का वरदान प्राप्त हुआ तब इन्होंने अध्ययन आरम्भ किया और थोड़े ही समय में ये न्यायशास्त्र के उद्भट विद्वान् हो गये। ये मौलिक चिन्तन में नितान्त पटु तथा असाधारण प्रतिभा से सम्पन्न थे। इन्होंने 'इदम्प्रथम' पद्धति के एक नवीन एवं पूर्णतया मौलिक महान् ग्रन्थ 'तत्त्वचिन्तामणि' की रचना कर 'नव्यन्याय' को जन्म दिया। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में इनका यह कथन सर्वथा सत्य है कि—

यतो मणेः पण्डितमण्डनक्रिया प्रचण्डपाषण्डतमस्तिरस्क्रिया।
विपक्षपक्षे न विचारचातुरी न च स्वसिद्धान्तवचोदरिद्रता॥

यह ग्रन्थ एक ऐसा बहुमूल्य मणि है जिससे पण्डित जनों का मण्डन, प्रचण्ड पाषण्ड-रूपी अन्धकार का विनाश, तथा विपक्षीदल के विचारकौशल का लोप होता है और साथ ही अपने सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने में किसी प्रकार की दरिद्रता-त्रुटि नहीं रहने पाती।

इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'प्रमाणचिन्तामणि' भी है। यह चार खण्डों में विभक्त है— प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। प्रत्येक खण्ड में दर्शनान्तर के विरोधी मतों का तथा न्याय के अनेक पूर्ववर्ती मतों का निराकरण कर नूतन निर्दोष सिद्धान्तों की स्थापना की गई है।

यह ग्रन्थ अपनी असाधारण गरिमा और अमित महिमा के कारण अपने निर्माण-समय से ही मिथिला के तत्कालीन विशिष्ट नैयायिकों द्वारा अध्ययन-अध्यापन में परिगृहीत हो गया और कुछ ही दिनों में इस मणि की अलौकिक प्रभा से भारत का प्रत्येक भाग उद्भासित होने लगा। पूर्वी भारत और दक्षिण भारत तो इस ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापन तथा मनन और चिन्तन के केन्द्र ही बन गये। बंगाल के 'नवद्वीप' विद्यापीठ के नैयायिकों ने तो अपनी प्रतिभा के निकष पर इसे अच्छे प्रकार कसकर इसको और भी समुज्ज्वल तथा प्रभासम्पन्न बना दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि नवद्वीप के नैयायिकमुकुट 'रघुनाथ शिरोमणि' की 'दीधिति', 'मथुरानाथ तर्कवागीश' का 'रहस्य' 'जगदीश तर्कालङ्कार' की 'जागदीशी' तथा 'गदाधर भट्टाचार्य' की 'गादाधरी' इन टीकोपटीकावों के साथ यह ग्रन्थ सदा के लिये नैयायिकों के अध्ययन-अध्यापन का विषय बन गया।

यह कथन पूर्णतया सत्य है कि १२ वीं शती से आज तक न्यायशास्त्र का जो संस्कार, परिष्कार और विस्तार हुआ है तथा इस अवधि में लिखे गये संस्कृत वाङ्मय की अन्य शाखाओं के ग्रन्थों में जो नूतनता और विचारगम्भीरता उपलब्ध होती है उस सबका श्रेय 'गङ्गेशोपाध्याय' के 'तत्त्वचिन्तामणि' को ही है।

नवीन प्रामाणिक सिद्धान्तों की प्रतिष्ठापना की पटुता के कारण ही ये 'सिद्धान्तदीक्षागुरु' कहे जाते थे, जैसा कि स्वयं इन्होंने ग्रन्थ के आरम्भ में अपने विषय में अधस्तन पद्य में कहा है—

अन्वीक्षानयमाकलय्य गुरुभिर्ज्ञात्वा गुरूणां मतम्।
चिन्तादिव्यविलोचनेन च तयोः सारं विलोक्याखिलम्॥
तन्त्रे दोषगणेन दुर्गमतरे 'सिद्धान्तदीक्षागुरु'
र्गङ्गेशस्तनुते मितेन वचसा श्रीतत्त्वचिन्तामणिम्॥

'पुत्रे यशसि तोये च त्रिभिर्भाग्यपरीक्षणम्'

'सुयोग्यपुत्र, लोक में सुयश और अपने द्वारा बनवाये गये कूप आदि के जल का माधुर्य इन तीन बातों से मनुष्य के भाग्य की परीक्षा होती है' इस उक्ति के अनुसार ये बड़े भाग्यशाली पुरुष थे, क्यों कि जिस प्रकार इन्होंने अपने अगाध ज्ञान से लोक में अपने यश के विस्तारक 'तत्त्वचिन्तामणि' जैसे ग्रन्थरत्न की रचना की थी उसी प्रकार अपने शरीर से न्यायविद्या के पारंगत 'वर्धमान उपाध्याय' जैसे पुत्ररत्न को भी उत्पन्न किया था। गङ्गेश अपने पुत्र वर्धमान के शब्दों में 'न्यायाम्भोजपतङ्ग' और 'मीमांसापारदर्शी' हैं। वर्धमान ने उसी रूप में उनकी वन्दना की है।

न्यायाम्भोजपतङ्गाय मीमांसापारदृश्वने।
गङ्गेश्वराय गुरवे पित्रेऽत्र भवते नमः॥

गङ्गेश भगवान् शंकर को 'ओम्' पद से वाच्य, परमकृपालु तथा समस्त जगत् का आश्रय मानकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश इस त्रिमूर्ति के रूप में उनकी उपासना करते थे, जैसा कि 'तत्त्वचिन्तामणि' के उनके मङ्गल श्लोक से व्यक्त है।

गुणातीतोऽपीशस्त्रिगुणसचिवस्त्र्यक्षरमयः
त्रिमूर्तिः सन् सर्गस्थितिविलयकर्माणि तनुते।
कृपापारावारः परमगतिरेकस्त्रिजगतां
नमस्तस्मै कस्मैचिदमितमहिम्ने पुरभिदे॥

तत्त्वचिन्तामणि की व्याख्यायें—

तत्त्वचिन्तामणि के ऊपर बड़े बड़े नैयायिकों ने अनेक व्याख्यायें लिखी हैं। उनमें 'रघुनाथशिरोमणि' की 'दीधिति' 'पक्षधरमिश्र' का 'आलोक' तथा 'मथुरानाथ तर्कवागीश' का 'रहस्य' ये तीन व्याख्यायें अत्यन्त प्रौढ़ और अति प्रसिद्ध हैं।

दीधिति में मूलग्रन्थ के अर्थ को स्फुट करने के साथ अनेक नूतन विचारों का भी विस्तृत समावेश किया गया है। उसकी और उसके व्याख्येय ग्रन्थ की गम्भीरता के कारण उस पर कई प्रौढ़ व्याख्यायें निर्मित हुई हैं जैसे—

१–रामरुद्र तर्कवागीश की	'तत्त्वचिन्तामणिदीधितिटीका'।
२–रघुदेव न्यायालङ्कार की	'दीधितिटीका'।
३–रुद्र न्यायवाचस्पति की	'तत्त्वचिन्तामणिदीधितिप्रकाशिका'।
४–जयराम न्यायपञ्चानन का	'तत्त्वचिन्तामणिगूढार्थविद्योतन'।
५–रामभद्र सार्वभौम की	'दीधितिटीका'।
६–कृष्णदास सार्वभौम की	'तत्त्वचिन्तामणिदीधितिप्रसारिणी'।
७–भवानन्द सिद्धान्तवागीश की	'तत्त्वचिन्तामणिदीधितिप्रकाशिका'।
८–जगदीश तर्कालङ्कार की	'जागदीशी' टीका।
९–गदाधर भट्टाचार्य की	'गादाधरी' टीका।

दीधिति के ऊपर लिखी गई व्याख्यावों में 'जागदीशी' और 'गादाधरी' का स्थान सर्वोपरि है और अपनी विशिष्टता के कारण दीधिति की यही दो टीकायें पठन-पाठन में विशेष प्रचलित हैं तथा अनन्तरवर्ती अनेक विद्वानों ने इन टीकावों पर क्रोडपत्रों का प्रणयन किया है।

'पक्षधर मिश्र का 'आलोक' तत्त्वचिन्तामणि के अर्थ को आलोकित करने वाली एक विशद व्याख्या है। आलोक के ऊपर भी विद्वानों ने अनेक व्याख्यायें लिखी हैं। जैसे—

१–हरिदास न्यायालङ्कार, भट्टाचार्य की	'मण्यालोकटिप्पणी'।
२–मधुसूदन ठक्कुर का	'तत्त्वचिन्तामण्यालोककण्टकोद्धार'।
३–महेश ठक्कुर का	'आलोकदर्पण'।
४–देवनाथ ठक्कुर का	'तत्त्वचिन्तामण्यालोकपरिशिष्ट'।
५–कृष्णदास सार्वभौम की	'अमुमानालोकप्रसारिणी'।
६–भवानन्द सिद्धान्तवागीश की	'प्रत्यक्षालोकसारमञ्जरी'।
७–गुणानन्द विद्यावागीशका	'शब्दालोकविवेक'।
८–गदाधर भट्टाचार्य की	'तत्त्वचिन्तामण्यालोकटीका'।

मथुरानाथ तर्कवागीशका 'रहस्य' तत्त्वचिन्तामणि के समस्त भाग की अत्युत्तम व्याख्या है। इसमें मूलग्रन्थ का समग्र रहस्य बड़ी सुबोध शैली में उद्घाटित हुआ है। यह व्याख्या इतनी स्पष्ट है कि प्रतिभाशाली अध्येता विना टीका के ही इसे समझ सकते हैं। मूलग्रन्थ पर 'रहस्य' नाम की साक्षात् टोका के अतिरिक्त इन्होंने 'दीधिति' और 'आलोक' पर भी 'रहस्य' नाम की टीकायें लिखी हैं।

'दीधिति' 'आलोक' और 'रहस्य' के अतिरिक्त 'तत्त्वचिन्तामणि' की और भी कई व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं। जैसे—

१–कणाद तर्कवागीश भट्टाचार्य की	'मणिव्याख्या'।
२–हरिदास न्यायालङ्कार की	'तत्त्वचिन्तामणिप्रकाशिका'।
३–वर्धमान उपाध्याय का	'तत्त्वचिन्तामणिप्रकाश'।
४–शङ्कर मिश्र का	'तत्त्वचिन्तामणिमयूख'।
५–रुचिदत्त मिश्र का	'तत्त्वचिन्तामणिप्रकाश'।
६-रघुदेव की	'तत्त्वचिन्तामणिगूढार्थदीपिका'।
७–हरिराम तर्कवागीश की	'तत्त्वचिन्तामणिटीका'।
८–भवानन्द सिद्धान्तवागीश की	'तत्त्वचिन्तामणिटीका'।
९–जगदीश भट्टाचार्य का	'तत्त्वचिन्तामणिमयूख'।
१०–गदाधर भट्टाचार्य की	'तत्त्वचिन्तामणिव्याख्या'।
११–वाचस्पति मिश्रका	'अनुमानखण्ड'।

बड़ी उत्तम और बड़ी ज्ञानवर्धक बात हो, यदि 'तत्त्वचिन्तामणि' का एक ऐसा सम्पादन हो जिसमें इन सभी व्याख्याग्रन्थों के उन अंशों का समावेश हो जो दूसरे व्याख्याग्रन्थों से गतार्थ नहीं होते।

इतिहास के गवेषक विद्वानों ने इनके ग्रन्थ में 'सप्तपदार्थी' कार 'शिवादित्य मिश्र', 'खण्डन' कार 'श्रीहर्ष' और षड्दर्शनीवल्लभ 'श्रीवाचस्पतिमिश्र' आदि महान् विद्वानों के निर्देश के आधार पर बारहवीं शती के उत्तरार्ध में इनको विद्यमान माना है।

पक्षधर मिश्र —

'पक्षधरमिश्र' मिथिला के उद्भट नैयायिक थे। इनका दूसरा नाम था जयदेव। इन्होंने गङ्गेशोपाध्याय के 'तत्त्वचिन्तामणि' पर 'आलोक' नाम के विशिष्ट टीकाग्रन्थ का निर्माण किया था। ये जैसे उच्चकोटि के नैयायिक थे वैसे ही सुप्रसिद्ध नाटककार भी थे। इनके 'प्रसन्नराघव' की नाटकग्रन्थों में बड़ी प्रसिद्धि है। यह इतिहासवेत्ता विद्वानों द्वारा १३ वीं शती के उत्तरार्ध में विद्यमान माने गये हैं।

वासुदेव सार्वभौम—

'वासुदेव सार्वभौम' वङ्गवसुन्धरा के अनमोल मणि हैं। इन्होंने मिथिला में रहकर वहाँ के प्रसिद्ध नैयायिक पक्षधर मिश्र से तत्त्वचिन्तामणि का विधिवत् अध्ययन किया था। ऐसी किम्वदन्ती है कि मिथिला के नैयायिक अपने देश की निधि न्यायविद्या को मिथिला से बाहर ले जाने की अनुमति किसी को नहीं देते थे। वासुदेव सार्वभौम इस बातको जानते थे। अतः इन्होंने छात्रजीवन में वहीं सम्पूर्ण तत्त्वचिन्तामणि और न्यायकुसुमाञ्जलिको अक्षरशः कण्ठ कर लिया और काशी आकर उन्हें लिपिबद्ध किया। इस प्रकार न्यायशास्त्र को नवद्वीप में लेजाकर इन्होंने वहाँ न्यायशास्त्र के अध्ययन के लिये एक विद्यापीठ की स्थापना की। इतिहासवेत्ता इन्हें १३ वीं शती के उत्तरार्ध और १४ वीं शती के पूर्वार्ध में अवस्थित मानते हैं।

रघुनाथ शिरोमणि—

तार्किकशिरोमणि 'रघुनाथ' नवद्वीप के अद्वितीय नैयायिक हैं। इन्होंने पहले वासुदेव सार्वभौम और बाद में पक्षधर मिश्र से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था। इन्होंने तत्त्वचिन्तामणि पर 'दीधिति' नाम की अद्भुत टीका की रचना की है और उसमें अपने दोनों गुरुओं तथा पूर्ववर्ती अन्य अनेक नैयायिकों के मतों की आलोचना की है। अपनी असाधारण प्रतिभा और तर्कशक्ति से न्यायशास्त्र के अनेक पुरातन सिद्धान्तों का युक्तिपूर्वक खण्डन कर इन्होंने अनेक नूतन सिद्धान्तों की उद्भावना की है। इन्होंने अपनी चिन्तनशीलता और बौद्धिक क्षमता को इस प्रकार प्रकट किया है—

> विदुषां निवहैरिहैकमत्याद् यददुष्टं निरटङ्कि यच्च दुष्टम्।
> मयि जल्पति कल्पनाधिनाथे रघुनाथे मनुतां तदन्यथैव॥

मथुरानाथ तर्कवागीश—

'मथुरानाथ' नवद्वीप के सुदीप्त प्रतिभासम्पन्न महान् नैयायिक थे। इनके असाधारण वैदुष्य के सम्मान में विद्वत्समाज ने इन्हें 'तर्कवागीश' की उपाधि से अलङ्कृत कर रखा था। तत्त्वचिन्तामणि पर 'रहस्य' नामकी इनकी टीका न्याय की पण्डित-मण्डली में अत्यन्त समादृत है। यह सर्वथा सत्य है कि मथुरानाथ के 'रहस्य' के विना चिन्तामणि के अनेक स्थल 'रहस्य' ही रह जाते हैं। इतिहासवेत्ता इन्हें १६ वीं शती में विद्यमान मानते हैं।

जगदीश तर्कालङ्कार—

'जगदीश' अपने समय के न्यायशास्त्र के उच्चकोटि के विद्वानों में सर्वमान्य थे। इन्होंने 'रघुनाथ' की 'दीधिति' पर विस्तृत टीकाग्रन्थ की रचना की है, जो 'जागदीशी'

नाम से विख्यात है। 'तर्कामृत' और 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' आदि इनके कई मौलिक ग्रन्थ हैं। विद्वानों ने **'जगदीशस्य सर्वस्वं शब्दशक्तिप्रकाशिका'** कह कर इनकी 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' की प्रशस्ति की है ! यह ऐतिहासिकों द्वारा १७ वीं शती में विद्यमान माने गये हैं।

गदाधर भट्टाचार्य—

'गदाधर भट्टाचार्य' नवद्वीप के स्वनामधन्य नैयायिक हैं। इन्होंने रघुनाथ की 'दीधिति' पर अत्यन्त विस्तृत और परिष्कृत टीकाग्रन्थ की रचना की है जो 'गादाधारी' नाम से विख्यात है। व्युत्पत्तिवाद, शक्तिवाद आदि इनके कई ऐसे मौलिक ग्रन्थ हैं, जो इनकी मौलिक चिन्तन की असाधारण विदग्धता के साक्षी हैं। इतिहासवेत्तावों द्वारा यह १७ वीं शताब्दी में विद्यमान माने गये हैं !

प्रकरणग्रन्थ और उनके निर्माता—

न्यायशास्त्र में 'प्रकरणग्रन्थों' की संख्या पर्याप्त है। पदार्थों के परिचय के लिए इन ग्रन्थों की बड़ी उपयोगिता है। अतः कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकरणग्रन्थों और उनके रचयिता विद्वानों की थोड़ी चर्चा कर लेना आवश्यक है।

पराशर उपपुराण में 'प्रकरण' की परिभाषा निम्न प्रकार से की गई है।

> शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
> आहुः 'प्रकरणं' नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥

जिस ग्रन्थ में किसी एक शास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों में किसी एक ही विषय का प्रधानतया प्रतिपादन होता है और साथ ही सम्बद्ध शास्त्र से अतिरिक्त शास्त्र के विषयों का भी प्रयोजनानुसार समावेश किया गया होता है, विद्वज्जन उसे 'प्रकरणग्रन्थ' कहते हैं।

न्यायशास्त्र के प्रकरणग्रन्थ चार विभागों में रखे जा सकते हैं।

१—न्यायशास्त्र के ऐसे ग्रन्थ, जिनमें प्रमाणपदार्थ का प्रधान रूप से और प्रमेय, संशय आदि पन्द्रह पदार्थों का गौण रूप से वर्णन होता है।

२—न्यायशास्त्र के ऐसे ग्रन्थ, जिनमें न्यायदर्शन के प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के साथ वैशेषिक दर्शन के द्रव्य आदि छः पदार्थ भी वर्णित होते हैं पर स्वतन्त्र रूप से नहीं किन्तु न्यायदर्शन के पदार्थों के किसी वर्ग में अन्तर्भावित होकर।

३—न्यायशास्त्र के ऐसे ग्रन्थ, जिनमें न्यायदर्शन के प्रमाणों को वैशेषिक दर्शन के पदार्थों की किसी श्रेणी में अन्तर्भावित कर वैशेषिक के द्रव्य, गुण आदि पदार्थों के साथ उनका प्रतिपादन किया जाता है।

४–न्यायशास्त्र के ऐसे ग्रन्थ, जिनमें न्याय और वैशेषिक दर्शन के कतिपय विषयों का उन दर्शनों की शैली से पृथक्-पृथक् वर्णन होता है।

प्रथम विभाग के प्रकरणग्रन्थों के रचयिता

भासर्वज्ञ (१० वीं शती)

'भासर्वज्ञ' के देश और काल का निर्णय दुःशक समझा जाता है। कश्मीरी सर्वज्ञमित्र और सर्वज्ञदेव के नामसाम्य के आधार पर इन्हें कश्मीर का निवासी कहा जा सकता है।

इतिहासज्ञों का कथन है कि १४ वीं शती के अन्त में स्थित जैन विद्वान् गुणरत्न की 'षड्दर्शनवृत्ति' में और १४ वीं शती के द्वितीय चरण में स्थित मलधारी राजशेखर के 'षड्दर्शनसमुच्चय' में भासर्वज्ञ का तथा १० वीं शती के अन्त में विद्यमान बौद्ध विद्वान् रत्नकीर्ति की 'अपोहसिद्धि' में भासर्वज्ञ के न्यायसार' की प्रसिद्ध टीका 'न्यायभूषण' का उल्लेख प्राप्त होता है, इस लिए 'भासर्वज्ञ' को १० वीं शती के द्वितीय चरण में अवस्थित माना जा सकता है।

न्यायसार—

'न्यायसार' भासर्वज्ञ का एक अनमोल प्रकरण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का आरम्भ निम्नाङ्कित मङ्गलश्लोक के उल्लेख के साथ हुआ है।

प्रणम्य शम्भुं जगतः पतिं परं समस्ततत्त्वार्थविदं स्वभावतः।
शिशुप्रबोधाय मयाऽभिधास्यते प्रमाण, तद्भेद, तदन्यलक्षणम् ॥

इस ग्रन्थ में प्रमाण लक्षण के प्रसङ्ग से संशय और विपर्यय की चर्चा करके प्रमाण के तीन भेद बताये गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इस संख्यासाम्य के कारण यह ग्रन्थ सांख्य और जैन दर्शन के अनुरूप तथा उपमान के साथ उक्त तीन प्रमाण मानने वाले न्यायदर्शन एवं प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानने वाले बौद्धदर्शन के विरूप है।

प्रत्यक्ष—

प्रत्यक्ष के दो मुख्य भेद माने गये हैं 'यौगिक' और 'लौकिक'। 'यौगिक' के दो भेद बताये गये हैं 'युक्त' और 'अयुक्त'। 'अयुक्त' के दो भेद कहे गये हैं 'आर्ष' और अनार्ष। लौकिक प्रत्यक्ष के छः भेद बताये गये हैं—घ्राणज, रासन, चाक्षुष, स्पार्शन, श्रावण और मानस।

अनुमान—

अनुमान के दो भेद बताये गये हैं 'स्वार्थानुमान' और 'परार्थानुमान'। परार्थानुमान को अवयवसाध्य बताकर उसी के सन्दर्भ में निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति और निग्रहस्थानों का परिचय दिया गया है।

शब्द—

शब्दप्रमाण के दो भेद वर्णित हैं दृष्टार्थक—लौकिक आप्तवाक्य और अदृष्टार्थक—वेदवाक्य !

प्रमेय—

प्रमेय के चार भेद बताये गये हैं—दुःख, दुःखकारण, दुःखनिवृत्ति और दुःख-निवृत्ति का उपाय।

मोक्ष—

मोक्ष में दुःख की निवृत्ति के साथ शाश्वत सुख की प्राप्ति का समावेश किया गया है।

उक्त प्रकार से प्रमाण के मुख्य प्रतिपादन के साथ न्यायदर्शन के प्रायः अन्य सभी पदार्थों का वर्णन इस ग्रन्थ में सम्पन्न हुआ है और साथ ही न्यायदर्शन में अप्रतिपादित मोक्ष की शाश्वतसुखरूपता आदि का भी निरूपण है, अतः 'प्रकरण' की उक्त परिभाषा के अनुसार प्रथमविभागीय प्रकरण ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

द्वितीयविभाग के न्यायशास्त्रीय प्रकरण ग्रन्थ

वरदराज (१२ वीं शती)

'वरदराज' सम्भवतः आन्ध्र प्रदेश के निवासी थे। इन्होंने 'तार्किकरक्षा' नामक एक सुप्रशस्त प्रकरणग्रन्थ की रचना की है और उसके तात्पर्य के अवद्योतनार्थ उस पर 'सारसंग्रह' नाम की एक व्याख्या भी लिखी है। विष्णुस्वामी के शिष्य ज्ञानपूर्ण ने 'लघुदीपिका' और मल्लिनाथ ने 'निष्कण्टक' टीका की रचना कर उसका पर्याप्त श्रीसंवर्धन किया है।

इस ग्रन्थ में न्यायदर्शन के प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का निरूपण करते हुये 'प्रमेय' के मध्य में आत्मा, शरीर आदि बारह पदार्थों के साथ द्रव्य, गुण आदि छः पदार्थों का भी परिगणन करके उनका विशद प्रतिपादन किया गया है। प्रमेय के मध्य में द्रव्य आदि छः पदार्थों का अन्तर्भाव यदि इष्ट है तब अक्षपाद ने 'अन्य प्रमेयों के समान द्रव्य आदि प्रमेयों का भी लक्षण और परीक्षा द्वारा प्रतिपादन क्यों नहीं किया'? इस प्रश्न का उत्तर इन्होंने यह कहकर दिया है कि द्रव्य, गुण आदि पदार्थों का ज्ञान साक्षात् मोक्ष का साधन नहीं है अत एव उनका निरूपण अक्षपाद ने नहीं किया क्योंकि मोक्षसाधक ज्ञान के विषयों का प्रतिपादन ही उन्हें अभिप्रेत था, जैसा कि 'तार्किकरक्षा' के निम्न पद्य से स्पष्ट है।

मोक्षे साक्षादनङ्गत्वादक्षपादैर्न लक्षितम् ।
तन्त्रान्तरानुसारेण षट्कं द्रव्यादि लक्ष्यते ।।

'तार्किकरक्षा' में वाचस्पतिमिश्र और उदयनाचार्य का निर्देश करते हुये निम्न पद्य का उल्लेख किया गया है ।

आलोच्य दुस्तरगभीरतरान् प्रबन्धान्
वाचस्पतेरुदयनस्य तथा परेषाम् ।
सारो मयात्र समगृह्यत वावदूके
नित्यं कथासु विजिगीषुभिरेष धार्यः ।।

इस श्लोक के अनुसार 'वरदराज' निश्चितरूप से इन लोगों के बाद के हैं । १४ वीं शती में लिखे गये 'माधवाचार्य' के 'सर्वदर्शनसंग्रह' में इनका उल्लेख है । अतः इनका उस समय से पहले का होना निश्चित है । ऐतिहासिकोंने अपनी गावेषणिक प्रणाली से तार्किकरक्षाकार वरदराज को १२ वें शतक के मध्य में अवस्थित होने की सम्भावना व्यक्त की है ।

केशवमिश्र (१३ वीं, शती, तृतीय चरण)

'केशव मिश्र' अपने समय के मिथिला के श्रेष्ठ नैयायिकों में अन्यतम हैं । इन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ 'तर्कभाषा' नामक एक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की है जो न्यायदर्शन के महानद में प्रवेश पाने के लिए सुडौल सोपान के समान है ।

बालोऽपि यो न्यायनये प्रवेशमल्पेन वाञ्छत्यलसः श्रुतेन ।
संक्षिप्तयुक्त्यन्विततर्कभाषा प्रकाश्यते तस्य कृते मयैषा ।।

'तर्कभाषा' की रचना के इस उद्देश्य की पूर्ति में 'तर्कभाषा' पूर्णरूप से सक्षम सिद्ध हुई है । न्यायदर्शन में कहे गये बारह प्रमेयों में चौथे प्रमेय 'अर्थ' के मध्य वैशेषिक दर्शन के द्रव्य आदि छः पदार्थों का परिगणन कर इस ग्रन्थ में उनका भी सुबोध वर्णन किया गया है ।

न्यायदर्शन तथा वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थों में अनेकत्र बिखरे हुये कतिपय विशेष ज्ञातव्य विषयों का संक्षिप्त एवं सुन्दर संकलन कर उन्हें परम सुगम बना ग्रन्थकार ने केवल छात्रों को ही नहीं अपितु विद्वानों की भी प्रशंसनीय सहायता की है । यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि उचितरूप से अध्ययन कर यदि इस ग्रन्थ को अभ्यस्त रखा जाय तो न्याय, वैशेषिक दोनों दर्शनों के समग्र प्रमेय करामलकवत् हो सकते हैं । इस गुण

के कारण ही यह ग्रन्थ अपने देश की विभिन्न परीक्षावों के पाठयक्रम में रखा गया है और इस समय के अनेक लोगों ने इस पर नई नई व्याख्यायें लिखी हैं एवं हिन्दी तथा अंग्रेजी भाषाओं में इसका अनुवाद किया है। इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाओं का लिखा जाना इसकी उपादेयता और लोकप्रियता का प्रबल साक्षी है। 'तर्कभाषा' के प्रमुख टीका ग्रन्थ और अनुवादग्रन्थ निम्नाङ्कित हैं।

१–'उज्ज्वला'	गोपीनाथकृत।
२–'तर्कभाषाभाव'	रोमविल्ववेङ्कटबुद्धकृत।
३– न्यायसंग्रह'	रामलिङ्गकृत।
४–'सारमञ्जरी'	माधवदेवकृत।
५–'प रभाषादर्पण'	भास्करभट्टकृत।
६–'तर्कभाषाप्रकाशिका'	बालचन्द्रकृत।
७–'युक्तिमुक्तावली'	नागेशभट्टकृत।
८–'तर्कभाषाप्रकाशिका'	चिन्नभट्टकृत।
९. 'तत्त्वप्रबोधिनी'	गणेशदीक्षितकृत।
१०–'तर्कभाषाप्रकाशिका'	कौण्डिन्यदीक्षितकृत।
११–'तर्कदीपिका'	केशवभट्टकृत।
१२–'तर्कभाषाप्रकाशिका'	गोवर्धनमिश्रकृत।
१३–'तर्कभाषाप्रकाशिका'	गौरीकान्तसार्वभौमकृत।
१४–'न्यायप्रदीप'	विश्वकर्मकृत।
१५-अंग्रेजी अनुवाद	म० म० डा० गङ्गानाथझाकृत।
१६–हिन्दी अनुवाद	आचार्य विश्वेवरकृत।

ऐतिहासिकों का कथन है कि तर्कभाषा के टीकाकार चिन्नभट्ट १४ वीं शती के उत्तरार्द्ध में विद्यमान विजयनगर के राजा हरिहर के आश्रित थे, एवं तर्कभाषाकार केशव मिश्र के शिष्य गोवर्धन मिश्र के ज्येष्ठ भ्राता पद्मनाभ मिश्र ने १३ वीं शती के प्रथम चरण में अवस्थित 'वर्धमान' का अपने 'किरणावलीभास्कर' में निर्देश किया है। अतः केशव मिश्र को १३ वीं शती के तीसरे या चौथे चरण में वर्तमान मानना उचित प्रतीत होता है।

तृतीय विभाग के प्रकरण ग्रन्थों के रचयिता—

वल्लभाचार्य (१२ वीं शती)

'वल्लभाचार्य' न्याय और वैशेषिक दर्शन के परम प्रकाण्ड पण्डित हैं। ये वैष्णव सम्प्रदाय की वल्लभशाखा के प्रवर्तक 'वल्लभाचार्य' से भिन्न हैं। 'न्यायलीलावती'

इनकी एक कमनीय कृति है जो न्याय, वैशेषिक दर्शनों का एक विशाल प्रकरणग्रन्थ है। ग्रन्थ का आरम्भ पुरुषोत्तम परमात्मा की वन्दना से किया गया है जो इस प्रकार है—

नाथः सृजत्यवति यो जगदेकपुत्रः
प्रीत्या ततः परमनिर्वृतिमादधाति।
तस्मै नमः सहजदीर्घकृपानुबन्ध-
लब्धत्रितत्त्वतनवे पुरुषोत्तमाय॥

'वल्लभाचार्य' ने अपनी वल्लभा के नाम पर इस ग्रन्थ का नामकरण किया है और एक श्लिष्ट पद्य के द्वारा पत्नीरूपा तथा ग्रन्थरूपा 'लीलावती' का वर्णन करते हुए प्रतिपाद्य द्रव्य आदि पदार्थों का उल्लेख किया है। वह सुन्दर पद्य इस प्रकार है—

द्रव्यं नाधिकमुज्ज्वलो गुणगणः कर्माधिकं श्लाघ्यते।
जातिर्विप्लुतिमागता न च पुनः श्लाघ्या विशेषस्थितिः।
सम्बन्धः सहजो गुणादिभिरयं यत्रास्तु सत्प्रीतये
साऽन्वीक्षानयवेश्मकर्मकुशला श्रीन्यायलीलावती॥ २॥

इस पद्य में प्रतिपाद्य विषय के रूप में वैशेषिक दर्शन के 'धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्' इस सूत्र के अनुसार द्रव्य आदि छः भाव पदार्थों का ही निर्देश किया गया है। इस निर्देश से 'अभाव' पदार्थ वैशेषिक को मान्य नहीं है, ऐसा किसी को भ्रम न हो जाय, एतदर्थ उन्होंने भावपदार्थ के षड्विध विभाग का उपपादन करते हुए 'अभावस्य च समानतन्त्रसिद्धस्याप्रतिषिद्धस्य न्यायदर्शने मानसेन्द्रियतासिद्धिवदत्राप्यविरोधादभ्युपगमसिद्धान्तसिद्धत्वात्' इस ग्रन्थभाग से अभाव को अभ्युपगमसिद्धान्तसिद्ध कह कर उसे वैशेषिकसम्मत बताया है।

'वल्लभाचार्य' ने इस ग्रन्थ में वैशेषिक के षड्विध भाव पदार्थों में दूसरे पदार्थ 'गुण' के वर्ग में परिगणित बुद्धि का विद्या-यथार्थज्ञान और अविद्या-अयथार्थज्ञान इस प्रकार दो भेद बताकर विद्या के साधन के रूप में न्यायदर्शन के चतुर्विध प्रमाणों का प्रतिपादन किया है।

उच्चकोटि के नैयायिकों द्वारा लिखित जिन टीका-उपटीका ग्रन्थों से 'न्यायलीलावती' की सुषमा विद्वानों के बौद्ध नेत्रों के समक्ष प्रस्तुत हुई है वे इस प्रकार हैं—

१-न्यायलीलावतीप्रकाश, वर्धमान उपाध्यायकृत।
२-न्यायलीलावतीदीधिति, रघुनाथशिरोमणिकृत।
३-न्यायलीलावती कण्ठाभरण, शङ्करमिश्रकृत।

४–न्यायलीलावतीप्रकाशविवेक, मथुरानाथतर्कवागीशकृत, (उपटीका)।
५–न्यायलीलावतीप्रकाशविवृति, भगीरथठक्कुरकृत, (उपटीका)।

इतिहासज्ञों का कथन है कि न्यायलीलावती में १० वीं शती के चतुर्थ चरण में विद्यमान उदयनाचार्य का निर्देश है तथा १३ वीं शती के प्रथम चरण में वर्तमान वर्धमान ने इस ग्रन्थ पर व्याख्या लिखी है अतः इन दोनों के मध्य १२ वीं शती में इस ग्रन्थ के रचयिता 'वल्लभाचार्य' की स्थिति सम्भव प्रतीत होती है।

अन्नम्भट्ट (१७ वीं शती, प्रथम चरण)

दक्षिण भारत की परम्परागत मान्यता के अनुसार 'अन्नम्भट्ट' 'चित्तूर' जिला के निवासी आन्ध्र पण्डित हैं। इनका बनाया 'तर्कसंग्रह' एक अत्यन्त सुप्रसिद्ध और नितान्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसके आरम्भ और उपसंहार में क्रम से निम्नलिखित दो पद्य प्राप्त होते हैं।

निधाय हृदि विश्वेशं विधाय गुरुवन्दनम्।
बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसंग्रहः॥
कणादन्यायमतयोर्बालव्युत्पत्तिसिद्धये।
अन्नम्भट्टेन विदुषा रचितस्तर्कसंग्रहः॥

दूसरे श्लोक से स्पष्ट है कि 'तर्कसंग्रह' न्याय और वैशेषिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला बालोपयोगी ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में वैशेषिक दर्शन के द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन सात पदार्थों का प्रतिपादन बड़ी सुस्पष्ट एवं सुबोध भाषा में किया गया है। अन्त में **'सर्वेषामपि पदार्थानां यथायथमुक्तेष्वन्तर्भावात् सप्तैव पदार्था इति सिद्धम्"** कहकर न्यायदर्शन के प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का वैशेषिक के द्रव्य, गुण आदि सात पदार्थों में अन्तर्भाव सूचित किया गया है। इस ग्रन्थ के ऊपर 'अन्नम्भट्ट' ने स्वयं एक टीका लिखी है जिसका नाम 'तर्कसंग्रहदीपिका' है। इस टीका के अन्तिम भाग में द्रव्य आदि पदार्थों में न्यायदर्शनोक्त सोलह पदार्थों का अन्तर्भाव बड़े सुन्दर और सरल ढंग से दिखाया गया है।

'तर्कसंग्रहदीपिका' के ऊपर नीलकण्ठ भट्ट ने 'प्रकाश' नाम की एक टीका लिखी है जो 'नीलकण्ठी' नाम से प्रसिद्ध है और नीलकण्ठी के ऊपर नीलकण्ठ के पुत्र लक्ष्मीनृसिंह ने 'भास्करोदया' नाम की एक विस्तृत और प्रामाणिक टीका लिखी है और उसे अर्धनारीश्वर शिव को निम्नाङ्कित पद्य-गद्य द्वारा अर्पित किया है।

श्रीमत्पण्डितमण्डलीकुमुदिनीराकासुधादीधितेः
पुत्रस्तस्य च नीलकण्ठविदुषो लक्ष्मीनृसिंहाभिधः।
श्रीमत्तातविनिर्मितां कृतिमिमां व्याख्यातवान् मञ्जुकां
तेन स्यान्मुदितो हिमाचलसुतावामार्धदेहः शिवः॥

श्रीमद्दक्षिणामूर्तिप्रसादलब्धानवद्यविद्यनिखिलवेदशाखामुखसर्वतन्त्रस्वतन्त्र-स्यानल्पान्तेवासिपञ्चास्यजितदिङ्मण्डलविद्वद्गजविविधग्रन्थनिबन्धनपटुतर-सिद्धान्तपारीणकुशलपण्डितमण्डलविकचकुमुद्वतीरमणायमानाद्वैतज्ञानामृतो-द्गारधारासम्पातनिरन्तरविडम्बितप्रावृषेण्यवारिवाहव्यूहमहामहोपाध्यायश्री-नीलकण्ठभट्टचरणकमलध्यानावलब्धसन्मतिकतत्सूनुसूरिश्रीलक्ष्मीनृसिंहविर—चिता तर्कसंग्रहदीपिकाप्रकाशव्याख्या भास्करोदयाख्या श्रीनीलकण्ठस्य प्रीतये सम्बोभूयात्।

(१) दीपिका (२) प्रकाश और (३) भास्करोदया टीकावों के साथ तर्कसंग्रह बम्बई के निर्णय सागर प्रेस से १९१५ ई० में प्रकाशित हुआ है। इन टीकावों के अतिरिक्त गोवर्धन मिश्र की (४) न्यायबोधिनी टीका और चन्दराज सिंह की (५) पदकृत्य टीका भी बड़ी व्युत्पादक टीकायें हैं।

तर्कसंग्रह भाषासारल्य, शैलीसौन्दर्य, स्वल्पकायता और विषयप्रतिपादन की पूर्णता की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी और अतीव जनप्रिय होने के कारण देश की विभिन्न परीक्षावों में पाठचपुस्तक के रूप में स्वीकृत है। इसलिये इस ग्रन्थ पर बराबर टीकायें लिखी जाती रही हैं। कई लोगों ने अंग्रेजो और हिन्दी में भी इसका अनुवाद किया है।

तर्कसंग्रहदीपिका में काञ्ची के राजा त्रिभुवन तिलक की चर्चा और तर्कसंग्रह की एक हस्तलिखत प्रति पर १७२४ ई० के उल्लेख के आधार पर अन्नम्भट्ट को १७ वीं शती में विद्यमान माना जाना उचित ज्ञात होता है। इन्होंने अपने जीवन का अधिक भाग वाराणसी में व्यतीत किया था और वहीं काशीलाभ प्राप्त किया था।

विश्वनाथ न्यायपञ्चानन (१७ वीं शती, तृतीय चरण)

विश्वनाथ न्यायपञ्चानन 'रघुनाथ शिरोमणि' की शिष्य–परम्परा में नवद्वीप के श्रेष्ठ नैयायिक हैं। इनका 'भाषापरिच्छेद–कारिकावली' न्याय और वैशेषिक का एक सुप्रशस्त 'प्रकरण' ग्रन्थ है। अपने एक अल्पमति किन्तु परम भक्त छात्र के अनुरोध पर इन्होंने इस भाषापरिच्छेद—कारिकावली पर एक व्याख्या लिखी थी। जैसा इन्होंने स्वयं कहा है।

निजनिर्मितकारिकावलीमतिसंक्षिप्तचिरन्तनोक्तिभिः।
विशदीकरवाणि कौतुकान्ननु राजीवदयावशम्वदः॥

वह व्याख्या 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' के नाम से पण्डितसमाज में सुप्रसिद्ध है।

'कारिकावली' का आरम्भ कृष्णवन्दना और 'मुक्तावली' का आरम्भ शिववन्दना से हुआ है। जैसे—

नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय ।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय ॥ [कारिकावली]

चूडामणीकृतविधुर्वलयीकृतवासुकिः ।
भवो भवतु भव्याय लीलाताण्डवपण्डितः ॥ [मुक्तावली]

'मुक्तावली' की 'दिनकरी' और 'रामरुद्री' टीकाओं में इन श्लोकों की पाण्डित्यपूर्ण मनोरम व्याख्या की गई है ।

विश्वनाथ अपनी 'पिङ्गलप्रकाशिका' के

विद्यानिवाससूनोः कृतिरेषा विश्वनाथस्य ।
विदुषामतिसूक्ष्मधियाममत्सराणां मुदे भविता ॥

इस वचन के अनुसार 'विद्यानिवास' के पुत्र हैं । विद्यानिवास के 'दानकाण्ड' नाम की पुस्तक की एक हस्तलिखित प्रति म० म० हरप्रसाद शास्त्री की 'नेपालग्रन्थसूची' की भूमिका में उल्लिखित ।

सर्वेषां मौलिरत्नानां भट्टाचार्यमहात्मनाम् ।
एतद्विद्यानिवासानां दानकाण्डाख्यपुस्तकम् ॥
व्योमेन्दुशरशीतांशुमितशाके विशेषतः ।
शूद्रेण कविचन्द्रेण विलिख्य परिशोधितम् ॥

इस वचन के अनुसार १५१० शक (१५८८ ई०) में तयार हुई थी ।

जे० ए० एस० बी० पु० ६; सं० ७ में प्रकाशित म० म० हरप्रसादशास्त्री के लेख में उद्धृत

रसवाणतिथौ शकेन्द्रकाले वहुले कामतिथौ शुचौ सिताहे ।
अकरोन्मुनिसूत्रवृत्तिमेतां ननु वृन्दावनविपिने स विश्वनाथः ॥

इस वचन के अनुसार विश्वनाथ ने १६३४ ई० में 'न्यायसूत्रवृत्ति' का निर्माण किया था । इन सब तथ्यों के आधार पर उन्हें १७ वीं शती के पूर्वार्ध में विद्यमान मानना संगत प्रतीत होता है ।

इस ग्रन्थ में भी वैशेषिक के सप्तविध पदार्थों में द्वितीय पदार्थ गुण के अन्तर्गत बुद्धि के एक प्रभेद यथार्थ अनुभव के प्रसङ्ग में न्यायशास्त्रोक्त चतुर्विध प्रमाण का प्रतिपादन किया गया है ।

जगदीश तर्कालङ्कार (१७ वीं शती)

'जगदीश' 'नवद्वीप' के महामहिम नव्य नैयायिक हैं । इनका वैदुष्य वहुमुखी था । इन्होंने बहुत बड़े बड़े ग्रन्थों की रचना की है । पर वहुज्ञ अध्येतावों के लिये अध्ययन की सामग्री

प्रस्तुत करते समय इन्होंने अल्पज्ञ अध्येतावों को विस्मृत नहीं किया। उनके योग्य अध्ययनसामग्री सुलभ करने के लिये इन्होंने एक स्वल्पकाय, सरल 'प्रकरण' ग्रन्थ की भी रचना की जो 'तर्कामृत' नाम से प्रसिद्ध है। निम्न श्लोकद्वारा विष्णुवन्दना के साथ इस ग्रन्थ का आरम्भ हुआ है।

ब्रह्माद्या निखिलार्चितास्त्रिदशसन्दोहाः सदाऽभीष्टदा
अज्ञानप्रशमाय यत्र मनसो वृत्तिं समस्तां दधुः।
श्रीविष्णोश्चरणाम्बुजं भवभयध्वंसैकबीजं परम्
हृत्पद्मे विनिधाय तन्निरुपमं तर्कामृतं तन्यते ॥

इस ग्रन्थ में भाव और अभाव के रूप में पदार्थों का द्विविध वर्गीकरण कर वैशेषिक के सातो पदार्थों का अत्यन्त सरल रीति से वर्णन करते हुये ज्ञाननिरूपण के सन्दर्भ में न्यायदर्शनानुमोदित चतुर्विध प्रमाणों का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ न्यायदर्शन में अनुक्त वैशेषिक के विशेष' और वैशेषिकदर्शन में अस्वीकृत 'शब्द' तथा 'उपमान' प्रमाण का प्रतिपादन करने के कारण न्याय और वैशेषिक का मिलित प्रकरणग्रन्थ माना जाता है।

लौगाक्षिभास्कर (१७ वीं शती)

ये न्याय, वैशेषिक और मीमांसादर्शन के विशिष्ट विद्वान् थे। इनके पिता का नाम मुद्गल और पितृव्य का नाम रुद्र था। ये वाराणसी में रहते थे। इन्होंने न्यायवैशेषिक के एक लघुकाय प्रकरणग्रन्थ की रचना की है जो 'तर्ककौमुदी' नाम से विदित है।

चौथे प्रकार के प्रकरण ग्रन्थ

शशधर (१२ वीं शती)

शशधर न्याय और वैशेषिकदर्शन के प्रमेयाभिज्ञ प्रतिष्ठित पण्डित थे। ये अपने पाण्डित्य के सम्मान में 'महोपाध्याय' उपाधि से अलङ्कृत किये गये थे। इन्होंने न्याय-दर्शन के एक प्रकरणग्रन्थ की रचना की थी जो 'न्यायसिद्धान्तदीप' नाम से ख्यात है। इसमें न्याय और वैशेषिक के विषयों का साकल्येन वर्णन न कर उनके कुछ प्रमुख विषयों का ही वर्णन किया गया है। ग्रन्थ का आरम्भ निम्नाङ्कित मङ्गलश्लोक से किया गया है।

ध्वंसितनरसिद्धान्तध्वान्तं
गौतममतैकसिद्धान्तम् ।
नत्वा नित्यमधीशं
शशधरशर्मा प्रकाशयति ॥

इस पद्य के 'नरसिद्धान्त' शब्द से सूचित होता है कि इस ग्रन्थ में जिन मतों का खण्डन किया गया है उन्हें उन मतों को मानने वाले चाहे जितना भी ऊँचा स्थान दें पर वे नरमत हैं -- सामान्य नर के मत हैं । और जिस मत का इस ग्रन्थ में समर्थन किया गया है वह गौतम ऋषि से प्रतिष्ठापित होने के कारण आर्ष मत है । इस ग्रन्थ पर 'शेषानन्त' ने 'न्यायसिद्धान्तदीपटीका' नाम की व्याख्या लिख कर इसकी उपयोगिता की वृद्धि की है ।

वंशीय परम्परा के अनुसार 'शशधर' और 'मणिधर' अपनी प्रज्ञा की तीक्ष्णता और प्रतिपक्षी के मत पर भोषण आक्रमण करने की प्रवृत्ति के कारण 'सिंह' और 'व्याघ्र' कहे जाते थे और इसी लिये इनके बनाये व्याप्तिलक्षण 'सिंहव्याघ्रलक्षण' कहे जाते थे। गङ्गेशोपाध्याय ने अपने 'तत्त्वचिन्तामणि' के अन्तर्गत अनुमानखण्ड के व्याप्तिप्रकरण में इन लक्षणों को दोषग्रस्त बताया है । यदि इस परम्परा को सत्य माना जाय तो १२ वीं शती में गङ्गेश के पूर्व शशधर का समय सिद्ध हो सकता है ।

माधवाचार्य (१४ वीं शती)

श्रीमत्सायणदुग्धाब्धिकौस्तुभेन महौजसा ।
क्रियते माधवार्येण सर्वदर्शनसंग्रहः ।।

इस 'सर्वदर्शनसंग्रह' के वचन के अनुसार 'माधवाचार्य' 'सायण' के वंशज हैं । वही सायण जो सम्भवतः वेदों के भाष्यकर्ता हैं । इन्होंने अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में सभी वैदिक अवैदिक दर्शनों के सिद्धान्तों का पार्थक्येन निरूपण किया है । न्याय और वैशेषिक दर्शनों का क्रम से अक्षपाददर्शन और औलूक्यदर्शन के नाम से इस ग्रन्थ में सन्निवेश किया गया है । पर्याप्त प्राञ्जल भाषा में प्रमुख विषयों का वर्णन इस ग्रन्थ में विन्यस्त है ।

(१) सर्वदर्शनसंग्रह के अतिरिक्त जो ग्रन्थ उनकी कृति के रूप में ज्ञात हैं, वे ये हैं।

(२) जैमिनीयन्यायमालाविस्तर ।

(३) कथानिर्णय ।

(४) पराशरस्मृतिव्याख्या ।

ये १४ वीं शती के द्वितीय चरण से लगभग उस शती के अन्त तक विद्यमान थे ।

जयन्तभट्ट (१० वीं शती)

'जयन्तभट्ट' पदवाक्यप्रमाणपारावारीण पण्डित हैं । वैदिक, अवैदिक सभी दर्शनों में इनकी गति अप्रतिहत है । किसी शास्त्र में कहीं भी इनकी मति कुण्ठित नहीं होती । ये जैसे उच्चकोटि के शास्त्रार्थकुशल वक्ता हैं उसी प्रकार उच्चकोटि के मधुरवाक् रससिद्ध

कवि भी हैं। 'अभिनन्द' ने अपने 'कादम्बरीकथासार' के उपक्रम में इनके सम्बन्ध में सत्य ही कहा है।

'व्यक्ता कवित्ववक्तृत्वफला यस्य सरस्वती'

जयन्तभट्ट अपनी यशःप्रभा से समस्त दिङ्मण्डल को उद्भासित करने वाले महा-पण्डित 'श्रीचन्द्र' के शिवभक्त आत्मज थे। विद्वज्जन 'नववृत्तिकार' कह कर इनकी प्रशंसा करते थे। शास्त्रार्थसभावों में प्रतिवादियों पर सदैव विजय प्राप्त करने के कारण इन्होंने 'जयन्त' नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इस तथ्य को इन्होंने 'न्यायमञ्जरी' के निम्नाङ्कित उपान्त्य पद्य में स्वयं प्रकट किया है

वादेष्वाप्तजयो जयन्त इति यो विख्यातकीर्तिः क्षिता-
वन्वर्थो 'नववृत्तिकार' इति यं शंसन्ति नाम्ना बुधाः।
सूनुर्व्याप्तदिगन्तरस्य यशसा 'चन्द्रस्य' चन्द्रत्विषा
चक्रे चन्द्रकलावचूलचरणध्यायी स धन्यां कृतिम्॥

न्यायमञ्जरी 'जयन्तभट्ट' की परमोत्कृष्ट कृति है। यह गोतम के न्यायसूत्रों की सीधे व्याख्या करने वाली अभिनव वृत्ति है। जयन्त के शब्दों में यह

न्यायौषधिवनेभ्योऽयमाहृतः परमो रसः।
इदमान्वीक्षिकीक्षीरान्नवनीतमिवोद्धृतम्॥

यह न्याय के औषधिद्रुमों का परमरस और आन्वीक्षिकी के क्षीर का निसर्गनिर्मल नवनीत है।

न्यायमञ्जरी में न्याय के प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के नाम पर सोलह प्रकरण हैं और ये सब प्रकरण बारह आह्निकों में अन्तर्भुक्त हैं। पहले के छः आह्निकों में 'प्रमाण' प्रकरण पूरा हुआ है। इस प्रकरण में अर्थापत्ति, अभाव (अनुपलब्धि), सम्भव और ऐतिह्य के प्रमाणत्व का खण्डन कर तथा चार्वाक के प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद, बौद्ध और वैशेषिक के प्रत्यक्षानुमान प्रमाणद्वयवाद तथा सांख्य के प्रत्यक्षानुमानशब्द-प्रमाणत्रयवाद का खण्डन कर न्यायदर्शन के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, इन चार प्रमाणों की प्रतिष्ठापना की गई है और न्याय के प्रमाणचतुष्टयवाद के समर्थन के सन्दर्भ में वैदिक, अवैदिक सभी दर्शनों के प्रसङ्गप्राप्त अनेक अन्य मतवादों का निर्मम निराकरण किया गया है। सात से नव तक तीन आह्निकों में 'प्रमेय' प्रकरण पूर्ण हुआ है, जिसमें 'आत्मा' से 'अपवर्ग' तक न्यायशास्त्रोक्त बारह प्रमेयों का विशद प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकरण में आत्मा, बुद्धि और अपवर्ग का निरूपण बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस निरूपण में विभिन्न

दर्शनों के विरोधी मतों का बड़ा रोचक और बहुत युक्तिपूर्वक खण्डन किया गया है। संशय आदि शेष चौदह प्रकरण दश से बारह तक तीन आह्निकों में पूर्ण हुये हैं।

'न्यायमञ्जरी' भाषासौष्ठव, अर्थगाम्भीर्य, विषयचातुरस्रच और प्रतिपादनदाक्ष्य इन सभी दृष्टियों से महनीय, अनुशीलनीय तथा अभ्यसनीय है।

'जयन्त' ने 'न्यायमञ्जरी' में प्रत्यक्षलक्षणसूत्र की व्याख्या के सन्दर्भ में 'अत्राचार्यास्तावदाचक्षते, साधु चोदितं, सत्यमीदृश एवायं ज्ञानानां क्रमः, इत्यादि रूप में ८४१ ई० में स्थित 'वाचस्पति' मिश्र के मत का निर्देश किया है। ११वीं शती में स्थित जैनविद्वान् 'देवसूर' ने 'स्याद्वादरत्नाकर' के दूसरे परिच्छेद में—

यदत्र शक्तिसंसिद्धौ मज्जत्युदयनद्विपः।
जयन्त ? हन्त का तत्र गणना त्वयि कीटके॥

कहकर 'जयन्त' का असूयापूर्वक उल्लेख किया है। अतः इतना तो निर्विवाद है कि जयन्त ८४१ ई० के बाद और ११०० ई० के पूर्व विद्यमान थे। 'कादम्बरीकथासार' में 'जयन्तभट्ट' के पुत्र 'अभिनन्द' ने उनको राजा 'मुक्तापीड' के अमात्य 'शक्तिस्वामी' का प्रपौत्र बताया है। कश्मीरनरेश 'मुक्तापीड' का समय ८ वीं शती का मध्य माना जाता है। उस समय में मन्त्रिपद पर स्थित 'शक्तिस्वामी' और उनके प्रपौत्र 'जयन्त' के बीच यदि १५० वर्ष का अन्तर माना जाय तो 'जयन्तभट्ट' को १० वीं शती के प्रथम चतुर्थांश में स्थित माना जा सकता है।

न्यायशास्त्र के तीन रूप—

यदि न्यायशास्त्र के समस्त विकास को तीन काल में विभाजित किया जाय तो यह काल न्यायशास्त्र का मध्यकाल और इसके पूर्व का काल आद्यकाल और इसके बाद का २०० से १८०० तक का काल अन्त्य काल कहा जायगा। आद्य काल का न्याय 'प्राचीनन्याय', मध्यकाल का न्याय 'साम्प्रदायिक न्याय–प्राचीन न्याय की उत्तरशाखा' और अन्त्य काल का न्याय 'नव्यन्याय' कहा जायगा।

अवैदिक न्याय—

जिस गौतमीय न्यायशात्र का परिचय अभी दिया गया वह वैदिक न्याय है। वैदिक न्याय में वेद को अकाटच प्रमाण माना जाता है। किन्तु भारत वर्ष में ऐसे भी दो न्याय शास्त्र प्रचलित हैं जिन्हें बौद्धन्याय और जैनन्याय शब्द से अभिहित किया जाता है और जिसमें वेद के प्रामाण्य का बड़े आग्रह से खण्डन किया गया है। इन दोनों की अनेक ही नहीं किन्तु अधिकतर मान्यतायें वैदिक न्याय से अत्यन्त विरूद्ध हैं। किन्तु यह होने पर भी ये अपने विकास के लिये वैदिक न्याय के निश्चित रूप से अधमर्ण हैं। यद्यपि इन दोनों के साथ चिर संघर्ष के फलस्वरूप वैदिक न्याय का भी पर्याप्त विकास

और विस्तार हुआ है तथापि उसका एक अपना मौलिक रूप भी है जो इन से नितान्त अप्रभावित है। इन न्यायों के विषय में तो ऐसा लगता है कि इनकी मौलिकता भी वैदिक न्याय से पूर्ण रूप से प्रभावित है। ४०० ई० से १२०० ई० तक का काल अवैदिक न्याय के परमोत्कर्ष का काल माना जाता है।

बौद्धन्याय—

बौद्धन्याय चार सम्प्रदायों में विभक्त है वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। इनमें प्रथम दो 'हीनयान' के तथा अन्तिम दो 'महायान' के अन्तर्गत हैं। 'हीनयान' का सम्बन्ध 'स्थविरवादी' सङ्घ से और 'महायान' का सम्बन्ध 'महा-सांघिक' संघ से है। पहला संघ बुद्धविनयों को परिवर्तनीय तथा दूसरा संघ उसे अपरिवर्तनीय मानता है। यही दोनों में उल्लेखनीय भेद है।

वैभाषिक—

वैभाषिक न्याय में पदार्थ के 'विषयी' और 'विषय' के रूप में दो भेद माने गये हैं और दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व माना गया है। विषयी में रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पांच स्कन्धों का, चक्षु आदि छः इन्द्रिय तथा रूप आदि उनके छः विषय और विज्ञान इन तीन धातुवों का समावेश होता है। विषय में रूपधर्म, चित्तधर्म, चैत्तधर्म और रूपचित्तविप्रयुक्त धर्म इन चार 'संस्कृत'—हेतुप्रत्ययजन्य धर्मों का तथा आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध—प्रज्ञापूर्वक निरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध प्रज्ञानिरपेक्ष निरोध, इन तीन 'असंस्कृत' हेतुप्रत्ययाजन्य धर्मों का सन्निवेश होता है। इस न्याय में जगत् को त्रैधातुक, संस्कृत तथा असंस्कृत धर्मों का समष्टिरूप, सत्य, प्रत्यक्षवेद्य तथा क्षणभङ्गुर मान कर 'अर्हत्' पदकी प्राप्ति और 'दुःखाभावरूप निर्वाण' को मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है।

वैभाषिक न्याय की विशेष जानकारी के लिये कात्यायनीपुत्र, वसुबन्धु, स्थिरमति, दिङ्नाग, यशोमित्र तथा सङ्घभद्र प्रभृति बौद्ध विद्वानों के ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये।

सौत्रान्तिक—

इस न्याय में बुद्ध के सूत्रात्मक वचनों के यथाश्रुत अर्थ को विशेष महत्त्व दिया जाता है। इसकी पदार्थकल्पना वैभाषिक के समान ही है। भेद केवल इतना ही है कि वैभाषिक मत में ज्ञेय और ज्ञान दोनों को प्रत्यक्ष माना जाता है और सौत्रान्तिक मत में ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा ज्ञेय को अतीन्द्रिय एवं ज्ञानानुमेय माना जाता है।

सौत्रान्तिक न्याय का समुचित परिचय प्राप्त करने के लिये कुमारलात, श्रीलाभ, धर्मत्रात, बुद्धदेव आदि बौद्ध पण्डितों के ग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिये।

योगाचार—

इस न्याय में 'विज्ञानवाद' को दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में मान्यता दी गयी है। विज्ञानवाद के अनुसार 'विज्ञान' ही एकमात्र सत्य वस्तु है। चित्त, मन और विज्ञप्ति उसी के नाम हैं। विज्ञान के दो भेद हैं प्रवृत्तिविज्ञान और आलयविज्ञान। संसार के सम्पूर्ण व्यवहार प्रवृत्तिविज्ञान से समुद्भूत होता हैं। 'अहम्' आकार का ज्ञान आलय विज्ञान है। आलय विज्ञान ही इस मत के अनुसार आत्मा है। दोनों प्रकार के विज्ञान स्वप्रकाश एवं क्षणिक हैं। जगत् की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वह विज्ञान का विवर्त-मात्र है। उसकी केवल व्यावहारिक ही सत्ता है। परमार्थ सत्ता तो केवल विज्ञान की ही है। इस मत के अनुसार आत्मभूत ज्ञानप्रवाह को नितान्त निर्मल बनाना ही मनुष्य का मुख्य और अन्तिम ध्येय है।

योगाचार न्याय को पूर्णतया हृदयङ्गम करने के लिये मैत्रेयनाथ, असङ्ग, वसुबन्धु, स्थिरमति, दिङ्नाग, शङ्करस्वामी, धर्मपाल तथा धर्मकीर्ति आदि बौद्ध पण्डितों के ग्रन्थों का परिशील करना चाहिये।

माध्यमिक—

माध्यमिक न्याय का दार्शनिक सिद्धान्त है 'शून्यवाद'। इसके अनुसार ज्ञेय और ज्ञान दोनों ही काल्पनिक हैं। इस मत में एकमात्र पारमार्थिक 'शून्य' ही है और वह सत्, असत्, सदसत् तथा सदसद्विलक्षण, इन चार कोटियों से मुक्त है। जगत् इस 'शून्य' का ही विवर्त है। विवर्त का मूल है 'संवृति' जो 'अविद्या' और 'वासना' के नाम से भी अभिहित होती है। इस मत के अनुसार कर्मरूप क्लेशों की निवृत्ति होने पर मनुष्य 'निर्वाण' को प्राप्त कर ठीक उसी प्रकार शान्त हो जाता है जैसे तेल और बत्ती समाप्त होने पर 'प्रदीप'।

इस न्याय के विस्तृत और विशद ज्ञान के लिए नागार्जुन, आर्यदेव, बुद्ध-पालित, भावविवेक, चन्द्रकीर्ति, शान्तिदेव और शान्तिरक्षित आदि बौद्ध तार्किकों के ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये।

चारो सम्प्रदायों की कतिपय समान मान्यतायें—

प्रमाण—बौद्धन्याय में दो प्रमाण माने गये हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। उनमें भी 'स्वलक्षण' वस्तु मात्र का ग्राहक होने से केवल 'निर्विकल्पक' प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। 'सवि-कल्पक' तो नाम, जाति आदि काल्पनिक पदार्थों का ग्राहक होने से अप्रमाण ही है।

व्याप्ति—बौद्धन्याय में व्याप्ति का क्षेत्र वैदिक न्याय की अपेक्षा सीमित माना गया है। उसके अनुसार 'तदुत्पत्ति' और तत्तादात्म्य' ही व्याप्ति के उपजीव्य हैं। आशय

यह है कि जिन पदार्थों में परस्पर 'कार्यकारणभाव' वा 'तादात्म्य' होता है उन्हीं में 'व्याप्यव्यापकभाव होता है।'

न्याय – बौद्धन्याय में न्याय–अनुमान वाक्य के दो ही अवयव माने गये हैं 'उदाहरण' और 'उपनय'। इस अवयवद्वयात्मक न्याय से ही विश्व की क्षणिकता, विज्ञानमात्रता, पुद्गलनैरात्म्य तथा धर्मनैरात्म्य आदि का साधन कर 'सर्वशून्यता' सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की गई है।

सत्ता—बौद्धन्याय में 'अर्थक्रियाकारित्व' को 'सत्ता' का लक्षण मानकर और स्थिर पदार्थ में उसे असम्भव बता कर समस्त भावात्मक पदार्थों को क्षणिक माना गया है।

सद्धेतु —बौद्धन्याय में किसी हेतु की सद्धेतुता के लिये उसे पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व, इन तीन अनुमापक रूपों से सम्पन्न होना आवश्यक माना गया है। गौतमीय न्याय में स्वीकृत अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व को अनावश्यक बताया गया है।

हेत्वाभास—बौद्ध न्याय में वैशेषिक की भाँति तीन ही हेत्वाभास माने गये हैं—विरुद्ध, असिद्ध और व्यभिचारी।

कथा—बौद्ध न्याय में भी कथा के वाद, जल्प और वितण्डा भेदों का वर्णन किया गया है, किन्तु अन्त में सिद्धान्ततः वादकथा को ही ग्राह्य मान कर जल्प और वितण्डा को त्याज्य बताया गया है। कथा के निरूपण के सन्दर्भ में छल, जाति और निग्रहस्थान का भो यथोचित प्रतिपादन किया गया है। इन विषयों के बारे में बौद्ध न्याय के मन्तव्य को ठीक ढंग से समझने के लिये उपायहृदय, न्यायबिन्दु और वादन्याय आदि ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

आर्यसत्य–बौद्ध न्याय के सभी साम्प्रदायों में चार 'आर्य सत्य' माने गये हैं-दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोध का मार्ग। इनमें दुःखसमुदय का अर्थ है–दुःख का कारण। 'भवचक्र' ही दुःख का कारण है। उसका साम्प्रदायिक नाम है 'प्रतीत्यसमुत्पाद'। उसके १२ अङ्ग होते हैं—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम–रूप, आयतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति-जन्म और जरामरण। इनमें प्रथम दो पूर्व जन्म से; मध्य के आठ वर्तमान जन्म से तथा अन्त के दो भावी जन्म से सम्बद्ध हैं। चौथे आर्यसत्य को 'अष्टाङ्गयोग' के रूप में वर्णित किया गया है। उनके नाम हैं – सम्यग् जन्म, सम्यग् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यग् आजीव, सम्यग् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक्

समाधि । इन योगाङ्गों के सेवन से यथार्थ प्रज्ञा का आविर्भाव होता है और उसी से 'भवचक्र' का विनाश होकर 'मोक्ष' की प्राप्ति होती है ।

चार भावनायें—मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ होने के लिये चार भावनावों को आवश्यक माना गया है । वे हैं—सब कुछ दु खमय है, सब क्षणिक है, सब स्वलक्षण है तथा सब शून्य है । इन भावनावों के अभ्यास से सांसारिक आसक्ति का क्षय होता है और उसके फलस्वरूप मनुष्य मोक्षमार्ग का सफल पथिक बन अपने चरम लक्ष्य 'निर्वाण' की ओर अग्रसर होता है !

नालन्दा विश्वविद्यालय

'विहार' में 'राजगिरि' के निकट 'नालन्दा' में बौद्धों का अखिल भारतीय स्तर का एक महान् विश्वविद्यालय था जो नालन्दा विश्वविद्यालय के नाम से ख्यात था । उसके सङ्घारामों-छात्रालयों में तीन सहस्र से अधिक भिक्षु छात्र निवास करते थे । उसमें रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरञ्जक नाम के तीन बड़े विशाल पुस्तकालय थे जिनमें समग्र बौद्ध साहित्य सुरक्षित था । इस विश्वविद्यालय को तत्कालीन राजाओं का पूर्ण आश्रय प्राप्त था जिसके फलस्वरूप इस विश्वविद्यालय को दो सौ से अधिक ग्राम प्राप्त थे । धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामति, जीवमित्र, ज्ञानचन्द्र, शीलभद्र, कमलशील आदि प्राध्यापकों के कारण इस विश्वविद्यालय की बड़ी प्रतिष्ठा थी । यह अनुमानतः ४५० ई० से ७५० ई० तक उन्नति की पराकाष्ठा पर विद्यमान था । बौद्ध न्याय के विकास और संवर्धन में इस विश्वविद्यालय का महान् योगदान था ।

बौद्ध न्याय मागधी, पाली और संस्कृत इन तीन भाषाओं में विकसित और पल्लवित हुआ है अतः विकासक्रम से उसकी जानकारी प्राप्त करने के लिये इन भाषाओं का ज्ञान अपेक्षित है ।

जैनन्याय—जैनन्याय की दो धारायें हैं 'श्वेताम्बर' और 'दिगम्बर' । दोनों का प्रमुख सिद्धान्त है 'अनेकान्तवाद' ।

अनेकान्तवाद—अनेकान्तवाद का आशय यह है कि संसार की प्रत्येक वस्तु परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनन्त धर्मों का भिन्नाभिन्न आश्रय है । वस्तु के सम्बन्ध में विभिन्न दर्शनों की जो विभिन्न मान्यतायें हैं, अपेक्षाभेद-दृष्टिभेद से वे सब सत्य हैं । उनमें किसी एक को यथार्थ मानना और अन्यों को अयथार्थ मानना ठीक नहीं है । वस्तु को कुछ परिमित रूपों में ही देखना 'नयदृष्टि' है 'प्रमाणदृष्टि' नहीं । 'नयदृष्टि' का अर्थ है 'एकाङ्गी दृष्टि' और 'प्रमाणदृष्टि' का अर्थ है 'सर्वाङ्गीण दृष्टि' ।

नय—वस्तु को एकान्त भाव से किसी एक ही रूप में वा कुछ ही रूपों में ग्रहण करने वाले ज्ञान का नाम है 'नय'। 'नय' के मुख्य दो भेद हैं-द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक के तीन भेद हैं-नैगम, संग्रह और व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं-ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत। सभी 'द्रव्यार्थिक' नय वस्तु के केवल 'सामान्य' अंश को ही ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार सभी 'पर्यायार्थिक' नय वस्तु के केवल 'विशेष' अंश को ही ग्रहण करते हैं। फलतः किसी भी नय से सामान्य—विशेष उभयात्मक वस्तु का साकल्येन ग्रहण नहीं होता।

प्रमाण—वस्तु को विविध रूपों में ग्रहण करने वाले ज्ञान को 'प्रमा' के अर्थ में' तथा उस ज्ञान के साधन को 'प्रमाकरण' के अर्थ में 'प्रमाण' कहा जाता है। प्रमाण के दो भेद हैं-'प्रत्यक्ष' और 'परोक्ष'। वस्तु को विशद रूप में ग्रहण करने वाले प्रमाण का नाम है 'प्रत्यक्ष' और अस्पष्ट रूप में ग्रहण करने वाले प्रमाण का नाम है 'परोक्ष'। प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—सांव्यवहारिक और पारमार्थिक। 'पारमार्थिक' प्रत्यक्ष का प्रादुर्भाव मन और इन्द्रिय की सहायता के विना केवल आत्मशक्ति से ही सम्पन्न होता है जब कि 'सांव्यवहारिक' प्रत्यक्ष के प्रादुर्भाव में मन, इन्द्रिय आदि बाह्य उपकरणों की भी अपेक्षा होती है। परोक्ष के दो भेद हैं —अनुमान और शब्द। अनुमान से होने वाले बोध को 'अनुमिति' तथा शब्द से होने वाले बोध को 'शाब्दबोध' कहा जाता है।

सप्तभङ्गी नय—किसी वस्तु के परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले भावाभावात्मक दो अंशों का समन्वय बताने के लिये जिन वाक्यों का प्रयोग होता है उनकी संख्या सात है उन सातो वाक्यों के समूह का ही नाम है 'सप्तभङ्गीनय'। इसी का दूसरा नाम है। 'स्याद्वाद' जिससे आजकल पूरे जैनदर्शन का व्यपदेश होने लगा है। इसे समझने के लिये उदाहरण के रूप में निम्न वाक्यों को लिया जा सकता है।

"आत्मा स्याद् अस्ति, स्यान्नास्ति, स्याद् अस्ति च नास्ति च, स्याद् अवक्तव्यः, स्याद् अस्ति च अवक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति च अवक्तव्यश्च, स्याद् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च"। इन वाक्यों का क्रम से अर्थ यह है आत्मा का अस्तित्व भी है, नास्तित्व भी है, वह अस्ति, नास्ति उभयात्मक भी है, उसकी वास्तविकता को व्यक्त करनेवाले शब्द के न होने से वह अवक्तव्य भी है, वह अस्ति होकर भी अक्तव्य है, नास्ति होकर भी अक्तव्य है और वह अस्ति-नास्ति उभयात्मक होकर भी अवक्तव्य है।

इस सप्तभङ्गी नय से यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा के सम्बन्ध की उक्त सभी मान्यतायें दृष्टिभेद से सम्भव और सुसङ्गत हैं।

कथा जैनन्याय में भी कथा के तीन भेद बताये गये हैं--वाद, जल्प और वितण्डा। पर इनमें केवल 'वाद' को ही उपादेय माना गया है और शेष दो को केवल हेय ही नहीं कहा गया है अपितु उनका साभिनिवेश खण्डन भी किया गया है।

छल और जाति—इस न्याय में भी छल और जाति का परिचय दिया गया है किन्तु वादात्मक कथा के ही उपादेय होने के कारण उनके प्रयोग का साग्रह निषेध कर दिया गया है।

निग्रहस्थान --जैनन्याय में वैदिकन्याय और बौद्धन्याय के निग्रहस्थानों का खण्डन कर अपने ढंग से उनका निरूपण किया गया है और उसके सन्दर्भ में जय, पराजय के निर्णायक तत्त्व का भी प्रतिपादन किया गया है। जैनन्याय में प्रतिवादी को किसी प्रकार मूक कर देने मात्र से ही वादी को विजयी नहीं माना जाता किन्तु जब वह प्रतिवादी के विरोधी तर्कों का खण्डन कर अपने पक्ष को प्रमाणों द्वारा प्रतिष्ठित कर देता है तभी उसे विजयी समझा जाता है।

न्यायवाक्य जैनन्याय में वैदिकन्याय वा बौद्धन्याय के समान न्यायवाक्यों की कोई नियत संख्या नहीं मानी गई है किन्तु उसे प्रतिपाद्य पुरुष की योग्यता पर निर्भर किया गया है। अतः इस मत में स्थिति के अनुसार एक से पाँच तक न्यायवाक्यों के प्रयोग का औचित्य माना जाता है।

सद्धेतु---जैनन्याय में किसी हेतु की सद्धेतुता के लिये उसे पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितत्त्व और असत्प्रतिपक्षत्व, इन पांच रूपों से अथवा आद्य के तीन रूपों से सम्पन्न होने को आवश्यक नहीं माना जाता। उसके अनुसार किसी हेतु को सद्धेतु होने के लिये उसे साध्य का अविनाभावी होना मात्र पर्याप्त है।

हेत्वाभास—इस न्याय में 'श्वेताम्बर परम्परा में' हेत्वाभास के तीन ही भेद माने गये हैं-विरुद्ध, असिद्ध तथा व्यभिचारी। किन्तु 'दिगम्बर परम्परा' में 'अकिञ्चित्कर' को जोड़कर उनकी संख्या चार कर दी गई है।

जैनन्यायका तत्त्वज्ञान—

जैनन्याय में कुल सात तत्त्व माने गये हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

जीव —जीव वह है जिसमें उपयोग—बोधव्यापार का उदय हो। बोधव्यापार चैतन्य-शक्ति का कार्य है और यह जीव में स्वाभाविक है। जीव की संख्या अनन्त है और उसका परिमाण देहव्यापी है।

अजीव—जिसमें बोधव्यापार की उत्पादिका चैतन्यशक्ति नहीं होती वह अजीव कहा जाता है। उसके दो भेद हैं 'अस्तिकाय' और 'अनस्तिकाय'। अस्तिकायरूप अजीव के चार भेद हैं–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। 'अस्तिकाय' का अर्थ है 'प्रदेशसमूह' तथा 'अवयवसमूह'। प्रथम में धर्म, अधर्म और आकाश का तथा दूसरे में पुद्गलों का समावेश होता है। पदार्थों की गति के निमित्तभूत द्रव्य को धर्म, उनकी स्थिति के निमित्तभूत द्रव्य को 'अधर्म' उन्हें स्थान देने के निमित्तभूत द्रव्य को 'आकाश' तथा जीवन-मरण के निमित्तभूत द्रव्य को 'पुद्गल' कहा जाता है। 'अनस्तिकाय'का एक ही भेद है और वह है 'काल'।

आस्रव–जीव को कर्मबन्धन में डालने वाले जीवव्यापार को 'आस्रव' कहा जाता है। वह मन, वाक् और काय से जनित होने के कारण त्रिविध माना जाता है।

बन्ध—आत्मप्रदेशों के साथ कर्मपुद्गलों के सम्बन्ध का नाम है 'बन्ध'। वह मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पांच हेतुवों से उत्पन्न होता है।

संवर–मन, वचन और शरीर की कुत्सित प्रवृत्तियों के निरोध का नाम है 'संवर'।

निर्जरा–तप, संयम आदि के सेवन से चिरसञ्चित शुभ-अशुभ कर्मों के आंशिक विनाश को 'निर्जरा' कहा जाता है।

मोक्ष–समस्त कर्मबन्धनों के आत्यन्तिक विनाश का नाम है 'मोक्ष' और उसका उपाय है– सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य का सतत सेवन।

जैनन्यायकी विस्तृत एवं प्रामाणिक जानकारी के लिये उमास्वाति, कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्र, सिद्धदर्शन, अकलङ्क, वादिराजसूरि, देवसूरि, हेमचन्द्र, मल्लिषेणसूरि और यशोविजय आदि जैन विद्वानों के ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है।

तर्कभाषा की प्रस्तुत व्याख्या क्यों लिखी गई ?

'तर्कभाषा' की प्रस्तुत हिन्दी व्याख्या लिखने के कई कारण हैं। एक तो यह कि यह ग्रन्थ न्याय और वैशेषिक दर्शन के प्रतिपाद्य विषयों का ज्ञान कराने वाली अपने ढंग की अनुपम पुस्तक है। अकेले इसके अध्ययन से दोनों शास्त्रों का समीचीन परिचय प्राप्त हो जाता है। दूसरा कारण यह कि इस पुस्तक की जितनी भी व्याख्यायें हैं, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, वह सब अनेक स्थानों में अपूर्ण एवं अपर्याप्त हैं। मूलग्रन्थ में ऐसे कई स्थल हैं जिनका यथेष्ट मर्मज्ञान उन व्याख्याग्रन्थों से नहीं हो पाता। अतः ऐसे स्थलों को दृष्टि में रख कर उनकी सुबोधता के सम्पादनार्थ एक नये व्याख्याग्रन्थ की आवश्यकता थी। तीसरा कारण यह कि देश की अनेक परीक्षावों में पाठ्यग्रन्थ

के रूप में निर्धारित होने के कारण इसका पठन-पाठन बड़ी मात्रा में हो रहा है किन्तु उस पर इधर नये लेखकों द्वारा जो कई व्याख्यायें लिखी गई हैं उनमें अनेकत्र अस्पष्टता तो है ही, साथ ही कुछ त्रुटियां भी हैं। अतः यथासम्भव उनसे मुक्त व्याख्या की रचना अत्यावश्यक थी जिससे अध्येता के अस्पष्ट और त्रुटिपूर्ण विषयज्ञान के अर्जनक्लेश का परिहार हो सके। चौथा कारण यह है कि संस्कृतग्रन्थों के निष्ठावान्, यशस्वी प्रकाशक 'मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली' जिसकी एक अच्छी शाखा वाराणसी में रह संस्कृत-वाङ्मयकी स्तुत्य सेवा कर रही है, के वर्तमान कर्णधार लाला श्रीसुन्दरलाल तथा श्रीशान्तिलाल की प्रेरणा, जिसने मुझे प्रस्तुत ग्रन्थ की एक हिन्दी व्याख्या लिखने को विवश किया।

उक्त कारणों से यह व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इसमें यथासम्भव मूलग्रन्थ के प्रत्येक स्थल का पर्याप्त स्पष्टीकरण किया गया है और यथापेक्ष कुछ विस्तृत विवेचन तथा अनेकत्र अनेक विषयों के सम्बन्ध में अन्य दर्शनों के दृष्टिकोण का सन्निवेश किया गया है। इस बात का पूरा प्रयत्न किया गया है कि प्रतिपाद्य विषय का विशद विवेचन हो किन्तु विशदीकरण के प्रयास में वह भाषाशैथिल्य न आने पाये जिसके कारण बहुधा आधुनिक व्याख्याग्रन्थों में अनजाने विषयसम्बन्धी त्रुटियां स्थान पा जाती हैं।

मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी और सम्भवतः दार्शनिक विषयों पर अन्य हिन्दी ग्रन्थों को लिखने की प्रेरणा भी मिलेगी, यदि मेरे इस लघु प्रयास से विद्वानों को कुछ मनस्तोष और विद्यार्थियों को कुछ अपेक्षित अर्थबोध सम्भव हो सका।

मूलग्रन्थ की विषय-सूची

व्याख्यागत विषयों की सूची

[प्रारम्भिक पद्य]

बाल शब्द का प्रसिद्ध अर्थ और प्रकृतोपयोगी अर्थ १, अलस शब्द का अर्थ और उसके प्रयोग का प्रयोजन १, न्याय को परिभाषा १-२, युक्ति का लक्षण और उसकी प्रमाणसहकारिता ३, ग्रन्थ के 'तर्कभाषा' नाम की अन्वर्थता ३, 'मया' शब्द से तर्कभाषाकार के बोध की विधि ४, ग्रन्थनिर्माण के पूर्व ग्रन्थ में 'एतत्' शब्द के प्रयोग की उपपत्ति ४, उद्देश, लक्षण और परीक्षा, उद्देशलक्षण के समस्त पदों का कृत्य ५-६, अनुबन्ध का लक्षण, उसके चार भेद–विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी ६-८, ।

[लक्षण]

लक्षण का लक्षण ९, लक्षण के तीन दोष अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव का निरूपण ९-१०, लक्षण के अन्य चार दोष आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक और अप्रसिद्धि का निरूपण १०-११, लक्षण के प्रयोजन व्यावृत्ति और व्यवहार १२-१३ । लक्षण के अव्याप्ति आदि दोषों का हेतुदोषत्व और उसका बीज १२-१३, परीक्षा का निर्वचन १४, शास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति की उपयोगिता १४, शास्त्र की चौथी प्रवृत्ति विभाग के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मतों की आलोचना और प्रवृत्ति के त्रैविध्य का प्रतिपादन १५-१६, आचार्य श्रीधर द्वारा प्रवृत्ति के त्रैविध्य की आलोचना और प्रवृत्ति के द्वैविध्य-समर्थन की समीक्षा ।

[प्रमाणपदार्थ]

प्रामाणसामान्य के लक्षण की आवश्यकता तथा न्यायसूत्र में उसके स्वतन्त्र कथन न करने और तर्कभाषा में उसका स्वतन्त्र कथन करने का अभिप्राय १८-१९, "यथार्थानुभवः प्रमा" इस लक्षण का पदकृत्य और प्रसङ्ग से संशय, विपर्यय और तर्क का निरूपण १९-२२, प्रमाणलक्षण में यथार्थपद देने पर संशय, विपर्यय और तर्क तीनों में अतिव्याप्तिप्रदर्शन का प्रयोजन २२-२३, अनुभव का निर्वचन, २३-२४, ज्ञान और उसके भेद, २४, स्मृति के दो लक्षण और उनके पदकृत्य २४-२५, ।

प्रत्यभिज्ञा स्मरण न होकर शुद्ध अनुभव क्यों ? २५, प्रत्यभिज्ञा तृतीय स्पर्श के समान ज्ञान का तृतीय भेद है इस मत का प्रतिपादन २५-२६, स्मृति के दो भेद–अप्रमुष्टविषया और प्रमुष्टविषया २६, अनुभव का लक्षण और उसका भेद २६-२७ ।

करण के 'साधकतमं करणम्' लक्षण का निर्वचन २७, साधारण कारण और असाधारण कारण का वर्णन २७, करण के 'व्यापारंवद् असाधारणं कारणम् करणम्, लक्षण का विशद विवेचन २८, प्रमाणलक्षण के प्रसङ्ग में कारण का लक्षण बताने का प्रयोजन २९ ।

[कारण]

कारणलक्षण के "पूर्वभावः" अंश की व्याख्या २९-३०, कारणलक्षण के "नियतः" अंश की व्याख्या ३१, लक्षण के अनन्यथासिद्ध अंश की व्याख्या ३१-३२, अन्यथासिद्ध के लक्षण और उसके ५ भेदों का विस्तृत सोदाहरण विवेचन ३२-३५ ।

कारण के अन्वयव्यतिरेकघटित लक्षण के मूलोक्त खण्डन का उपपादन ३५-३६, कुछ विद्वानों द्वारा प्रतिपादित कारणता का व्यतिरेकमात्रघटित लक्षण ३६, कारणता की व्यतिरेकतन्त्रता में उदयनाचार्यद्वारा प्रदर्शित दोष ३७, व्यतिरेकघटित कारण-लक्षण के मूलोक्त खण्डन की समीक्षा ३७ ३८, कारण का विभाग कारणता के विभाग पर ही आश्रित है इस तथ्य का प्रतिपादन ३८-३९, ।

[अयुतसिद्ध]

अयुतसिद्ध शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ और उसका लक्षण ४०-४१, 'ययोः मध्ये एकं अविनश्यद् अपराश्रितमेव अवतिष्ठते तौ अयुतसिद्धौ'' अयुतसिद्ध के इस मूलोक्त लक्षण के प्रत्येक पद का विस्तृत प्रयोजन तथा अविनश्यद् शब्द के निष्कृष्ट अर्थ का निरूपण ४१-४५ अयुतसिद्ध के लक्षण में संख्यारूप द्वित्व का नहीं किन्तु बुद्धिविशेष-विषयत्वरूप द्वित्व का प्रवेश उचित है, इसका प्रतिपादन ४५, अवयव–अवयवी, गुण–गुणी आदि के अयुतसिद्धत्व का उपपादन ४५-४७ ।

समवायिकारण का लक्षण और उसके दो लक्ष्य दिखलाने का प्रयोजन ४७-४८, द्रव्य में गुण के समवायिकारणत्व की अनुपपत्ति की शंका और समाधान ४७-५०, द्रव्य के दो लक्षणों का शंका–समाधान के साथ समर्थन ५१, असमवायिकारण का लक्षण और उसके सम्पूर्ण पदों का विस्तृत प्रयोजन ५२-५३, असमवायिकारण के दो उदाहरण प्रदर्शित करने का अभिप्राय ५४-५५, निमित्त कारण का विशद निरूपण ५६, "अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्" इस शास्त्रान्तरीय प्रमाणलक्षण का शंका–समाधानपूर्वक खण्डन ५८-६०, अनुभव और स्मृति के समान रूप से यथार्थ होते हुए भी स्मृति को प्रमा न मानने के वाचस्पतिमिश्र-द्वारा कथित कारण का समर्थन ६०-६१, तर्कभाषाकार और वाचस्पति मिश्र के प्रमालक्षणों की तुलना ६२ ।

"यथार्थानुभवः प्रमा" "अनधिगतार्थगन्तृ प्रमा" इन लक्षणों की तुलना ६२; प्रमा की उत्पत्ति में समान उपयोगिता होने पर भी क्यों इन्द्रियादि ही प्रमाण कहे जाते हैं और प्रमाता आदि प्रमाण नहीं कहे जाते इस तथ्य का निरूपण ६३, करण के ग्रन्थोक्त लक्षणों की अपूर्णता तथा उसकी उचित परिभाषा ६३-६४, इन्द्रियजन्य प्रमा को ही साक्षात्कार कहने और अन्य प्रमा को साक्षात्कार न कहने का रहस्य ६४-६५, प्रमासे वस्तुग्रहण के लिए अपेक्षित विभिन्न प्रमा और वस्तु के सामीप्य का उपपादन ६५, प्रमा और प्रमाकरण में व्युत्पत्तिभेद से प्रमाण शब्द का प्रयोग ६६ ।

[प्रत्यक्ष]

प्रत्यक्ष प्रमा, प्रत्यक्ष प्रमाण, प्रत्यक्ष विषय, इन तीन भिन्न वस्तुओं में व्युत्पत्तिभेद से प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग ६६, प्रत्यक्ष के अवान्तरभेद के बोधक सविकल्पक और निर्विकल्पक शब्द की व्युत्पत्ति तथा उनका निरूपण ६६–६७, अबोध बालकों और गूंगे व्यक्तिओं का ज्ञान और निर्विकल्पक ज्ञान का आंशिक साम्य ६७–६८, निर्विकल्पक ज्ञान की सत्ता में प्रमाण ६७-६८, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय ६९–७०, निर्विकल्पक ज्ञान के चार लक्षण ७०, निर्विकल्पक प्रमा है या नहीं ? इसकी परीक्षा ७०–७२, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में बौद्ध, जैन, अद्वैत वेदान्त और विशिष्टाद्वैत वेदान्त के मत और उनका परस्पर सामञ्जस्य ७२–७३, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की नरसिंहाकारता–निर्विकल्पक के दो भेद विशुद्ध और मिश्र ७३–७४, मिश्र निर्विकल्पक के दो विषय आन्तर और वाह्य ७४–७५, निर्विकल्पक ज्ञान के दो भेद अनुभव और स्मृति ७५,

प्रत्यक्षप्रमाण के ३ भेद और उनके ३ व्यापार और तीन फल ७५–७८, अवान्तर व्यापार–कारण का प्राण ७८–७९ ।

[सन्निकर्ष]

इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के ६ भेद तथा विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष का अर्थ और उसके अनेक भेद ७९–८०, दूर से वस्तु के परिमाण आदि की अप्रत्यक्षता की उपपत्ति के लिए प्रत्यक्ष के प्रति कारण माने जाने वाले इन्द्रिय के चार सन्निकर्ष ८१, विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष से अभाव और समवाय के ग्रहण की विधि ८२–८५, सन्निकर्ष के लौकिक-अलौकिक भेद ८६, अलौकिक सन्निकर्ष के ३ भेद ८६, सामान्यलक्षण सन्निकर्ष का स्वरूप सामान्य और सामान्यज्ञान तथा उसकी प्रतियोगिता और अनुयोगिता के नियामक सम्बन्ध ८६–८८, सामान्यज्ञानरूप सामान्यलक्षण सन्निकर्ष के सम्बन्ध में प्राचीन और नवीन मत तथा उनके औचित्य-अनौचित्य का विवेचन ८८–८९, सामान्य लक्षण सन्निकर्ष की साधक युक्तियां तथा उसके सम्बन्ध में रघुनाथ शिरोमणि और

प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में अन्यदर्शनों के मत—

[अनुमान]

[हेत्वाभास]

में सत्त्वहेतु व्याप्तिग्राहक प्रमाण के अभाव से व्याप्यत्वासिद्ध है अथवा उपाधियुक्त होने से ? इस बात का न्याय और बौद्धमतों के अनुसार विशद विवेचन १२७–१२९, दूसरे व्याप्यत्वासिद्ध का उदाहरण १२९–१३०, व्याप्यत्वासिद्ध के अन्य उदाहरण १३०–१३१, विरुद्ध—१३१–१३२।

अनैकान्तिक १३२, साधारण अनैकान्तिक और असाधारण अनैकान्तिक तथा अनुपसंहारी के विषय में तर्कभाषाकार के दृष्टिकोण की सूचना १३२–१३३।

'प्रकरणसम' का अर्थ, लक्षण, उदाहरण और नामान्तर १३३–१३४, कालात्ययादिष्ट शब्द का अर्थ उसका लक्षण, उदाहरण और नामान्तर १३४, हेत्वाभास के विभाग के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य १३४–१३५।

अनुमान का प्रामाण्य—अनुमान के अप्रमाणत्व पक्ष का उपपादन, खण्डन और अनेक युक्तियों से उसके प्रमाणत्व का समर्थन १३५–१३८।

अनुमान के भेद—अनुमानभेद के सम्बन्ध में दार्शनिकों की दो प्रसिद्ध परम्पराएं तथा उनमें वाचस्पति मिश्र द्वारा सामंजस्य का स्थापन १३८–१४०, अनुमान भेद के सम्बन्ध में तर्कभाषाकार का मत १४१, परार्थानुमान के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध और जैन के मत १४१–१४२।

गमकतौपयिकरूप १४२।

हेत्वाभास के विषय में न्याय और वैशेषिक के मत १४२।

[उपमान]

उपमानप्रमाण के सम्बन्ध में न्याय और वैशेषिक दर्शन के दृष्टिभेद के कारण का विवेचन और उसके प्रामाण्य का प्रतिष्ठापन १४३-१४७, उपमान प्रमाण का क्षेत्र १४७-१४९।

[शब्दप्रमाण]

शब्दप्रमाण का लक्षण और पदकृत्य १४९-१५०, पद और वाक्य की परिभाषाएँ १५०-१५४, वर्ण के क्षणिक होने से पद और वाक्य के ज्ञान को अनुपपत्ति की शंका और उसका विस्तृत समाधान १५४-१५७, शब्दप्रामाण्य के विषय में विभिन्न दर्शनों के मत और उनकी समीक्षा १५७-१६१, शब्दबोध की कारणसामग्री १६१-१६ , पद-पदार्थ के सम्बन्ध के विषय में विभिन्न शास्त्रों की दृष्टियाँ १६२-१६५, शब्द के शक्यार्थ के स्वरूप के विषय में विभिन्न दर्शनों के मत और उनकी समीक्षा १६५-१६७, अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद १६७-१६८, शब्दार्थसम्बन्धज्ञान के

साधन १६८-१६६, शक्ति के आश्रय का निरूपण और उस सम्बन्ध में विभिन्न मत १६६-१७१ ।

अर्थापत्ति प्रमाण के सम्बन्ध में न्याय, मीमांसा आदि दर्शनों की मान्यतायें १७१-१७३, अभाव के प्रमाणत्व पक्ष का उपपादन और खण्डन १७३-१७४, अभाव के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष का उपपादन और उसके विशेषण-विशेष्यभावस्वरूप का विशद विवेचन १७४-१८०, ऐतिह्य, सम्भव और चेष्टा के प्रमाणान्तरत्व का खण्डन १८१ ।

[प्रामाण्यवाद]

प्रामाण्य के ज्ञान के सम्बन्ध में न्यायमत, मीमांसा के विभिन्न मत, सांख्यमत, बौद्धमत और जैनमत का प्रतिपादन १८१-१८७, कुमारिल के मतानुसार ज्ञातता की स्थापना और न्यायमत से उसका खण्डन १८७-१६५, न्यायमत से प्रामाण्य के ग्राहक केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी अनुमानों का प्रतिपादन १६५-१९७ ।

[प्रमेय]

प्रमेय के बारह भेद तथा प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से आत्मा का साधन १९८-२०३ ।

[आत्मा का परिमाण]

आत्मा के परिमाण के विषय में न्यायवैशेषिक मत और उसमें सम्भावित दोषों का उपपादन और उनका परिहार २०४-२०८, जैनमत २०८-२०६, वेदान्तमत २०६-२१० ।

ईश्वरनिरूपण, ईश्वर के सम्बन्ध में अन्य दर्शनों के मत २१०-२२० ।

शरीर के विभिन्न लक्षण और उसके सम्बन्ध में अन्य अवश्य ज्ञातव्य बातें २२१-२२४ ।

इन्द्रिय का लक्षण और उसके विषय में अनेक अवश्य ज्ञातव्य बातें २२४-२२७ घ्राणेन्द्रिय तथा उसके लक्षण के पदकृत्यों पर विशिष्ट बिचार २२८-२२९, रसनेन्द्रिय २२६-२३१, चक्षु इन्द्रिय २३१, त्वक् इन्द्रिय २३२, श्रोत्र इन्द्रिय २३२-२३३, मन २३३-२३४, इन्द्रियों में प्रमाण २३४-२३५ ।

[अर्थ]

न्यायवैशेषिक मतों में अर्थ का स्वरूप २३५-२३६, तर्कभाषाकार के मत से अर्थ का स्वरूप २३६, वैशेषिक के सप्त पदार्थ और न्याय के १६ पदार्थ की मान्यताओं का सहेतुक प्रतिपादन २३६-२३७, चार विद्यायें और उनके प्रस्थान २३७-२३८ ।

श्रीविश्वनाथो विजयते

तर्कभाषा

(श्रीकेशवमिश्रस्य)

बालोऽपि यो न्यायनये प्रवेशमल्पेन वाञ्छत्यलसः श्रुतेन ।
संक्षिप्तयुक्त्यन्विततर्कभाषा प्रकाश्यते तस्य कृते मयैषा ।।

जो आलसी बालक थोड़े से ही अध्ययन से न्यायशास्त्र में प्रवेश करना चाहता है उसके लिए मैं (केशवमिश्र) संक्षिप्त युक्तियों से युक्त इस 'तर्क-भाषा' ग्रन्थ की रचना करता हूँ ।

बाल—

इस पद्य में आये 'बाल' शब्द पर ध्यान देना आवश्यक है । बाल शब्द का अर्थ होता है बच्चा, वह बच्चा जो माँ का दूध पीता है, अबोध होता है, पर यहाँ वह बच्चा अभीष्ट नहीं है, यहाँ तो वह बच्चा अभीष्ट है जिसने काव्य, कोष, व्याकरण आदि का आवश्यक अध्ययन कर शास्त्रीय विषय को समझने और धारण करने की क्षमता अर्जित कर ली है पर न्यायशास्त्र का अध्ययन न किये होने के कारण न्यायशास्त्र के लिये बालक है ।

अलस—

उक्त बालक के लिये 'अलस' इस विशेषण शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है आलसी, आलसी का अर्थ है कठोर परिश्रम से घबड़ाने वाला । इस विशेषण की प्रस्तुत प्रसंग में बड़ी सार्थकता है, क्योंकि जो व्यक्ति आलसी न होगा, जिसे कठोर परिश्रम से कोई घबड़ाहट न होगी वह थोड़े से ही अध्ययन से न्यायशास्त्र में प्रवेश मात्र ही क्यों चाहेगा, वह तो विस्तृत अध्ययन कर न्यायशास्त्र में पारंगत होना चाहेगा, फिर उसके लिए 'तर्कभाषा' जैसे लघु ग्रन्थ की क्या उपयोगिता होगी ।

न्यायनय—

'न्यायनय' शब्द का अर्थ है न्यायशास्त्र, वह शास्त्र जिसमें 'न्याय' का विस्तृत वर्णन हो अथवा जिसमें 'न्याय' के माध्यम से प्रतिपाद्य विषयों का निरूपण हो ।

'न्याय' क्या है, इस सम्बन्ध में संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि 'न्याय' विचार की वह प्रणाली है जिसमें किसी वस्तु-तत्त्व का निर्णय करने के लिये सभी

प्रमाणों का उपयोग किया जाता है, जैसा कि वात्स्यायन ने न्याय-दर्शन के प्रथम सूत्र के भाष्य में कहा है 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः'। समस्त प्रमाणों से पदार्थ की परीक्षा करना 'न्याय' है। 'न्याय' शब्द से उस वाक्यसमूह को भी व्यवहृत किया जाता है जो दूसरे पुरुष को अनुमान द्वारा किसी विषय का बोध कराने के लिए प्रयुक्त होता है, वात्स्यायन ने उसे 'परम न्याय' कहा है और उसे वाद, जल्प और वितण्डा-रूप विचारों का मूल तथा तत्त्वनिर्णय का आधार बताया है, इस सम्बन्ध में उनके शब्द इस प्रकार हैं—

'साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्यावयवा उच्यन्ते। तेषु प्रमाणसमवायः। आगमः प्रतिज्ञा, हेतुरनुमानम्, उदाहरणं प्रत्यक्षम्, उपनयनमुपमानम्, सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति, सोऽयं परमो न्याय इति, एतेन वादजल्पवितण्डाः प्रवर्तन्ते नातोऽन्यथेति, तदाश्रया च तत्त्वव्यवस्था'।

जिस पदार्थ का साधन करना है उसकी सिद्धि जितने शब्दों के प्रयोग से सम्पन्न होती है उतने शब्दों का समूह 'न्याय' है। प्रतिज्ञा आदि उसके पांच अवयव हैं, किन्तु वे मुख्य अर्थ में उसके अवयय नहीं हैं क्योंकि न्यायशास्त्र के अनुसार जो जिस द्रव्य का समवायिकारण होता है वही उसका अवयव होता है, 'न्याय' यतः कोई द्रव्य नहीं है और प्रतिज्ञा आदि उसके समवायिकारण नहीं हैं अतः वे उसके वास्तव अवयव नहीं हो सकते, उन्हें 'न्याय' का अवयव कहने का कारण यह है कि 'न्याय' यतः कतिपय शब्दों का एक समूह है और प्रतिज्ञा आदि उस समूह में प्रविष्ट हैं अतः उस समूह की दृष्टि से वे उसके अवयव कहे जाते हैं। उन अवयवों में प्रमाणों का सन्निवेश है। प्रतिज्ञावाक्य शब्दप्रमाण के रूप में प्रतिपाद्य अर्थ की प्रतिपत्ति में सहायक होता है। उदाहरणवाक्य प्रत्यक्षप्रमाण के प्रयोग का ज्ञापक है और उपनय वाक्य उपमान प्रमाण का योगदान सूचित करता है। निगमन वाक्य से एक पदार्थ के साधन में समस्त प्रमाणों के सन्निवेश की अवगति होती है। प्रतिज्ञा आदि पांचो वाक्यों का यह समूह 'परम न्याय' है, इसी से वाद, जल्प और वितण्डा-रूप विचारों की प्रवृत्ति होती है। इसके विना किसी अन्य प्रकार से नहीं होती। तत्त्वनिर्णय भी इसी पर निर्भर होता है।

प्रवेश—

प्रवेश का अर्थ होता है भीतर जाना, किन्तु प्रकृत में यह अर्थ सम्भव नहीं है, क्योंकि न्यायशास्त्र ऐसा कोई सावयव द्रव्य नहीं है जिसका कोई भीतरी भाग हो, जिसमें जाने की सम्भावना समझी जाय, किन्तु यहाँ प्रवेश का अर्थ है परिचय-ज्ञान।

अपि—

'अपि' शब्द का अर्थ होता है 'भी' जिससे किसी के समुच्चय की प्रतीति होती है, पर यहाँ उसका 'भी' अर्थ नहीं किन्तु 'ही' अर्थ अभिमत है और उसका सम्बन्ध 'बाल' के साथ न होकर 'अल्प' के साथ है जिसके कारण 'अल्पेन अपि' का अर्थ हो जाता है 'थोड़ा ही'।

श्रुत—

श्रुत का अर्थ है श्रवण–अध्ययन। गुरुमुखसे अध्ययन अथवा स्वयं किसी पुस्तक से अध्ययन।

संक्षिप्तयुक्ति—

यहाँ प्रयुक्त युक्ति शब्द युज् धातु से करण अर्थ में विहित क्तिन् प्रत्यय से निष्पन्न होने वाला युक्ति शब्द है, किसी वस्तु के सम्बन्ध में जो शास्त्रीय वा लौकिक मान्यता स्वीकृत है उसका औचित्य जिसके द्वारा प्रतिपादित हो उसे युक्ति कहते हैं। युक्ति वस्तु का स्वतन्त्र साधन नहीं है। किन्तु वस्तु के साधक प्रमाण का सहायक है, वह कहीं विस्तार से भी प्रयुक्त होती है और कहीं संक्षेप से भी प्रयुक्त होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उसका प्रयोग संक्षेप से किया गया है क्योंकि आलसी बालक के लिये निर्मित होने से इसमें युक्ति का विस्तार वांछनीय नहीं है।

'तर्कभाषा' यह प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम है। यह नाम नितान्त अन्वर्थ है क्यों कि इस में प्रायः उन सभी प्रमुख पदार्थों का भाषण–कथन किया गया है जो तर्क के निकष पर खरे उतरते हैं। तर्क के सम्बन्ध में न्यायदर्शन में महर्षि गौतम ने कहा है 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः'। जिस पदार्थका तत्त्व निर्णीत नहीं है, जिसके स्वरूप के सम्बन्ध में परस्परविरुद्ध विभिन्न मान्यतायें हैं, उस पदार्थ के तत्त्व का–वास्तव स्वरूप का निर्णय करने के लिये जो युक्तिपूर्वक विचार होता है उसे तर्क कहा जाता है और इस तर्क से जिस रूप में वस्तु प्रतिष्ठित होती है वह रूप उस वस्तु का तत्त्व अर्थात् निजी स्वरूप माना जाता है। सभी विवादग्रस्त विषय इस तर्क की कसौटी पर कसे जाते है, इस लिये सभी विषय 'तर्क्यन्ते-तर्केण-तर्कोपकृतप्रमाणेन विषयीक्रियन्ते, तत्त्वतो निर्णीयन्ते' तर्क शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार तर्क शब्द से व्यपदिष्ट होते हैं, ऐसे सभी तर्कविषयों का कथन इस ग्रन्थ में होने से इस ग्रन्थ का 'तर्क-भाषा' यह नाम अत्यन्त अन्वर्थ है।

प्रकाश्यते—

तर्क मानस ज्ञान है। उस ज्ञान का अभिधान करने वाली उसकी सहज भाषा भी सूक्ष्म होने से अप्रकाशित रहती है, दूसरे को अवगत नहीं हो पाती, अतः वैखरी

'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा-हेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः', इति न्यायशास्त्र-स्यादिमं सूत्रम्।

अस्यार्थः—प्रमाणादिषोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिर्भवतीति।

न च प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानं-सम्यग् ज्ञानं तावद्भवति यावदेषामुद्देशलक्षण-परीक्षा न क्रियन्ते। यदाह भाष्यकारः—'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरुद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति'

उद्देशस्तु नाममात्रेण वस्तुसंकीर्तनम्। तच्चास्मिन्नेव सूत्रे कृतम्, लक्षणं त्वसा-धारणधर्मवचनम्, यथा गोः सास्नादिमत्त्वम्, लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः परीक्षा। तेनैते लक्षणपरीक्षे तत्त्वज्ञानार्थं कर्तव्ये।

वाणी में उसका अवतारण अपेक्षित होता है, यही बात 'प्रकाश्यते' शब्द के प्रयोग से सूचित की गई है।

मया—

यह अस्मद् शब्द का तृतीया विभक्ति के एकवचन का रूप है। अस्मद् शब्द का अर्थ होता है उच्चारणकर्ता। अस्मद् शब्द से निष्पन्न होने वाले शब्द का जो व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से उच्चारण करता है वही व्यक्ति उस शब्द का अर्थ होता है। यतः इस श्लोक में अस्मद् शब्द से निपन्न होने वाले 'मया' शब्द का स्वतन्त्र उच्चारण ग्रन्थकर्ता केशव मिश्र ने किया है अतः केशव मिश्र का ही उस शब्द से प्रतिपादन मान्य है।

यह शब्द एतत् शब्द के प्रथमा विभक्ति के एक वचन का रूप है जो 'तर्क-भाषा' के लिये प्रयुक्त है। यह शब्द सन्निकृष्ट अर्थ का बोधक होता है। प्रश्न यह होता है कि अभी तो तर्कभाषा का आरम्भ भी नहीं हुआ है, अभी तो उसका निर्माण होने वाला है, अतः यह तो सर्वथा असन्निकृष्ट है, तब फिर उसके लिये सन्निकृष्टार्थक 'एषा' शब्द का प्रयोग कैसे संगत हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि तर्कभाषा की यद्यपि अभी बाह्य सत्ता नहीं है पर उसकी बौद्धसत्ता अर्थात् ग्रन्थकार की बुद्धि में उसका सन्निधान तो है ही, क्यों कि वह यदि ग्रन्थकार की बुद्धि में भी न होगी तो ग्रन्थकार द्वारा उसका प्रकाशन कैसे सम्भव होगा, अतः बुद्धिगत सन्निकर्ष के अभिप्राय से ग्रन्थकार द्वारा प्रकाश में लाई जानेवाली तर्कभाषा के लिये 'एषा' शब्द के प्रयोग में कोई विसंगति नहीं है।

प्रमाण (१) प्रमेय (२) संशय (३) प्रयोजन (४) दृष्टान्त (५) सिद्धान्त (६) अवयव (७) तर्क (८) निर्णय (९) वाद (१०) जल्प (११) वितण्डा (१२) हेत्वाभास (१३) छल (१४) जाति (१५) और निग्रहस्थान (१६) के

तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस--मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह न्यायदर्शन का पहला सूत्र है।

इसका अर्थ यह है—प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्रमाण आदि पदार्थों का तत्त्वज्ञान-सम्यग् ज्ञान-यथार्थज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक इनका—प्रमाण आदि समस्त पदार्थों का उद्देश, लक्षण और परीक्षा न कर ली जाय, जैसा कि भाष्यकार–न्यायदर्शन के भाष्यकर्ता वात्स्यायनने कहा है—इस शास्त्र की–न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति–रचना उद्देश लक्षण और परीक्षा इन तीन रूपों में है अर्थात् इस शास्त्र के तीन कार्य हैं–उद्देश करना, लक्षण बताना और लक्षण के युक्तत्व–अयुक्तत्व की परीक्षा करना।

उद्देश—

'उद्देशो लक्षणं परीक्षा च' इस भाष्यवाक्य में आये उद्देश शब्द का अर्थ है नाम मात्र से वस्तु का संकीर्तन–यथार्थ कथन करना। जब किसी वस्तु के सम्बन्ध में और कुछ न कहकर केवल उसके नाममात्र का ही कथन किया जाता है तब वह कथन उस वस्तु का उद्देश कहा जाता है।

उद्देश के इस लक्षण में से यदि 'वस्तु' शब्द को निकाल दिया जाय तो 'नाममात्रेण संकीर्तनम्' इतना ही लक्षण होगा जिसका अर्थ होगा नाममात्र का संकीर्तन। उस दशा में यदि प्रमाण आदि शब्द स्वरूपमात्रपरक होंगे तो प्रमाण आदि शब्दों का वह स्वरूपनिर्देश भी प्रमाण आदि पदार्थों का उद्देश कहा जाने लगेगा, ऐसा न हो इसलिये उद्देश के लक्षण में 'वस्तु' शब्द का सन्निवेश किया गया है, 'वस्तु' शब्द का सन्निवेश होने से प्रमाण आदि शब्दों का स्वरूप कथन प्रमाण आदि पदार्थों का उद्देश न कहा जा सकेगा क्योंकि वह कथन नाममात्र का कथन है नाम द्वारा वस्तु–प्रमाण आदि पदार्थों का कथन नहीं है।

इसी प्रकार उक्त लक्षण में से यदि 'नाममात्रेण' यह अंश निकाल दिया जाय तो "वस्तुसंकीर्तनम्' इतना ही लक्षण बनेगा और उस दशा में लक्षण द्वारा वस्तु का कथन भी वस्तुसंकीर्तनरूप होने से उद्देश कहलाने लगेगा। फलतः लक्षण आदि में उद्देश के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, ऐसा न हो, एतदर्थ उक्त लक्षण में 'नाममात्रेण' इस अंश का सन्निवेश किया गया है। इस सन्निवेश से लक्षणकथन वस्तु का उद्देश न कहा जा सकेगा क्योंकि उसमें नाम मात्र से वस्तु का कथन नहीं होता।

मात्र पद को निकालकर 'नाम्ना वस्तुसंकीर्तनम् उद्देशः' यह भी उद्देश का लक्षण नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस दशा में नाम और लक्षण दोनों के सम्मिलित कथन में उद्देश लक्षण की अतिव्याप्ति होगी।

'संकीर्तन' में से 'सं' शब्द को निकालकर 'नाममात्रेण वस्तुकीर्तनम्' को भी उद्देश का लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर किसी अन्य वस्तु के नाम से किसी वस्त्वन्तर का कथन भी उद्देश कहलाने लगेगा, और 'सं' शब्द का सन्निवेश करने पर उक्त प्रकार का कथन असम्यक् कथन होने से उद्देश कहलाने का अधिकारी न होगा।

इस प्रकार उद्देश के उक्त लक्षण के प्रत्येक पद का प्रयोजन अवगत करने से यह स्पष्टीकरण प्राप्त होता है कि उद्देश में किसी वस्तु के नाम का स्वरूपकथन मात्र नहीं होता, उसके लक्षण आदि का कथन नहीं होता और न किसी वस्त्वन्तर के नाम से कथन होता किन्तु जिस वस्तु का जो प्रसिद्ध नाम होता है उस नाम मात्र से उस वस्तु का कथन होता है, फलतः उद्देश—वाक्य में प्रयुक्त होने वाले तत्तत् नाम के तत्तन्नामार्थ-परक होने से न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में प्रयुक्त प्रमाण, प्रमेय आदि शब्दों का अर्थ है प्रमाण पदार्थ, प्रमेय पदार्थ आदि।

और यह—प्रमाण आदि पदार्थों का उद्देशात्मक कथन इसी सूत्र में—न्यायदर्शन के पूर्वोक्त पहले सूत्र में ही कर दिया गया है।

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र का लक्ष्य प्रमाण आदि पदार्थों का उद्देश मात्र कर देना ही नहीं है क्योंकि यदि उतना ही लक्ष्य होता तो उस सूत्र को 'निग्रहस्थान' शब्द पर ही समाप्त कर दिया गया होता, पर ऐसा न करके उन पदार्थों के तत्त्वज्ञान के प्रयोजन का भी प्रतिपादन किया गया है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार को प्रमाण आदि पदार्थों के उद्देश के साथ इस सूत्र से अनुबन्ध-चतुष्टय का प्रतिपादन भी अभिप्रेत है।

अनुबन्धचतुष्टय—

अनु-पश्चात्–स्वज्ञानोत्तरं बध्नन्ति–आसञ्जयन्ति–प्रवर्तयन्ति इति अनुबन्धा–अनुबन्ध शब्दकी इस व्युत्पत्ति के अनुसार अनुबन्ध उन्हें कहा जाता है जिनका ज्ञान होने से किसी शास्त्र या ग्रन्थ के अध्ययन में अध्येता की प्रवृत्ति होती है। वे वस्तु चार हैं–विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी।

विषय—

विषय का अर्थ है किसी शास्त्र या ग्रन्थ की प्रतिपाद्य वस्तु, जैसे न्यायदर्शन का विषय है प्रमाण आदि सोलह पदार्थ। जब तक प्रारम्भ में ही अध्येता को सामान्य रूप से यह ज्ञात न होगा कि अमुक शास्त्र या ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय क्या है तब तक उस शास्त्र या उस ग्रन्थ के अध्ययन में उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जो विषय अध्येता को ज्ञात-विशेष रूप से अवगत नहीं होता उसी को जानने के उद्देश्य से वह किसी शास्त्र या ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहता है और अमुक शास्त्र या अमुक

ग्रन्थ किसी ऐसे ही विषय का प्रतिपादक है जो उसे ज्ञात नहीं है यह बात उसे तभी ज्ञात हो सकती है जब प्रारम्भ में ही प्रतिपाद्य का निर्देश कर दिया जाय। बस, इसी दृष्टि से विषय को अनुबन्ध–शास्त्र या ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवर्तक माना जाता है।

सम्बन्ध—

सम्बन्ध का इस सन्दर्भ में अर्थ है शास्त्र या ग्रन्थ के साथ विषय का प्रतिपादकत्व अथवा विषय के साथ शास्त्र या ग्रन्थ का प्रतिपाद्यत्व सम्बन्ध। अध्ययन में प्रवृत्ति के लिये अध्येता को इसका ज्ञान भी आवश्यक है, क्योंकि आरम्भ में विषय का यदि उल्लेख कर दिया जाय किन्तु उसका प्रतिपादन न किया जाय, अपितु प्रसंग आदि वश अन्य विषय के ही प्रतिपादन में शास्त्र या ग्रन्थ की समाप्ति कर दी जाय तो उस दशा में आरम्भ में विषय का ज्ञान हो जाने पर भी उस विषय के जिज्ञासु अध्येता की उस शास्त्र या ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्ति नहीं हो सकती अतः उसे इस बात का भी ज्ञान आवश्यक है कि अमुक शास्त्र या अमुक ग्रन्थ अमुक विषय का प्रतिपादक है अथवा अमुक विषय अमुक शास्त्र या अमुक ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है। इस प्रकार शास्त्र या ग्रन्थ में विषय के प्रतिपादकत्व का अथवा विषय में शास्त्र या ग्रन्थ के प्रतिपाद्यत्व का ज्ञान शास्त्राध्ययन या ग्रन्थाध्ययन में अध्येता की प्रवृत्ति के लिये आवश्यक होने से विषय का शास्त्र या ग्रन्थ के साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध भी एक अन्यतम अनुबन्ध है।

प्रयोजन—

प्रयुङ्क्ते प्रयोजयति वा प्राधान्येन यत् तत्प्रयोजनम्, अथवा प्रयुज्यते प्रवर्त्यते येन तत्प्रयोजनम्, प्रयोजन शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रयोजन शब्द का अर्थ है प्रधान प्रवर्तक। जिस मूल उद्देश्य के लिये मनुष्य यत्नशील होता है वही प्रयोजन-प्रधानप्रवर्तक होता है। इसके अनुसार मनुष्य की समस्त प्रवृत्ति का मूल प्रयोजन होता है सुख की प्राप्ति और दुःख का निरास। मनुष्य या तो सुख के लिये यत्नशील होता है या दुःख के निरास के लिये प्रयत्नशील होता है, उसके यह मूलभूत प्रयोजन जिन साधनों से सम्पन्न होते हैं वे भी प्रयोजन कहलाते हैं पर वे मूलभूत-मुख्य प्रयोजन न होकर अवान्तर प्रयोजन-उपायात्मक प्रयोजन होते हैं। शास्त्र या ग्रन्थ के अध्ययन में अध्येता की प्रवृत्ति के लिये उसे इस प्रयोजन का भी ज्ञान अनिवार्य रूप से अपेक्षित होता है, क्योंकि अध्येता को किसी शास्त्र या ग्रन्थ के विषय का ज्ञान तथा विषय और शास्त्र या ग्रन्थ के बीच प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध का ज्ञान होने पर भी जब तक उसे उस शास्त्र या ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के ज्ञान की उपयोगिता का, उसके प्रयोजन का ज्ञान नहीं होता तब तक उस शास्त्र या ग्रन्थ के

अध्ययन में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती, इस प्रकार प्रवृत्ति के लिये विषयज्ञान के प्रयोजन का ज्ञान आवश्यक होने से विषयज्ञान का प्रयोजन भी एक अन्यतम अनुबन्ध कहा जाता है जो सभी अनुबन्धों में प्रधानतम होता है।

अधिकारी—

जिस कार्य के लिये मनुष्य अपने आपको अधिकारी-अर्ह समझता है उसी में उसकी प्रवृत्ति होती है, अन्य कार्यों के समान ही किसी शास्त्र या किसी ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्त होने के लिये भी मनुष्य को यह समझना आवश्यक है कि वह उस शास्त्र या ग्रन्थ के अध्ययन का अधिकारी है। यह अधिकारिता मुख्यतया दो बातों पर निर्भर होती है, एक है इष्टसाधनता और दूसरी है कृतिसाध्यता। जिस कार्य को मनुष्य अपने इष्ट का साधन तथा अपने प्रयत्न से साध्य समझता है उसके सम्पादन में वह प्रवृत्त होता है, इस प्रकार अपने को किसी कार्य के लिए अधिकारी समझने का अर्थ है उस कार्य को अपने इष्ट—प्रयोजन का साधन समझना तथा अपने प्रयत्न से साध्य समझना। शास्त्र या ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्त होने के लिये भी यह समझदारी—इष्टसाधनता और कृतिसाध्यता का ज्ञान आवश्यक होता है। इस प्रकार अधिकारी भी एक अन्यतम अनुबन्ध होता है और इसी लिये शास्त्र या ग्रन्थ के आरम्भ में उसके ज्ञान का उपाय प्रस्तुत करना अपेक्षित होता है।

उक्त रीति से किसी शास्त्र या ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्त होने के लिये विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी इन अनुबन्धों का ज्ञान आवश्यक होने से प्रत्येक शास्त्र या ग्रन्थ के आरम्भ में किसी न किसी रूप में उनका प्रदर्शन किया जाता है। उनमें विषय और प्रयोजन का तो शब्दतः स्पष्ट प्रतिपादन किया जाता है और सम्बन्ध तथा अधिकारी का प्रतिपादन विषय और प्रयोजन के प्रतिपादन द्वारा किया जाता है, शास्त्र या ग्रन्थ का विषय बता देने से उन दोनों के प्रतिपाद्यप्रतिपादक-भाव सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है क्योंकि जो शास्त्र या ग्रन्थ जिस वस्तु का प्रतिपादक न होगा उसका वह वस्तु विषय ही न हो सकेगा, इसी प्रकार प्रयोजन का आख्यान कर देने से अधिकारी का भी ज्ञान सुकर हो जाता है क्योंकि प्रयोजनेच्छु मनुष्य ही उस प्रयोजन के निष्पादक शास्त्र या ग्रन्थ के अध्ययन का अधिकारी होता है।

न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के रूप में उसके विषय का तथा निःश्रेयस-मोक्ष के रूप में उसके मूलभूत प्रयोजन का शब्द द्वारा स्पष्टतया प्रतिपादन किया गया है और सम्बन्ध तथा अधिकारी की सूचना उसी के माध्यम से दी गई है। प्रमाण आदि सोलह पदार्थ न्यायशास्त्र के विषय हैं, न्यायशास्त्र उन विषयों का प्रतिपादक है। प्रमाण आदि पदार्थों के तत्त्व ज्ञान द्वारा मोक्ष को सुलभ

करना उसका प्रयोजन है और मोक्ष के लिये प्रमाण आदि पदार्थों का जिज्ञासु उसके अध्ययनका अधिकारी है।

तर्कभाषा के प्रारम्भिक पद्य में भी उक्त चारों अनुबन्धों का प्रदर्शन किया गया है। उसके अनुसार न्यायशास्त्र के प्रतिपाद्य प्रमाण आदि सोलह पदार्थ तर्कभाषा के प्रतिपाद्य विषय हैं, तर्कभाषा उनका संक्षेप से प्रतिपादक है, न्यायशास्त्र में प्रवेश-न्यायशास्त्र के प्रतिपाद्य पदार्थों का संक्षिप्त परिचय उसका प्रयोजन है और मोक्ष प्राप्ति के लिये उन पदार्थों के विशद तत्त्व ज्ञान के निमित्त उनके संक्षिप्त परिचय के इच्छुक पूर्वोक्त प्रकार के बालक उसके अध्ययन के अधिकारी हैं।

लक्षण—

उक्त भाष्य-वाक्य में आये लक्षण शब्द का अर्थ है लक्षणकथन और लक्षणकथन का अर्थ है असाधारणधर्म का प्रतिपादन। असाधारणधर्म लक्षणीय पदार्थ के उस धर्म को कहा जाता है जो समस्त लक्षणीय प्रदार्थों में रहता है और अलक्ष्य में नहीं रहता, दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि जो धर्म लक्ष्यतावच्छेदक का समनियत होता है वह लक्ष्यभूत पदार्थ का असाधारणधर्म अर्थात् लक्षण कहा जाता है। जैसे जब सास्ना-दिमत्त्व-गलकम्बल आदि को गौ का लक्षण कहा जाता है तब गौ लक्ष्य होता है और गल-कम्बल आदि उसका लक्षण होता है क्यों कि गौ लक्ष्य हैउसमें लक्ष्यता है। गोत्व लक्ष्यता का अवच्छेदक-नियामक है। यतः गोत्व लक्ष्यभूत सभी गौ में रहता है और गौ से भिन्न महिष आदि अलक्ष्य पदार्थों में नहीं रहता। गलकम्बल लक्ष्यतावच्छेदकीभूत गोत्व का समनियत धर्म है। 'तद्व्याप्यत्वे संति तद्व्यापकत्वं तत्समनियतत्वम्' इस परिभाषा के अनुसार जो जिसका व्याप्य होते हुये जिसका व्यापक भी होता है वह उसका समनियत धर्म कहलाता है। जैसे गलकम्बल गोत्व का व्याप्य होते हुये उसका व्यापक भी है क्यों कि जिसमें गोत्व नहीं रहता वैसे महिष आदि पदार्थों में न रहने से गलकम्बल गोत्व का व्याप्य होता है और गोत्व के जितने आश्रय हैं उन सभी में रहने से गलकम्बल गोत्व का व्यापक है। इस प्रकार गोत्व का व्याप्य और व्यापक दोनों होने से गलकम्बल गोत्वका समनियत धर्म होता है और समनियत होने से ही गलकम्बल गौ का लक्षण होता है। प्रकृत में प्रमाण आदि पदार्थ लक्ष्य हैं, प्रमाणपदार्थत्व आदि लक्ष्यतावच्छेदक धर्म हैं, प्रमाकरणत्व आदि उनके समनियत होने से प्रमाण आदि पदार्थों के लक्षण हैं।

लक्षण के दोष—

लक्षण के तीन दोष होते हैं। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। अव्याप्ति का अर्थ है 'लक्ष्यैकदेशावृत्तित्व-लक्ष्य के किसी एक भाग में न रहना, अथवा लक्ष्यतावच्छे-दकसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्व-लक्ष्यतावच्छेदक के किसी आश्रय में रहने वाले अभाव का प्रतियोगी होना, जैसे कर्बुरत्व-चितकबरेपन को यदि गौ का लक्षण कहा जाय

तो उसमें अव्याप्तिदोष होगा क्यों कि कर्बुरत्व लक्ष्यभूत गोसमुदाय के एक भाग लाल, काले किसी एक ही वर्णके गौ में नहीं रहता या लक्ष्यताच्छेदकभूत गोत्व के आश्रय लाल, काले आदि किसी एक ही वर्ण के गौ में कर्बुरत्व का अभाव है और उस अभाव का कर्बुरत्व प्रतियोगी है।

अतिव्याप्ति का अर्थ है अलक्ष्यवृत्तित्व–लक्ष्य से भिन्न पदार्थ में रहना अथवा लक्ष्यतावच्छेदकाभावसमानाधिकरणत्व—लक्ष्यतावच्छेदक के अभाव के अधिकरण में रहना, जैसे शृङ्गित्व–सींग होने को यदि गौ का लक्षण कहा जाय तो अतिव्याप्ति दोष होगा क्योंकि लक्ष्यभूत गौ से भिन्न भैंस आदि को भी सींग होती है अथवा लक्ष्यताव-च्छेदकभूत गोत्व के अभाव के अधिकरण भैंस आदि को भी सींग होती है।

असम्भवका अर्थ है लक्ष्यमात्रावृत्तित्व–किसी भी लक्ष्य में न रहना, अथवा लक्ष्यतावच्छेदक के व्यापक अभाव का प्रतियोगी होना; जैसे एकशफत्व को–बीच में कटी न होकर एक ही खुर होने को यदि गौ का लक्षण कहा जाय तो असम्भव दोष होगा, क्योंकि गौ के खुर के बीच में फटी होने से लक्ष्यमात्र में–पूरे गोसमुदाय में एक-शफत्व नहीं रहता, अथवा लक्ष्यतावच्छेदक गोत्व के सभी आश्रयों में रहने से एक-शफत्वका अभाव लक्ष्यतावच्छेदक का व्यापक है और एकशफत्व उस अभावका प्रतियोगी है, इस प्रकार गौ का एकशफत्व लक्षण असम्भव दोष से ग्रस्त है।

उपर्युक्त तीनों दोषोंमें किसी भी एक दोष के होने पर लक्षण अलक्षण बन जाता है, इसलिये जिस पदार्थ का जो धर्म इन तीनों दोषों से रहित होता है वही धर्म उस पदार्थ का लक्षण होता है, एक पदार्थ के ऐसे कई धर्म हो सकते हैं अतः एक लक्ष्य के अनेक लक्षण बन सकते हैं।

लक्षण के अन्य दोष--

लक्षण के अव्याप्ति आदि दोष जो बताये गये हैं वे ऐसे हैं जो लक्षण का जानने योग्य कोई रूप जब प्रस्तुत हो जाता है तब उपस्थित होते हैं किन्तु लक्षण के कुछ अन्य दोष भी हैं जिनके कारण लक्षण का कोई जानने योग्य रूप प्रस्तुत ही नहीं हो पाता, वे हैं आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक और अप्रसिद्धि।

आत्माश्रय--

स्वज्ञानसापेक्षज्ञानविषयत्वम् आत्माश्रयः—किसी वस्तु का अपने ज्ञान के लिये अपेक्षणीय ज्ञान का विषय हो जाना आत्माश्रय है, आत्माश्रय की इस परिभाषा के अनुसार यह दोष उस स्थिति में होता है जब किसी लक्षण का निर्वचन करने पर उसके ज्ञानमें उसीका ज्ञान अपेक्षणीय हो जाता है, जैसे यदि यह कहा जाय कि 'गौ से भिन्न में न रहनेवाली और सम्पूर्ण गौ में रहनेवाली जाति' गौ का लक्षण है, तो इस लक्षण

में आत्माश्रय दोष होगा क्योंकि गौके लक्षणमें गौ का प्रवेश हो जाने से गौ के ज्ञान में गौ का ही ज्ञान अपेक्षणीय हो जाता है फलतः अपेक्षणीय ज्ञानके अभाव में अपेक्षक ज्ञान सम्भव नहीं हो पाता।

अन्योन्याश्रय—

स्वज्ञानसापेक्षज्ञानसापेक्षज्ञानविषयत्वम् अन्योन्याश्रयः—किसी वस्तु का उसके ज्ञान के लिए अपेक्षणीय ज्ञान के निमित्त अपेक्षित ज्ञान का विषय हो जाना अन्योन्याश्रय है, अन्योन्याश्रय की इस परिभाषा के अनुसार जब किसी वस्तु के ज्ञान का सम्पादन करने में अपेक्षणीय ज्ञान को उस वस्तु के ही ज्ञान की अपेक्षा हो जाती है तब अन्योन्याश्रय दोष होता है। जैसे यदि यह कहा जाय कि गौ का लक्षण है सास्नागलकम्बल और सास्ना का लक्षण है गौ के गले के नीचे लटकने वाला चर्म, तो गौ के इस लक्षण में अन्योन्याश्रय दोष होगा क्योंकि गौके ज्ञान को सास्ना का ज्ञान अपेक्षणीय है और सास्ना के ज्ञान को गौ का ज्ञान अपेक्षित है, फलतः दोनों ज्ञान के एक दूसरे के आश्रित होने से दोनों ही सम्भव नहीं हो सकते।

चक्रक

स्वज्ञानसापेक्षज्ञानसापेक्षज्ञानसापेक्षज्ञानविषयत्वं चक्रकम्। किसी वस्तु का अपने ज्ञान के लिये अपेक्षणीय ज्ञान को अपेक्षित ज्ञान के निमित्त अपेक्षणीय ज्ञानका विषय हो जाना चक्रक है, चक्रक की इस परिभाषा के अनुसार जब किसी वस्तु के ज्ञान के सम्पादन में अपेक्षणीय ज्ञान को जिस ज्ञान की अपेक्षा होती है उस ज्ञान के उदय में उसी वस्तु का ज्ञान अपेक्षित हो जाता है तब चक्रक दोष होता है। जैसे यदि गौ का लक्षण किया जाय 'गोत्व' और गोत्व का लक्षण किया जाय सास्नाहीन पदार्थमें न रहनेवाली और सास्नायुक्त सम्पूर्ण पदार्थोंमें रहनेवाली जाति, एवं सास्नाका लक्षण किया जाय गौ के गले के नीचे लटकनेवाला चर्म, तो गौ के लक्षणका इस प्रकार निर्वचन करनेपर चक्रक दोष होगा क्योंकि गौ के ज्ञान के लिए गोत्व का ज्ञान और गोत्वके ज्ञान के लिये सास्ना का ज्ञान एवं सास्ना के ज्ञान लिये पुनः गौ का ही ज्ञान अपेक्षित हो जाता है। फलतः गौ के ज्ञान में गौ के ही ज्ञान के अपेक्षणीय हो जाने से उसका उदय अशक्य हो जाता है।

अप्रसिद्धि—

लक्षण के निर्वाच्य स्वरूप में किसी अंश का असत्त्व अप्रसिद्धि है, जैसे यदि गौ का लक्षण किया जाय असरोमरसनत्व–रोमयुक्त रसना-जिह्वा का न होना, तो इस लक्षण में अप्रसिद्धि दोष होगा क्योंकि लक्षण के स्वरूप में रसना की सरोमता असत् है।

लक्षण को इन सभी दोषों से भी मुक्त होना आवश्यक है।

लक्षण का प्रयोजन—

लक्षण के दो प्रयोजन होते हैं—व्यावृत्ति और व्यवहार, जैसा कि कहा गया है 'व्यावृत्तिर्व्यवहारोवा लक्षणस्य प्रयोजनम्'। व्यावृत्ति का अर्थ है—लक्ष्य में रहने वाला उसके सजातीय और विजातीय पदार्थों का भेद, जैसे पशुओं की चर्चा के सन्दर्भ में जब गलकम्बल को गौ का लक्षण बताया जाता है तब लक्ष्य गौ में उसके सजातीय अश्व आदि पशुओं का तथा उसके विजातीय मनुष्य आदि पदार्थों का जो भेद ज्ञात होता है वह भेद ही व्यावृत्ति कहा जाता है, यह व्यावृत्ति लक्षण का उत्पाद्य प्रयोजन नहीं होता किन्तु ज्ञाप्य प्रयोजन होता है, अर्थात् लक्षण से लक्ष्य में व्यावृत्ति का जनन नहीं होता अपितु पूर्वतः विद्यमान व्यावृत्ति का ज्ञान होता है, इस प्रकार मुख्य रूप से व्यावृत्तिज्ञान के लक्षण का प्रयोजन होने से उसके विषय व्यावृत्ति में भी लक्षण के गौण प्रयोजनत्व का व्यवहार होता है।

लक्षण का दूसरा प्रयोजन है व्यवहार, व्यवहार का अर्थ है लक्ष्य में लक्ष्यबोधक पदविशेष की प्रवृत्ति–उसका प्रयोग। जैसे गोत्व जाति को यदि गोपदार्थ का लक्षण कहा जाय तो उस लक्षण का प्रयोजन होगा गोपदार्थ में लक्ष्यबोधक गोपद के प्रयोग की सिद्धि। यह प्रयोगात्मक व्यवहार लक्षण का—लक्षणज्ञान का उत्पाद्य प्रयोजन होता है। यह प्रयोजन मुख्यतया उस लक्षण का होता है जो वस्तुमात्र का लक्षण होता है अर्थात् केवलान्वयी होता है जैसे ज्ञेय, वाच्य आदि के ज्ञेयत्व, वाच्यत्व आदि लक्षण। इन लक्षणों के अनुसार ज्ञान का विषय होने वाले पदार्थ को ज्ञेय पद से और पद-शक्ति का विषय होने वाले पदार्थ को वाच्य पद से व्यवहृत किया जाता है, अतः समस्त पदार्थ ज्ञेय और वाच्य पद से व्यवहृत होते हैं।

यह ज्ञातव्य है कि सभी व्यावर्तक लक्षण व्यवहारौपयिक नहीं होते और न सभी व्यवहारौपयिक लक्षण व्यावर्तक होते हैं, किन्तु कुछ लक्षण व्यावर्तक भी होते हैं और व्यवहारौपयिक भी होते हैं। जैसे गलकम्बल गौ का व्यावर्तक लक्षण है, व्यवहारौपयिक नहीं है क्योंकि उसे व्यवहारौपयिक तभी माना जा सकता है जब उसे गोपद का प्रवृत्तिनिमित्त माना जाय और उसे प्रवृत्तिनिमित्त नहीं माना जा सकता क्योंकि गोत्व की अपेक्षा वह गुरुतर है। ज्ञेयत्व, वाच्यत्व आदि को ज्ञेय, वाच्य आदि का व्यावर्तक लक्षण नहीं माना जा सकता क्योंकि उनकी ज्ञाप्य व्यावृत्ति असिद्ध है। किन्तु गोत्व जाति को गौ का व्यावर्तक और व्यवहारौपयिक दोनों प्रकार का लक्षण माना जा सकता है।

अव्याप्ति आदि दोषों से व्यावर्तक और व्यवहारौपयिक दोनों प्रकार के लक्षणों के लक्षणत्व की हानि होती है, जैसे व्यावर्तक लक्षण में यदि अव्याप्ति दोष होगा तो उस लक्षण को हेतु बना कर सम्पूर्ण लक्ष्य रूप पक्ष में अलक्ष्य भूत पदार्थों के भेद का

अनुमान करने पर लक्ष्य के एक भाग रूप पक्षैकदेश में लक्षण के न होने से लक्षणात्मक हेतु भागासिद्धि दोष से ग्रस्त हो जायगा और भागासिद्ध-पक्ष के एक भाग में न रहने वाले हेतु का समस्त लक्ष्यात्मक पक्ष में. ज्ञान न हो सकने से सम्पूर्ण लक्ष्य में उस लक्षणात्मक हेतु से अलक्ष्यभेद का अनुमान न हो सकेगा, फलतः ऐसे लक्षण में व्यावर्तकत्व–इतरभेदानुमापकत्व रूप लक्षणत्व की हानि हो जायगी।

इसी प्रकार लक्षण यदि अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त होगा तो लक्षणात्मक हेतु अलक्ष्य-वृत्ति होने से इतरभेद-अलक्ष्यभेद रूप साध्यका व्यभिचारी होगा, फलतः उसमें इतर-भेदात्मक साध्य की व्याप्ति का ज्ञान न हो सकने से इतरभेदानुमापकत्वरूप लक्षणत्व की हानि होगी।

लक्षण यदि असम्भव दोष से ग्रस्त होगा तो लक्ष्यात्मक पक्ष में न रहने के कारण लक्षणात्मक हेतु स्वरूपासिद्ध हो जायगा और उस दशा में उक्त लक्षणात्मक हेतु में पक्षधर्मता का ज्ञान न हो सकने से उस हेतु से लक्ष्य में इतरभेद का अनुमान न हो सकेगा, फलतः असम्भवग्रस्त लक्षण के इतरभेदानुमापकत्व रूप लक्षणत्व की हानि होगी।

उक्त दोषों से ग्रस्त होने पर व्यवहारौपयिक लक्षण के भी लक्षणत्व की हानि होगी, क्योंकि जो लक्षण अव्याप्त होगा उसे व्यवहारौपयिक माननेपर वह लक्ष्य के जिस भाग में न रहेगा उसमें लक्ष्यबोधक पदविशेष का व्यवहार न हो सकेगा, फलतः उसे व्यव-हारौपयिक न माने जा सकने के कारण उसमें व्यवहारौपयिकत्वरूप लक्षणत्व की हानि होगी।

इसी प्रकार जो लक्षण अतिव्याप्त होगा—अलक्ष्य वृत्ति होगा उसे व्यवहारौपयिक मानने पर वह जिस अलक्ष्य में रहेगा उसमें भी लक्ष्यबोधक पदविशेष का व्यवहार प्रसक्त होगा, फलतः उसे भी व्यवहारौपयिक न माने जा सकने के कारण उसमें भी व्यवहारौपयिकत्व रूप लक्षणत्व की हानि होगी।

जो लक्षण असम्भव दोष से ग्रस्त होगा, किसी भी लक्ष्य में न रहेगा उसे व्यव-हारौपयिक मानने पर किसी भी लक्ष्य में लक्ष्य बोधक पदविशेष का प्रयोग न हो सकेगा प्रत्युत वह यदि अलक्ष्यवृत्ति होगा तो जिन अलक्ष्यों में वह रहेगा उनमें उक्त पद के प्रयोग की आपत्ति होगी, फलतः उसे भी व्यवहारौपयिक न माने जा सकने के कारण उसमें भी व्यवहारौपयिकत्व रूप लक्षणत्व की हानि होगी, इसलिए किसी का चाहे कोई व्यावर्तक लक्षण बताया जाय और चाहे व्यवहारौपयिक लक्षण बताया जाय, प्रत्येक को अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोषों से मुक्त रखने का प्रयत्न करना आवश्यक है।

परीक्षा—

'परित ईक्षणं परीक्षा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार किसी विषय की सब प्रकार से देख-भाल करने को, पूर्णरूप से उसकी जांच करने को परीक्षा कहा जाता है। इसे न्यायशास्त्र की तीसरी प्रवृत्ति माना गया है और इसे न्याय-भाष्य में तथा उसका अनुकरण करते हुये इस तर्कभाषा ग्रन्थ में भी लक्षण के युक्तायुक्तत्व विचार तक ही सीमित कर दिया गया है। अतः प्रस्तुत सन्दर्भ में किसी पदार्थ की परीक्षा करते हुये केवल इतना ही देखना है कि जिस उद्दिष्ट पदार्थ का जो लक्षण बताया गया है वह उसका उपयुक्त लक्षण है या नहीं, उसमे उसका अविकल परिचय प्राप्त होता है या नहीं, उसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव दोषों में से कोई दोष है या नहीं, उसका स्वरूपज्ञान तथा लक्ष्य में उसका समन्वय सुकर है या नहीं। परीक्षा का परिचय देते हुये यही बात न्यायभाष्य में इस प्रकार कही गई है—'लक्षितस्य यथा लक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा।' जो पदार्थ लक्षित हुआ है, जिसका जो लक्षण बताया गया है उसका वह लक्षण उपपन्न है या नहीं, प्रमाणों से इस बात का निर्णय करना परीक्षा है। इस प्रकार न्यायदर्शन में तथा इस ग्रन्थ में परीक्षा का सम्बन्ध मुख्यरूप से लक्षण के ही साथ है।

शास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति—

उद्देश, लक्षण और परीक्षा, जो यह तीन प्रवृत्तियां बताई गई हैं उन सबकी अनन्यथासिद्ध उपयोगिता है, क्योंकि शास्त्र की रचना जिस उद्देश्य से हुई है उसकी सिद्धि इन तीनों के विना हो ही नहीं सकती। न्यायशास्त्र की रचना पदार्थों का सम्यग् ज्ञान सम्पन्न करने के लिये हुई है, तो जब तक पदार्थ का उद्देश न किया जायगा, जब तक यह न बताया जायगा कि वे कौन से और कितने पदार्थ हैं जिनका सम्यग् ज्ञान अपेक्षित है तब तक उनका सम्यग् ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास कैसे किया जा सकेगा, इस लिये ज्ञातव्य पदार्थों का उद्देश सर्वप्रथम आवश्यक है, इसी प्रकार पदार्थ का उद्देश मात्र कर देने से, उनका नाम मात्र बता देने से भी उनका सम्यग् ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि किसी पदार्थ के सम्यग् ज्ञान की परिधि में अन्य पदार्थों से उसकी विलक्षणता का ज्ञान मुख्य है और वह एकमात्र उसके लक्षण से ही साध्य है, अतः लक्षण के विना पदार्थ का सम्यग् ज्ञान सम्भव न होने से उद्देश के अनन्तर लक्षण का अभिधान किया जाता है। लक्षण का अभिधान दो प्रकार से होता है, कभी उद्देश के बाद विभाग और विभाग के बाद लक्षण और कभी उद्देश के बाद लक्षण और लक्षण के बाद विभाग, जैसा कि न्यायदर्शन, प्रथमाध्याय, प्रथम आह्निक के तीसरे सूत्र के भाष्य में बताया गया है—

'तत्रोद्दिष्टस्य प्रविभक्तस्य लक्षणमुच्यते, यथा—प्रमाणस्य प्रमेयस्य च। उद्दिष्टस्य लक्षितस्य च विभागवचनं, यथा—छलस्य'।

प्रमाण और प्रमेय प्रथम सूत्र में उद्दिष्ट हुये हैं, उद्देश के अनन्तर क्रम से तीसरे और नवें सूत्र में उनका विभाग किया गया है और विभाग के पश्चात् विभाग किये हुये प्रमाण और प्रमेयों का पृथक् पृथक् लक्षण किया गया है। किन्तु छल के विषय में इससे विपरीत प्रक्रिया अपनाई गई है, क्यों कि प्रथम सूत्र में छल का उद्देश करके पुनः उसके प्रतिपादन का अवसर उपस्थित होने पर प्रथम अध्याय, द्वितीय आह्निक के दशवें सूत्र में उसका लक्षण किया गया है और लक्षण के अनन्तर अग्रिम सूत्र में उसका विभाग किया गया है। इस प्रक्रियाभेद का भी कारण है और वह यह कि जिस पदार्थ का सामान्य लक्षण उसके सामान्य नाम की व्याख्या से ही अवगत हो जाता है उसका स्वतन्त्र रूप से सामान्य लक्षण न बता कर उद्देश के अनन्तर उसका विभाग कर दिया जाता है जैसे प्रमाण और प्रमेय। प्रमाण शब्द का अर्थ है प्रमा का करण और प्रमेय शब्द का अर्थ है प्रमाका विषय, अतः इन नामों की व्याख्या से ही प्रमाण और प्रमेय के लक्षण का लाभ हो जाने से उनका कोई सामान्य लक्षण न बता कर उद्देश के अनन्तर उनका विभाग कर दिया गया, किन्तु छल शब्द की शाब्दिक व्याख्या से छल का कोई लक्षण नहीं ज्ञात होता अतः छल का उद्देश करने के अनन्तर उसका पहले लक्षण बताया गया और जब लक्षण से उसका सामान्य परिचय प्राप्त हो गया तब उसके विशेष परिचयार्थ उसका विभाग किया गया।

इस विभाग को लेकर उद्योतकर ने न्यायवार्तिक में तथा जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी में इस आशय का प्रश्न उठाया है कि जब शास्त्र की विभागात्मक एक चौथी प्रवृत्ति भी प्राप्त होती है, तो भाष्यकार ने शास्त्र की जो तीन ही प्रवृत्ति बताई हैं वह उचित नहीं है, इस प्रश्न का उन्होंने बड़ा उचित उत्तर भी प्रस्तुत किया है, और यह वह कि विभाग शास्त्र की कोई स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं है अपितु वह भी एक प्रकार से पदार्थ का उद्देश ही है क्यों कि दोनों के लक्षण समान हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार उद्देश में पदार्थ के नाम मात्र का ही कथन होता है ठीक उसी प्रकार विभाग में भी नाममात्र का ही कथन होता है। सामान्य उद्देश और विभागात्मक उद्देश में अन्तर केवल इतना ही है कि सामान्य उद्देश में पदार्थ के सामान्य नाम का कथन होता है और विभागात्मक उद्देश में पदार्थ के विशेष नाम का कथन होता है, जैसे न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में प्रमाण, प्रमेय आदि पदार्थों के प्रमाण, प्रमेय आदि सामान्य नामों का निर्देश है और प्रमाण तथा प्रमेय के विभाजक सूत्रों में प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान आदि तथा प्रमेय के आत्मा, शरीर आदि विशेष नामों का निर्देश है।

इस प्रश्न और उत्तर से सम्बद्ध न्यायवार्तिक तथा न्यायमञ्जरी के वाक्य क्रम से इस प्रकार हैं—

"त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरित्युक्तम्, उद्दिष्टविभागश्च न त्रिविधायां शास्त्र-प्रवृत्तावन्तर्भवतीति, तस्मादुद्दिष्टविभागो युक्तः, न, उद्दिष्टविभागस्योद्देश एवान्तर्भावात्, उद्दिष्टविभाग उद्देश एवान्तर्भवतीति, कस्मात्? लक्षणसामान्यात्; समानं लक्षणं नामधेयेन पदार्थाभिधानमुद्देश इति।" (न्या० वा० १, १, ३)

शास्त्र की प्रवृत्ति त्रिविध होती है, यह कहा गया है, किन्तु उस त्रिविध प्रवृत्ति में उद्दिष्ट के विभाग का अन्तर्भाव नहीं होता है, अतः उद्दिष्ट के विभाग को भी शास्त्र की एक स्वतन्त्र प्रवृत्ति मानना उचित है। (यह प्रश्न है, इसका उत्तर यह है कि) विभाग को शास्त्र की स्वतन्त्र प्रवृत्ति मानना उचित नहीं है, यतः उद्देश और विभाग दोनों के समान लक्षण होने से उद्देश में ही उद्दिष्ट के विभाग का अन्तर्भाव हो जाता है। नाम-मात्र से पदार्थ का अभिधान, यह उद्देश और विभाग दोनों का समान लक्षण है।

"ननु च विभागलक्षणा चतुर्थ्यपि प्रवृत्तिरस्त्येव, भेदवत्सु प्रमाणसिद्धान्तच्छलादिषु तथा व्यवहारात्, सत्यम्, प्रथमसूत्रोद्दिष्टे भेदवति पदार्थे भवत्येव विभागः, उद्देश-रुपानपायात्तु उद्देश एवासौ। सामान्यसंज्ञया कीर्तनमुद्देशः प्रकारभेदसंज्ञया कीर्तनं विभाग इति। तथा चोद्देशतयैव तत्र तत्र भाष्यकारो व्यवहरति 'अयथार्थः प्रमाणोद्देश' इत्याक्षेपे 'तस्माद। यथार्थ एव प्रमाणोद्देश' इति च समाधानमभिदधानः। तस्मात् त्रिविधैव प्रवृत्तिः"। (न्या० म० प्रमाण प्रकरण)

विभागरूपा चौथी भी शास्त्र की प्रवृत्ति है ही, क्योंकि प्रमाण, सिद्धान्त, छल आदि जिन पदार्थों में अवान्तर भेद हैं उनमें विभागात्मक प्रवृत्ति व्यवहृत है। सत्य है, प्रथम सूत्र में बताये गये अवान्तर भेदवाले पदार्थ का विभाग किया गया है, किन्तु वह उद्देश के लक्षण से संगृहीत होने के कारण उद्देश ही है, सामान्य नाम से पदार्थ का कथन उद्देश है और विशेष नाम से पदार्थ का कथन विभाग है, उद्देश तथा विभाग में ऐक्य होने के कारण ही प्रमाण का विभाग करने के अनन्तर 'प्रमाण का यह उद्देश अयथार्थ है' इस आक्षेप को प्रस्तुत कर उसके निराकरण की युक्ति बता 'इसलिए प्रमाण का यह उद्देश यथार्थ ही है' ऐसा समाधान करते हुये भाष्यकार ने तत्तत् स्थल में उद्देश के रूप में ही विभाग का व्यवहार किया है, इसलिये शास्त्र की प्रवृत्ति त्रिविध ही है।

यह स्मरणीय है कि न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने प्रवृत्ति का यह त्रैविध्य न्याय-शास्त्र के ही सम्बन्ध में बताया है, यह अन्य सब शास्त्रों के लिये न मान्य ही है और न सर्वत्र प्राप्य ही है, इसीलिये वैशेषिक दर्शन के 'प्रशस्तपाद-भाष्य' की अपनी 'कन्दली' व्याख्या में आचार्य श्रीधर ने प्रवृत्ति के त्रैविध्य की आलोचना कर वैशेषिक शास्त्र की प्रवृत्ति के द्वैविध्य का समर्थन करते हुए लिखा है कि—

'अनुद्दिष्टेषु पदार्थेषु न तेषां लक्षणानि प्रवर्तन्ते निर्विषयत्वात्, अलक्षितेषु च तत्प्रतीत्यभावः कारणाभावात्, अतः पदार्थव्युत्पादनाय प्रवृत्तस्य शास्त्रस्योभयथा प्रवृत्तिः, उद्देशो लक्षणं च, परीक्षायास्तु न नियमः, यत्राभिहिते लक्षणे प्रवादान्तरव्याक्षेपात् तत्त्वनिश्चयो न भवति तत्र परपक्षव्युदासार्थं परीक्षाविधिरधिक्रियते, यत्र तु लक्षणाभिधानसामर्थ्यादेव तत्त्वनिश्चयः स्यात् तत्रायं व्यर्थो नार्थ्यते, योऽपि त्रिविधां शास्त्रप्रवृत्तिमिच्छति तस्यापि प्रयोजनादीनां नास्ति परीक्षा, तत्कस्य हेतोर्लक्षणमात्रादेव ते प्रतीयन्त इति, एवं चेदर्थप्रतीत्यनुरोधात् शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्न त्रिविधैव'।

तात्पर्य यह है कि पदार्थव्युत्पादक शास्त्र में उद्देश और लक्षण यह दो प्रवृत्तियां तो अनिवार्य रूप से अपेक्षित हैं, क्योंकि पदार्थों का उद्देश-नाम मात्र से कथन यदि न किया जायगा तो उनके लक्षण भी न किये जा सकेंगे, क्योंकि जब कोई विषय, कोई लक्षणीय पदार्थ उपस्थित ही न होगा तब लक्षण किसका होगा ? और जब लक्षण न होगा तब कारण के अभाव में पदार्थ का तत्त्व-ज्ञान भी कैसे हो सकेगा ? इसलिये पदार्थ के व्युत्पादन-पदार्थ का सम्यक् अवबोध कराने के लिये जो शास्त्र प्रवृत्त हो, उसकी उद्देश और लक्षण यह दो प्रकार की प्रवृत्तियां परमावश्यक हैं, किन्तु परीक्षात्मक प्रवृत्ति का कोई नियम नहीं है, उसका होना अनिवार्य नहीं है। हां, जिस पदार्थ का लक्षण बता देने पर भी विरोधी मतवाद के कारण उसका तत्त्व निश्चित न हो सके, उस पदार्थ के परपक्ष-विरोधी मत के निराकरण के लिये उस पदार्थ की अथवा उसके लक्षण की परीक्षा अवश्य की जानी चाहिये, किन्तु जिस पदार्थ का तत्त्वनिश्चय लक्षण के कथन मात्र से ही हो जाता है, उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की परीक्षा अपेक्षणीय नहीं है, जिस (न्यायभाष्यकार वात्स्यायन) ने शास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति मानी है, उनके यहां भी प्रयोजन आदि की परीक्षा नहीं की गयी है, यह क्यों ? इसीलिये कि प्रयोजन आदि का परिज्ञान लक्षणमात्र से ही सम्पन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में यही बात उचित है कि पदार्थ की प्रतीति के अनुरोध से ही शास्त्र की प्रवृत्ति मानी जाय, न कि यह आग्रह किया जाय कि शास्त्र की प्रवृत्ति त्रिविध होनी ही चाहिये।

इस प्रसंग में इतना कह देना आवश्यक एवं उचित प्रतीत होता है कि वैशेषिक दर्शन के व्याख्याता आचार्य श्रीधरने न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के शास्त्र की प्रवृत्ति के त्रैविध्यकथन की जो आलोचना की है, वह उचित नहीं जान पड़ती। उसका औचित्य तब होता, जब वात्स्यायन ने यह कहा होता कि सभी शास्त्रों में तथा शास्त्र के सभी विषयों में तीन प्रवृत्तियां आवश्यक हैं, पर उन्होंने ऐसा न कहकर स्पष्ट कहा है कि 'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः' इस न्यायशास्त्र की तीन प्रवृत्तियां हैं। उन्होंने यह भी नहीं कहा है कि इस शास्त्र के सभी विषयों में तीन प्रवृत्तियां हैं, किन्तु उन्होंने देखा कि प्रमाण, प्रमेय और संशय जो इस शास्त्र के सर्वप्रमुख प्रतिपाद्य हैं, उनके

[१] प्रमाणपदार्थनिरूपणम् ।

तत्राऽपि प्रथममुद्दिष्टस्य प्रमाणस्य तावल्लक्षणमुच्यते, प्रमाकरणं प्रमाणम् । अत्र च प्रमाणं लक्ष्यं, प्रमाकरणं लक्षणम् ।

ननु प्रमायाः करणं चेत् प्रमाणं तर्हि तस्य फलं वक्तव्यं, करणस्य फलवत्त्व-नियमात् ।

सत्यम्, प्रमा एव फलं साध्यमित्यर्थः । यथा छिदाकरणस्य परशोश्छिदैव फलम् ।

का पुनः प्रमा, यस्याः करणं प्रमाणम् ?

उच्यते—यथार्थानुभवः प्रमा । यथार्थ इत्ययथार्थानां संशय-विपर्यय-तर्कज्ञानानां निरासः । अनुभव इति स्मृतेर्निरासः । ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः । अनुभवो नाम स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानम् ।

सम्बन्ध में सूत्रकार ने तीन प्रवृत्तियां अपनायी हैं, अतः 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' न्याय के अनुसार कह दिया कि इस शास्त्र की तीन प्रवृत्तियां हैं, यह तो उन्होंने कहा नहीं कि सभी शास्त्रों में तथा उनके सभी विषयों में यह तीन प्रवृत्तियां आवश्यक हैं, अतः आचार्य श्रीधर की उक्त आलोचना उचित नहीं कही जा सकती ।

— प्रमाण आदि पदार्थों के तत्त्व ज्ञान के लिए उनके उद्देश, लक्षण और परीक्षा की आवश्यकता है, सो उद्देश तो न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में ही कर दिया गया, अतः आगे के ग्रन्थ में उनके लक्षण और उनकी परीक्षा करनी है ।

उन सोलह पदार्थों में भी प्रमाण का उद्देश पहले किया गया है, अतः उसका लक्षण पहले बताया जाता है, इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि न्यायदर्शनकारने स्वयं प्रमाणसामान्यका कोई लक्षण नहीं बताया है, किन्तु उद्देश के अनन्तर उसका विभाग-उसके अवान्तर भेदोंका प्रदर्शन ही किया है, जिस पर स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि जब तक प्रमाण का सामान्य परिचय न होगा तब तक उसके सम्बन्धमें विशेष जिज्ञासा नहीं हो सकती, अतः उसका सामान्य परिचय देनेके हेतु सूत्रकारको पहले उसका लक्षण बताना चाहिये था, फिर उन्होंने ऐसा न कर उसका विभाग कैसे कर दिया । इस स्वाभाविक प्रश्नका उत्तर भाष्यकार वात्स्यायनने यह दिया है कि प्रमाण शब्द की शाब्दिक व्याख्यासे ही प्रमाण का लक्षण अवगत हो जाता है अतः उसके पृथक् लक्षण की आवश्यकता न समझकर सूत्रकारने उसका लक्षण नहीं किया । इस बातको भाष्यकारने इन शब्दोंमें कहा है—

'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोद्धव्यम् । प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः' (न्या. भा. १,१,३)

आशय यह है कि उद्देशसूत्र में प्रयुक्त प्रमाण शब्द 'प्र'उपसर्गयुक्त 'मा'धातु से 'करण-व्यापार-द्वारा असाधारण कारण' रूप अर्थ को बताने वाले 'ल्युट्' प्रत्यय से निष्पन्न है। 'मा' धातु का अर्थ है ज्ञान और 'प्र' से युक्त 'मा' का अर्थ है प्रकृष्ट ज्ञान—यथार्थज्ञान, जिसे उक्त भाष्य वाक्य में 'उपलब्धि' शब्द से अभिहित किया गया है। 'ल्युट्' का अर्थ है 'करण' जिसे 'साधन' शब्द से निर्दिष्ट किया गया है, इसके अनुसार प्रमाण शब्द का अर्थ होता है उपलब्धि का साधन–प्रमा का करण। इस प्रकार प्रमाण शब्द के निर्वचन से ही प्रमाण का प्रमाकरणत्व रूप लक्षण ज्ञात हो जाता है, इसी लिये किसी सूत्र में उसका स्वतन्त्र कथन नहीं किया गया।

'तर्कभाषा' का निर्माण यतः आलसी बालकों के लिये किया गया है जो प्रमाण शब्द के निर्वचन आदि के झमेले में नही पड़ना चाहेंगे अतः तर्कभाषाकार ने उक्त भाष्य के आधार पर 'प्रमाकरणं प्रमाणम्—प्रमा का करण प्रमाण है' प्रमाण का यह स्पष्ट लक्षण लिख दिया।

'प्रमाकरणं प्रमाणम्' इस लक्षण वाक्य में 'प्रमाण' शब्द लक्ष्य का बोधक है और 'प्रमाकरण' शब्द लक्षण का बोधक है, उसके अनुसार प्रमाणरूप लक्ष्य का लक्षण हुआ प्रमाकरणत्व।

इस लक्षण के सम्बन्ध में यह प्रश्न होता है कि जब प्रमा का करण प्रमाण है तब उसका फल–कार्य बताया जाना चाहिये क्यों कि जो करण होता है वह नियमेन फलवान् होता है, करण का कोई न कोई फल अवश्य होता है। इस प्रश्न का उत्तर यह है—सच है कि करण का कोई न कोई फल अवश्य होता है। तदनुसार प्रमाकरणरूप प्रमाण का भी फल है और वह फल प्रमा ही है। जिस प्रकार छेदन-काटने के करण फरसे का छेदन-काटना ही फल-कार्य है उसी प्रकार प्रमा के करण प्रमाण का भी प्रमा ही उचित फल है।

फिर प्रश्न होता है कि वह प्रमा क्या है जिसके करण को प्रमाण कहा जाता है। उत्तर है—यथार्थ अनुभव प्रमा है। प्रमा शब्द का अर्थ है यथार्थ अनुभव, प्रमा का लक्षण है यथार्थ अनुभवत्व। तात्पर्य यह है कि जो अर्थ जैसा है यदि उसका अनुभव भी वैसा ही हो तो उस अनुभव को उस अर्थ की प्रमा कहा जायगा। जैसे सामने दिखने वाली वस्तु यदि रस्सी है और रस्सी के रूप में ही उसका अनुभव हो रहा है तो वह अनुभव रस्सी की प्रमा माना जायगा।

यथार्थ अनुभव-प्रमा है—इस लक्षण वाक्य में यथार्थ शब्द को रख कर संशय, विपर्यय और तर्क इन अयथार्थ अनुभवों का तथा अनुभव शब्द को रख कर यथार्थ स्मरण का निराकरण किया गया है।

जिस ज्ञान का विषय पहले कभी ज्ञात रहता है उस ज्ञान को स्मृति-स्मरण कहा जाता है और जो ज्ञान स्मृति से भिन्न होता है अर्थात् जिस ज्ञान का विषय पहले ज्ञात नहीं रहता है उसे अनुभव कहा जाता है।

प्रमाण का लक्षण बताया गया है कि जो 'प्रमा का करण' हो वह प्रमाण है, इस लक्षण में 'प्रमा' और 'करण' का सन्निवेश है। अतः जब तक इन दोनों का ज्ञान नहीं होगा तब तक इन दोनों के सन्निवेश से बने प्रमाण-लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता। यतः उक्त लक्षण में 'प्रमा' का प्रवेश पहले है और 'करण' का बाद में, अतः 'करण' की व्याख्या बाद के लिये छोड़ कर 'प्रमा' की व्याख्या पहले की गई है, दूसरी बात यह भी है कि 'करण' कार्यसापेक्ष होता है अतः जिस करण का जो कार्य होता है उसे जाने विना करण को जान पाना सम्भव नहीं होता इस लिये भी 'प्रमा के करण' को बताने के पूर्व प्रमा को बताना आवश्यक होने से पहले प्रमा का प्रतिपादन किया गया है। किसी भी पदार्थ का प्रतिपादन उसके लक्षण के द्वारा सुकर होता है अतः 'प्रमा' का प्रतिपादन करते हुये उसका लक्षण बताया गया है 'यथार्थानुभवः प्रमा'। जो अनुभव यथार्थ हो वह प्रमा है। प्रमा के इस लक्षण में दो अंश हैं 'यथार्थ' और 'अनुभव' इनमें से यदि पहले अंश को लक्षण से निकाल दिया जाय तो 'अनुभव' मात्र ही शेष रहेगा और यदि उतने मात्र को ही प्रमा का लक्षण माना जायगा तो जो अनुभव प्रमारूप नहीं हैं उनमें प्रमा-लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, जैसे संशय, विपर्यय और तर्क-ये अनुभव तो हैं पर प्रमा नहीं हैं, अतः इनमें अतिव्याप्ति के निवारणार्थ प्रमा के लक्षण में 'यथार्थ' अंश का सन्निवेश आवश्यक है। 'यथार्थ' का सन्निवेश हो जाने पर इन अनुभवों में प्रमा-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी क्यों कि ये अनुभव यथार्थ—अर्थानुसारी नहीं हैं। उदाहणार्थ संशय को लिया जा सकता है।

संशय—संशय एक ऐसा अनुभव है जो एक अर्थ को परस्पर विरोधी दो रूपों में ग्रहण करता है, वे दो रूप साधारणतया भावाभावात्मक होते हैं अर्थात् उन दो रूपों में एक भावात्मक और दूसरा अभावात्मक होता है। जैसे सामने कुछ दूरी पर जब कोई ऐसी वस्तु दीख पड़ती है जिसकी ऊंचाई किसी स्थाणु—ठूठे पेड़ की अथवा किसी अन्य वस्तु की—किसी पुरुष की हो सकती है। किन्तु उसमें स्थाणु का अथवा अन्य वस्तु का—किसी पुरुष का कोई विशेष लक्षण नहीं दीख पड़ता तब उस वस्तु के विषय में कोई निश्चय न होकर इस प्रकार का सन्देह होने लगता है कि 'अयं स्थाणुर्न वा' अथवा 'अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा'। पहले सन्देह का अर्थ है—सामने दीख पड़ने वाली वस्तु स्थाणु है या स्थाणु नहीं है, इसमें सामने दीख पड़ने वाली एक ही वस्तु स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभाव इन परस्परविरोधी दो रूपों में ज्ञात होती है। इनमें पहला रूप भावात्मक और दूसरा रूप अभावात्मक है। दूसरे

सन्देह का अर्थ है—सामने दीख पड़ने वाली वस्तु स्थाणु है या पुरुष है। इसमें एक ही वस्तु स्थाणुत्व और पुरुषत्व इन दो रूपों में ज्ञात होती है, ये दोनों रूप भावात्मक हैं।

कोई भी वस्तु परस्पर विरोधी दो रूपों का आश्रय नहीं हो सकती, अतः सामने दीख पड़ने वाली वस्तु कोई एक ही वस्तु हो सकती है चाहे वह स्थाणु ही हो, और चाहे वह अस्थाणु ही या पुरुष ही हो, तो फिर जो ज्ञान एक ही वस्तु को परस्परविरोधी दो रूपों में ग्रहण करता है वह यथार्थ—अर्थानुसारी कैसे हो सकता है, वह तो निर्विवाद रूप से अयथार्थ ही है। अतः प्रमा के लक्षण में यथार्थ अंश को रखने पर संशय-सन्देह में प्रमा-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती।

विपर्यय—

विपर्यय का अर्थ है विपरीत ज्ञान, जिस पदार्थ का जो अपना स्वरूप होता है, अपना धर्म होता है, उस स्वरूप से उसका ज्ञान न होकर उसके विपरीत रूप से जब उसका ज्ञान होता है, तब वह ज्ञान विपर्यय कहा जाता है, जैसे सूर्य के तीव्र प्रकाश में चमकती हुई सीपी का ज्ञान जब सीपी के रूप में न होकर चांदी के रूप में होता है, जिसके फलस्वरूप ज्ञाता 'इयं शुक्तिः—यह सीपी है' ऐसा व्यवहार न कर 'इदं रजतम्—यह चांदी है' ऐसा व्यवहार करता है, तो इस व्यवहार का मूलभूत ज्ञान—चांदी के रूप में सीपी का ज्ञान विपर्यय कहलाता है। दर्शनग्रन्थों में इस ज्ञान को मिथ्याज्ञान, अयथार्थज्ञान, अन्यथाख्याति, विपर्यास, अविद्या, अध्यास, अप्रमा, भ्रम आदि शब्दों से व्यवहृत किया गया है।

प्रमा के उक्त लक्षण में यथार्थ पद न देने पर विपर्यय—भ्रमात्मक अनुभव में अतिव्याप्ति होगी, और उक्त पद का प्रमा लक्षण में प्रवेश करने पर अतिव्याप्ति न होगी, क्यों कि भ्रम में पदार्थ का अपने स्वरूप से ग्रहण न हो कर अन्य पदार्थ के रूप से ग्रहण होने के कारण वह अर्थानुसारी—'यथा अर्थः तथा अनुभवः' नहीं होता। जैसे सूर्य के प्रखर प्रकाश में चमकती सीपी का जब चांदी के रूप में अनुभव होता है तब वह अपने अर्थ-विषय सीपी के समान नहीं होता किन्तु उसके विपरीत-चांदी के समान होता है। अतः यथार्थ न होने से वह प्रमा के मध्य में परिगणित नहीं होता।

तर्क—

तर्क एक आरोपात्मक ज्ञान है, क्यों कि व्याप्य के आरोप से जो व्यापक का आरोप होता है उसे ही तर्क कहा जाता है, जैसे धूम यदि वह्नि का व्यभिचारी होगा तों वह्नि से उत्पन्न न होगा 'धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्याद्, वह्निजन्यो न स्यात्' यह एक तर्क है, इसमें पहिला अंश व्याप्य का आरोप है और दूसरा अंश व्यापक का आरोप है, इस तर्क से यह विपरीत अनुमान फलित होता है कि 'क्यों कि धूम वह्नि से उत्पन्न

होता है इस लिये वह्नि का व्यभिचारी नहीं हो सकता 'यस्माद् धूमो वह्निजन्यः तस्माद् धूमो न वह्निव्यभिचारी'। इस प्रकार यह तर्क धूम में वह्निव्यभिचाराभाव के निश्चय का सम्पादन कर धूम में वह्निव्यभिचार के संशय होने की सम्भावना समाप्त कर देता है। जिसके फलस्वरूप धूम में वह्निव्याप्ति के निश्चय का उदय होकर धूम से वह्नि के अनुमान का जन्म होता है। हां, तो यह अनुमान यद्यपि स्वयं प्रमा है पर उसे सम्भव करने वाला उक्त तर्क अप्रमा है क्यों कि वह वह्नि के अव्यभिचारी धूम को वह्निव्यभिचारी रूप में और वह्नि से जन्य धूम को वह्नि से अजन्यरूप में ग्रहण करता है। यदि प्रमा के लक्षण से यथार्थ अंश को निकाल कर अनुभव मात्र को ही प्रमा का लक्षण माना जायगा तो उक्त 'तर्क' में उस लक्षण की अतिव्याप्ति होगी क्यों कि वह भी एक अनुभव है, और जब लक्षण में यथार्थ अंश रहेगा तो उससे 'तर्क' की व्यावृत्ति हो जायगी। क्यों कि वह जैसा उसका अर्थ है वैसा नहीं होता किन्तु उसके विपरीत होता है, जैसा कि उक्त तर्क में स्पष्ट है कि उसका अर्थ-धूम जो वस्तुतः वह्नि का अव्यभिचारी है और वह्नि से जन्य है उसे वह उस रूप में ग्रहण न कर वह्नि के व्यभिचारी और वह्नि से अजन्य रूप में ग्रहण करता है।

इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'यथार्थानुभवः' इस प्रमा लक्षण में यथार्थ अंश का सन्निवेश न करने पर संशय, विपर्यय और तर्क इन तीन प्रकार के अप्रमाज्ञानों में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होगी।

इस प्रसंग में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उक्त अप्रमा ज्ञानों में किसी एक में भी अतिव्याप्ति होने से जब लक्षण दूषित हो सकता है तब तीनों में अतिव्याप्ति सूचित करने की क्या आवश्यकता? इसका उत्तर यह है कि उक्त तीनों अप्रमा-ज्ञान एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण हैं, अतः उनमें से किसी एक ही प्रकार की अप्रमा में अतिव्याप्ति की सूचना करने पर दूसरे प्रकार की अप्रमाओं में अतिव्याप्ति का ज्ञान न होता और उस स्थिति में लक्षण की परीक्षा अधूरी रह जाती, अतः तीनों में अतिव्याप्ति की सूचना का नितान्त सार्थक्य है। यदि यह पूछा जाय कि जब तीनो अप्रमा ज्ञान अपने अपने अर्थ को उनके वास्तव रूप में न ग्रहण कर विपरीत रूप में ही ग्रहण करते हैं, तो उनमें क्या विलक्षणता है, तो इसका उत्तर यह है कि तीनों में अयथार्थत्व अंश में समानता होने पर भी अन्य अंश में कुछ मौलिक अन्तर है, जैसे विपर्यय विपरीतरूप में ही सही, पर उस रूप में अपने अर्थ का अवधारण करता है, वह जब सीपी को चांदी के रूप में ग्रहण करता है तो वह चांदी के रूप में सीपी का अवधारण कर देता है। उसे दुविधा की स्थिति में नहीं छोड़ता। किन्तु संशय और तर्क अपने अर्थ को दुविधा में छोड़ देते हैं उसका अवधारण नहीं कर पाते। क्यों कि संशय अपने अर्थ को परस्परविरोधी दो रूपों में ग्रहण करता है और एक अर्थ के परस्पर विरोधी दो रूप हो

नहीं सकते फलतः उसका अर्थ दो रूपों में दोलायित होता रहता है, किसी एक रूप में अवधारित नहीं हो पाता। तर्क अपने अर्थ को एक ही रूप में ग्रहण करता है पर जिस रूप में ग्रहण करता है उस रूप में वह उसका अवधारण नहीं कर पाता क्यों कि तर्क का विषयभूत अर्थ तर्क की उत्पत्ति के पूर्व अन्य रूप में अवधारित रहता है जैसे 'धूम यदि वह्नि का व्यभिचारी होगा तो वह्निजन्य न होगा' इस तर्क के पूर्व उसका विषय धूम वह्नि के अव्यभिचारी और वह्नि से जन्य-रूप में अवधारित रहता है। तो फिर जब तर्क के पूर्व उसका विषय किसी रूप में अवधारित रहता है तब तर्क से किसी विपरीत रूप में उसका अवधारण कैसे हो सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि विपर्यय एक अवधारणात्मक अप्रमा है और संशय एवं तर्क अनवधारणात्मक अप्रमा हैं। अनवधारणात्मक अप्रमावों में भी यह अन्तर है कि संशय जिस रूप में अपने अर्थ को ग्रहण करता है उस रूप में अथवा उससे विपरीत रूप में उसका अर्थ उसके पूर्व में अवधारित नहीं रहता किन्तु तर्क अपने अर्थ को जिस रूप में ग्रहण करता है उससे विपरीत रूप में उसका अर्थ उसके पूर्व अवधारित रहता है जैसा कि उदाहृत तर्क में स्पष्ट बता दिया गया है।

प्रमा के 'यथार्थानुभवः' इस लक्षण में अनुभव अंश का समावेश न कर यदि 'यथार्थः' इतनाही लक्षण रखा जायगा तो उसका स्वरूप यह होगा कि जो ज्ञान यथार्थ हो, अर्थ के अनुसार हो वह प्रमा है। लक्षण का यह स्वरूप रखने पर स्मृति-स्मरणात्मक ज्ञान में अतिव्याप्ति होगी, और जब लक्षण में अनुभव अंश का समावेश कर यथार्थ ज्ञान मात्र को नहीं किन्तु यथार्थ अनुभव को प्रमा का लक्षण माना जायगा तब स्मरण में अतिव्याप्ति न होगी, क्यों कि 'अनु-प्रमाणव्यापारादनन्तरं भवति यः सोऽनुभवः' अनुभव शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाण-व्यापार के अनन्तर उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही अनुभव कहलाता है, स्मरण की उत्पत्ति में किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती किन्तु पूर्वानुभव से जैसा संस्कार बन जाता है, उद्बोधक का सन्निधान होने पर वैसा ही स्मरण हो जाता है, अतः प्रमाण-व्यापार के अनन्तर उत्पन्न न होने के कारण स्मरण अनुभव से भिन्न होता है, इस लिये प्रमा के लक्षण में अनुभव अंश का समावेश कर देने से स्मरण में उसकी अतिव्याप्ति का परिहार हो जाता है।

स्मरण के अनुभव से भिन्न होने का कारण केवल यही नहीं है कि उसमें अनुभव शब्द की उक्त व्युत्पत्ति की संगति नहीं होती किन्तु उसका यह भी एक कारण है कि अनुभवत्व एक जाति है जो प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्दबोध को अनुभव के रूप में ग्रहण करने वाले अनुव्यवसाय-मानसप्रत्यक्ष से सिद्ध होती है, वह जाति जिस ज्ञान में रहती है उसे अनुभव कहा जाता है, स्मरण में वह जाति नहीं रहती अतः स्मरण अनुभव शब्द से व्यपदिष्ट नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जब किसी मनुष्य को किसी

विषय के प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति अथवा शाब्दबोध का उदय होता है तब उसे 'मैं इस विषय का अनुभव करता हूँ' ऐसी प्रतीति होती है किन्तु जब किसी विषय का स्मरण होता है तब ऐसी प्रतीति नहीं होती, अतः प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों में अनुभवत्व जाति मानी जाती है और स्मरण में अनुभवत्व जाति नहीं मानी जाती।

ज्ञान और उसके भेद—

ज्ञान आत्मा का वह विशेष गुण है जिससे संसार के सारे व्यवहार चलते हैं, जिसे ज्ञान नहीं होता वह किसी प्रकार का कोई व्यवहार नहीं कर सकता। यह गुण प्रधानतया चेतन को जड से पृथक् करता है, इसके दो भेद होते हैं अनुभव और स्मृति। जिस ज्ञान का विषय पहले कभी ज्ञात रहता है उसे स्मृति कहा जाता है और जो ज्ञान स्मृति से भिन्न होता है, जिसका विषय पहले कभी ज्ञात नहीं रहता उसे अनुभव कहा जाता है।

स्मृति—

यह अभी बताया गया है कि स्मृति का विषय पहले से ज्ञात रहता है। वह किसी नये विषय को प्रकाश में नहीं लाती किन्तु जो विषय कभी ज्ञात होकर हमारे संस्कार में छिपा पड़ा रहता है वही हमारे संस्कार का उद्बोधन होने पर हमारे ज्ञान में प्रकाशित होने लगता है। संस्कार से स्मृति की इस उत्पत्ति के आधार पर उसका एक दूसरा लक्षण भी प्रसिद्ध है और वह है 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः'। इस लक्षण में 'संस्कारमात्र' इस अंश का सन्निवेश न करने पर 'जन्यं ज्ञानं स्मृतिः' इतना ही लक्षण बचता है जिसकी अतिव्याप्ति प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि सभी जन्य ज्ञानों में प्रसक्त होती है अतः उसके निवारणार्थ उस अंश का सन्निवेश आवश्यक है। 'मात्र' पद को लक्षण से पृथक् कर देने पर 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' इतना ही लक्षण शेष रहता है जिसकी अतिव्याप्ति 'प्रत्यभिज्ञा'—परिचयात्मक प्रत्यक्ष में होती है क्यों कि वह भी संस्कारजन्य ज्ञान है, जैसे पूर्व में देखा हुआ घड़ा जब पुनः कभी आँख के सामने आता है तब सदैव 'अयं घटः—यह घड़ा है' केवल इसी रूप में उसका प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु पूर्वदर्शन ने घड़े के सम्बन्ध में जो अपना संस्कार डाल रखा है उसके उद्बुद्ध हो जाने से कभी 'स एव अयं घटः—यह वही घड़ा है' इस रूप में भी होता है। इस प्रत्यक्ष में 'स एव—वही' इस अंश से सामने दीख पड़ने वाले घड़े की पूर्वदृष्टता विदित होती है जो इसे संस्कारजन्य न मानने पर सम्भव नहीं है। अतः प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति के परिहारार्थ लक्षण में 'मात्र' पद का प्रवेश आवश्यक माना जाता है। इस पद से केवल इन्द्रिय की व्यावृत्ति अभिमत है न कि समस्त अन्य पदार्थों की, इस लिये लक्षण का स्वरूप यह निष्पन्न होता है कि 'इन्द्रियाजन्य संस्कार-

जन्य ज्ञान' स्मृति है। प्रत्यभिज्ञा संस्कारजन्य होते हुये इन्द्रियजन्य भी होती है अतः उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। यदि मात्र पद से संस्कार से अन्य सभी पदार्थों की व्यावृत्ति विवक्षित होगी तो लक्षण का स्वरूप होगा, 'संस्कारेतर से अजन्य, संस्कारजन्य ज्ञान' और उस दशा में वह असम्भव दोष से ग्रस्त हो जायगा, क्यों कि स्मृति भी संस्कार से इतर आत्मा, मन, आत्ममनः संयोग आदि से जन्य होती है इस लिये किसी भी स्मृति में संस्कारेतराजन्यत्व से घटित लक्षण का समन्वय न हो सकेगा। इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि जैसे प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति के परिहारार्थ इस लक्षण में 'मात्र' पद का प्रदेश किया गया है उसी प्रकार 'ज्ञातविषयक ज्ञान' स्मृति के इस तर्कभाषाकारोक्त लक्षण में भी ज्ञात शब्द के आगे 'मात्र' पद जोड़ कर 'ज्ञातमात्र-विषयक ज्ञान' इतना स्मृतिलक्षण मानना आवश्यक है, अन्यथा प्रत्यभिज्ञा में इस लक्षण की भी अतिव्याप्ति होगी क्यों कि यह भी पूर्वज्ञात विषय को ग्रहण करती है। मात्र पदका सन्निवेश कर देने पर प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति का भय नहीं होगा क्यों कि 'स एव अयं घटः' इस प्रत्यभिज्ञा का 'अयं' अंश पूर्व ज्ञात नहीं होता इसलिये प्रत्यभिज्ञा ज्ञातमात्रविषयक नहीं होती।

यदि यह कहा जाय कि उक्त दोनों लक्षणों में किसी में भी मात्र पद का सन्निवेश नहीं करना चाहिये किन्तु प्रत्यभिज्ञा को आंशिक अनुभव और आंशिक स्मरण मान कर उसे भी स्मृति-लक्षण का लक्ष्य मान लेना चाहिये तो यह ठीक नहीं है क्यों कि ऐसा मानने पर दो त्रुटियां उपस्थित होंगी एक तो यह कि स्मृतित्व और अनुभवत्व का प्रत्यभिज्ञा में सांकर्य हो जाने से वह ज्ञान की दो स्वतन्त्र जातियां न हो सकेंगी, और दूसरी त्रुटि यह कि जब उनका सांकर्य हो जायगा तो वे ज्ञान का विभाजक न हो सकेंगी। फलतः स्मृति और अनुभव के रूप में ज्ञान का विभाजन न हो सकेगा।

इस प्रसङ्ग में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब प्रत्यभिज्ञा का उदय संकार और इन्द्रय दोनों से होता है, जब वह पूर्व ज्ञात और पूर्व अज्ञात दोनों प्रकार के विषय को ग्रहण करती है तब उसे शुद्ध अनुभव भी कैसे माना जा सकता है, इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यतः प्रत्यभिज्ञा मनुष्य को अनुभवके रूप में ही गृहीत होती है स्मरण के रूप में नही गृहीत होती अतः उसे शुद्ध अनुभव मानना ही उचित है, क्यों कि उसमें यदि स्मरणरूपता भी होती तो कभी स्मरण के रूप में भी उसका अनुभव होना चाहिये था पर वैसा कभी नहीं होता।

एक दूसरा विकल्प यह भी हो सकता है कि प्रत्यभिज्ञा न तो स्मृति है और न तो अनुभव, अपितु वह ज्ञान का तीसरा प्रकार है जिसे अनुष्णाशीतस्पर्श-उष्ण और शीत दोनों स्पर्शों से विजातीय स्पर्श के समान अस्मरणाननुभव–स्मृति और अनुभव दोनों ज्ञानों से विजातीय ज्ञान के रूप में माना जा सकता है। और उस स्थिति में

दो भेद के स्थान में ज्ञान के तीन भेद होंगे स्मृति, अनुभव और प्रत्यभिज्ञा और उनके क्रम से लक्षण होंगे 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' 'संस्काराजन्यं ज्ञानम् अनुभवः' तथा 'संस्का-रेन्द्रियोभयजन्यं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा'। जो ज्ञान किसी प्रमाण से उत्पन्न न हो कर संस्कार मात्र से उत्पन्न हो उसे स्मृति, जो ज्ञान संस्कार से उत्पन्न न हो उसे अनुभव और जो संस्कार एवं इन्द्रिय दोनों से उत्पन्न हो उसे प्रत्यभिज्ञा कहना चाहिये। किन्तु तर्क-भाषाकार को यह विकल्प सम्मत नहीं प्रतीत होता, उन्होंने तो स्मृति और अनुभव का जो लक्षण बताया है उसे यथाश्रुत रूप में ग्रहण करने पर ज्ञान के स्मृति और अनुभव ये दो ही भेद प्रतीत होते हैं। अतः लोकानुभव के आधार पर प्रत्यभिज्ञा को अनुभव की श्रेणी में रख प्रत्यक्ष में उसका अन्तर्भाव मानना–यही बात तर्कभाषाकार को अभिमत जान पड़ती है। इस स्थिति में उसमें अतिव्याप्ति के परिहारार्थ तर्कभाषाकारीय स्मृतिलक्षण में मात्र पद का सन्निवेश कर 'ज्ञातमात्रविषयकज्ञान' स्मृति का यही लक्षण मानना उचित है।

स्मृति के भेद—

स्मृति की कोई अवान्तर जाति नहीं होती अतः उसके जाति-मूलक भेद नहीं होते, हाँ यह अवश्य होता है कि वह सदैव अनुभव का सर्वांश में अनुवर्तन नहीं करती। यह तो ठीक है कि वह अनुभव का अतिक्रमण तो कभी नहीं करती, अनुभव में न आये विषय को कभी ग्रहण नहीं करती पर यदा कदा अनुभव के कुछ अंश को छोड़ कर भी उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्मृति प्रमुष्टविषया स्मृति कही जाती है। यह उस स्थिति में उत्पन्न होती है जब पूर्वानुभव द्वारा उत्पादित संस्कार के कुछ ही अंश का उद्बोधन होता है और कुछ का उद्बोधन नहीं हो पाता। इस प्रकार पूर्वानुभव के पूर्ण और आंशिक अनुवर्तन के आधार पर अप्रमुष्टविषया और प्रमुष्टविषया ऐसे दो भेद स्मृति के कहे जा सकते हैं।

अनुभव—

अनुभव का लक्षण अभी बताया गया है कि 'स्मृतिभिन्न ज्ञान' अनुभव है। इस लक्षण में से 'स्मृति भिन्न' इस अंश को पृथक् कर देने पर केवल 'ज्ञान' ही शेष रहेगा और उतने मात्र को लक्षण मानने पर स्मृति में अतिव्याप्ति होगी। इसी प्रकार उक्त लक्षण में से स्मृति पद को हटा देने पर 'भिन्न ज्ञान' इतना ही शेष होगा। उतने मात्र को भी अनुभव का लक्षण नहीं माना जा सकता क्यों कि उतने मात्र की भी स्मृति में अतिव्याप्ति होगी यतः स्मृति भी ज्ञान है तथा स्वेतर सभी पदार्थों से भिन्न है। यदि उस लक्षण में से ज्ञान पद को निकाल कर 'स्मृतिभिन्न' इतने ही को लक्षण माना जाय तो यह भी ठीक नहीं हो सकता क्यों कि उस दशा में घट, पट आदि बाह्य पदार्थों में तथा

किं पुनः करणम् ? साधकतमं करणम्। अतिशयितं साधकं साधकतमं प्रकृष्टं कारणम् इत्यर्थः।

इच्छा, द्वेष आदि आन्तर पदार्थों में अतिव्याप्ति होगी। अतः 'स्मृतिभिन्न ज्ञानम्' अनुभव का इतना लक्षण आवश्यक है।

अनुभव के भेद—

अनुभव के जातिमूलक चार भेद हैं प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्दबोध, जिनका वर्णन आगे यथास्थान किया जायगा।

प्रमाण का यह लक्षण बताया गया है कि 'प्रमाकरणं प्रमाणम्—प्रमा का करण प्रमाण है। इसमें 'यथार्थानुभवः प्रमा' यथार्थ—जो अर्थ जैसा है उसका अनुभव भी यदि वैसा ही हो तो वह अनुभव प्रमा है इस प्रकार 'प्रमा पद की व्याख्या की गई। अब 'करण' पद की व्याख्या की जायगी।

प्रश्न है कि प्रमाण के 'प्रमाकरणम्' इस लक्षण में 'करण' का क्या अर्थ है? उत्तर है 'साधकतमं करणम्'—जो जिस कार्य का साधकतम हो—अतिशयेन साधक हो, प्रकृष्ट कारण हो वह उस कार्य का करण होता है।

तात्पर्य यह है कि एक कार्य के कई कारण होते हैं, उनमें कुछ साधारण कारण होते हैं और कुछ असाधारण कारण होते हैं, जिन कारणों की अपेक्षा सभी कार्यों में होती है वे साधारण कारण कहे जाते हैं, उनकी संख्या ८ है—ईश्वर, ईश्वरीय ज्ञान, ईश्वरीय इच्छा, ईश्वरीय प्रयत्न, अदृष्ट-धर्माधर्म, कार्य का प्रागभाव, दिक्, और काल। यह आठो कार्यमात्र के कारण होते हैं, इनका कार्यतावच्छेदक धर्म होता है 'कार्यत्व'। इन आठ कारणों से भिन्न जितने भी कारण होते हैं वे सब असाधारण कारण कहे जाते हैं, जैसे कुलाल-कुम्हार, कपाल-जिन अवयवों के जोड़ से घड़ा बनता है, चक्र-चाक जिस पर मिट्टी रखकर कपाल आदि के निर्माण द्वारा घड़ा बनाया जाता है, दण्ड-चाक को घुमाने के लिये प्रयोग में लाया जाने वाला दण्डा, चीवर-वह तांत जिससे चाक पर घूमती हुई मिट्टी की पेंदी काट कर घड़े का धड़ चाक से उतारा जाता है, सलिल-पानी, चाक पर घूमती मिट्टी को संवारने के लिये कुम्हार जिसका प्रयोग करता है; ये सब घट के असाधारण कारण कहे जाते हैं, इनका कार्यतावच्छेदक धर्म होता है 'घटत्व' जो कार्यमात्र का धर्म न हो कर केवल घटात्मक कार्य का ही धर्म है। इसी प्रकार तन्तुवाय-कपड़ा बुनने वाला शिल्पी, तन्तु-सूत, तुरी-जिससे सूत जोड़े जाते हैं, वेमा-जिन दण्डों में सूत फंसाकर कपड़े की बुनाई की जाती है, आदि पट के असाधारण कारण कहे जाते हैं। इन कारणों का कार्यतावच्छेदक धर्म है 'पटत्व'। यह भी कार्यमात्र का धर्म न हो कर केवल पटात्मक कार्य का धर्म है। इस प्रकार साधारण और असाधारण

कारणों का निर्वचन इस प्रकार किया जा सकता है कि जो कार्यत्वावच्छिन्न—कार्यमात्र के कारण हों, वे साधारण कारण और जो कार्यत्वव्याप्य घटत्व, पटत्व आदि धर्मावच्छिन्न घट, पट आदि विशेष कार्यों के कारण हों वे असाधारण कारण कहे जाते हैं।

असाधारण कारणों में जो अतिशययुक्त–प्रकृष्ट हो वह करण है। करणत्व का सम्पादन करने वाले अतिशय-प्रकर्ष का नाम है 'व्यापार'। इस लिये अनुवर्ती नैयायिकों ने 'करण' का लक्षण किया है 'व्यापारवद् असाधारणं कारणं करणम्'। इसका अर्थ यह है कि जो व्यापारद्वारा जिस कार्य का असाधारण कारण होता है वह उस कार्य का करण होता है। जैसे दण्ड, चक्र आदि कपालद्वयसंयोग द्वारा घट का; तुरी, वेमा आदि तन्तुसंयोग द्वारा पट का कारण होने से दण्ड, चक्र आदि घट के तथा तुरी, वेमा आदि पट के करण कहे जाते हैं।

व्यापार

व्यापार का लक्षण है 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्व' (१) अथवा 'तज्जनकताप्रयोजकजनकताकत्व' (२) पहले का अर्थ है—जो जिस कारण से उत्पन्न होकर उसके जिस कार्य का जनक होता है वह उस कारण का उस कार्य के प्रति व्यापार होता है जैसे कपालद्वय का संयोग दण्ड आदि से उत्पन्न हो दण्ड आदि के घटात्मक कार्य का जनक होता है अतः कपालद्वयसंयोग दण्ड आदि कारणों का घटात्मक कार्य के प्रति व्यापार है। दूसरे का अर्थ है–जो अपनी जनकता से जिसमें जिस कार्य के जनकत्व का सम्पादन करता है वह उसका उस कार्य के प्रति व्यापार होता है, जैसे कपालद्वयसंयोग अपनी जनकता से दण्ड आदि में घट के जनकत्व का सम्पादन करता है क्यों कि दण्ड आदि में यदि कपालद्वयसंयोग की जनकता न हो तो दण्ड आदि में घट का जनकत्व नहीं हो सकता, अतः कपालद्वयसंयोग घटात्मक कार्य के प्रति दण्ड आदि कारणों का व्यापार होता है। व्यापार का ही दूसरा नाम है 'द्वार' जिसे आज कल की भाषा में 'माध्यम' कहा जाने लगा है।

व्यापार—द्वार-माध्यम की इस परिभाषा के अनुसार किसी भी कार्य का अन्तिम कारण उस कार्य के अन्य समस्त कारणों का व्यापार कहा जा सकता है और इस नाते अन्तिम कारण को छोड़ अन्य सभी कारणों को व्यापारवत् असाधारण कारण रूप होने से 'करण' पद की अर्हता प्राप्त होती है। पर सभी कारण 'करण' पद से व्यपदिष्ट नही किये जाते। अतः 'करण' के लक्षण में आये 'व्यापारवत्' का यह अर्थ करना आवश्यक है कि जिस कार्य के अव्यहित पूर्वक्षण में वा जन्मक्षण में जिस कारण का स्वयं साक्षात् उपस्थित रहना आवश्यक नहीं होता किन्तु उसके व्यापार का रहना उपस्थित होता है, अथवा यों कहा जाय कि जो जिस कार्य का साक्षात् सम्बन्ध से कारण न हो कर

ननु साधकं कारणम् इति पर्यायस्तदेव न ज्ञायते, किं तत् कारणम् इति। उच्यते—यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत् कारणम्। यथा तन्तु—वेमादिकं पटस्य कारणम्।

व्यापारघटित सम्बन्ध से ही कारण होता है वह उसका व्यापारवान् कारण कहा जाता है। 'व्यापारवत्' की ऐसी व्याख्या करने पर जो कारण कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में अथवा कार्य के जन्मक्षण में स्वयं साक्षात् उपस्थित रहते हैं या व्यापारघटित सम्बन्ध से कारण न हो कर साक्षात् सम्बन्ध से कारण होते हैं उन में 'करणत्व' की प्रसक्ति न हो सकेगी। जैसे तन्तु, तन्तुवाय आदि पट के अव्यवहित पूर्व में स्वयं उपस्थित रहते हैं तथा साक्षात् सम्बन्ध से ही कारण होते हैं अतः उन्हें पट का 'करण' नहीं कहा जाता। तुरी, वेमा आदि का पट के अव्यवहित पूर्व में रहना अनिवार्य रूप से अपेक्षित नहीं होता, वे अपना-अपना कार्य पूरा कर यदि नष्ट हो जायं तब भी पट की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं होती, और यदि वे अपरिहार्य होने से पट के अव्यवहित पूर्वकाल में रहते भी हैं तो भी वे स्वप्रयोज्यविजातीयसंयोगरूप व्यापारघटित सम्बन्ध से ही कारण होते हैं अतः उनका 'करणत्व' अक्षुण्ण रहता है।

करण का लक्षण बताया गया है कि जो "'साधकतम—अतिशययुक्त साधक हो, प्रकृष्ट कारण हो' वह 'करण' है। इसके सम्बन्ध में प्रश्न उठता है कि 'साधक' और 'कारण' यह दोनों शब्द पर्याय-समानार्थक हैं, इस लिये जब 'कारण' का ही ज्ञान नहीं है कि वह क्या है तब 'साधक का ज्ञान कैसे होगा और उस स्थिति में 'साधकतम' यह करणलक्षण कैसे ज्ञात हो सकेगा, अतः इस प्रश्न के उत्तर हेतु 'कारण' का लक्षण बताया जाता है, जो इस प्रकार है—'यस्य कार्यात्पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत्कारणम्' कार्य के पूर्व जिसकी उपस्थिति नियत हो और जो अन्यथासिद्ध न हो वह कारण है'। जैसे कार्य-पट के पूर्व तन्तु, वेमा आदि की उपस्थिति नियत होती है और वे अन्यथासिद्ध नहीं होते अतः वे-तन्तु, वेमा आदि पट के कारण होते हैं।

इस लक्षण में पूर्वभाव, नियत और अनन्यथासिद्ध ये तीन शब्द बड़े महत्त्व के हैं अतः उनका अर्थ तथा लक्षण में उनके सन्निवेश का प्रयोजन समझ लेना आवश्यक है।

पूर्वभाव का अर्थ है पूर्व में—कार्यकी उत्पत्ति के ठीक पूर्वकाल में, उस क्षण में जिसके ठीक अगले क्षण में कार्य को उत्पन्न होना है, उस आश्रय में जिसमें कार्य की उत्पत्ति होनी है, उस सम्बन्ध से जिससे कार्य को उत्पन्न होना है, उपस्थित रहना, अथवा न्याय की भाषा में यों कहा जा सकता है कि कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्य के आश्रय में कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से रहना। जिस सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है वह कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध कहा जाता है,

जैसे पट तन्तु में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है अतः वह पट के लिये कार्यता-वच्छेदक सम्बन्ध है, जिस आश्रय में कार्य की उत्पत्ति होती है वह कार्य का आश्रय होता है, जैसे पट की उत्पत्ति तन्तु में होती है अतः तन्तु कार्य-पट का आश्रय है, जिस क्षण में कार्य की उत्पत्ति होती है उसके ठीक पूर्व का क्षण अव्यहित पूर्व क्षण कहा जाता है, यह वह क्षण है जिसमें कार्य के समस्त कारण एकत्र हो जाते हैं, कोई कारण प्रतीक्षणीय नहीं रह जाता और कार्य की उत्पत्ति का कोई प्रतिबन्धक भी उपस्थित नहीं रहता, इस क्षण को काय का सामग्री-क्षण भी कहा जाता है, सामग्री का अर्थ होता है कारण की समग्रता-प्रतिबन्धकाभाव सहित सम्पूर्ण कारणों का सन्निधान।

कार्य के आश्रय में जिस सम्बन्ध से रह कर कारण काय का उत्पादक होता है उसे कारणतावच्छेदक सम्बन्ध कहा जाता है, यह सब कारणों के लिये एकरूप नहीं होता, किन्तु भिन्न भिन्न होता है। जैसे कार्य-पट के आश्रय तन्तु में तन्तु तादात्म्य सम्बन्ध से, वेमा आदि विजातीय संयोग अथवा स्वप्रयोज्य विजातीयसंयोग से और तन्तुसंयोग समवाय सम्बन्ध से रह कर पट का उत्पादन करते हैं अतः तन्तु, वेमा आदि और तन्तुसंयोग के लिये तादात्म्य, विजातीयसंयोग और समवाय यथाक्रम कारणता-वच्छेदक सम्बन्ध होते हैं।

'पूर्वभाव' शब्द की इस व्याख्या में 'पूर्व' का अर्थ यदि अव्यवहितपूर्व न करके सीधा सादा पूर्वमात्र ही अर्थ किया जायगा तो जो पदार्थ जिस कार्य के पूर्व कभी रह चुका है किन्तु उसके ठीक पूर्व उपस्थित नहीं हो सका है वह भी उसका कारण कहलाने लगेगा, जैसे कोई तन्तु वा कोई वेमा जो किसी पट के पूर्व कभी विद्यमान रहा पर उस पट के ठीक पूर्व उपस्थित नहीं था तो वह तन्तु और वह वेमा भी उस पट का कारण कहा जाने लगेगा, क्यों कि वह तन्तु और वेमा उस पट के पूर्व कभी नियत रूप से रह चुका है और अन्यथासिद्ध की बतायी जानेवाली परिभाषा के अनुसार उस पट के प्रति अन्यथासिद्ध नहीं है।

इसी प्रकार 'पूर्वभाव' के वर्णित अर्थ में से यदि 'कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्याश्रय' इस अंश को निकाल दिया जायगा तो 'कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में कारणता-वच्छेदकसम्बन्ध से रहना' इतना ही शेष बचेगा। उस स्थिति में जो तन्तु, वेमा आदि कार्यतावच्छेदक समवाय सम्बन्ध से जिस पट के आश्रयभूत तन्तु में न रह कर कालिक सम्बन्ध से उसके आश्रयभूत तन्तु में तथा कार्यतावच्छेदक समवाय सम्बन्ध से अन्य पट के आश्रयभूत तन्तु में रहते हैं वे भी उस पट के कारण कहे जाने लगेंगे। 'पूर्वभाव' के यथोपवर्णित अर्थ में से कारणतावच्छेदक सम्बन्ध को निकाल कर 'कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से रहना' के स्थान में यदि 'रहनामात्र' ही रखा जायगा तो जो तन्तु, वेमा

आदि जिस पट के आश्रयभूत तन्तु में कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से नहीं किन्तु कालिक सम्बन्ध से रहता हैं वह भी उस पट का कारण कहा जाने लगेगा, अतः 'पूर्व भाव' शब्द का जो अर्थ बताया गया, कारण के लक्षण में उसे अविकल रूप से रखना आवश्यक है।

'नियत' शब्द का अर्थ है नियम युक्त होना, नियम का अर्थ है व्याप्ति, व्याप्ति की निष्पत्ति व्याप्य और व्यापक दोनों पर निर्भर होती है, इस लिये व्याप्ति का आश्रय होने से व्याप्य भी नियत कहा जाता है और व्याप्ति का निरूपक होने से व्यापक भी नियत कहा जाता है, परिस्थिति के अनुसार नियत शब्द से कहीं व्याप्य को और कहीं व्यापक को ग्रहण किया जाता है। कारण के मूलोक्त लक्षण में नियत शब्द से व्यापक अर्थ अभिमत है, और 'कार्यात्' 'पूर्वभाव' एवं 'नियत' तीनों शब्दों का मिलित अर्थ ग्राह्य है, अतः 'कार्यात्पूर्वभावो नियतः' का अर्थ है—कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्य के आश्रय मे कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में रहने वाले अभाव का कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से प्रतियोगी न होना। कारण के इस लक्षण से यह निष्कर्ष प्रस्तुत होता है कि अनन्यथासिद्ध होते हुये भी कार्य के किसी आश्रय में किसी सम्बन्ध से कभी रह लेने मात्र से कोई पदार्थ कारण नहीं हो सकता अपितु कारण होने के लिये उसे कार्यनियत-कार्य का व्यापक होना आवश्यक है। कारण के लक्षण में 'नियत' शब्द का सन्निवेश कर उक्त रूप में उसका निर्वचन करने का फल यह होता है कि रासभ-मिट्टी ढोने वाले कुम्हार के गधे में घटकारणत्व की अतिप्रसक्ति नहीं होती, क्योंकि वह कदाचित् किसी घट का पूर्ववर्ती तो हो जाता है, पर सभी घट का नियत पूर्ववर्ती न होने से घट का व्यापक नहीं होता। इस प्रसंग में यह शङ्का हो सकती है कि रासभ घटमात्र का नियत पूर्ववर्ती न होने से घट का व्यापक नहीं होता अतः वह घटसामान्य का कारण न हो परन्तु वह जिस किसी एक घट का नियत पूर्ववर्ती होता है उसका वह कारण क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि रासभ जिस विशेष घट का नियत पूर्ववर्ती है उसके प्रति अन्यथासिद्ध होने के कारण वह उसका भी कारण नहीं होता।

'अनन्यथासिद्ध' शब्द का अर्थ है अन्यथासिद्ध न होना, और अन्यथासिद्ध का अर्थ है प्रकृत कार्य के उत्पादन के लिये नहीं किन्तु दैववश, किसी अन्य प्रयोजनवश अथवा अपरिहार्यतावश कार्य-जन्म के पूर्व उपस्थित होने वाला, जैसे रासभ यदि किसी घट के जन्म के पूर्व दैवात् उपस्थित हो जाता है, या किसी अन्य कार्य से आ जाता है अथवा पहले से बंधा रहता है तो वह उस घट के प्रति अन्यथासिद्ध होता है, अन्यथासिद्ध की परिमार्जित परिभाषा यह है कि जो पदार्थ जिस कार्य का नियत पूर्ववर्ती होता है किन्तु कार्यकारणमर्मज्ञ मनीषियों द्वारा उस कार्य के कारण रूप में

व्यवहृत नहीं होता वह उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। इसके अनुसार रासभ घटसामान्य के प्रति अन्यथासिद्ध नहीं होता किन्तु उसी घट के प्रति अन्यथा-सिद्ध होता है जिसका वह नियत पूर्ववर्ती होता है। फलतया कारण लक्षण में दिये गये 'नियत' शब्द और 'अनन्यथासिद्ध' शब्द के क्षेत्र बंट जाते हैं। 'नियत' शब्द से अनन्यथासिद्ध कार्यपूर्ववर्ती पदार्थों की और 'अनन्यथासिद्ध' शब्द से कार्यनियत पूर्ववर्ती अन्यथासिद्ध पदार्थों की व्यावृत्ति होती है। दोनों शब्दों के व्यावर्तनीय पदार्थों में इस प्रकार स्पष्ट अन्तर होने से इस प्रश्न को स्थान नहीं रह जाता कि अनन्यथासिद्ध शब्द से ही अनियत पदार्थों की भी व्यावृत्ति हो जायगी अतः 'कारण' के लक्षण में नियत पद का प्रवेश अनावश्यक है।

कारण के लक्षण में 'अनन्यथासिद्ध' का सन्निवेश किया गया है। अनन्यथासिद्ध का अर्थ है अन्यथासिद्धभिन्न, भेद एक अभाव है अन्यथासिद्ध उसका प्रतियोगी है, अभावज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है, अतः अन्यथासिद्ध के ज्ञान के विना अन्यथासिद्धभेद का ज्ञान नहीं हो सकता, इस लिये अन्यथासिद्ध क्या है यह जानना परमावश्यक है।

अन्यथासिद्ध—

जो जिस कार्य का नियतपूर्ववर्ती होते हुए भी उस कार्य का कारण नहीं कहा जाता वह उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। विश्वनाथ न्यायपञ्चानन ने उसके पांच भेद अपनी कारिकावली में बताये हैं, जैसे—

येन सह पूर्वभावः कारणमादाय वा यस्य।
अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञात यत्पूर्वभावविज्ञानम्॥
जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते।
अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः॥
एते पञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिकम्।
घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम्॥
तृतीयं तु भवेद् व्योम कुलागजनकोऽपरः।
पञ्चमो रासभादिः स्यादेतेष्वावश्यकस्त्वसौ॥

येन सह पूर्वभावः—जिस धर्म से विशिष्ट में जिस कार्य की नियतपूर्ववर्तिता का ज्ञान होता है वह धर्म उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है, जैसे 'दण्डः घटनियत पूर्ववर्ती—दण्ड घट का नियतपूर्ववर्ती है' इस प्रकार दण्डत्वविशिष्ट में घट की नियत-पूर्ववर्तिता का ज्ञान होता है अतः दण्डत्व घट के प्रति अन्यथासिद्ध होता है, अन्यथा सिद्ध की इस परिभाषा के अनुसार जिस कार्य के जो जो धर्म कारणतावच्छेदक होते हैं वे सब उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होते हैं।

यद्यपि पटोत्पत्तौ दैवादागतस्य रासभादेः पूर्वभावो विद्यते, तथापि नासौ नियतः। तन्तुरूपस्य तु नियतः पूर्वभावोऽस्त्येव, किन्त्वन्यथासिद्धः पटरूपजननोपक्षीणत्वात्, पटं प्रत्यपि कारणत्वे कल्पनागौरवप्रसङ्गात्। तेनानन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्। अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्।

कारणमादाय वा यस्य—जिस पदार्थ में जिस कार्य की नियतपूर्ववर्तिता का ज्ञान उस कार्य के कारण के द्वारा ही होता है वह पदार्थ भी उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है; जैसे दण्डगत रूप में घट की नियतपूर्ववर्तिता का ज्ञान घट के कारण दण्ड के द्वारा ही होता है, क्योंकि दण्डगत रूप दण्डपरतन्त्र है, दण्ड के विना रह नहीं सकता अतः दण्ड के द्वारा ही उसमें घट की नियतपूर्ववर्तिता ज्ञात हो सकती है, इसलिये दण्ड में रहने वाले रूप आदि घट के प्रति अन्यथासिद्ध होते हैं।

अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्—जिस पदार्थ में जिस कार्य की नियतपूर्ववर्तिता किसी अन्य कार्य की नियतपूर्ववर्तिता के ज्ञान के पश्चात् ही होती है वह पदार्थ भी उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है; जैसे शब्दजनक आकाश में घट की नियतपूर्ववर्तिता का ज्ञान आकाश में शब्द की नियतपूर्ववर्तिता के ज्ञान के पश्चात् ही हो सकता है, क्योंकि जब तक आकाश शब्दकारण के रूप में सिद्ध न हो लेगा तब तक उसमें घट की नियतपूर्ववर्तिता कैसे ज्ञात हो सकेगी, अतः आकाश शब्दकारण के रूप में घट के प्रति अन्यथासिद्ध है।

जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते—जिस पदार्थ में जिस कार्य की नियतपूर्ववर्तिता उस कार्य के कारण की नियतपूर्ववर्तिता के ज्ञान के विना ज्ञात नहीं हो सकती वह पदार्थ भी उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। जैसे कुलालपिता में घट की नियतपूर्ववर्तिता घट के कारण कुलाल की नियतपूर्ववर्तिता के ज्ञान के विना ज्ञात नहीं हो सकती अतः कुलालपिता कुलाल के रूप में घट का कारण होते हुये भी कुलाल-पिता के रूप में घट के प्रति अन्यथासिद्ध है।

अतिरिक्तमथापि यद् भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः—जिस कार्य के प्रति जितने अवश्यक्लृप्त—लघु और नियतपूर्ववर्ती होते हैं उन सबसे जो भिन्न होता है वह उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है; जैसे घट के प्रति दण्ड, चक्र आदि लघु नियतपूर्ववर्ती हैं, रासभ उन सबसे भिन्न है अतः वह घट के प्रति अन्यथासिद्ध है।

अन्यथासिद्ध की उक्त परिभाषावों में पांचवी परिभाषा पूर्व की चारो परिभाषावों के क्षेत्र को आत्मसात् करने में समर्थ होने के कारण आवश्यक समझी जाती है।

अभी कारण का यह लक्षण बताया गया है कि कार्य के पूर्व जिसका भाव—जिसकी उपस्थिति नियत और अनन्यथासिद्ध हो वह कारण है, इस लक्षण में 'नियत' और

'अनन्यथासिद्ध' इन दो अंशों का प्रयोजन बताने के लिये 'यद्यपि' से लेकर 'कल्पना गौरवप्रसङ्गात्' तक का ग्रन्थ प्रवृत्त है। आशय यह है कि यदि कारण के उक्त लक्षण में से 'नियत' अंश को निकाल दिया जायगा तो 'कार्य के पूर्व जिसका भाव—जिसकी उपस्थिति अनन्यथासिद्ध हो वह कारण है, लक्षण का इतना ही स्वरूप बचेगा और यदि उतने को ही लक्षण मान लिया जायगा तो पट की उत्पत्ति के पूर्व दैववश जब कभी कोई रासभ आदि उपस्थित हो जायगा तब उसमें पटकारण के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि पट के पूर्व उस रासभ आदि का भी भाव है, किन्तु लक्षण में जब 'नियत' अंश का भी समावेश रहेगा तो दैववश आये रासभ आदि में पटकारणत्व की अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि रासभ आदि में पट का नियत पूर्वभाव नही है। इसी प्रकार उक्त लक्षण में से यदि 'अनन्यथासिद्ध' अंश को निकाल दिया जायगा तो 'कार्य के पूर्व जिसका भाव नियत हो वह कारण है' लक्षण का इतना ही स्वरूप बचेगा और यदि उतने को ही कारण का लक्षण माना जायगा तो तन्तु के रूप में पटकारणत्व की अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि पट के पूर्व में तन्तुरूप का भाव—अस्तित्व नियत है। किन्तु कारणलक्षण में जब अनन्यथासिद्ध अंश का सन्निवेश होगा तब यह अतिव्याप्ति न होगी, क्योंकि तन्तुरूप में पट का पूर्वभाव नियत अवश्य है पर पट के प्रति अनन्यथासिद्ध नहीं है, क्योंकि तन्तुरूप में पट का जो पूर्वभाव है यह पटरूप के उत्पादन में ही परिसमाप्त हो जाता है, अतः तन्तुरूप को पटरूप का कारण मानने के साथ यदि पट का भी कारण माना जायगा तो यह एक गुरु कल्पना होगी।

इस सन्दर्भ में यह समझ लेना आवश्यक है कि तन्तुरूप में पटकारणत्व की कल्पना में क्या गौरव है? विचार करने पर एक तो यह गौरव प्रतीत होता है कि पटकारणत्व में दो अंश हैं–एक पट के प्रति नियत पूर्वभाव और दूसरा अनन्यथासिद्धत्व, तो इन दो अंशों में तन्तुरूप में पहला अंश तो सहज सिद्ध है किन्तु दूसरा अंश सिद्ध नहीं है, अतः तन्तुरूप को पट के प्रति यदि कारण मानना होगा तो उसमें दूसरे अंश की कल्पना करनी होगी। यह अक्लृप्तकल्पना—नूतन कल्पना ही एक गौरव है। दूसरा गौरव यह होगा कि यदि तन्तुरूप को पट का कारण माना जायगा तो तुल्यन्याय से तन्तु के स्पर्श आदि अन्य गुणों को भी कारण मानना होगा। तीसरा गौरव यह होगा कि तन्तुरूप यदि पट का कारण होगा तो समवाय सम्बन्ध से ही कारण होगा, क्योंकि उसी सम्बन्ध से वह पट का नियत पूर्ववर्ती है, और उस सम्बन्ध से कारण होने पर वह पट का असमवायिकारण होगा, क्योंकि असमवायिकारण का यही लक्षण है कि जो कार्य के समवायि कारण में समवाय अथवा स्वसमवायिसमवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहकर कारण होता है वह असमवायिकारण होता है। अतः पट के समवायिकारण तन्तु में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान होकर पट का कारण होने से

यत्तु कश्चिदाह—'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्' इति। तदयुक्तम्। नित्यविभूनां व्योमादीनां कालतो देशतश्च व्यतिरेकासंभवेनाकारणत्वप्रसङ्गात्।

तन्तुरूप को पट का असमवायिकारण होना अनिवार्य है, और यदि वह पट का असमवायिकारण माना जायगा तो कभी तन्तु और तन्तुसंयोग के रहते किसी प्रकार यदि तन्तुरूप का नाश होगा तो असमवायिकारण के नाश से कार्यद्रव्य के नाश का नियम होने से तन्तुरूप के नाश से पटनाश की आपत्ति होगी जो तन्तु और तन्तुसंयोग के रहते कथमपि मान्य नहीं हो सकती। फलतः इस आपत्ति के प्रतिरोध के लिये तन्तु और तन्तुसंयोग दोनो को पटनाश का परस्परसापेक्ष प्रतिबन्धक मानना होगा। दोनो को परस्परसापेक्ष प्रतिबन्धक मानने का परिणाम यह होगा कि जब तक तन्तु और तन्तुसंयोग दोनो विद्यमान रहेंगे तब तक किसी भी कारण से पट का नाश नहीं होगा और जब उनमें से किसी भी एक का नाश होगा तब दूसरे के रहते भी पट का नाश हो जायगा, जैसे तन्तुसंयोग का नाश होने पर तन्तु के रहते पट का नाश हो जाता है एवं तन्तु का नाश होने पर तन्तुनाश के जन्मक्षण में तन्तुसंयोग के रहते तन्तुनाश के दूसरे क्षण में पट का नाश हो जाता है, तो इस प्रकार तन्तुरूप को पट का कारण मानने पर तन्तुरूप के नाश से पटनाश की आपत्ति के परिहारार्थ तन्तु और तन्तुसंयोग में पटनाश के प्रति परस्परसापेक्ष प्रतिबन्धकत्व की कल्पना ही तीसरा गौरव है।

कार्य के पूर्व जिसका भाव-सन्निधान, नियत और अनन्यथासिद्ध होता है, वह कारण कहा जाता है एवं जो अनन्यथासिद्ध नियत के समवधान के पश्चात् उत्पन्न होता है, वह कार्य कहा जाता है। कारण और कार्य के इस सर्वमान्य व्यवहार के आधार पर यह माना जाता हैं कि अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्व–अन्यथासिद्ध न होते हुए कार्य के पूर्व नियत रूप से रहना—यह कारणत्व–कारण का लक्षण तथा अनन्यथासिद्ध-नियतपश्चाद्भावित्व—अनन्यथासिद्ध नियत का सन्निधान होने के पश्चात् होना—यह कार्यत्व–कार्य का लक्षण है। कारण और कार्य के इन लक्षणों के अनुसार पट के प्रति अन्यथासिद्ध न होकर पट के पूर्व नियत रूप से उपस्थित होने के नाते तुरी, वेमा आदि पट के कारण कहे जाते हैं और उन सबों के सन्निधान के पश्चात् उत्पन्न होने से पट उन सबों का कार्य कहा जाता है।

कार्य-कारण के स्वरूप की मीमांसा करने वाले मनीषियों का कोई वर्ग यह कहता है कि कार्य द्वारा जिसके अन्वय और व्यतिरेक का अनुकरण किया जाय, वह कारण है। अन्वय का अर्थ है भाव–होना और व्यतिरेक का अर्थ है अभाव–न होना। अन्वय के अनुकरण का अर्थ है 'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्'–कारण के होने पर कार्य का होना और

व्यतिरेक के अनुकरण का अर्थ है—'तदभावे तदभावः' कारण के न होने पर कार्य का न होना। इस अनुकरण के निर्दोष होने पर—कभी इसका भङ्ग न होने पर कारणता का निश्चय होता है। जैसे तुरी, वेमा आदि के होने पर पट होता है, ऐसा कभी नहीं होता कि पट का कारण कहे जानेवाले तुरी, वेमा आदि सब उपस्थित हों और पट न हो, इसी प्रकार तुरी, वेमा आदि के न होने पर पट नहीं होता, ऐसा कभी नहीं होता कि तुरी, वेमा आदि न हों किन्तु पट हो जाय, फलतः पट के द्वारा तुरी, वेमा आदि के अन्वय और व्यतिरेक का निर्दोष अनुकरण किये जाने के नाते तुरी, वेमा आदि को पट का कारण माना जाता है।

✓ न्याय-वैशेषिक शास्त्र के विद्वान् कारण के इस लक्षण को अयुक्त मानते हैं। उनका कथन यह है कि कार्य के द्वारा जिसके अन्वय और व्यतिरेक का अनुकरण किया जाय, केवल उसीको यदि कारण माना जायगा तो जो नित्य और विभु—व्यापक द्रव्य हैं, जैसे आकाश, काल, दिक्, आत्मा और ईश्वर, वे किसी कार्य के कारण न हो सकेंगे, क्योंकि नित्य—सभी समय में विद्यमान होने से किसी समय में, तथा विभु—सभी दिग्देश में विद्यमान होने से किसी दिग्देश में उनका व्यतिरेक-अभाव नहीं होता। फलतः किसी कार्य के द्वारा उनके व्यतिरेक का अनुकरण किये जाने की सम्भावना न होने से किसी कार्य के प्रति उनका कारण होना सम्भव न हो सकेगा। इसपर यदि यह कहा जाय कि आकाश आदि का व्यतिरेक न होने से यदि उनमें कारणत्व सम्भव नहीं है तो वे अकारण ही रहें; क्या हानि है? तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आकाश शब्द का तथा अपने साथ होने वाले मूर्त द्रव्यों के संयोग आदि गुणों का कारण माना जाता है। एवं दिक् तथा काल अपने में उत्पन्न होने वाले संयोग आदि गुणों का असाधारण कारण तथा कार्यमात्र का साधारण कारण माना जाता है। आत्मा अपने में उदय होने वाले ज्ञान, इच्छा आदि विशेष गुणों तथा संयोग आदि सामान्य गुणों का कारण एवं अनेक कार्यों का कर्ता-रूप कारण माना जाता है, ईश्वर भी अपने में उत्पन्न होने वाले संयोग आदि सामान्य गुणों का असाधारण कारण तथा कार्यमात्र का कर्तारूप साधारण कारण माना जाता है, अतः इन सभी मान्यतावों का भङ्ग होने के भय से आकाश आदि को अकारण नहीं माना जा सकता। इसलिये आकाश आदि कारणद्रव्यों में अव्याप्त होने से 'कार्यानुकृतान्वय-व्यतिरेकि कारणम्' कारण का यह लक्षण मान्य नहीं हो सकता।

कुछ विद्वानों ने 'कार्यव्यतिरेकप्रयोजकव्यतिरेकप्रतियोगित्व' को कारणत्व—कारण का लक्षण माना है, उनका आशय यह है कि कारण के अभाव से ही कार्य का अभाव होता है, अतः इसके आधार पर कारण का यह लक्षण मानना उचित प्रतीत होता है कि 'जिसका अभाव कार्य के अभाव का प्रयोजक हो वह कारण है'। किन्तु उपर्युक्त रीति से

आकाश आदि नित्य विभु द्रव्यों में अव्याप्त होने से यह लक्षण भी विद्वन्मान्य नहीं हो सकता।

सुप्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य ने भी अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि में कारणता के व्यतिरेकतन्त्र न होने का निर्देश किया है, उन्होंने स्पष्ट कहा है—

> पूर्वभावो हि हेतुत्वं मीयते येन केनचित्।
> व्यापकस्यापि नित्यस्य धर्मिधीरन्यथा न हि ॥ (न्या० कु० प्र० स्त०)

आशय यह है कि कारणता व्यतिरेक-तन्त्र नहीं है किन्तु पूर्वभाव—अनन्यथासिद्ध-कार्यनियतपूर्ववर्तित्व—स्वरूप है अतः नित्य और व्यापक पदार्थ में भी वह सुघट एवं सुबोध है, यदि कारणता व्यतिरेक-तन्त्र होगी तो नित्य विभु पदार्थ का व्यतिरेक सम्भव न होने से वह कारण न हो सकेगा और उस स्थिति में उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा, क्योंकि नित्य विभु पदार्थों को सिद्ध करने वाले प्रमाण उन्हें कारणरूप में ही सिद्ध करते हैं; जैसे आकाश शब्द के समवायिकारण, आत्मा ज्ञान आदि गुणों के समवायिकारण, काल ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व-बुद्धि के नियामक कालिक परत्व और अपरत्व के निमित्तकारण, दिक् दूरत्व और सामीप्य-बुद्धि के नियामक दैशिक परत्व और अपरत्व के निमित्तकारण और ईश्वर कार्यमात्र के निमित्तकारण-कर्ता के रूप में ही अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है, किन्तु कारणत्व जब व्यतिरेकतन्त्र होगा तब तो वह उन पदार्थों में सम्भव ही न होगा तो फिर कारणात्मना उनकी सिद्धि कैसे हो सकेगी, फलतः उनका अस्तित्व ही लुप्त हो जायगा।

इस सन्दर्भ में यह विशेष रूप से विमर्शनीय है कि कारण के व्यतिरेकघटित उक्त लक्षण की आकाश आदि नित्य विभु पदार्थों में जो अव्याप्ति बतायी गयी है वह वास्तविक है या आपातिक है? विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्त अव्याप्ति अत्यन्त स्थूल विचार पर ही आश्रित है, वास्तव में वह नितान्त निर्मूल है, क्योंकि व्यतिरेकघटित उक्त लक्षण का विचार करते हुए जो यह बात कही गई है कि आकाश आदि नित्य हैं अतः किसी काल में और विभु हैं अतः किसी देश में उनका व्यतिरेक सम्भव नहीं है, इसलिये उनमें उक्त लक्षण अव्याप्त है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त लक्षण में कालगत और देशगत व्यतिरेक का सन्निवेश ही नहीं है। लक्षण का तो स्पष्ट आशय यह है कि जिस सम्बन्ध से जिसका सन्निधान होने पर जिस कार्य का जन्म होता है और असन्निधान होने पर जन्म नहीं होता वह उस सम्बन्ध से उस कार्य का कारण होता है। समवाय सम्बन्ध से शब्द के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से आकाश कारण है, इसकी उपपत्ति केवल इसी अन्वय-व्यतिरेक पर निर्भर है कि जिसमें आकाश तादात्म्य सम्बन्ध से है उस आकाश में समवाय सम्बन्ध

तच्च कारणं त्रिविधम्, समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्। तत्र यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम्। यथा तन्तवः पटस्य समवायिकारणम्। यतस्तन्तुष्वेव पटः समवेतो जायते, न तुर्यादिषु।

से शब्द पैदा होता है और जिसमें आकाश तादात्म्य सम्बन्ध से नहीं है, उस पृथिवी आदि में शब्द समवाय सम्बन्ध से नहीं पैदा होता। किसी काल में नित्य पदार्थ का अभाव न होने से तथा किसी देश में विभु पदार्थ का अभाव न होने से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कारणता को व्यतिरेकतन्त्र मानने पर नित्य पदार्थ कालिक सम्बन्ध से एवं विभु पदार्थ दैशिक सम्बन्ध से कारण न हो सकेंगे, सो उन सम्बन्धों से उन्हें कारण माना ही नहीं जाता। अतः व्यतिरेकघटित कारणलक्षण में जो अव्याप्ति बतायी गयी है वह अत्यन्त निराधार है।

उक्त लक्षण से लक्षित कारण समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण के भेद से तीन प्रकार का होता है, उनमें समवायिकारण वह होता है जिसमें कार्य समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, जैसे तन्तु-सूत पट-कपड़े का समवायिकारण है, क्योंकि तन्तुवों में पट समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है, तुरी आदि कारणों में पट समवाय सम्बन्ध से नहीं उत्पन्न होता अतः तुरी आदि को पट का समवायिकारण नहीं माना जाता।

इस सन्दर्भ में इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि उक्त विभाग को वास्तव में कारण का विभाग नहीं माना जा सकता, क्योंकि उक्त विभाग को कारण का विभाग मानने पर समवायिकारणत्व, असमवायिकारणत्व और निमित्तकारणत्व को ही कारण का विभाजक धर्म मानना होगा जो कथमपि सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि विभाजक धर्म वही होता है जो विभाज्यतावच्छेदक धर्म का साक्षाद् व्याप्य तथा परस्पर विरुद्ध होता है, जैसे जब द्रव्य का विभाग किया जाता है तब द्रव्य विभाज्य होता है, उसमें विभाज्यता रहती है, द्रव्यत्व विभाज्यतावच्छेदक होता है और पृथिवीत्व, जलत्व आदि धर्म द्रव्यत्व का साक्षाद् व्याप्य तथा परस्पर विरुद्ध होने से द्रव्य के विभाजक होते हैं। प्रस्तुत में यदि कारण को विभाज्य माना जायगा तो उसमें विभाज्यता रहेगी, कारणत्व विभाज्यता का अवच्छेदक होगा, समवायिकारणत्व, असमवायिकारणत्व और निमित्तकारणत्व उसके साक्षाद् व्याप्य हैं अतः वे विभाजक होंगे, पर यह तब हो सकता है जब वे धर्म परस्पर विरुद्ध हों, किन्तु वे परस्पर विरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि जो कारण एक कार्य का समवायिकारण होता है वही दूसरे का निमित्त कारण होता है, इसी प्रकार जो एक कार्य का असमवायिकरण होता है वही दूसरे कार्य का निमित्त कारण होता है; जैसे तन्तु पट का समवायिकारण है किन्तु उसी तन्तु से जब कोई वस्तु बांधी जाती है तब वह

उस बन्धन का निमित्त कारण होता है। इसी प्रकार तन्तुवों का संयोग पट का असमवायिकारण होता है किन्तु अपने ध्वंस का प्रतियोगिविधया और अपने प्रत्यक्ष का विषयविधया निमित्तकारण होता है, अतः समवायिकारणत्व और असवायिकारणत्व का निमित्तकारणत्व के साथ विरोध न होने से वे तीनो धर्म कारण के विभाजक नहीं बन सकते। यदि यह कहा जाय कि उक्त विभाग कारणसामान्य का विभाग नहीं है किन्तु एक कार्य के कारण का विभाग है, अर्थात् सम्बद्ध विभाग-ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि एक कार्य का कारण समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण के भेद से तीन प्रकार का होता है, ऐसा मानने में कोई दोष नहीं हो सकता क्योंकि जिस कार्य का जो समवायिकारण या असमवायिकारण होता है वह उस कार्य का निमित्तकारण नहीं होता अतः एक कार्य के समवायिकारणत्व, असमवायिकारणत्व और निमित्तकारणत्व में परस्पर विरोध होने से उनके विभाजक होने में कोई बाधा नहीं हो सकती, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक कार्य के समवायिकारणत्व और निमित्तकारणत्व में भी विरोध नहीं है, जैसे काल अपने में उत्पन्न होने वाले संयोग आदि गुणों का समवायिकारण भी होता है और निमित्तकारण भी होता है, क्योंकि काल जब कार्यमात्र का निमित्त कारण है तो उसे स्वगत संयोग आदि का निमित्त कारण होना अनिवार्य है।

अतः ग्रन्थोक्त कारणविभाग का समर्थन कारणताविभाग के आधार पर करना होगा अर्थात् यह कहना होगा कि उक्त ग्रन्थ द्वारा समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण के भेद से कारण के तीन भेद विवक्षित नहीं हैं, अपि तु समवायिकारणता, असमवायिकारणता और निमित्तकारणता के भेद से कारणता के तीन भेद विवक्षित हैं। ऐसा मानने पर कारणता विभाज्य होगी, कारणतात्व विभाज्यतावच्छेदक होगा और कारणतात्व का साक्षाद् व्याप्य तथा परस्पर विरुद्ध होने से समवायिकारणतात्व, असमवायिकारणतात्व और निमित्तकारणतात्व विभाजक होंगे। फलतः कारणता के त्रिविध होने से कारण में भी त्रिविधत्व का गौण व्यवहार हो सकेगा। ग्रन्थ में कारण का त्रैविध्य इसी गौण व्यवहार के आधार पर बताया गया प्रतीत होता है।

अभी कहा गया है कि पट समवाय सम्बन्ध से तन्तुओं में उत्पन्न होता है तुरी आदि में नहीं। इस पर प्रश्न होता है कि पट का सम्बन्ध जैसे तन्तु के साथ है वैसे ही तुरी आदि के भी साथ है तो फिर क्यों पट समवाय सम्बन्ध से तन्तुवों में ही उत्पन्न होता है तुरी आदि में नहीं उत्पन्न होता? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि, यह बात ठीक है, कि पट का सम्बन्ध तन्तु और तुरी दोनो के साथ है, पर वह एक ढङ्ग का नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध दो प्रकार का होता है संयोग और समवाय। उनमें दो अयुतसिद्ध

ननु तन्तुसंबन्ध इव तुर्यादिसंबन्धोऽपि पटस्य विद्यते; तत् कथं तन्तुष्वेव पटः समवेतो जायते, न तुर्यादिषु ?

सत्यम्, द्विविधः सम्बन्धः संयोगः समवायश्चेति। तत्रायुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः, अन्ययोस्तु संयोग एव।

कौ पुनरयुतसिद्धौ ? ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ। तदुक्तम्—

तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः।
अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥

पदार्थों का समवाय सम्बन्ध होता है और अन्य—युतसिद्ध दो पदार्थों का संयोग ही सम्बन्ध होता है। तन्तु और पट अयुतसिद्ध हैं, अतः उन दोनों में समवाय सम्बन्ध है और इसीलिए पट तन्तु में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। तुरी और पट अयुतसिद्ध नहीं हैं, किन्तु अन्य-युतसिद्ध हैं, अतः उनमें समवाय सम्बन्ध नहीं, किन्तु संयोग ही सम्बन्ध होता है और इसीलिए तुरी आदि में पट समवाय सम्बन्ध से नहीं उत्पन्न होता।

प्रश्न होता हैं कि वे दो अयुत सिद्ध पदार्थ कौन हैं, जिनमें समवाय सम्बन्ध होता है ? उत्तर है कि 'ऐसे दो पदार्थ, जिनमें से कोई एक अपनी अविनश्यद् अवस्था में अर्थात् अपने विनाश की सामग्री की अनुपस्थिति-दशा में दूसरे में आश्रित होकर ही अवस्थित रहता है, अयुत सिद्ध कहे जाते हैं'।

अयुतसिद्ध की इस परिभाषा को समझने के पूर्व 'अयुतसिद्ध' शब्द के सहज अर्थ को दृष्टिगत कर लेना आवश्यक है। यह शब्द अ, युत और सिद्ध इन तीन शब्दों से बना है। इन तीनो शब्दों में 'युत' शब्द का अत्यधिक महत्त्व है, वह 'अयुतसिद्ध' शब्दार्थ का मेरुदण्ड है, वह 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' इस धातुपाठ के अनुसार अमिश्रण-अमिलन-असम्बन्ध अर्थ को बताने वाले 'यु' धातु से 'क्त' प्रत्यय के सम्पर्क से निष्पन्न हुआ है। उसका अर्थ है अमिश्रित-अमिलित-असम्बद्ध। ज़ो दो पदार्थ परस्पर में अमिलित-असम्बद्ध होकर सिद्ध हों, वे युतसिद्ध कहे जाते हैं, जैसे दण्ड-पुरुष, वृक्ष-पक्षी, स्त्री-पुरुष आदि। ये युगल परस्पर में आरम्भ से ही सम्बद्ध नहीं होते, किन्तु प्रथमतः आपस में असम्बद्ध रहते हैं, बाद में एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। 'युत' शब्द के पूर्व में लगा 'अ' शब्द युतसिद्ध की भिन्नता का प्रतिपादन करता है। फलतः ऐसे दो पदार्थ जो कभी युतसिद्ध-पृथक् सिद्ध नहीं होते, किन्तु आरम्भ से ही एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं अर्थात् ऐसा कोई क्षण नहीं होता, जब दोनो विद्यमान हों

किन्तु आपस में सम्बद्ध न हों, अयुतसिद्ध शब्द से व्यवहृत होते हैं, अयुतसिद्ध शब्दार्थ का यही मर्म उक्त परिभाषा द्वारा वर्णित हुआ है और मूल में उद्धृत कारिका से भी अभिहित किया गया है। कारिका का अर्थ सुस्पष्ट है कि उन्हीं पदार्थों को अयुतसिद्ध समझना चाहिये, जिन दोनों में से कोई एक अनश्यत् रहने के समय दूसरे में आश्रित ही रहता है।

अयुतसिद्ध की उक्त परिभाषा को पूरे रूप में समझने के लिए उसके प्रत्येक पदकी सार्थकता का विचार आवश्यक है। परिभाषा का स्वरूप है 'ययोः मध्ये एकम् अविनश्यद् अपराश्रितम् एव अवतिष्ठते तौ अयुतसिद्धौ'। इसमें यदि "एक" शब्द को न रखा जाय तो परिभाषा का अर्थ यह होगा कि जिन दो पदार्थों में अविनश्यत्, जिसके विनाश की सामग्री सन्निहित नहीं है, अन्य में आश्रित होकर ही अवस्थित होता है, वे दो पदार्थ अयुतसिद्ध होते हैं। अब यदि 'एक' शब्दरहित इस परिभाषा को ही अयुतसिद्ध की परिभाषा माना जायगा तो तन्तु-पट आदि अयुतसिद्ध न हो सकेंगे, क्योंकि उन दोनो में तन्तु और पट दोनो ही आते हैं, पर उनमें केवल पट ही अविनश्यद् अवस्था में तन्तु में आश्रित होता है, न कि तन्तु भी पट में आश्रित होता है, अतः उक्त परिभाषा में 'एक' शब्द को रखकर यह सूचित किया गया है कि अयुतसिद्ध कहे जानेवाले पदार्थों में दोनो का एक दूसरे में आश्रित होना अपेक्षित नहीं है, किन्तु किसी एक का ही अपराश्रित होना अपपेक्षित है।

उक्त परिभाषा में यदि 'अविनश्यत्' शब्द को न रखा जाय तो परिभाषा का स्वरूप होगा 'ययोः मध्ये एकम् अपराश्रितम् एव अवतिष्ठते तौ अयुतसिद्धौ'। अब यदि इतने को ही पूरी परिभाषा मान लिया जायगा तो जो अयुतसिद्ध पदार्थ दो के दोनो नित्य होते हैं; जैसे नित्य द्रव्य और उसमें आश्रित एकत्व संख्या, परिमाण, एक-पृथक्त्व, जाति और विशेष; नित्य गुण और उनमें रहनेवाली जातियां; एवं जो अयुतसिद्ध पदार्थ दो के दोनो एक साथ ही नष्ट होते हैं; जैसे एक साथ नष्ट होने वाले घट और कपाल। यह स्थिति तब आती है, जब दोनो के विनाश की तैयारी एक साथ प्रारंभ होती है। उदाहरणार्थ घट का नाश घट के उत्पादक कपाल-द्वय-संयोग के नाश से होता है और कपाल का नाश कपाल के उत्पादक कपालिका-द्वय संयोग के नाश से होता है, तो फिर जब पहले क्षण में कपाल और कपालिका दोनो में एक साथ क्रिया होगी, तब दूसरे क्षण सक्रिय कपाल का निष्क्रिय कपाल के साथ और सक्रिय कपालिका का निष्क्रिय कपालिका के साथ विभाग होगा एवं तीसरे क्षण सक्रिय कपाल का निष्क्रिय कपाल के साथ पहले से जो घटोत्पादक संयोग था तथा सक्रिय कपालिका का निष्क्रिय कपालिका के साथ पहले से जो कपालोत्पादक संयोग था, उन दोनो का नाश होगा और चौथे क्षण घट तथा कपाल का एक साथ ही नाश होगा। इस प्रकार कपाल के

नाश से नष्ट होने वाला घट अपने पूरे समय में कपाल में आश्रित ही रहता है ।

इसी प्रकार जिन अयुतसिद्ध पदार्थों में आश्रित का नाश· आश्रय के रहते ही होता है, जैसे अवयवसंयोग के नाश से नष्ट होने वाले अवयवी, पाक-से नष्ट होने वाले पृथिवी के विशेष गुण, अपेक्षाबुद्धि के नाश से नष्ट होने वाले द्वित्व, द्विपृथक्त्व आदि गुण, क्रिया-विभाग क्रम से नष्ट होने वाले संयोग एवं आकाश और आत्मा के विशेष गुण। ये तीन प्रकार के अयुतसिद्ध पदार्थ तो 'अविनश्यत्' पद से रहित उक्त परिभाषा से संगृहीत होंगे परन्तु जिन अयुतसिद्ध पदार्थों में आश्रयभूत पदार्थ के नाश से आश्रित पदार्थ का नाश होता है उनका संग्रह न हो सकेगा, जैसे तन्तु के नाश से नष्ट होने वाले पट और तन्तु के गुण एवं कर्म। आशय यह है कि, तन्तु पट का समवायिकारण है और तन्तुसंयोग असमवायिकारण है, पट का नाश कभी तन्तु के नाश से, कभी तन्तुसंयोग के नाश से और कभी दोनो के नाश से होता है, तो जब तन्तुसंयोग के नाश से पट का नाश होगा तब तो पट अपने पूरे समय में तन्तु में आश्रित ही रहेगा पर जब तन्तुनाश से अथवा तन्तु और तन्तुसंयोग दोनों के नाश से पट का नाश होगा तब कारण-कार्य में पौर्वापर्य का नियम होने से तन्तुनाश पहले होगा और पटनाश बाद में होगा। फलतः एक ही क्षण सही पर तन्तुनाश के उत्पत्ति-क्षण में पट तन्तु में अनाश्रित ही रहेगा। तो इस प्रकार तन्तु और पट के मध्य में तन्तु तो कभी पटाश्रित होता ही नहीं किन्तु पट भी सदैव तन्तु में आश्रित ही नहीं रहता, इसलिये अयुतसिद्ध की परिभाषा में 'अविनश्यत्' पद का सन्निवेश न करने पर तन्तु के नाश से नष्ट होने वाला पट और तन्तु यह दोनो उक्त परिभाषा से संगृहीत न हो सकेंगे, 'अविनश्यत्' पद को परिभाषा में रखने पर यह दोष न होगा, क्योंकि उसका अर्थ है विनाशसामग्री से असन्निहित। तन्तुनाश की दशा में पट अविनश्यत् नहीं है क्योंकि तन्तु-नाश पटनाश का चरम कारण है अतः उस दशा में अपने विनाश की सामग्री के साथ होने से वह विनश्यत् है न कि अविनश्यत्, अविनश्यत् तो अपने जन्मकाल से अपने आश्रयभूत तन्तुओं और अपने उत्पादक तन्तुसंयोगों के स्थितिकाल तक ही रहता है और उतने काल में वह तन्तु में आश्रित ही रहता है।

उक्त परिभाषा में यदि 'अपराश्रित' शब्द को न रखा जायगा तो 'ययोः मध्ये एकम् अविनश्यत् एव अत्रतिष्ठते तौ अयुतसिद्धौ' इतना ही बचेगा और यदि उतने को ही पूरी परिभाषा माना जायगा तो कपाल और घटध्वंस भी अयुतसिद्ध हो जायंगे, क्योंकि उन दोनो में घटध्वंस सदा अविनश्यत् ही रहता है, 'अपराश्रित' को परिभाषा में सन्निविष्ट रखने पर यह दोष न होगा, क्योंकि कपालनाश के बाद घटध्वंस अविनश्यत् तो रहता है पर अपराश्रित—कपालाश्रित नहीं रहता। यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार का दोष तो 'अपराश्रित' शब्द रखने पर भी होगा, जैसे आत्मा में ज्ञान आदि का ध्वंस

सदैव अविनश्यत् और अपराश्रित–आत्माश्रित ही होता है अतः उक्त परिभाषा में 'ययोः मध्ये' का अर्थ 'ययोः भावयोः मध्ये' करना होगा तो फिर किसी भी ध्वंस और उसके आश्रय में अयुतसिद्धत्व की आपत्ति न होगी, अतः 'अपराश्रित' शब्द के रखने का उक्त प्रयोजन नहीं सिद्ध हो सकता, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'अपराश्रित' शब्द के अभाव में ध्वंस और उसके आश्रय में अयुतसिद्धत्व की आपत्ति न होने पर भी घट और आकाश में अयुतसिद्धत्व की आपत्ति होगी क्योंकि उन दोनो में आकाश सदा अविनश्यत् ही रहता है, और 'अपराश्रित' शब्द के रहने पर यह दोष न होगा, क्योंकि आकाश अनाश्रित द्रव्य होने के कारण अपराश्रित नहीं होता। इस पर यदि यह कहा जाय कि इस दोष का परिहार तो केवल 'आश्रित' शब्द के सन्निवेश से हो जायगा 'अपर' शब्द के उपादान की सार्थकता फिर भी नहीं होगी, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में वृक्ष और पक्षी भी अयुतसिद्ध हो जायंगे, क्योंकि उन दोनो में दोनो ही अविनश्यत् अवस्था में अपने अपने आश्रयों में आश्रित ही रहते हैं। 'अपर' शब्द को रखने पर यह दोष न होगा, क्योंकि 'ययोः मध्ये' का अन्वय 'अपर' के साथ मानने से 'ययोः मध्ये एकम् अविनश्यद् ययोः मध्ये अपराश्रितमेव अवतिष्ठते तौ अयुतसिद्धौ' इस प्रकार परिभाषा का स्वरूप होगा; वृक्ष और पक्षी इन दोनो में कोई भी अविनश्यत् अवस्था में सदा उन दोनो में से किसी अपर में ही आश्रित नहीं होता, क्योंकि आपस में असंयुक्त होने के समय वे अविनश्यत् रहते भी एक दूसरे में आश्रित नहीं रहते। 'ययोः मध्ये' का सम्बन्ध 'एकम्' के साथ भी मानना होगा अन्यथा 'एकम् अविनश्यत् ययोः मध्ये अपराश्रितमेव अवतिष्ठते तौ अयुतसिद्धौ' यह परिभाषा का स्वरूप होगा और उस दशा में वृक्ष और पक्षी में पुनः अयुतसिद्धत्व की अतिप्रसक्ति होगी, क्योंकि उन दोनो के बीच चाहे जिस किसी को भी 'अपर' शब्द से लें उसमें कोई न कोई जैसे उसका रूप आदि अविनश्यद् अवस्था में आश्रित रहता ही है। और जब 'ययोः मध्ये' का सम्बन्ध 'एकम्' के साथ भी होगा तब यह दोष न होगा, क्योंकि वृक्ष और पक्षी के मध्य में से कोई भी एक वृक्ष या पक्षी उन दोनो में से किसी भी अपर में–पक्षी या वृक्ष में अपने अविनश्यत् अवस्था में आश्रित ही नहीं होता। इसी प्रकार उक्त परिभाषा में यदि 'एव' शब्द को न रखा जायगा तो भी वृक्ष और पक्षी में अयुतसिद्धत्व की प्रसक्ति होगी क्योंकि उन दोनो के संयुक्त रहने के समय उन दोनो में से एक–पक्षी अपनी अविनश्यत् अवस्था में अपर–वृक्ष में आश्रित रहता है, 'एव' शब्द को परिभाषा में सन्निविष्ट रखने पर यह दोष न होगा, क्योंकि उन दोनो के असंयुक्त रहने के समय पक्षी अविनश्यत् होते हुए भी वृक्ष में आश्रित नहीं रहता।

अयुतसिद्ध की उक्त-परिभाषा-विषयक प्रस्तुत विचार के समापन के पूर्व 'अविनश्यत्'

शब्द के अर्थ पर थोड़ा और विचार कर लेना आवश्यक है। 'अविनश्यत्' का अर्थ किया गया है–विनाश की सामग्री से असन्निहित, पर यह अर्थ उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि सृष्टिकाल में प्रतिक्षण किसी न किसी पदार्थ का विनाश अवश्य होते रहने के कारण संसार का प्रत्येक पदार्थ सदैव किसी न किसी पदार्थ के विनाश की सामग्री से सन्निहित ही होगा, फलतः 'अविनश्यत्' शब्द से किसी का ग्रहण सम्भव न होने से अयुतसिद्ध की उक्त परिभाषा ग्राह्य न हो सकेगी, इस दोष के परिहारार्थ यदि 'अविनश्यत्' शब्द का अर्थ 'अपने विनाश की सामग्री से असन्निहित' किया जायगा तो प्रत्येक जन्यभाव पदार्थ के अपने विनाश के अव्यवहित-पूर्व क्षण में अपने विनाश की सामग्री से सन्निहित होने के कारण कोई भी जन्यभाव पदार्थ कभी भी अपने विनाश की सामग्री से असन्निहित नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि भेद व्याप्यवृत्ति होता है, अपने प्रतियोगी में कदापि और कथमपि नहीं रहता, अतः जो पदार्थ कभी अपने विनाश की सामग्री से सन्निहित होगा वह कदापि अपने विनाश की सामग्री से असन्निहित अर्थात् अपने विनाश की सामग्री से सन्निहित-भिन्न न हो सकेगा, फलतः 'अविनश्यत्' शब्द से जन्यभाव पदार्थों का ग्रहण सम्भव न होने के कारण जन्यभाव पदार्थ–पट आदि और उनके आश्रय तन्तु आदि अयुतसिद्ध शब्द से व्यपदिष्ट न हो सकेंगे। इस दोष के निवारणार्थ यदि 'अविनश्यत्' शब्द से 'अपने विनाश की सामग्री के असन्निधान काल में स्थित' अर्थ लिया जाय तो यह दोष नहीं होगा, क्योंकि जिस काल में जिस पदार्थ के विनाश की सामग्री का असन्निधान होगा उस काल में स्थित होने से वह पदार्थ उस काल में 'अविनश्यत्' शब्द से ग्राह्य हो सकेगा, किन्तु इस अर्थ को स्वीकार करने पर जाति आदि नित्य पदार्थ 'अविनश्यत्' शब्द से गृहीत न होंगे, क्योंकि उनका विनाश न होने के कारण वे अपने विनाश की सामग्री के असन्निधान काल में स्थित नहीं कहे जा सकते, फलतः नित्यगुण, जाति और विशेष पदार्थ अपने अपने आश्रयों के साथ अयुतसिद्ध न हो सकेंगे। अतः उक्त परिभाषा को 'अविनश्यत्' शब्दार्थ की दुर्वचता के संकट से मुक्ति पाने की सम्भावना न होने के कारण उक्त परिभाषा को इस रूप में परिवर्तित कर देना होगा कि 'स्वाश्रयोभयाश्रययावत्कालवृत्ति-स्वाश्रयापराश्रितस्वाश्रयैकक-द्वित्वाश्रयत्वम् अयुतसिद्धत्वम्'। इसका अर्थ यह है कि जिस द्वित्व के दोनो आश्रय जितने समय रहते हों उतने समय उन आश्रयों में से कोई एक यदि दूसरे आश्रय में नियमेन आश्रित रहे तो उस द्वित्व के दोनो आश्रय अयुतसिद्ध होंगे; जैसे तन्तु-पटगत द्वित्व के आश्रय तन्तु और पट दोनो जितने समय—पट के जन्म-क्षण से पट-विनाश के अव्यवहितपूर्व क्षण तक–रहते हैं, उन सारे समयों में उस द्वित्व का एक आश्रय-पट उसके दूसरे आश्रय तन्तु में नियमेन आश्रित ही रहता है अतः उस द्वित्व के आश्रय तन्तु और पट अयुत-सिद्ध होते हैं, इसी प्रकार गो और गोत्व-गत द्वित्व के गौ और

यथा अवयवावयविनौ, गुण-गुणिनौ, क्रिया-क्रियावन्तौ, जाति-व्यक्ती, विशेष-नित्यद्रव्ये चेति। अवयव्यादयो हि यथाक्रममवयवाद्याश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽविनश्यन्तः। विनश्यदवस्थास्त्वनाश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽवयव्यादयः। यथा तन्तुनाशे सति पटः, यथा वा आश्रयनाशे सति गुणः। विनश्यत्ता तु विनाशकारणसामग्रीसान्निध्यम्।

तन्तुपटौ अप्यवयवावयविनौ, तेन तयोः सम्बन्धः समवायोऽयुतसिद्धत्वात्। तुरीपटयोस्तु न समवायोऽयुतसिद्धत्वाभावात्। न हि तुरी पटाश्रिता एवावतिष्ठते, नापि पटस्तुर्याश्रितः, अतस्तयोः सम्बन्धः संयोग एव। तदेवं तन्तुसमवेतः पटः।

गोत्व दोनो आश्रय जितने समय—गौ के जन्म काल से गौ के विनाश के अव्यवहित पूर्व क्षण तक—रहते हैं उन सारे समयों में उस द्वित्व का एक आश्रय-गोत्व उसके दूसरे आश्रय-गौ में नियमेन आश्रित ही रहता है अतः उस द्वित्व के आश्रय गौ और गोत्व अयुतसिद्ध होते हैं। वृक्ष और पक्षी में रहने वाला द्वित्व ऐसा नहीं है क्योंकि उसके दोनो आश्रय वृक्ष और पक्षी जितने समय तक रहते हैं उतने समय के भीतर उन दोनो के असंयुक्त होकर रहने का समय भी आता है किन्तु उस समय उन दोनो में से कोई भी एक किसी दूसरे में नियमेन आश्रित ही नहीं होता, अतः उस द्वित्व के आश्रय वृक्ष और पक्षी अयुतसिद्ध नहीं होते।

परिभाषा के इस स्वरूप पर यह प्रश्न हो सकता है कि द्वित्व संख्यास्वरूप होने के कारण गुण है अतः वह द्रव्य में ही रहेगा, गुण आदि में नहीं रहेगा तो फिर गुण, क्रिया, जाति और विशेष पदार्थ अपने आश्रयों के साथ अयुत-सिद्ध कैसे हो सकेंगे, इसके उत्तर में यह कहा जाना उचित है कि उक्त परिभाषा के स्वरूप में संख्यात्मक द्वित्व का प्रवेश नहीं है किन्तु बुद्धिविशेषविषयत्वात्मक द्वित्व का प्रवेश है। गुण आदि में संख्यात्मक द्वित्व भले न रहे पर बुद्धिविशेषविषयत्वात्मक द्वित्व के रहने में तो कोई बाधा नहीं है, क्योंकि जैसे द्रव्य में 'इदमेकम्, इदमेकम्—इति इमे द्वे' इस प्रकार की बुद्धि होती है वैसे ही गुण-गुणी और जाति-व्यक्ति आदि में भी इस प्रकार की बुद्धि होती है, अतः बुद्धिविशेषविषयत्व-रूप द्वित्व के द्वारा गुण-गुणी आदि में भी अयुतसिद्धत्व निर्विवाद है।

अयुतसिद्ध का लक्षण अभी अनुपद में ही बताया गया है, अब उसके लक्ष्य बताये जा रहे हैं। अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया-कर्म और उसका आश्रय, जाति और व्यक्ति-जाति का आश्रय–जिसमें जाति व्यक्त–प्रमाणद्वारा सिद्ध होती है, तथा विशेष और नित्य द्रव्य परस्पर में अयुतसिद्ध होते हैं। क्योंकि अवयवी, गुण, कर्म,

जाति और विशेष अविनश्यत् रहते हुये क्रम से अवयव, गुणी-द्रव्य, क्रियावान्-मूर्त द्रव्य, व्यक्ति और नित्य द्रव्य में आश्रित ही होकर अवस्थित होते हैं। उनमें जो अनित्य हैं वे जब विनश्यत् अवस्था में पहुंचते हैं—उस समय वे अनाश्रित ही अवस्थित होते हैं; जैसे तन्तुनाश के समय पट और आश्रयनाश के समय गुण। किसी भी पदार्थ की विनश्यत् अवस्था उसी समय होती है जब उसके विनाश की पूरी सामग्री सन्निहित होती है। तन्तुनाश पटनाश का चरम कारण है और कारण-कार्य में पौर्वापर्य होना आवश्यक है अतः तन्तुनाश को पटनाश के अव्यवहित पूर्व क्षण में विद्यमान तथा पटनाश को तन्तुनाश के दूसरे क्षण में उत्पद्यमान मानना होगा। इसी प्रकार आश्रयनाश भी गुणनाश का चरम कारण होता है अतः उसे भी गुणनाश के अव्यवहित पूर्व क्षण में विद्यमान तथा गुणनाश को आश्रयनाश के दूसरे क्षण में उत्पद्यमान मानना होगा। इसलिये तन्तुनाश के जन्मक्षण में पट और तन्तुगत गुणों का अनाश्रित होकर अवस्थित रहना अपरिहार्य है, क्योंकि ध्वंस और प्रतियोगी में कालिक विरोध—एककाल में अवस्थित न होने का नियम होने के कारण तन्तुनाश के जन्मक्षण में तन्तुनाश ही रहेगा तन्तु नहीं रहेगा किन्तु पट एवं तन्तुगत गुण उस क्षण में भी रहेंगे क्योंकि उनके नाश का कारण तन्तुस्वरूप आश्रय का नाश उस क्षण के पूर्व नहीं था अपि तु उसी क्षण में उपस्थित हुआ है अतः उनके नाश को उस क्षण में न होकर अगले क्षण में होना है, इस प्रकार पट तथा तन्तुगत गुणों का नाश होने के पूर्व जब तन्तुस्वरूप आश्रय नष्ट हो जाता है और तन्तु से अन्य कोई उनका आश्रय होता नहीं तो उस समय एक क्षण के लिये उनका अनाश्रित होकर अवस्थित रहना अनिवार्य है।

तन्तु और पट भी अवयव और अवयवी हैं अतः अयुतसिद्ध हैं और इसी नाते उनमें समवाय सम्बन्ध है। तात्पर्य यह है कि अवयव और अवयवी होने के नाते तन्तु और पट दोनो जितने समय तक रहते हैं उतने समय तक उनमें से अवयवी-पट अवयव-तन्तु में आश्रित ही रहता है, इस लिये यतः पट अपनी अविनश्यत्ता के पूरे समय अर्थात् विनाश के चरम कारण तन्तुनाश का सन्निधान होने के पूर्व अपने सारे समय में तन्तु में आश्रित ही रहकर अवस्थित होता है अतः तन्तु और पट अयुतसिद्ध हैं, अयुतसिद्धों में समवाय सम्बन्ध का नियम है इसलिये उन दोनो में समवाय सम्बन्ध है। तुरी और पट में अयुतसिद्धत्व का अभाव है अतः उनमें समवाय सम्बन्ध नहीं है। तुरी और पट में अयुतसिद्ध क्यों नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उन दोनो में कोई भी अपनी अविनश्यत्ता के सारे समय में दूसरे में आश्रित ही नहीं रहता, जैसे न तुरी ही पटाश्रित ही होकर अवस्थित होती और न पट ही तुरी में आश्रित ही होकर अवस्थित होता है किन्तु दोनो अपनी अविनश्यत् अवस्था में कभी-कभी पर्याप्त लम्बे समय तक एक दूसरे से दूर रहते हैं, फिर एक दूसरे में आश्रित होकर रहने की बात ही क्या है। इसलिये अयुत-

यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम् । अतस्तन्तुरेव समवायिकारणं पटस्य, न तु तुर्यादि । पटश्च स्वगतरूपादेः समवायिकारणम् । एवं मृत्पिण्डोऽपि घटस्य समवायिकारणं, घटश्च स्वगतरूपादेः समवायिकारणम् ।

सिद्ध न होने से उनमें समवाय सम्बन्ध नहीं होता किन्तु सान्निध्य का अवसर होने पर उनमें संयोग ही सम्बन्ध होता है ।

अयुतसिद्ध और उनके बीच सम्भावित सम्बन्ध के विषय में जो कुछ चर्चा अब तक की गई उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अमुक कारण से तन्तु और पट अयुतसिद्ध हैं और ऐसा होने से उनमें समवाय सम्बन्ध है एवं पट तन्तु में समवेत—समवाय सम्बन्ध से आश्रित है ।

कारण के तीन भेद बताये गये हैं—समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्त-कारण । अब क्रम से उनका लक्षण बताया जायगा । उनमें समवायिकारण का लक्षण इस प्रकार है—

जिस पदार्थ में कार्य समवेत—समवाय सम्बन्ध से आश्रित होकर उत्पन्न होता है अर्थात् उत्पत्ति के समय ही कार्य जिसमें समवाय सम्बन्ध से आश्रित हो जाता है, अथवा यों कहा जाय कि समवाय सम्बन्ध से कार्य के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से जो कारण होता है, वह कार्य का समवायिकारण—समवाय सम्बन्ध से कार्य का आधारभूत कारण होता है । पट यतः तन्तु में ही समवेत होकर उत्पन्न होता है तुरी आदि में नहीं अतः तन्तु ही पट का समवायिकारण है तुरी आदि नहीं, तुरी आदि तो उसका एक निमित्तकारण-मात्र है ।

पट स्वगत—अपने में उत्पन्न होने वाले रूप आदि गुणों का एवं यथावसर स्व में उत्पन्न होने वाले कर्म का समवायिकारण होता है । इसी प्रकार मृत्पिण्ड–मिट्टी का कपालात्मक लोंदा भी घट का समवायिकारण होता है, क्योंकि घट उसमें समवेत होकर उत्पन्न होता है और दण्ड आदि उसका समवायिकारण नहीं होता क्योंकि दण्ड आदि में वह समवेत होकर नहीं उत्पन्न होता, अतः दण्ड आदि उसका निमित्तकारण-मात्र होता है । घट भी स्वगत रूप आदि गुणों तथा यथावसर स्व में उत्पन्न होने वाले कर्म का समवायिकारण होता है ।

इस सन्दर्भ में यह प्रश्न उठ सकता है कि समवायिकारण के कई उदाहरण क्यों दिये गये, जैसे पट के लिये तन्तु और पटगत रूप आदि के लिये पट, एवं घट के लिये मृत्पिण्ड और घटगत रूप आदि के लिये घट । इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना उचित प्रतीत होता है कि तन्तु और मृत्पिण्ड को क्रम से पट और घट के समवायिकारण के रूप में जो उदाहृत किया गया है वह यह बताने के लिये कि जितने भी द्रव्यात्मक

ननु यदैव घटादयो जायन्ते तदैव तद्गतरूपादयोऽपि, इति समानकालीनत्वाद् गुणगुणिनोः सव्येतरविषाणवत् कार्यकारणभाव एव नास्ति पौर्वापर्याभावाद्, अतो न समवायिकारणं घटादयः स्वगतरूपादीनाम्। कारणविशेषत्वात् समवायिकारणस्य।

कार्य होते हैं वे सब सावयव होते हैं और उनके अवयव ही उनके समवायिकारण होते हैं, क्योंकि वे अपने अवयवों में ही समवेत होकर उत्पन्न होते हैं। यह बात केवल एक द्रव्यात्मक कार्य को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करने पर स्पष्ट नहीं हो सकती थी अतः दो उदाहरणों द्वारा सभी द्रव्यात्मक कार्यों के सम्बन्ध में उक्त नियम की सूचना दी गई। इसी प्रकार पट और घट को स्वगत रूप आदि के समवायिकारण के रूप में जो उदाहृत किया गया है वह यह बताने के लिये कि जो द्रव्य उत्पन्न होते हैं वे सब अपनी उत्पत्ति के समय निर्गुण और निष्क्रिय होते हैं, क्योंकि द्रव्य जब स्वगत गुण और क्रिया का समवायिकारण है तो उनमें पौर्वापर्य अर्थात् द्रव्यात्मक कारण का गुणात्मक कार्य के पूर्व और गुणात्मक कार्य का द्रव्यात्मक कारण के बाद होना आवश्यक है, क्योंकि कारण और कार्य के जो लक्षण बताये गये हैं कि 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्' और 'अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्' उनके अनुसार कारण और कार्य की यही कसौटी है कि कारण कार्य से पहले हो और कार्य कारण के बाद। यहां यह ज्ञातव्य है कि द्रव्य निर्गुण तो केवल अपनी उत्पत्ति के क्षण में ही होता है, दूसरे क्षण उसमें रूप आदि कतिपय गुणों का उदय हो जाता है, क्योंकि अवयवगत रूप आदि उनके कारण द्रव्य के जन्मक्षण में सन्निहित रहते हैं पर निष्क्रिय तो दूसरे क्षण तक रहना पड़ता है क्योंकि क्रिया के कारणभूत संयोग आदि गुणों का सन्निधान द्रव्य के जन्मक्षण में नहीं रहता। हां तो यह नियम भी केवल एक जन्यद्रव्य को उदाहरणरूप में प्रस्तुत करने पर ज्ञात नहीं हो सकता था अतः रूप आदि के समवायिकारण के रूप में दो जन्यद्रव्य उदाहृत किये गये।

स्वगत रूप आदि गुणों के समवायिकारण के रूप में जो घट आदि का उदाहरण दिया गया है उसके विषय में यह शङ्का होती है कि समवायिकारण का यह उदाहरण ठीक नहीं है, क्योंकि जिस समय घट आदि द्रव्यों की उत्पत्ति होती है उसी समय उसमें रूप आदि गुणों की भी उत्पत्ति होती है यह मानना आवश्यक है क्योंकि इस मान्यता के कई कारण हैं एक तो यह कि घट आदि द्रव्य कभी एक क्षण भी निर्गुण नहीं देखे जाते, दूसरा यह कि यदि अपने जन्मक्षण में वे निर्गुण होंगे तो दूसरे क्षण उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष के कारणभूत रूप आदि गुण पूर्व में विद्यमान न रहेंगे, तीसरा कारण यह है कि घट आदि द्रव्य अपने जन्मक्षण में यदि निर्गुण होंगे तो उस क्षण वे द्रव्य ही न कहे जा सकेंगे, क्योंकि द्रव्य का

अत्रोच्यते—न गुणगुणिनोः समानकालीनं जन्म। किन्तु द्रव्यं निर्गुणमेव प्रथममुत्पद्यते, पश्चात् तत्समवेता गुणा उत्पद्यन्ते। समानकालोत्पत्तौ तु गुण-गुणिनोः समानसामग्रीकत्वाद् भेदो न स्यात्, कारणभेदनियतत्वात् कार्यभेदस्य। तस्मात् प्रथमे क्षणे निर्गुण एव घट उत्पद्यते, गुणेभ्यः पूर्वभावीति भवति गुणानां समवायिकारणम्। तदा कारणभेदोऽप्यस्ति, घटो हि घटं प्रति न कारणमेकस्यैव पौर्वापर्याभावात्। न हि स एव तमेव प्रति पूर्वभावी पश्चाद्भावी चेति। गुणान् प्रति तु पूर्वभावित्वाद्भवति गुणानां समवायिकारणम्।

लक्षण है। गुण, जो उस क्षण में उनमें अनुपस्थित रहेगा। तो इस प्रकार जब घट आदि के जन्म के समय ही उनके रूप आदि गुणों का भी जन्म होना आवश्यक है तब गुण और गुणी में समानकालीनत्व—सहोत्पन्नत्व होने से ठीक उसी प्रकार कार्यकारण-भाव न हो सकेगा जैसे पशु के एक साथ उत्पन्न होने वाले दाहिनी और बाईं दो सींगों में कार्यकारणभाव नहीं होता, क्योंकि कारण और कार्य में जब पूर्वभावित्व और पश्चाद्-भावित्व का नियम है तब सहभावी पदार्थों में कार्यकारणभाव किस प्रकार हो सकेगा। और इस प्रकार जब घटादिगत रूपादि गुणों और घटादि द्रव्यों में कार्यकारणभाव ही नहीं सम्भव है तब यह निर्विवाद रूप से मानना होगा कि घटादि द्रव्य स्वगत रूपादि गुणों के समवायिकारण नहीं हो सकते क्योंकि समवायिकारण एक विशेष कारण है। अतः जिसे सामान्य कारण की ही योग्यता नहीं प्राप्त है वह विशेष कारण कैसे हो सकता है।

उक्त शङ्का के उत्तर में यह कहा जाता है कि गुणी और गुण का जन्म एक काल में नहीं होता किन्तु द्रव्य पहले निर्गुण ही उत्पन्न होता है, उसमें समवेत गुण पीछे उत्पन्न होते हैं, यदि गुण और गुणी का जन्म एक काल में माना जायगा तो गुणी की कारण-सामग्री को ही गुण का उत्पादक मानना होगा क्योंकि गुणी द्रव्य की और द्रव्य-गत गुण की यदि भिन्न-भिन्न कारणसामग्रियां मानी जायँगी तो नियमेन उनका एक समय में ही सन्निधान आवश्यक न होगा और उस दशा में एक काल में ही द्रव्य और तद्गत गुणों की उत्पत्ति का नियम न बन सकेगा।

और जब द्रव्य और तद्गत गुण की उत्पादक सामग्री एक होगी तब उन दोनों में भेद न हो सकेगा क्योंकि कारणभेद से ही अर्थात् भिन्न सामग्रियों से उत्पन्न होने से ही कार्यों में भेद होता है। इसलिये यही मानना उचित है कि पहले क्षण में घट निर्गुण ही उत्पन्न होता है और इसलिये स्वसमवेत गुणों के पूर्व में होने के नाते वह अपने गुणों का समवायिकारण होता है। ऐसा मानने पर घट एवं तद्गत गुणों के कारणों में भेद

नन्वेवं सति प्रथमे क्षणे घटोऽचाक्षुषः स्याद् अरूपिद्रव्यत्वाद् वायुवत्। तदेव हि द्रव्यं चाक्षुषं, यन्महत्त्वे सत्युद्भूतरूपवत्। अद्रव्यं च स्यात्, गुणाश्रयत्वाभावात्। 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' इति हि द्रव्यलक्षणम्।

सत्यम्, प्रथमे क्षणे घटो यदि चक्षुषा न गृह्यते, तदा का नो हानिः? न हि सगुणोत्पत्तिपक्षेऽपि निमेषावसरे घटो गृह्यते। तेन व्यवस्थितमेतन्निर्गुण एव प्रथमं घट उत्पद्यते, द्वितीयादिक्षणेषु चक्षुषा गृह्यते। न च प्रथमे क्षणे गुणाश्रयत्वाभावादद्रव्यत्वापत्तिः, 'समवायिकारणं द्रव्यम्' इति द्रव्यलक्षणयोगात्, योग्यतया गुणाश्रयत्वाच्च। योग्यता च गुणात्यन्ताभावाभावः।

भी हो सकेगा, क्योंकि एक वस्तु में पौर्वापर्य का अभाव होता है अर्थात् यह सम्भव नहीं है कि वही वस्तु उसी वस्तु के प्रति पूर्वभावी भी हो और पश्चाद्भावी भी हो अतः घट अपने आप का कारण तो नहीं होगा परन्तु अपने गुणों के प्रति पूर्वभावी होने से उनका समवायिकारण होगा।

घट को प्रथम क्षण में— अपनी उत्पत्ति के क्षण में निर्गुण मानने पर कई शङ्कायें होती हैं, एक तो यह कि यदि घट प्रथम क्षण में निर्गुण होगा तो उस क्षण में उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष न हो सकेगा. क्योंकि उस क्षण वह एक नीरूप द्रव्य होगा और जो नीरूप द्रव्य होता है उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे नीरूप होने से वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। यह नियम है कि चाक्षुष प्रत्यक्ष उसी द्रव्य का होता है जिसमें महत्त्व और उद्भूत रूप रहता है और प्रथम क्षण में घट के निर्गुण होने से उस समय उसमें महत्त्व ओर उद्भूत रूप ये दोनों गुण नहीं रहते अतः उस समय घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

दूसरी शङ्का यह होती है कि यदि घट प्रथम क्षण में निर्गुण ही उत्पन्न होगा तो गुण का आश्रय न होने से उस समय वह द्रव्य न हो सकेगा क्योंकि, गुण का आश्रय ही द्रव्य होता है, यह द्रव्य का लक्षण है।

इन दोनों शङ्काओं के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यह ठीक है कि प्रथम क्षण में यदि घट निर्गुण होगा तो उस समय उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष न हो सकेगा पर यदि उस समय उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष न हो तो हमारी—निर्गुण द्रव्य की उत्पत्ति मानने वालों की हानि क्या होगी, क्योंकि जो सगुण द्रव्य की उत्पत्ति मानते हैं उनके मत में भी उत्पत्ति क्षण में घट का प्रत्यक्ष होता ही है यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि जिस क्षण घट का जन्म होता है उसी क्षण यदि आंख की पलक गिर जाय, आंख मुद

जाय तो उस क्षण घट के सगुण होते हुये भी उसके साथ चक्षु का संयोग सन्निकर्ष न होने से उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकता इसलिये यही निश्चित मत है कि घट प्रथम क्षण में निर्गुण ही उत्पन्न होता है, चक्षु से उसका प्रत्यक्ष उस समय नहीं, किन्तु दूसरे-तीसरे आदि क्षणों में ही होता है।

प्रथम क्षण में घट के निर्गुण होने से उस समय उसमें गुण का आश्रयत्व न होने के नाते वह द्रव्य न हो सकेगा, यह जो शङ्का की जाती है वह उचित नहीं है क्योंकि 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' जो गुण का आश्रय हो वह द्रव्य है, द्रव्य का यह लक्षण न मानकर 'समवायिकारणं द्रव्यम्' जो किसी कार्य का समवायिकारण हो वह द्रव्य है, द्रव्य का यह लक्षण माना जायगा और यह लक्षण द्रव्य में उसके उत्पत्ति-क्षण में भी है क्योंकि दूसरे क्षण में उत्पन्न होने वाले स्वगत गुणों का वह उस समय भी समवायिकारण है। इसपर यह शङ्का हो सकती है कि इस दूसरे लक्षण को मान्यता देने पर दूसरे क्षण में उत्पन्न होने वाले अपने गुणों के प्रति समवायिकारण होने से जन्य द्रव्य अपनी उत्पत्ति के समय तो द्रव्य हो जायगा पर अपनी विनाशावस्था में अर्थात् अपने विनाश के अव्यवहित पूर्व क्षण में द्रव्य न हो सकेगा क्योंकि अगले क्षण अर्थात् उसके विनाश-क्षण में उसमें किसी समवेत कार्य का जन्म न होने से उसकी विनश्यत्ता के क्षण में उसमें किसी कार्य का समवायिकारणत्व नहीं है, इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि समवायिकारणत्व को द्रव्य का लक्षण न मानकर समवायिकारणयोग्यत्व को द्रव्य का लक्षण माना जायगा अतः विनश्यदवस्थ द्रव्य में समवायिकारणत्व न होने पर भी उस समय उसमें द्रव्यत्व—द्रव्यपदार्थत्व का लोप न होगा क्योंकि समवायिकारणता का अवच्छेदक द्रव्यत्व जाति ही समवायिकारण योग्यता है और वह विनश्यदवस्थ द्रव्य में भी विद्यमान है, इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से द्रव्य-लक्षण की समीक्षा करने पर 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' इस लक्षण को भी 'गुणाश्रययोग्यं द्रव्यम्' के रूप में द्रव्य का लक्षण मानकर जन्य द्रव्य में उसके जन्म-क्षण में गुणाश्रययोग्यत्व लक्षण के द्वारा द्रव्य पदार्थत्व का उपपादन किया जा सकता है क्योंकि गुणात्यन्ताभाव–प्रतियोगिव्यधिकरण गुणाभाव का अभाव ही गुणाश्रययोग्यता है और वह जन्य द्रव्य में उसके उत्पत्ति-क्षण में भी है क्योंकि जन्य द्रव्य में उसकी उत्पत्ति के समय यद्यपि गुणाभाव है पर दूसरे क्षण में उसमें गुणाभाव के प्रतियोगी गुण का उदय होने से वह अभाव प्रतियोगिव्यधिकरण नहीं है अतः प्रतियोगिव्यधिकरण गुणाभाव का अभाव द्रव्य की उत्पत्ति के क्षण में भी द्रव्य में विद्यमान है। इसलिए यह सिद्धान्त सर्वथा समीचीन है कि प्रथम क्षण में–अपनी उत्पत्ति के क्षण में द्रव्य निर्गुण ही उत्पन्न होता है और रूप आदि उसके समवेत गुण उसमें दूसरे क्षण उत्पन्न होते हैं।

असमवायिकारणं तदुच्यते—यत्समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यम्। यथा तन्तुसंयोगः पटस्याऽसमवायिकारणम्, तन्तुसंयोगस्य गुणस्य पटसमवायिकारणेषु तन्तुषु गुणिषु समवेतत्वेन समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वादनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वेन पटं प्रति कारणत्वाच्च।

असमवायिकारण शब्द का सीधा अर्थ है—असमवायी कारण अर्थात् किसी कार्य का वह कारण, जो उसका समवायी—समवाय सम्बन्ध से आश्रय न हो, किन्तु इस शाब्दिक अर्थ को असमवायिकारण का लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि इसे लक्षण माना जायगा तो निमित्त कारण में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि निमित्त कारण भी काय का समवाय सम्बन्ध से आश्रय नहीं होता, जैसे दण्ड, चक्र आदि घट का निमित्त कारण है और घट का समवायी नहीं है, अतः शब्द लभ्य अर्थ को त्यागकर असमवायिकारण का लक्षण इस प्रकार बताया जा रहा है कि—

जो किसी कार्य के समवायिकारण में प्रत्यासन्न—विद्यमान होता है तथा जिसमें उस कार्य के प्रति सामर्थ्य—कारणत्व अवधृत—निश्चित होता है, वह उस कार्य का असमवायिकारण होता है। उदाहरणार्थ तन्तुसंयोग को लिया जा सकता है। तन्तुसंयोग एक गुण है, वह पट के समवायिकारण तन्तुरूप गुणी में समवेत होने से पट के समवायिकारण में प्रत्यासन्न है तथा पट के प्रति अन्यथासिद्ध न होने से एवं पट के प्रति नियत पूर्ववर्ती होने से उसमें पट के प्रति सामर्थ्य—कारणत्व निश्चित है।

असमवायिकारण के इस लक्षणमें से समवायि शब्द को हटा कर यदि 'यत्कारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणम्' जो किसी कार्य के कारण में प्रत्यासन्न तथा उस कार्य के कारण रूप में निश्चित होता है, वह उस कार्य का असमवायिकारण होता है' यह लक्षण किया जायगा तो चक्षु-घट संयोग में, जो घट-चाक्षुष का निमित्त कारण है, घटचाक्षुष के असमवायिकारणत्व की अतिप्रसक्ति होगी, क्योंकि प्रत्यक्ष के प्रति विषय के निमित्त कारण होने से घट घटचाक्षुष का निमित्त कारण है और चक्षु-घट संयोग उसमें प्रत्यासन्न है तथा प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के निमित्त कारण होने से वह घटचाक्षुष के कारण रूप में निश्चित है। और जब असमवायिकारण के लक्षण में 'समवायिकारणे प्रत्यासन्नम्' का सन्निवेश होगा तो उक्त अतिप्रसक्ति न होगी, क्योंकि घट घटचाक्षुष का समवायिकारण नहीं है, अतः उसमें प्रत्यासन्न चक्षु-घटसंयोग घटचाक्षुष के समवायिकारण में प्रत्यासन्न न होने से उसके प्रति असमवायिकारण होने की अर्हता न प्राप्त कर सकेगा।

असमवायिकारण के उक्त लक्षण में से विशेष्य भाग अर्थात् 'अवधृतसामर्थ्य' अंशको निकाल कर यदि 'यत्समवायिकरणे प्रत्यासन्नं तदसमवायिकारणम्—जो किसी कार्य के समवायिकारण में प्रत्यासन्न होता है वह उस कार्य का असमवायिकारण होता है, इतना ही लक्षण किया जायगा तो किसी कार्य के प्रति जो अन्यथासिद्ध है अथवा नियतपूर्ववर्ती नहीं है किन्तु उस कार्य के समवायिकारण में प्रत्यासन्न है उसमें उस कार्य के असमवायिकारणत्व की अतिप्रसक्ति होगी, जैसे तन्तुरूप एवं तन्तुमर्द्दिकासंयोग पट के प्रति अन्यथासिद्ध और अनियत पूर्ववर्ती होने से पट के समवायिकारण तन्तु में प्रत्यासन्न होने पर भी पट के असमवायिकारण नहीं हैं किन्तु असमवायिकारण के लक्षण में 'अवधृत-सामर्थ्य' भाग के न रहने पर उनमें पट के असमवायिकारणत्व की अतिप्रसक्ति अनिवार्य है।

असमवायिकारण के उक्त लक्षण में से 'अवधृत' शब्द को हटाकर यदि 'यत्समवायिकारणे प्रत्यासन्नं समर्थं तदसमवायिकारणम्'—जो किसी कार्य के समवायिकारण में प्रत्यासन्न हो और उस कार्य के प्रति समर्थ–कारण हो वह उस कार्य का असमवायिकारण होता है, यह लक्षण किया जायगा तो यह अपने ज्ञान में आत्माश्रय दोष से ग्रस्त हो जायगा। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि असमवायिकारण के लक्षण में कारणत्व का प्रवेश होगा तो लक्षण के ज्ञान में कारणत्व के ज्ञान की अपेक्षा होगी और असमवायिकारण में कारणत्व का ज्ञान असमवायिकारणत्व के रूप में ही होगा क्योंकि असमवायिकारण में जो कारणता होगी वह असमवायिकारणतारूप ही होगी, फलतया असमवायिकारण के कारणता-घटित लक्षण के ज्ञान में असमवायिकारणता के ही ज्ञान की अपेक्षा हो जाने से लक्षण अपने ज्ञान में आत्माश्रयग्रस्त हो जायगा। और जब अवधृत शब्द रखा जायगा तब लक्षण में कारणत्व का सन्निवेश नहीं होगा। किन्तु कारणत्वेन अवधृतत्व का सन्निवेश होगा। उस दशा में लक्षणज्ञान में कारणत्व के ज्ञान की अपेक्षा न होकर कारणत्वेन अवधृतत्व के ज्ञान की अपेक्षा होगी और वह ज्ञान कारण शब्द के व्यवहार द्वारा सम्पन्न हो जायगा। आशय यह है कि जिस वस्तु में जिस कार्य के कारणत्व का व्यवहार उपलब्ध होगा उस वस्तु में उस कार्य का कारणत्व अवधृत है यह कल्पना हो जायगी। क्योंकि व्यवहार के प्रति व्यवहर्तव्य का निश्चय कारण होता है अतः जिस वस्तु में जब तक जिस व्यवहर्तव्य का निश्चय न होगा, तब तक उस वस्तु में उस व्यवहर्तव्य का व्यवहार ही नहीं हो सकता। फलतया तन्तुसंयोग में पटकारणत्व की अज्ञानदशा में भी पटकारणत्व के व्यवहार को देख कर पटकारणत्वेन अवधृतत्व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकेगा।

लक्षण में से पूरे विशेषणभाग को निकाल कर यदि अवधृतसामर्थ्यमात्र को असमवायिकारण का लक्षण माना जायगा तो समवायिकारण और निमित्तकारण में भी

एवं तन्तुरूपं पटरूपस्य असमवायिकारणम् ।

असमवायिकारणत्व की अतिप्रसक्ति होगी, अतः विशेषण भाग को लक्षण में रखना अनिवार्य है।

जो जिस कार्य के समवायिकारण में प्रत्यासन्न तथा अवधृतसामर्थ्य होने पर भी उस कार्य का असमवायिकारण नहीं माना जाता लक्षण में तत्तद् भिन्नत्व का निवेश भी करना होगा, अतः ज्ञान आदि में इच्छा आदि के असमवायिकारणत्व की अतिप्रसक्ति न होगी।

इसी प्रकार तन्तु का रूप पट के रूप का असमवायिकारण होता है।

प्रश्न होता है कि असमवायिकारण के लक्षण को हृदयंगम कराने के लिये कोई एक उदाहरण पर्याप्त था तो फिर तन्तुसंयोग और तन्तुरूप यह दो उदाहरण क्यों प्रदर्शित किये गये ? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि कार्य दो प्रकार के होते हैं—भावात्मककार्य और अभावात्मक कार्य। उनमें अभावात्मक कार्य को ध्वंस कहा जाता है। वह केवल निमित्त कारणों से उत्पन्न होता है उसमें समवायिकारण और असमवायिकारण की अपेक्षा नहीं होती। भावात्मक कार्य तीन होते हैं—द्रव्य, गुण और कर्म। इन तीनों की उत्पत्ति में समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकरण ये तीनों प्रकार के कारण अपेक्षित होते हैं। इस स्थिति में असमवायिकारण का लक्षण बताते हुये यदि उसके लक्ष्य को उदाहृत करते समय उक्त तीनों भावात्मक कार्यों में से किसी एक के ही असमवायिकारण को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता तो अन्य दो भावात्मक कार्यों के असमवायिकारण के सम्बन्ध में कोई प्रकाश न पड़ता, फलतया अस-वायिकारण के परिचय का प्रयास नितान्त अधूरा होता। अतः तन्तुसंयोग के उदाहरण द्वारा समस्त जन्य द्रव्यों के असमवायिकारणों को संकेतित कर तन्तुरूप के उदाहरण द्वारा उन सभी जन्य गुणों के असमवायिकारणों को संकेतित किया गया जो अपने आधारभूत द्रव्य के समवायिकारणगत गुणों से प्रादुर्भूत होते हैं। इन दो उदाहरणों से सभी प्रकार के असमवायिकारण सुगम हो जाते हैं। क्योंकि जो गुण अपने आधारभूत द्रव्य के समवायिकारणगत गुणों से उत्पन्न न होकर प्रकारान्तर से उत्पन्न होते हैं उन गुणों के तथा कर्म के असमवायिकारण द्रव्य के असमवायिकारणों के समशील होते हैं। अर्थात् जैसे द्रव्य के असमवायिकारण अपने कार्य के साथ एक आश्रय में प्रत्यासन्न होते हैं वैसे ही अकारणगुणपूर्वक गुण तथा कर्म के असमवायिकारण भी अपने कार्य के साथ एक आश्रय में प्रत्यासन्न होते हैं। जैसे पाकज रूप आदि का असमवायिकारण अग्निसंयोग अपने कार्य पाकज रूप आदि के साथ पच्यमान घटरूप एक आश्रय में, ज्ञान, इच्छा आदि आत्मगुणों का असमवायिकारण आत्ममनःसंयोग अपने कार्य ज्ञान, इच्छा,

ननु पटरूपस्य पटः समवायिकारणम्, तेन तद्गतस्यैव कस्यचिद्धर्मस्य पटरूपं प्रति असमवायिकारणत्वमुचितम्, तस्यैव समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात् न तन्तुरूपस्य; तस्य समवायिकारणप्रत्यासत्त्यभावात्।

मैवम्, तत्समवायिकारणसमवायिकारणप्रत्यासन्नस्यापि परम्परया समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात्।

आदि के साथ आत्मारूप एक आश्रय में तथा वृक्ष के पत्ते आदि में होने वाले कर्म-कम्पन का असमवायिकारण वायुपर्णसंयोग अपने कार्य कम्पन-कर्म के साथ वृक्षपर्णरूप एक आश्रय में प्रत्यासन्न होता है। इस लिये किसी एक द्रव्यात्मक कार्य के असमवायिकारण में असमवायिकारण के लक्षण का समन्वय प्रदर्शित कर देने पर सभी अकारण-गुणपूर्वक गुण तथा कर्म के असमवायिकारणों में उस लक्षण का समन्वय सुगम हो जाता है। अतः उस प्रकार के गुण तथा कर्म के असमवायिकारणों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। परन्तु कारणगुणपूर्वक गुणों के असमवायिकारण द्रव्य के असमवायिकारणों से भिन्न स्वभाव के हैं, वे अपने कार्य के साथ एक आश्रय में प्रत्यासन्न न होकर अपने कार्य के समवायिकारण के साथ एक आश्रय में प्रत्यासन्न होते हैं, जैसे पटरूप का असमवायिकारण तन्तुरूप अपने कार्य पटरूप के साथ पटात्मक एक आश्रय में प्रत्यासन्न न होकर उसके समवायिकारण पट के साथ तन्तुरूप एक आश्रय में प्रत्यासन्न होता है अतः पट के असमवायिकारण तन्तुसंयोग में असमवायिकारण के लक्षण का समन्वय ज्ञात हो जाने पर भी तन्तुरूप में पटरूप के असमवायिकारण के लक्षण का समन्वय सुज्ञेय नहीं हो सकता। अतः पट के असमवायिकारण तन्तुसंयोग को उदाहृत करने के पश्चात् पटरूप के असमवायिकारण तन्तुरूप को भी पृथक् उदाहृत करना पड़ा।

तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण है, असमवायिकारण के इस दूसरे उदाहरण के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि अभी पूर्व में असमवायिकारण का जो लक्षण बताया गया है उसके अनुसार पट के ही किसी धर्म को पटरूप का असमवायिकारण मानना उचित नहीं है क्योंकि तन्तुरूप पटरूप के समवायिकारण पट में प्रत्यासन्न नहीं है अतः असमवायिकारण के उक्त लक्षण के सन्दर्भ में तन्तुरूप को पटरूप का असमवायिकारण बताना संगत नहीं है। उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि जो जिस कार्य के समवायिकारण के समवायिकारण में प्रत्यासन्न होता है वह उस कार्य के समवायिकारण में भी परम्परया—परम्परासम्बन्ध से प्रत्यासन्न होता है। अतः तन्तुरूप जब पटरूप के समवायिकारण पट के समवायिकारण तन्तु में प्रत्यासन्न

निमित्तकारणं तदुच्यते यन्न समवायिकारणं, नाप्यसमवायिकारणम्, अथ च कारणं तत् । यथा वेमादिकं पटस्य निमित्तकारणम् ।

तदेतद्भावानामेव त्रिविधं कारणम्; अभावस्य तु निमित्तमात्रं, तस्य क्वचिदप्यसमवायात्, समवायस्य तु भावद्वयधर्मत्वात् ।

तदेतस्य त्रिविधस्य कारणस्य मध्ये यदेव कथमपि सातिशयं तदेव करणम् । तेन व्यवस्थितमेतल्लक्षणं प्रमाकरणं प्रमाणमिति ।

है तब वह पटरूप के समवायिकारण पट में भी परम्परा सम्बन्ध से अर्थात् स्वसमवायि-समवायसम्बन्ध से प्रत्यासन्न है, क्योंकि तन्तुरूप के स्वसमवायिसमवाय में 'स्व' का अर्थ होगा तन्तुरूप, उसका समवायी होगा तन्तु और उसमें समवाय है पट का, इसलिये स्वसमवायि-समवायसम्बन्ध से तन्तुरूप पटरूप के समवायिकारण पट में प्रत्यासन्न होने से पटरूप का असमवायिकारण हो सकता है । कहने का आशय यह है कि असमवायिकारण के उक्त लक्षण में प्रत्यासन्नता केवल समवाय सम्बन्ध से अभिमत न होकर समवाय, स्वसमवायिसमवाय इन दोनों में से किसी भी एक के द्वारा विवक्षित है, अतः किसी कार्य के समवायिकारण में समवाय सम्बन्ध से प्रत्यासन्न रहने वाला कारण जैसे उस कार्य का असमवायिकारण होता है वैसे किसी कार्य के समवायिकारण में स्वसमवायि-समवायसम्बन्ध से प्रत्यासन्न रहनेवाला कारण भी उस कार्य का असमवायिकारण होगा ।

न्यायमुक्तावली में असमवायिकारण का लक्षण बताते हुये समवाय को कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति और स्वसमवायिसमवाय को कारणैकार्थप्रत्यासत्ति शब्द से अभिहित किया गया है ।

वैशेषिकदर्शन के उपस्कार में इसी सन्दर्भ में समवाय को लघ्वी और स्वसमवायि-समवाय को महती प्रत्यासत्ति शब्द से सम्बोधित किया गया है ।

समवायिकारण और असमवायिकारण का परिचय देने के पश्चात् अब निमित्तकारण का परिचय दिया जाता है ।

निमित्तकारण—

जो जिस कार्य का न समवायिकारण हो और न असमवायिकारण हो किन्तु उस कार्य का कारण हो वह उस कार्य का निमित्त कारण होता है । उदाहरणार्थ पट के निमित्त कारण वेमा आदि को लिया जा सकता है । वेमा आदि में समवेत होकर पट नहीं उत्पन्न होता, वह पट का असमवायिकारण भी नहीं है क्योंकि वह पट के समवायिकारण तन्तु में समवाय अथवा स्वसमवायिसमवाय सम्बन्ध से प्रत्यासन्न नहीं होता, किन्तु पट का कारण होता है क्योंकि वह पट के प्रति अन्यथासिद्ध न होते हुये पट के प्रति नियतपूर्ववर्ती होता है अतः वह (वेमा आदि) पट का निमित्तकारण होता है ।

इस लक्षण में भी कारणत्व का सन्निवेश न कर कारणत्वेन निश्चितत्व का ही सन्निवेश करना होगा, अन्यथा वेमा आदि में निमित्तकारणता से अतिरिक्त पटकारणता न होने से निमित्तकारणता के रूप में ही पटकारणता का ज्ञान करना होगा और उस स्थिति में पट की निमित्तकारणता के ज्ञान में उसी के ज्ञान की अपेक्षा हो जाने से निमित्त कारण का कारणत्वघटित लक्षण अपने ज्ञान में आत्माश्रय दोष से ग्रस्त हो जायगा। और जब कारणत्व का सन्निवेश न होकर कारणत्वेन निश्चितत्व का सन्निवेश होगा तब निमित्तकारण के लक्षणज्ञान में कारणत्व के ज्ञान की अपेक्षा न होगी किन्तु कारणत्वेन निश्चितत्व के ज्ञान की अपेक्षा होगी और वह ज्ञान कारणत्व के व्यवहार को देखने से ही सम्पन्न हो जायगा।

समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण यह तीन प्रकार के कारण भावात्मक कार्यों–द्रव्य, गुण और कर्म के ही होते हैं, अभावात्मक कार्य-ध्वंस का केवल निमित्तकारण ही होता है, उसके समवायिकारण और असमवयिकारण नहीं होते क्योंकि यह दोनों कारण उसी कार्य के होते हैं जो समवाय सम्बन्ध से आश्रित हो सकता है। समवाय यतः दो भावात्मक पदार्थों में ही होता है, अतः किसी भी पदार्थ में अभावका समवाय न होने से अभावात्मक कार्य का कोई समवायिकारण तथा असमवायिकारण नहीं हो सकता।

इन तीन कारणों में से जो ही कारण किसी भी प्रकार सातिशय-अन्य कारणों की अपेक्षा उत्कृष्ट होता है वही करण होता है। करण के सम्बन्ध में इस संक्षिप्त वक्तव्य से यह संकेत मिलता है कि केवल निमित्तकारण ही करण नहीं होता अपि तु स्थिति के अनुसार समवायिकारण और असमवायिकारण भी करण का पद प्राप्त कर सकते हैं। इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि समवायिकारण और असमवायिकारण कभी करण के रूप में व्यवहृत नहीं होते अतः करण के दो लक्षण मानने होंगे–एक वास्तव और एक व्यवहारौपयिक। 'सातिशयं कारणं करणम्, इसे करण का वास्तव लक्षण तथा 'व्यापारवद् असाधारणं कारणं करणम्, इसे करण का व्यवहारौपयिक लक्षण माना जा सकता है। समवायिकारण और असमवायिकारण किसी दृष्टि से अन्य कारणों की अपेक्षा सातिशय होने से वस्तुदृष्ट्या करण तो होंगे पर वह अपने कार्य के प्रति व्यापारद्वारा कारण न होने से करण पद से व्यवहृत न होंगे।

इस प्रकार प्रमा और करण की व्याख्या पूर्ण होने से प्रमाण का यह लक्षण निश्चित हो गया कि जो प्रमा का करण होता है वह प्रमाण होता है।

यत्तु अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणमिति लक्षणम् । तन्न, एकस्मिन्नेव घटे 'घटोऽयं, घटोऽयम्' इति धारावाहिकज्ञानानां गृहीतग्राहिणामप्रामाण्यप्रसङ्गात् ।

न च अन्यान्यक्षणविशिष्टविषयीकरणादनधिगतार्थगन्तृता, प्रत्यक्षेण सूक्ष्मकालभेदानाकलनात् । कालभेदग्रहे हि क्रियादिसंयोगान्तानां चतुर्णां यौगपद्याभिमानो न स्यात् । क्रिया, क्रियातो विभागः, विभागात् पूर्वसंयोगनाशः, ततश्चोत्तरसंयोगोत्पत्तिरिति ।

कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसकों तथा कतिपय बौद्ध विद्वानों ने प्रमाण का लक्षण इस प्रकार किया है कि जो ज्ञान अनधिगतपूर्व-पूर्व में अज्ञात अर्थ को ग्रहण करता है, वह प्रमा होता है और जो उस ज्ञान का करण होता है, वह प्रमाण होता है । जैसे किसी घड़े पर मनुष्य की दृष्टि पहले पहल पड़ने पर उस घड़े का जो पहला ज्ञान होता है, वह अनधिगत अर्थ को ग्रहण करता है, क्योंकि उस ज्ञान से गृहीत होनेवाला घड़ा उस ज्ञान के पूर्व अज्ञात रहता है, अतः वह ज्ञान प्रमा है और उसे जन्म देनेवाला मनुष्य का नेत्र प्रमाण है ।

इस लक्षण से लक्षणकर्ता का आशय यह प्रतीत होता है कि किसी प्रमाण का प्रमाणत्व इसी बात पर निर्भर है कि वह किसी नये विषय का ज्ञान कराये, अतः जिससे किसी नये विषय का—प्रथमतः अज्ञात विषय का ज्ञान सम्पादित न हो, वह प्रमाण पद से व्यवहृत होने का अधिकारी नहीं है । प्रमा का प्रमात्व भी इसी बात पर निर्भर है कि वह किसी नये विषय को ग्रहण करे, यदि कोई ज्ञान पूर्वज्ञात अर्थ को ग्रहण करता है, तब तो वह केवल 'मा' साधारण ज्ञानमात्र होगा, उसका प्रकर्ष क्या होगा, वह प्रमा कैसे होगा, अतः प्रमा और प्रमाण होने के लिये विषय की नवीनता–पूर्व अज्ञातता अनिवार्य है ।

इस सन्दर्भ में यह कथन भी सम्भवतः असंगत न होगा कि यथार्थ अनुभव को प्रमा तथा यथार्थ स्मृति को प्रमाभिन्न कहनेवाले नैयायिकों का भी यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि अनधिगत अर्थ को ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमा और अधिगत अर्थमात्र को ही ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाभिन्न है । यदि ऐसा न हो तो यथार्थ अनुभव को प्रमा और यथार्थ स्मृति को प्रमाभिन्न कहने का कोई उचित आधार नहीं रह जाता । क्योंकि दोनों में केवल यही इतना अन्तर तो है कि अनुभव पूर्व अज्ञात अर्थ को ग्रहण करता है और स्मृति सदैव पूर्वज्ञात ही अर्थ को ग्रहण करती है, अतः नैयायिकोक्त प्रमालक्षण में 'अनधिगतार्थगन्तृत्व' का शब्दतः सन्निवेश न होने पर भी तात्पर्यतः

उसका सन्निवेश मानना तथा 'यथार्थानुभवः प्रमा' इस लक्षण में अनुभव शब्द को उसका सूचक मानना उचित प्रतीत होता है।

किन्तु तर्कभाषाकार का कथन यह है कि 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' प्रमा का यह लक्षण ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमा का यह लक्षण मानने पर एकही घट को ग्रहण करने वाले अनेक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का जब अव्यहित क्रम से जन्म होता है और जिन्हें धारावाहिक ज्ञान कहा जाता है, जिन सबों को सभी शास्त्रों में प्रमा माना गया है उनमें प्रमा के उक्त लक्षणानुशार केवल पहला ही ज्ञान प्रमा होगा और दूसरे सभी ज्ञान अप्रमा हो जायंगे क्योंकि पहला ज्ञान ही अनधिगत अर्थ को ग्रहण करेगा, दूसरे सभी ज्ञान तो अपने पूर्ववर्ती ज्ञान से अधिगत अर्थ को ही ग्रहण करेंगे। इस प्रकार धारावाहिक स्थल में दूसरे, तीसरे आदि प्रमात्मक ज्ञानों में प्रमा के उक्त लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

इस पर यदि यह कहा जाय कि धारावाहिक ज्ञानों का आकार केवल 'घटः, घटः, घटः' इस प्रकार नहीं हो ा किन्तु 'घटोऽयम्, घटोऽयम्, घटोऽयम्, इस प्रकार होता है, इससे स्पष्ट है कि धारावाहिक ज्ञान केवल घट को ही ग्रहण नहीं करते किन्तु घट के साथ उसके इदन्त्व को भी ग्रहण करते हैं और इदन्त्व का अर्थ है वर्तमानकालसम्बन्ध, और वर्तमान काल है तत्तत् क्षणरूप। इस प्रकार यह अत्यन्त सुस्पष्ट है कि जो 'घटोऽयम्' ज्ञान जिस क्षणात्मक सूक्ष्म कालखण्ड में उत्पन्न होता है वह घट के साथ उस क्षण के सम्बन्ध का ग्राहक होने के कारण उस क्षण का भी ग्राहक होता है और वह क्षण पूर्वक्षण में न रहने के कारण पूर्ववर्ती ज्ञान से अज्ञात रहता है। इस प्रकार धारावाहिक ज्ञानों के अन्तर्गत दूसरे, तीसरे ज्ञानों में घट अंश को लेकर गृहीतग्राहित्व होने पर भी क्षण अंश को लेकर अगृहीतग्राहित्व होने से उनमें प्रमा के उक्त लक्षण की अव्याप्ति नहीं हो सकती, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षात्मक धारावाही ज्ञानों को सूक्ष्म कालखण्ड का ग्राहक नहीं माना जा सकता, कारण कि प्रत्यक्ष ज्ञान यदि सूक्ष्म कालखण्डों को ग्रहण करेगा तो क्रिया से लेकर संयोगान्त पदार्थों में अर्थात् अव्यवहित क्रम से उत्पन्न होने वाले क्रिया, विभाग, पूर्वसंयोगन श और उत्तरसंयोग इन चार पदार्थों में यौगपद्य–एक काल में उत्पन्न होने का अभिमान–भ्रम न हो सकेगा। कहने का आशय यह है कि क्रिया, विभाग, पूर्वसंयोगनाश और उत्तरसंयोग इन चारों में कार्य-कारणभाव है, अर्थात् क्रिया विभाग का, विभाग पूर्वसंयोगनाश का और पूर्वसंयोगनाश उत्तरसंयोग का कारण है। कार्य-कारण में भिन्नकालीनता स्वाभाविक है, अतः यह चारों पदार्थ भिन्न-भिन्न अव्यवहित क्षणों में उत्पन्न होते हैं, यह बात सुनिश्चित है, किन्तु इन क्षणों मे इतनी अधिक सूक्ष्मता और व्यवधानशून्यता है कि इनमें परस्परभिन्नता नहीं प्रतीत होती, फलतः इन क्षणों में उत्पन्न होने वाले पदार्थों में भिन्नकालीनता की भी प्रतीति नहीं होती और इसका परिणाम यह होता है कि इन विभिन्न क्षणों में उत्पन्न

होने वाले क्रिया, विभाग आदि चारो पदार्थों में एककालीनता का भ्रम होने लगता है। परन्तु प्रत्यक्षज्ञान से यदि क्षणात्मक सूक्ष्म कालखण्डों का ग्रहण शक्य माना जायगा तो क्रिया, विभाग आदि के उत्पत्तिक्षणों में परस्परभिन्नता का ग्रहण सम्भव होने से उन क्षणों में उत्पन्न होने वाले क्रिया, विभाग आदि पदार्थों में भिन्नकालीनत्व का भी जो भ्रम होता है उसकी उपपत्ति न हो सकेगी, अतः इस सर्वसम्मत भ्रम के अनुरोध से यही मानना उचित है कि प्रत्यक्षज्ञान द्वारा सूक्ष्म कालाखण्डों का ग्रहण नहीं होता। इसलिये धारावाहिक ज्ञानों को तत्तत्क्षण का ग्राहक मान कर दूसरे, तीसरे ज्ञानों में पूर्वज्ञान से अज्ञात दूसरे, तीसरे क्षण को लेकर अगृहीतग्राहित्व का उपपादन कर उनमें प्रमालक्षण का समन्वय बताना संगत नहीं हो सकता। फलतः धारावाहिक ज्ञानों के मध्यवर्ती दूसरे, तीसरे ज्ञानों में अव्याप्ति होने से 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' को प्रमा का लक्षण नहीं माना जा सकता।

इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि पूर्वज्ञात अर्थ मात्र को ग्रहण करने वाला ज्ञान भी प्रमा माना जायगा तो सामान्यज्ञानों से प्रमात्मक ज्ञान का प्रकर्ष क्या होगा, किस विशिष्टता के आधार पर उसे सामान्य 'मा–ज्ञान' से पृथक् कर प्रमाशब्द से व्यवहृत किया जायगा, इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना उचित होगा कि प्रमा, अप्रमा आदि ज्ञानभेदों से अतिरिक्त कोई सामान्यज्ञान नहीं होता, इसलिये प्रमा के सामान्यज्ञान से पृथक् और प्रकृष्ट होने का कोई अर्थ नहीं है, किन्तु प्रमा को पृथक् और प्रकृष्ट होना है अप्रमा से। और अप्रमा से प्रमा के वैशिष्ट्य के दो स्पष्ट आधार हैं, एक यह कि प्रमा किसी वस्तु को अन्यथा ग्रहण नहीं करती किन्तु जो वस्तु जैसी होती है उसे उसी रूप में ग्रहण करती है और दूसरा यह कि प्रमा से प्रवृत्त होने वाला मनुष्य अपने प्रयत्न में सफल होता है जब कि अप्रमामूलक मनुष्य का प्रयत्न विफल होता है।

इस प्रसङ्ग में जो यह बात कही गई कि नैयायिकों द्वारा यथार्थ अनुभव को प्रमा और यथार्थ स्मृति को प्रमाभिन्न कहने का भी आधार यही हो सकता है कि अनुभव और स्मृति में यथार्थत्व अंश में साम्य होने पर भी अगृहीतग्राही होने से अनुभव प्रमा तथा गृहीतमात्रग्राही होने से स्मृति अप्रमा होती है, ठीक नहीं है, क्योंकि अभी तत्काल यह स्पष्ट कर दिया गया है कि धारावाहिकज्ञानस्थल में दूसरे, तीसरे ज्ञानों में अव्याप्ति होने से अगृहीतग्राहित्व को प्रमात्व का नियामक नहीं माना जा सकता।

हाँ, अगृहीतग्राहित्व को प्रमात्व का नियामक न मानने पर यह प्रश्न असमाहित रह जाता है कि जब अनुभव और स्मृति में यथार्थत्व अंश में सर्वथा साम्य है तब यथार्थ अनुभव को प्रमा से भिन्न मानने का क्या रहस्य है। इस प्रश्न के समाधान का अन्वेषण करते हुये 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' में श्रीवाचस्पतिमिश्रने जो बात कही है

वह अत्यन्त युक्तिसंगत और ग्राह्य प्रतीत होती है। उन्होंने कहा है कि नैयायिकों ने जो यथार्थ अनुभव को प्रमा और यथार्थ स्मृति को प्रमा से भिन्न माना है वह लोकव्यवहार के आधार पर माना है। लोकव्यवहार का बड़ा महत्त्व होता है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, सभी विचारकों को उसकी उपपत्ति करनी पड़ती है। जो उपपत्ति परीक्षा करने पर निर्दोष प्रतीत होती है वह ग्राह्य होती है और जो सदोष प्रतीत होती है वह त्याज्य होती है। लोक में यथार्थ अनुभव को प्रमा शब्द से व्यवहृत किया जाता है और यथार्थ स्मृति को प्रमा शब्द से व्यवहृत नहीं किया जाता। लोक की इस व्यवहारस्थिति का उपपादन करना आवश्यक है, 'अनधिगतार्थगन्तृत्व' से इस व्यवहार का उपपादन नहीं किया जा सकता क्योंकि धारावाहिक दूसरे, तीसरे ज्ञानों में अनधिगतार्थगन्तृत्व न होने पर भी प्रमाशब्द का व्यवहार होता है अतः अनुभव और स्मृति में जातीय भेद मान कर उस जातीय भेद को ही लोक के उक्त व्यवहार का उपपादक मानना उचित है। इसीलिये तर्कभाषाकार ने 'यथार्थज्ञानं प्रमा' न कहकर 'यथार्थानुभवः प्रमा' कहा है और स्मृति को अनुभवत्व जाति से शून्य मान कर स्मृति में प्रमाशब्द के व्यवहार न होने का समर्थन किया है। इस आशय को व्यक्त करने वाला वाचस्पतिमिश्र का वचन इस प्रकार है—

"प्रमासाधनं हि प्रमाणम्, न च स्मृतिः प्रमा, लोकाधीनावधारणो हि शब्दार्थसम्बन्धः। लोकश्च संस्कारमात्रजन्मनः स्मृतेरन्यामुपलब्धिमर्थाव्यभिचारिणीं प्रमामाचष्टे, तस्मात्तद्धेतुः प्रमाणमिति न स्मृतिहेतौ प्रसङ्गः। अनधिगतार्थगन्तृत्वं च धारावाहिकविज्ञानानामधिगतार्थगोचराणां लोकसिद्धप्रमाणभावानां प्रामाण्यं विहन्तीति नाद्रियामहे" (न्या० वा० ता० टी० पृ० २१)

प्रमा का साधक-करण प्रमाण होता है, स्मृति प्रमा नहीं कही जाती क्योंकि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का अवधारण अर्थात् अमुक शब्द का अमुक अर्थ है, इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग उचित है–यह निश्चय लोकव्यवहार के अधीन है, लोक संस्कारमात्र से उत्पन्न होनेवाली स्मृति को प्रमा शब्द से व्यवहृत नहीं करता किन्तु उससे भिन्न अर्थ की अव्यभिचारिणी उपलब्धि को प्रमाशब्द से व्यवहृत करता है। इसलिये अर्थ का अव्यभिचारी अनुभव ही प्रमा है और उसका करण प्रमाण है, अतः स्मृति के करण में प्रमाणलक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। अनधिगतार्थगन्तृत्व को प्रमात्व वा प्रमाणत्व का नियामक नहीं मान सकते क्योंकि उस दशा में धारावाहिक ज्ञानों में जिनमें प्रमाणत्व लोकसम्मत है, अधिगतार्थग्राही होने से प्रमाणत्व का विघात हो जायगा।

श्रीवाचस्पति मिश्र के उक्त वचन से स्मृति और प्रमा में यह वैलक्षण्य विदित होता है कि संस्कारमात्र से उत्पन्न होने वाली अर्थ की उपलब्धि स्मृति है और स्मृति से भिन्न अर्थ की अव्यभिचारिणी उपलब्धि स्मृतिभिन्न यथार्थज्ञान प्रमा है।

ननु प्रमायाः कारणानि बहूनि सन्ति प्रमातृ-प्रमेयादीनि, तान्यपि किं करणानि उत नेति ?

उच्यते-सत्यपि प्रमातरि प्रमेये च प्रमानुत्पत्तेरिन्द्रियसंयोगादौ सति अविलम्बेन प्रमोत्पत्तेरत इन्द्रियसंयोगादिरेव करणम्। प्रमायाः साधकत्वाविशेषेऽप्यनेनैवोत्कर्षेणास्य प्रमात्रादिभ्योऽतिशयितत्वादतिशयितं साधकं साधकतमं तदेव करणमित्युक्तम् । अत इन्द्रियसंयोगादिरेव प्रमाकरणत्वात् प्रमाणं, न प्रमात्रादि।

तानि च प्रमाणानि चत्वारि। तथा च न्यायसूत्रम्—

प्रत्यक्ष-अनुमान उपमान-शब्दाः प्रमाणानि। इति।

तर्कभाषाकार के यथार्थानुभवः प्रमा इस प्रमालक्षण को तथा श्रीवाचस्पतिमिश्र के उक्त वचनगम्य 'स्मृतेरन्याऽर्थाव्यभिचारिणी उपलब्धिः प्रमा' इस प्रमालक्षण का तुलनात्मक विवेचन करने से यह तथ्य सम्मुखीन होता है कि तर्कभाषाकार ने अनुभवत्व और स्मृतित्व यह ज्ञान की दो अवान्तर जातियां स्वीकार कर प्रमालक्षण का प्रणयन किया है और उसमें अनुभवत्व जाति का सन्निवेश कर स्मृति की व्यावृत्ति की है, किन्तु श्रीवाचस्पतिमिश्रने अनुभवत्व जाति को आंखों से ओझल रख अपने प्रमालक्षण में स्मृतिभेद का प्रवेश कर स्मृति में प्रमालक्षण की अतिव्याप्ति का परिहार किया है।

नैयायिक, वैशेषिक तथा अन्य दार्शनिकों ने जो प्रमा के लक्षण बताये हैं उन सबों की समीक्षा करने पर 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' प्रमा का यह लक्षण तर्कभाषाकारोक्त 'यथार्थानुभवः प्रमा' इस न्यायसम्मत लक्षण के समक्ष नगण्य प्रतीत होता है, क्योंकि अनधिगत अर्थ को ग्रहण करने वाले ज्ञान को ही प्रमा मानने पर धारावाहिक ज्ञान स्थल में दूसरे, तीसरे ज्ञानों के प्रमात्वरक्षणार्थ उन्हें पूर्व ज्ञान से अनधिगत दूसरे, तीसरे क्षणों का ग्राहक मानना पड़ता है, पर वैसा मानने पर भी यह बात तो ज्यों की त्यों रह जाती है कि धारावाहिक दूसरे, तीसरे ज्ञान घट आदि पदार्थों के विषय में तो प्रमा फिर भी न हो सकेंगे क्योंकि वे पदार्थ पूर्ववर्ती ज्ञान से अधिगत हैं, यदि यह कहा जाय कि दूसरे, तीसरे ज्ञान अधिगत अंश में प्रमात्मक नहीं ही हैं, प्रमात्मक केवल उतने ही अंश में हैं जितना नवीन-प्रथमतः अनधिगत है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि लोक धारावाहिक ज्ञानों को पूरे अंश में प्रमा मानता है, अतः उक्त लक्षण 'प्रतिक्षणं पदार्था भिद्यते' केवल इस क्षणिकवाद में ही सम्भव हो सकता है, स्थिरवाद में तो इसकी मान्यता असम्भव ही है।

प्रमा के कारण तो बहुत हैं जैसे प्रमाता, प्रमेय आदि, तो क्या वे भी प्रमा के करणप्र-प्रमाण हैं अथवा नहीं ?

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाता है कि प्रमाता और प्रमेय के उपस्थित रहने पर भी प्रमा की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु इन्द्रियसंयोग आदि का सन्निधान होते ही बिना किसी विलम्ब के प्रमा की उत्पत्ति होती है, अतः इन्द्रिय संयोग आदि ही प्रमा का कारण है, प्रमाता, प्रमेय आदि नहीं। यद्यपि प्रमा का साधकत्व-कारणत्व, प्रमाता, प्रमेय, इन्द्रियसंयोग आदि में समान है किन्तु इसी उत्कर्ष से कि प्रमाता, प्रमेय आदि के रहते भी प्रमा का जन्म नहीं होता पर इन्द्रियसंयोग आदि के सन्निहित होते ही प्रमा का जन्म होता है, प्रमाता आदि की अपेक्षा इन्द्रियसंयोग अतिशयित-प्रकृष्ट हो जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है अतिशयित–उत्कृष्ट साधक को साधकतम कहा जाता है और साधकतम ही कारण होता है, उसके अनुसार इन्द्रियसंयोग आदि ही प्रमा का कारण–साधकतम होने से प्रमाण होता है और प्रमाता आदि उक्तरीति से साधकतम न होने के कारण प्रमाण नहीं होता।

इस सन्दर्भ से ऐसा प्रतीत होता है कि जिस कारण का सन्निधान होने पर कार्य-जन्म में विलम्ब न हो अर्थात् जिस कारण की उपस्थिति के बाद कार्य जन्म में कारणान्तर की प्रतीक्षा न हो वह कारण करण होता है और जिन कारणों के रहने पर भी कार्य-जन्म के लिये अन्य कारण की प्रतीक्षा हो वे कारण करण नहीं हैं। जैसे प्रमाता–प्रत्यक्ष करने वाला व्यक्ति, प्रमेय–प्रत्यक्ष की जाने वाली वस्तु, इन्द्रिय, प्रमेय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष, ये प्रत्यक्ष प्रमा के प्रमुख कारण हैं, इनमें प्रमाण, प्रमेय और इन्द्रिय के विद्यमान होते हुये भी प्रत्यक्ष प्रमा का उदय तब तक नही होता जब तक प्रमेय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं होता, किन्तु उक्त सन्निकर्ष के सम्पन्न होते ही प्रत्यक्षप्रमा का उदय हो जाता है, उक्त सन्निकर्ष हो जाने पर प्रत्यक्ष प्रमा के उदय में किसी कारणान्तर की प्रतीक्षा नहीं होती, अतः प्रमेय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष प्रत्यक्षप्रमा का करण होने से प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है।

किन्तु विचार करने पर करण की यह परिभाषा परिपूर्ण नहीं प्रतीत होती। क्योंकि इस परिभाषा के अनुसार इन्द्रिय सन्निकर्ष को भी प्रत्यक्ष प्रमा का करणत्व दुःसाध्य हो जायगा क्योंकि कई बार उसका सन्निधान होने पर भी प्रत्यक्षप्रमा का उदय अविलम्बेन नहीं हो पाता, उसके बाद भी कारणान्तर की अपेक्षा होती है ! जैसे अन्धकार में घट के साथ चक्षु का संयोग होने पर भी घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष तब तक नहीं होता जब तक प्रकाश का सन्निधान नहीं हो जाता, इस प्रकार इन्द्रिय सन्निकर्ष को भी प्रत्यक्षप्रमा के उत्पादन में कारणान्तर के सन्निधान की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, अतः कोई साधक

किं पुनः प्रत्यक्षम् ?

साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम् । साक्षात्कारिणी च प्रमा, सा एवोच्यते या इन्द्रियजा। सा च द्विधा सविकल्पक-निर्विकल्पकभेदात् । तस्याः करणं त्रिविधम्-कदाचिद् इन्द्रियम्, कदाचिद् इन्द्रियार्थसंनिकर्षः, कदाचिज्ज्ञानम्।

इसलिये साधकतम नहीं माना जा सकता कि उसे कार्य के उत्पादन में कारणान्तर की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती, किन्तु इस लिये साधकतम माना जाता है कि लोक ने अनादिकाल से उसे साधकतम के रूप में व्यवहृत कर रखा है, अतः किसी कार्य के करण में उसके अन्य कारणों की अपेक्षा यही वैशिष्ट्य है कि लोक में वह उस कार्य के करण रूप में अनादिकाल से व्यवहृत है और अन्य कारण उस रूप में व्यवहृत नहीं हैं। इसलिये करण की जो भी परिभाषा की जाय, चाहे वह 'साधकतमं करणम्' हो या 'व्यापारवद् असाधारणं कारणं करणम्' हो वह सब केवल बुद्धिवैशद्यफलक है अथवा करण के सम्बन्ध में लोकव्यवहार के आधार की गवेषणा का एक प्रयास है। करण की उचित परिभाषा तो यही हो सकती है कि जो जिस कार्य के करण रूप में अनादिकाल से लोक म व्यवहृत हो वह उस कार्य का करण है और व्यवहार की यह परम्परा उस पुरुष की इच्छा पर प्रतिष्ठित है जो उस कार्य का और उसके कारणों का आद्य उद्भावक है।

प्रमाण-जिसके लक्षण के निर्वचन की भूमिका में यह सब बातें अब तक कहीं गई हैं, के चार भेद हैं। जैसा कि न्यायसूत्र में कहा गया है—प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

प्रमाण के चार भेद बताये गये, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। प्रश्न होता है कि इनमें प्रत्यक्ष क्या है, प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण और स्वरूप क्या है ? उत्तर है कि वस्तु को साक्षात् करनेवाली प्रमा का करण प्रत्यक्ष प्रमाण है, साक्षात् करनेवाली प्रमा उसे ही कहा जाता है जो इन्द्रियजन्य होती है।

इन्द्रियजन्य प्रमा ही साक्षात्कारिणी प्रमा कही जाती है और जो इन्द्रियजन्य नहीं होती जैसे अनुमिति, उपमिति और शाब्दबोध वह साक्षात्कारिणी प्रमा नहीं कही जाती, इसका रहस्य यह है कि इन्द्रिय से उत्पन्न होनेवाली प्रमा ही वस्तु को साक्षात् करती है अन्य प्रमा वस्तु को साक्षात् नहीं करती, क्योंकि वस्तु को साक्षात् करने का अर्थ है वस्तु के साक्ष होनेपर उसे ग्रहण करना, साक्ष का अर्थ है अक्षेण इन्द्रियेण सहितः—सन्निकृष्टः साक्षः—इन्द्रियसन्निकृष्ट। स्पष्ट है कि जिस प्रमाका जन्म इन्द्रिय

से होगा वही वस्तु को ग्रहण करने में वस्तु के साथ इन्द्रिय–सन्निकर्ष की अपेक्षा करने से इन्द्रियसन्निकृष्ट वस्तु की ग्राहक होगी और जिसका जन्म इन्द्रिय से न होगा उसे प्रमेय वस्तु के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष की अपेक्षा न होने से उसमें वस्तु का साक्षात्कारित्व–इन्द्रियसन्निकृष्ट वस्तु का ग्राहकत्व न होगा।

आशय यह है कि प्रमा का जन्म आत्मा में होता है, अतः आत्मगत प्रमा से वस्तु का ग्रहण तभी सम्भव होगा जब प्रमा और वस्तु का सामीप्य हो। यह सामीप्य बाह्य वस्तु के साथ सीधे तो होगा नहीं किन्तु होगा इस परम्परा से कि आत्मा का संयोग हो मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का वस्तु से। तो इस प्रकार वस्तु का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का मन से और मन का आत्मा से संयोग होने पर वस्तु आत्मा के निकटस्थ हो जायगी और इस स्थिति में आत्मा में उत्पन्न होनेवाली प्रमा का वस्तु के साथ सामीप्य होने से उसे वस्तु को ग्रहण करने में कोई कठिनाई न होगी।

इस सन्दर्भ में यह ध्यान देनेकी बात है कि प्रमा और विषय के सामीप्य-सम्पादन की यह प्रणाली इन्द्रियजन्य प्रमा में ही लागू होती है अन्य में नहीं, क्यों कि जो प्रमा इन्द्रियजन्य नहीं होती, उसके उदय में इन्द्रिय के साथ मन के संयोग की और प्रमेय वस्तु के साथ इन्द्रियसंयोग की आवश्यकता नहीं होती, अतः उस प्रमा का वस्तु के साथ सामीप्य का सम्पादन इस पद्धति से नहीं हो सकता। प्रश्न होगा कि तो फिर इन्द्रियाजन्य प्रमा का बाह्य वस्तु के साथ सामीप्य होगा या नहीं? यदि नहीं होगा तो वह प्रमा वस्तु को कैसे ग्रहण करेगी? और यदि होगा तो कैसे होगा? क्योंकि इन्द्रियजन्य प्रमा का वस्तु के साथ सामीप्य-सम्पादन की उक्त पद्धति इस प्रमा के सम्बन्ध में सम्भव नहीं है। उत्तर यह है कि इन्द्रियाजन्य प्रमा और प्रमेय वस्तु के परस्पर-सामीप्य की कोई समस्या ही नहीं है, क्योंकि उसका करण आत्मा में सीधे सन्निहित होता है और उस करण में प्रमेय वस्तु सीधे सन्निहित रहती है। जैसे अनुमितिप्रमा का करण व्याप्ति-ज्ञान अथवा परामर्श अनुमिति के आश्रयभूत आत्मा में समवेत रहता है और व्याप्ति-ज्ञान अथवा परामर्श में विषय रूप से अनुमेय वस्तु सन्निहित रहती है। इसी प्रकार उपमितिप्रमा और शाब्दप्रमा का भी प्रमेय वस्तु के साथ सामीप्य उनके आत्मगत ज्ञानात्मक कारणों के द्वारा होने में कोई कठिनाई नहीं होती।

उपर्युक्त संक्षिप्त स्पष्टीकरण से यह सुविदित हो जाता है कि क्यों इन्द्रियजन्य प्रमा साक्षात्कारिणी प्रमा कही जाती है और इन्द्रियाजन्य प्रमा क्यों साक्षात्कारिणी प्रमा नहीं कही जाती?

इस सन्दर्भ में प्रमाण शब्द और प्रत्यक्ष शब्द के प्रयोगक्षेत्र के सम्बन्ध में थोड़ी चर्चा कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रमाण शब्द का प्रयोग प्रमा और प्रमाकरण दोनों में उपलब्ध होता है। जैसे 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' इस प्रमालक्षण में प्रमाण शब्द का प्रयोग प्रमा के लिये किया गया है और 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' इस न्यायसूत्र में प्रमाण शब्द का प्रयोग प्रमाकरण के लिये किया गया है।

प्रमा और प्रमाण इन दो भिन्न अर्थों में 'प्रमाण' इस एक शब्द का प्रयोग आधारहीन नहीं है, किन्तु विभिन्न व्युत्पत्तियों पर आधृत है। प्रमा में प्रयुक्त होनेवाला प्रमाण शब्द प्रपूर्वक मा धातु से भाव में होनेवाले ल्युट् प्रत्यय से निष्पन्न होता है, अतः उस प्रमाण शब्द का वही अर्थ है, जो प्रपूर्वक मा धातु का है; क्योंकि भाव प्रत्यय का प्रकृत्यर्थ से अधिक कोई अर्थ नहीं होता, अतः प्रमा में प्रयुक्त होनेवाले भाव ल्युट्-प्रत्ययान्त प्रमाण शब्द का प्रमा ही अर्थ है। प्रमाकरण में प्रयुक्त होनेवाला प्रमाण शब्द प्रपूर्वक मा धातु से करण अर्थ को प्रकट करनेवाले ल्युट् प्रत्यय से निष्पन्न होता है, अतः उस प्रमाण शब्द का अर्थ होता है प्रमाकरण, इस प्रकार प्रमा और प्रमाकरण में प्रमाण शब्द के प्रयोग को देखकर किसी प्रकार के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये।

इसी प्रकार प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग इन्द्रियजन्य प्रमा, उस प्रमा के करण और उस प्रमा के विषयभूत पदार्थ इन तीन विभिन्न वस्तुओं में होता है। इन तीन विभिन्न वस्तुओं में एक 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग भी आधारशून्य नहीं है, वह भी प्रत्यक्ष शब्द की विभिन्न तीन व्युत्पत्तियोंपर आधृत है। जैसे 'प्रति–विषयं प्रति गतम् अक्षम् इन्द्रियं यस्मै प्रयोजनाय तत् प्रत्यक्षम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यक्ष शब्द इन्द्रियजन्य ज्ञान का बोधक होता है, क्योंकि उसी ज्ञानात्मक प्रयोजन को सम्पन्न करने के लिये इन्द्रिय विषय के प्रति गमन करता है। 'प्रतिगतम्–विषयं प्रतिगतम् अर्थात् विषयसन्निकृष्टम् अक्षं प्रत्यक्षम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यक्ष शब्द प्रत्यक्षप्रमा के करणका बोधक होता है, क्योंकि विषयसन्निकृष्ट इन्द्रिय को ही मुख्यतया प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है। 'प्रति-यं विषयं प्रति गतम् अक्षं स प्रत्यक्षः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यक्ष शब्द प्रत्यक्षप्रमा के विषयभूत अर्थ का बोधक होता है, क्योंकि जिस विषय के प्रति इन्द्रिय का गमन होता है अर्थात् जो अर्थ इन्द्रियसन्निकृष्ट होता है, वही प्रत्यक्षप्रमा का विषय होता है।

इस प्रकार विभिन्न व्युत्पत्तियों के आधारपर प्रत्यक्षप्रमा, प्रत्यक्षप्रमाकरण और प्रत्यक्षप्रमा के विषय में प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग होने से प्रत्यक्ष शब्दार्थ के विषय में भी किसी प्रकार का भ्रम नहीं करना चाहिये।

प्रत्यक्षप्रमा के दो भेद हैं सविकल्पक और निर्विकल्पक। 'विकल्प्यते–विशिष्यते वस्तु येन स विकल्पः—विशेषणम्, तेन सहितं सविकल्पं, सविकल्पमेव सविकल्पकम्,

अथवा 'विकल्पयति—विशिनष्टि वस्तु यत् तद् विकल्पकं-विशेषणम्, तेन सहितं सविकल्पकं-सविशेषणम्' इन व्युत्पत्तियों के अनुसार सविकल्पक शब्द का अर्थ है विशेषणयुक्त वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान, जिस ज्ञान में विशेषण और विशेष्य के अन्योन्य सम्बन्ध का भान होता है, जिस ज्ञान का उस ज्ञान के विषयभूत अर्थ के बोधक शब्द से अभिलाप-कथन होता है, उस ज्ञान को सविकल्पक कहा जाता है। सविकल्पक शब्द की इस व्याख्या के अनुसार अनुमिति, उपमिति, शाब्दबोध और स्मृतिरूप ज्ञान भी उसकी परिधि में आ जाते हैं किन्तु उन ज्ञानों में सविकल्पक शब्द का प्रयोग नहीं होता, अतः यह शब्द विशेषणयुक्त वस्तु को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान में योगरूढ़ है। यह ज्ञान जिन विशेषणों के साथ वस्तु को ग्रहण करता है वे नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि हैं। अतः 'नामजात्यादियोजनासहितं ज्ञानं सविकल्पकम्' कई लोग सविकल्पक का यह भी लक्षण करते हैं। यह ज्ञान विषयबोधक शब्द से अभिलपित—व्यवहृत होता है, अतः 'अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासं सविकल्पकम्, कुछ लोग सविकल्पक का यह भी लक्षण करते हैं। अयं गौः-गोनामा, गोत्व (जाति) वान्, गौः शुक्लः, गौः गच्छति, गौर्न महिषः, इस प्रकार के प्रत्यक्षात्मक सभी ज्ञान सविकल्पक के उदाहरण हैं। यही ज्ञान मनुष्य की सर्वविध प्रवृत्तियों और सर्वविध व्यवहारों का मूल है, सविकल्पक ज्ञान से ही प्रेरित हो मनुष्य विभिन्न कार्यों में व्यापृत होता है, इसी के आधार पर अन्य मनुष्यों के साथ व्यवहार करता है, इसीलिये इसे 'अखिलाया लोकयात्राया मूलम्' कहा गया है।

'विकल्पेभ्यो-विशेषणेभ्यो निर्मुक्तं निर्विकल्पं, निर्विकल्पमेव निर्विकल्पकम्, अथवा विकल्पकेभ्यो—विशेषणेभ्यो निर्मुक्तं निर्विकल्पकम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विशेषण-हीन वस्तु के स्वरूपमात्र को ग्रहण करने वाला ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान कहा जाता है। जो ज्ञान अपने विषयभूत वस्तु में किसी प्रकार के विशेषण के सम्बन्ध का अवगाहन नहीं करता, किन्तु वस्तु के स्वरूपमात्र को विषय करता है, जिसका विषयबोधक शब्द से अभिलाप-व्यवहार नहीं होता उसे निर्विकल्पक कहा जाता है। इसका परिचय 'बालमूकादिज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्' कह कर दिया जाता है। अभिप्राय यह है कि जैसे अबोध बालकों या गूँगे व्यक्तियों को जब किसी वस्तु का प्रत्यक्षदर्शन होता है तब उस वस्तु के नाम आदि का ज्ञान न होने से वे अपने उस ज्ञान को किसी अन्य पुरुष के प्रति प्रकट नहीं कर पाते, ठीक उसी प्रकार वयस्क और वाक्पटु व्यक्तियों को भी जब किसी वस्तु का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है तब वे अपने उस प्रत्यक्ष को शब्द द्वारा प्रकट नहीं कर पाते। प्रश्न होता है कि बालकों वा गूँगे व्यक्तियों को तो उनके ज्ञान के विषयभूत वस्तु का नाम ज्ञात नहीं रहता तथा उनमें बोलने की क्षमता भी नही होती अतः उनके द्वारा उनके ज्ञान का प्रकट न किया जाना तो समझ में आता है पर वयस्क

और वाक्पटु व्यक्तियों को जिस वस्तु का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है उन्हें तो उस वस्तु के नाम का ज्ञान होता है एवं उनमें बोलने की क्षमता भी होती है फिर वे अपने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को क्यों प्रकट नहीं कर पाते; उत्तर यह है कि किसी ज्ञान का अभिलाप—प्रकटीकरण उसी शब्द से होता है जो उस ज्ञान के विषयभूत वस्तु को ठीक उसी रूप में अवगत करा सके जिस रूप में वस्तु उस ज्ञान द्वारा अवगत होती है, निर्विकल्पक ज्ञान जिस रूप में वस्तु को ग्रहण करता है, शब्द से वस्तु का उस रूप में प्रतिपादन सम्भव नहीं है, क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान अविशिष्ट वस्तु को ग्रहण करता है और शब्द अविशिष्ट वस्तु का प्रतिपादन कर नहीं सकता, क्योंकि व्यवहार आदि द्वारा उसका संकेत विशिष्ट वस्तु में ही गृहीत होता है, फलतः निर्विकल्पक ज्ञान के विषयभूत वस्तु का बोधक शब्द न होने से वयस्क और वाक्पटु व्यक्ति भी उसे प्रकट करने में असमर्थ होते हैं।

इस विषय में यह ध्यान देने योग्य बात है कि निर्विकल्पक ज्ञान में बालक और गूँगे के ज्ञान की जो तुलना की गई है वह केवल इसी अंश में कि वे दोनों ही ज्ञान ज्ञाता द्वारा अनभिलाप्य होते हैं, इस तुलना का यह अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिये कि जैसे निर्विकल्पक ज्ञान विशिष्ट वस्तु का ग्राहक न होकर वस्तु के शुद्ध स्वरूपमात्र का ग्राहक होता है, उसी प्रकार बालक और गूँगे का ज्ञान भी विशिष्ट वस्तु का ग्राहक न होकर वस्तु के शुद्ध स्वरूपमात्र का ही ग्राहक होता है, क्योंकि ऐसा मानने पर जैसे निर्विकल्पक ज्ञान से ज्ञाता की प्रवृत्ति नहीं होती उसी प्रकार बालक और गूँगे के ज्ञान से भी प्रवृत्ति न हो सकेगी, किन्तु यह बात नहीं है क्योंकि बालक और गूँगे वयस्क और वाक्पटु व्यक्तियों के समान ही अपने ज्ञान से अपने कार्यों में प्रवृत्त होते देखे जाते हैं।

निर्विकल्पक ज्ञान में प्रमाण—

प्रश्न होता है कि जब निर्विकल्पक ज्ञान अनभिलाप्य है, अप्रवर्तक है और विशिष्ट वस्तु का ग्राहक न होने से अप्रत्यक्ष है, तब उसके अस्तित्व में क्या प्रमाण है ? उत्तर है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष, जो स्वयं मानसप्रत्यक्षसिद्ध है, वही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का अनुमापक है, अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अस्तित्व में अनुमान प्रमाण है। आशय यह है कि गौ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर गौ का गोत्वविशिष्ट व्यक्ति के रूप में प्रत्यक्ष होना अनुभव सिद्ध है, क्योंकि प्रत्येक गोदर्शी को 'मैं गौ को देखता हूँ', इस रूप में अपने गोदर्शन का अनुभव-मानस प्रत्यक्ष होना प्रायः सर्वसम्मत है। फिर इस प्रकार गोत्व रूप से गौ का जो सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है, उसके पूर्व में गोत्व का ज्ञान होना अनिवार्य है, क्योंकि गौ का सविकल्पक प्रत्यक्ष गोत्वविशिष्ट गो व्यक्ति को ग्रहण

करने वाला एक विशिष्ट ज्ञान है, जिसमें गोव्यक्तिरूप विशेष्यभूत वस्तु में गोत्व विशेषण होकर भासित होता है, और विशिष्ट वस्तु को ग्रहण करनेवाले अनुभव में विशेषण का ज्ञान कारण होता है, अतः पूर्व में यदि गोत्वरूप विशेषण का ज्ञान न होगा तो गोत्वविशिष्ट को ग्रहण करनेवाला अनुभव कैसे उत्पन्न होगा? यतः गोत्वविशिष्ट व्यक्ति को ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्षात्मक अनुभव का होना सर्वसम्मत है, अतः उसके पूर्व में गोत्वरूप विशेषण के ज्ञान का होना भी अनिवार्य है। इस प्रकार गौ के सविकल्पक प्रत्यक्ष के पूर्व गोत्व का जो ज्ञान सिद्ध होगा, उसे अनुमिति या शाब्दबोधरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसके पूर्व गोत्व की अनुमिति अथवा गोत्व के शाब्दबोध की कारणसामग्री सन्निहित नहीं रहती, किन्तु उस ज्ञान को प्रत्यक्षात्मक माना जा सकता है, क्योंकि गोत्व के प्रत्यक्ष का इन्द्रियसन्निकर्ष–चक्षुः-संयुक्तगोसमवाय-रूप कारण सन्निहित रहता है। उस प्रत्यक्ष को सविकल्पक नहीं माना जा सकता, क्योंकि सविकल्पक मानने पर गोत्व में किसी विशेषण का भान मानना पड़ेगा और उस दशा में उससे निर्विशेष गोत्व के रूप में गौ का सविकल्पक प्रत्यक्ष न हो सकेगा।

अतः गौ के सविकल्पक प्रत्यक्ष के पूर्व में होने वाले गोत्वज्ञान को निर्विकल्पक प्रत्यक्षरूप ही मानना होगा, इस प्रकार सविकल्पकप्रत्यक्षमूलक अनुमान से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की सिद्धि निर्बाध है।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय—

उक्त रीति से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की सिद्धि होने से साधारणतया यही प्रतीत होता है कि किसी वस्तु के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर जो पहला ज्ञान होता है वह निर्विकल्पक प्रत्यक्षरूप होता है और वह केवल उसी वस्तु को ग्रहण करता है जिसे उसके अनन्तर होने वाले सविकल्पक प्रत्यक्ष में विशेषण के रूप में भासित होना होता है। इसके अनुसार गौ के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर उत्पन्न होने वाले निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय केवल गोत्व होगा। पर इस बात को मान्यता नहीं दी जा सकती क्योंकि गो पदार्थ के गर्भ में तीन वस्तुयें हैं, गो, गोत्व और गो के साथ गोत्व का समवायसम्बन्ध। जब मनुष्य के खुले नेत्र के सामने कोई गौ आती है तब उसके नेत्र का सन्निकर्ष गो, गोत्व और समवाय तीनों के साथ एक साथ ही होता है, तो फिर जब तीनों के साथ नेत्र का सन्निकर्ष एक साथ ही होता है और तीनों को ग्रहण करने की क्षमता नेत्र में विद्यमान है तब उनमें से केवल गोत्व का ही ग्रहण क्यों होगा? अन्य दो का क्यों नहीं होगा? इस लिये यह मानना ही युक्तिसंगत है कि गो के साथ

इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर जो पहला ज्ञान—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है वह गो, गोत्व और समवाय तीनों को ग्रहण करता है; किन्तु वे तीनों उस ज्ञान में विशेषण, विशेष्य और संसर्ग के रूप में भासित न होकर विशुद्ध वस्तु के रूप में ही भासित होते हैं। क्योंकि गोत्व का विशेषण के रूप में भान तभी हो सकता है जब पूर्व में उसका ज्ञान हो क्योंकि विशिष्ट बुद्धि में विशेषणज्ञान के कारण होने से विशेषणरूप से भान होने के लिये पूर्व में विशेषण के स्वरूपज्ञान का होना आवश्यक है। इसी प्रकार गौ का विशेष्य के रूप में भान भी तभी हो सकता है जब पूर्व में उसका ज्ञान हो, क्योंकि विशेष्य के रूप में वस्तु को ग्रहण करने वाले लौकिक प्रत्यक्ष में विशेष्यज्ञान के कारण होने से विशेष्य के रूप में भान होने के लिये पूर्व में उसका ज्ञान अनिवार्यतया अपेक्षित है। इसी प्रकार समवाय का संसर्ग के रूप में भान भी तभी हो सकता है जब उसके पूर्व समवाय के गौ और गोत्व इन दोनों सम्बन्धियों का प्रत्यक्ष हो, क्योंकि सम्बन्ध के लौकिक प्रत्यक्ष में दोनों सम्बन्धियों के प्रत्यक्ष के कारण होने से गो-गोत्व के समवाय को सम्बन्ध रूप में ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष के पूर्व गो और गोत्व के प्रत्यक्ष का होना आवश्यक है।

इस प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में विशेषण, विशेष्य और संसर्ग के रूप में वस्तु का भान न होने से उसमें विशेषणता, विशेष्यता तथा संसर्गता यह तीन प्रकार की विषयतायें नहीं मानी जातीं, किन्तु इन तीनों से विलक्षण एक तुरीय—चौथे प्रकार की विषयता मानी जाती है और इसी के आधार पर विशेषणताशून्यं ज्ञानम् अथवा विशेष्यताशून्यं ज्ञानम् अथवा संसर्गताशून्यं ज्ञानम् अथवा विलक्षणविषयताशालि ज्ञानं निर्विकल्पकम्, इस प्रकार निर्विकल्पक का लक्षण किया जाता है।

यह ध्यातव्य है कि वैशेषिक दर्शन में समवाय का प्रत्यक्ष नहीं माना जाता, अतः उसके मतानुसार गो के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होनेपर उत्पन्न होनेवाले निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के दो ही विषय होंगे गो और गोत्व।

निर्विकल्पक का प्रमात्व—

तर्कभाषाकार ने प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण बता सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से उसके दो प्रकार बताये हैं। इससे स्पष्ट होता है कि उन्हें निर्विकल्पक का प्रमात्व इष्ट है, किन्तु प्रश्न यह होता है कि उन्होंने प्रमा का लक्षण किया है 'यथार्थानुभवः प्रमा' अर्थात् जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही ग्रहण करनेवाला अनुभव प्रमा कहलाता है, तो फिर निर्विकल्पक को प्रमा कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि वह तो वस्तु के स्वरूपमात्र को ग्रहण करता है, न कि उसके किसी रूप में उसे ग्रहण करता है। उत्तर यह है कि प्रमाके उक्त लक्षण में जो यथार्थ शब्द प्रयुक्त किया गया है, उसका तात्पर्य प्रमा की यथा-

र्थता के प्रतिपादन में नहीं है, किन्तु अयथार्थता के निषेध में है, अतः उक्त लक्षण का आशय यह है कि वस्तु को अन्यथा ग्रहण न करनेवाला अनुभव प्रमा है। यथार्थ शब्द के इस तात्पर्य में तर्कभाषाकार का संकेत भी प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने यथार्थ शब्द से संशय, विपर्यय और तर्कज्ञान की व्यावृत्ति बतायी है। यदि यथार्थ शब्द का 'अन्यथा अग्राहक' अर्थ न लेकर 'यथा अर्थः तथा अर्थग्राहक' अर्थ लिया जायगा, तब उससे संशय आदि की व्यावृत्ति कैसे होगी? क्योंकि संशय आदि भी अंशतः 'यथा अर्थः तथा अर्थग्राहक' होते हैं, अतः स्पष्ट है कि उस शब्द से संशय आदि की व्यावृत्ति बता ग्रन्थकार ने 'अन्यथा अग्राहक' अर्थ में ही यथार्थ शब्द के तात्पर्य को संकेतित किया है और जब अर्थ को अन्यथा ग्रहण न करनेवाला अनुभव ही प्रमा माना जायगा, तब निर्विकल्पक के प्रमा होने में कोई बाधा न होगी, क्योंकि वह अर्थ के स्वरूपमात्र का ग्राहक होने से अर्थ को अन्यथा न ग्रहण करनेवाला अनुभव है।

इस मत का उल्लेख विश्वनाथ न्यायपञ्चानन ने अपने भाषापरिच्छेद—कारिकावलीनामक ग्रन्थ की १३४ वीं कारिका में 'भ्रमभिन्नं ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा—न्यायशास्त्र में भ्रमभिन्न ज्ञान को प्रमा कहा जाता है, इस शब्द से किया है। यह प्राचीन न्याय का मत है। नव्यन्याय का मत इससे भिन्न है जिसका उल्लेख करते हुए कारिकावली में कहा गया है कि निर्विकल्पक ज्ञान भ्रम और प्रमा दोनों से बहिर्भूत है क्योंकि उन दोनों के लक्षण प्रकारता, विशेष्यता और संसर्गता से घटित होते हैं, जैसे—तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभाववन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिततत्सम्बन्धावच्छिन्नतन्निष्ठ-प्रकारताशालिज्ञानं भ्रमः—तत्सम्बन्ध से तदभाव के आश्रय में तत्सम्बन्ध से तद्वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान भ्रम कहा जाता है, उदाहरणार्थ सीपी में रजतत्व को ग्रहण करने वाला 'इदं रजतम्' यह ज्ञान लिया जा सकता है। यह ज्ञान समवाय सम्बन्ध से रजतत्वाभाव के आश्रय सीपी में समवाय सम्बन्ध से रजतत्व को ग्रहण करने से भ्रम कहा जाता है। इसी प्रकार तत्सम्बन्धेन तदाश्रयनिष्ठविशेष्यतानिरूपिततत्सम्बन्धावच्छिन्नतन्निष्ठप्रकारताशालि ज्ञानं प्रमा—तत्सम्बन्ध से तद् वस्तु के आश्रय में तत्सम्बन्ध से तद्वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमा कहा जाता है, उदाहरणार्थ चांदी में रजतत्व को ग्रहण करने वाला 'इदं रजतम्' यह ज्ञान लिया जा सकता है, यह ज्ञान समवाय सम्बन्ध से रजतत्व के आश्रय चांदी में समवाय सम्बन्ध से रजतत्व को ग्रहण करने से प्रमा माना जाता है। इस प्रकार भ्रम और प्रमा दोनों के लक्षण जब प्रकारता, विशेष्यता और संसर्गता से घटित हैं तब निर्विकल्पक, जिसमें प्रकार, विशेष्य और संसर्ग के रूप में किसी वस्तु का भान नहीं होता, भ्रम अथवा प्रमा कैसे हो सकता है? विश्वनाथ पञ्चानन ने कारिकावली में यही बात निम्न शब्दों में बड़ी स्पष्टता से व्यक्त की है।

यथा—

तच्छून्ये तन्मतिर्या स्यादप्रमा सा निरूपिता, (गुण प्रकरण १२७)
अथवा तत्प्रकारं यज्ज्ञानं तद्वद्विशेष्यकम् ,
(गु० प्र० १३५)

तत्प्रमा ।

न प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम्,
प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धानवगाहि तत् ।
(गु० प्र० १३६)

निर्विकल्पक के प्रमात्व के विषय में अब तक जो कुछ कहा गया है वह न्याय-वैशेषिक दर्शन का मत है, अन्य दर्शनों का मत इससे भिन्न है । जैसे बौद्ध दर्शन के मत में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही वास्तव में प्रमा है । दिङ्नागाचार्य के 'प्रमाणसमुच्चय' ग्रन्थ का 'प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढं नामजात्याद्यसंयुतम्' यह वचन दार्शनिक जगत् में नितान्त प्रसिद्ध है, इसके अनुसार कल्पनाहीन तथा नाम, जाति आदि से अछूता अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमात्मक प्रत्यक्ष है, सविकल्पक प्रत्यक्ष आदि ज्ञान नाम, जाति आदि काल्पनिक पदार्थों को ग्रहण करने के कारण कथमपि प्रमात्मक नहीं हो सकते ।

इस विषय में जैनदर्शन की मान्यता बौद्ध दर्शन से अत्यन्त विपरीत है, इसी कारण आचार्य हेमचन्द्र ने निर्विकल्पक को, जिसे जैनदर्शन में 'दर्शन' शब्द से व्यपदिष्ट किया गया है, 'अनध्यवसाय' रूप मान कर उसे प्रमा की श्रेणी से सर्वथा बहिष्कृत कर दिया है ।

हाँ, वेदान्तदर्शन ने निर्विकल्पक को प्रमा अवश्य माना है पर वह सामान्य निर्विकल्पक नहीं है किन्तु वह ऐसा विशेष निर्विकल्पक है जो उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इन महावाक्यों से भागत्यागलक्षणा के द्वारा अपरोक्ष अनुभव के रूप में उत्पन्न हो किसी आविद्यक पदार्थ को विषय न कर विशुद्ध ब्रह्मस्वरूपमात्र को ही ग्रहण करता है, क्योंकि वेदान्तमत में अनधिगत, अबाधित अर्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही प्रमा माना जाता है और ब्रह्म से भिन्न कोई भी पदार्थ अबाधित नहीं होता ।

निर्विकल्पक ज्ञानके सम्बन्ध में रामानुजाचार्य आदि वैष्णव वेदान्तियों का मत उक्त मतों से अत्यन्त विलक्षण है, जिसका संकेत श्रीनिवासार्य की 'यतीन्द्रमतदीपिका' में प्रस्तुत की गई प्रत्यक्षविषयक चर्चा से प्राप्त होता है। जैसे—

'तच्च प्रत्यक्षं द्विविधं निर्विकल्पकसविकल्पकभेदात् । निर्विकल्पकं नाम गुणसंस्थानादिविशिष्टप्रथमपिण्डग्रहणम् , सविकल्पकं तु सप्रत्यवमर्शी गुणसंस्थानादिविशिष्टद्विती-

यादिपिण्डज्ञानम्। उभयविधमप्येतद् विशिष्टविषयकमेव, अविशिष्टग्राहिणो ज्ञानस्यानुपलम्भादनुपपत्तेश्च'।

प्रत्यक्षज्ञान निर्विकल्पक और सविकल्पक के भेद से दो प्रकार का होता है। गुण, संस्थान आदि के साथ किसी पिण्ड का जो पहला ज्ञान होता है, वह निर्विकल्पक है, और गुण, संस्थान आदि के साथ किसी पिण्ड का जो दूसरा, तीसरा आदि ज्ञान उत्पन्न होता है जिसमें पूर्व ज्ञान के साम्य का आभास भी होता है, वह सविकल्पक ज्ञान है, यह दोनों प्रकार का ज्ञान विशिष्ट वस्तु को ही विषय करता है, क्योंकि अविशिष्ट वस्तु को ग्रहण करने वाले ज्ञान की न तो उपलब्धि ही होती और न उपपत्ति ही हो सकती है।

इस कथन से स्पष्ट है कि ऐसा कोई ज्ञान प्रामाणिक नहीं है जो विशेष्यविशेषणभाव से शून्य वस्तु के स्वरूपमात्र का ग्रहण करता हो, अतः निश्चय ही समस्त ज्ञान सविकल्पक ही होते हैं, निर्विकल्पक भी सविकल्पक श्रेणी का ही ज्ञान है, उसे निर्विकल्पक की संज्ञा सापेक्ष है, जो सविकल्पक जिन सविकल्पकों की अपेक्षा अल्पविषयक है अथवा जिसके पूर्व उसके विषयभूत वस्तु के ज्ञान का उदय नहीं हुआ है अर्थात् किसी वस्तु का जो पहला ज्ञान है, जिसमें पूर्वज्ञान के विषयसाम्य का आभास सम्भव नहीं है वह अपने विषयभूत वस्तु के उत्तरवर्ती ज्ञानों की अपेक्षा निर्विकल्पक है। इस अर्थ में निर्विकल्पक शब्द की यह व्युत्पत्ति उचित होगी कि 'निर्गतः-बहिर्भूतः-अविषयीभूतो विकल्पः-उत्तरभाविसविकल्पकस्य विषयभूतो विकल्पविशेषो यस्मात् स निर्विकल्पकः' यह व्युत्पत्ति किसी पिण्ड के प्रथम सविकल्पक में समुचित रीति से उपपन्न होती है, क्योंकि यह नितान्त स्वाभाविक है कि किसी पिण्ड के पहले उत्पन्न होनेवाले ज्ञान के विषयभूत विकल्पों—विशेषणात्मक धर्मोंकी अपेक्षा बाद में उत्पन्न होने वाले उस पिण्ड के ज्ञानों के विषयभूत विकल्प अधिक हों, जिनको ग्रहण न कर सकने के नाते पूर्व में उत्पन्न होनेवाला सविकल्पक बाद में उत्पन्न होनेवाले सविकल्पक की अपेक्षा निर्विकल्पक कहा जा सके। ज्ञान के तारतम्य की इस स्वाभाविकता में किसी पक्ष से विवाद होना सम्भव नहीं प्रतीत होता क्योंकि ज्ञान का क्रमिक विकास सर्वजनसम्मत है।

निर्विकल्पक की नरसिंहाकारता—

निर्विकल्पक ज्ञान के दो स्वरूप होते हैं—विशुद्ध निर्विकल्पक और मिश्र निर्विकल्पक। विशुद्ध निर्विकल्पक वह ज्ञान होता है जो किसी भी अंश में विशिष्टग्राही नहीं होता, जैसे गो आदि के साथ चक्षु का संयोग होने पर गो, गोत्व के स्वरूपमात्र को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष। मिश्र निर्विकल्पक वह है जो मुख्य अंश में निर्विकल्पक होते हुए किसी अंश में विशिष्टग्राही भी होता है, जैसे ज्ञान आदि प्रत्यक्ष योग्य सविषयक

पदार्थों का प्रथम प्रत्यक्ष। आशय यह है कि जब घट आदि पदार्थों का सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है तब सामान्य स्थिति में उसका अनुव्यवसाय-मानस प्रत्यक्ष होता है और वह इस प्रकार होता है कि घटज्ञान उत्पन्न होने पर उसके साथ मन का संयुक्तसमवाय-रूप तथा उसमें समवेत ज्ञानत्व के साथ संयुक्तसमवेतसमवाय-रूप सन्निकर्ष होता है, जैसे मन से संयुक्त होता है आत्मा और उसका समवाय होता है घटज्ञान के साथ, क्योंकि घटज्ञान आत्मा में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार मन से संयुक्त होता है आत्मा, उसमें समवेत होता है घटज्ञान और उसका समवाय होता है ज्ञानत्व के साथ, क्योंकि ज्ञानत्व घटज्ञान में समवाय सम्बन्ध से रहता है इस प्रकार घटज्ञान और ज्ञानत्व के साथ मन का उक्त सन्निकर्ष होने से घटज्ञान और ज्ञानत्व के परस्पर संसर्ग को ग्रहण न कर उन दोनों के स्वरूपमात्र को ग्रहण करने वाले निर्विकल्पक का उदय होता है, पर यह निर्विकल्पक विशुद्ध नहीं होता क्योंकि इसके पूर्व घट के साथ मन का ज्ञान-लक्षण सन्निकर्ष उपस्थित रहने से इस निर्विकल्पक में ज्ञान के विशेषणरूप में घट का भान अनिवार्य रहता है, अतः यह निर्विकल्पक 'ज्ञानज्ञानत्वे' इस रूप में न उत्पन्न होकर 'घटज्ञानज्ञानत्वे' इस रूप में उत्पन्न होता है, अतः यह ज्ञान केवल ज्ञानत्व अंश में ही निर्विकल्पक होता है ज्ञान अंश में नहीं, ज्ञान अंश में तो घट का ग्राहक होने से सविकल्पक ही होता है।

मिश्र निर्विकल्पक का जन्म केवल ज्ञान आदि सविषयक पदार्थों के ही विषय में नहीं होता किन्तु घट आदि निर्विषयक पदार्थों के विषय में भी होता है। उसे यों समझना चाहिये। किसी एक घट के साथ चक्षु का संयोग होने पर उस घट के समान ही अन्य देश और अन्यकाल में स्थित उन अन्य अगणित घटों का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है जिनके साथ उस समय चक्षु का संयोग सम्भव नहीं होता, अन्तर केवल इतना ही होता है कि चक्षु से संयुक्त घट का जो प्रत्यक्ष होता है वह लौकिक कहा जाता है क्योंकि वह चक्षुःसंयोगरूप लौकिक-लोकप्रसिद्ध सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है और अन्य घटों का जो प्रत्यक्ष होता है वह अलौकिक कहा जाता है क्योंकि वह अलौकिक—अलोकप्रसिद्ध सन्निकर्ष से होता है। प्राचीन नैयायिकों के मत में अन्य घटों का अलौकिक प्रत्यक्ष चक्षुःसंयुक्त घट के लौकिक प्रत्यक्ष के बाद उत्पन्न होता है क्योंकि उनके मत में किसी घट के लौकिक चाक्षुष में प्रकार बना घटत्व अथवा घटत्वप्रकारक चाक्षुषप्रत्यक्ष ही अन्य घटों के साथ चक्षु का अलौकिक सन्निकर्ष होता है, और नव्य नैयायिकों के मत में चक्षुःसंयुक्त घट के लौकिक प्रत्यक्ष के साथ ही अन्य घटों के अलौकिक प्रत्यक्ष का जन्म हो जाता है क्योंकि उनके मत में घटत्वविषयक ज्ञान ही अन्य घटों के साथ चक्षु का अलौकिक सन्निकर्ष होता है, अतः यह सन्निकर्ष किसी घट के साथ चक्षु का संयोग होने पर घट और घटत्व का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होने पर ही सम्भव हो जाता

कदा पुनरिन्द्रियं करणम् ? यदा निर्विकल्परूपा प्रमा फलम्। तथा हि—आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन, इन्द्रियाणां वस्तु प्राप्य

है। फलतया जब चक्षुःसंयुक्त घट का लौकिक सविकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है उसी समय घटत्वज्ञानरूप सामान्यलक्षणात्मक अलौकिक सन्निकर्ष से अन्य घटों का अलौकिक प्रत्यक्ष उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार चक्षुः संयुक्त घट और घटत्व के निर्विकल्पक के अनन्तर उस घट में लौकिक और अन्य घटों में अलौकिक एक प्रत्यक्ष का जन्म होता है। इस नवीन मत में यह ध्यान देने की बात है कि घटत्व के निर्विकल्पक के अनन्तर चक्षुःसंयोगरूप लौकिक सन्निकर्ष और घटत्वज्ञानरूप अलौकिक सन्निकर्ष से जिस एक प्रत्यक्षज्ञान का जन्म होता है वह केवल चक्षुःसंयुक्त घट में ही सविकल्पक होगा, अन्य घटों में वह निर्विकल्पक ही होगा, क्योंकि सम्बन्धविषयक प्रत्यक्ष में सम्बन्धिविषयक प्रत्यक्ष के कारण होने से अन्य घटों का स्वरूपमात्रग्राही प्रत्यक्ष जब तक उत्पन्न न हो लेगा तब तक उनमें घटत्व के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष न हो सकेगा, इससे स्पष्ट है कि किसी घट के साथ चक्षु का संयोग होने पर उस घट और घटत्व के निर्विकल्पक के बाद जो प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है वह चक्षुःसंयुक्त घट में सविकल्पक और अन्य घटों में निर्विकल्पक होता है, इस प्रकार यह निर्विकल्पक भी सर्वांश में निर्विकल्पक न होने से विशुद्ध निर्विकल्पक न होकर मिश्र निर्विकल्पक है, ऐसे मिश्र निर्विकल्पकों को नरसिंहाकार ज्ञान कहा जाता है क्योंकि जैसे नरसिंह को सर्वांश में नर अथवा सिंहरूप न होने से विशुद्ध नर अथवा विशुद्ध सिंह न कह कर नर-सिंह उभयात्मक विलक्षण व्यक्ति माना गया है। उसी प्रकार ऐसे ज्ञानों को सर्वांश में निर्विकल्पक अथवा सर्वांश में सविकल्पक न होने से नरसिंहाकार ज्ञान शब्द से व्यपदिष्ट किया गया है।

निर्विकल्पक का भेद—

ज्ञान के दो मुख्य अवान्तर भेद हैं—अनुभव और स्मृति। अनुभव के चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमिति उपमिति और शाब्दबोध। प्रश्न होता है कि ज्ञान के इन भेदों में निर्विकल्पक का समावेश किसमें है ? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि तर्कभाषाकार की दृष्टि में निर्विकल्पक का समावेश तो केवल प्रत्यक्ष में ही प्रतीत होता है क्योंकि उन्होंने प्रत्यक्ष के मध्य में ही उसका प्रदर्शन किया है, किन्तु इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि प्राचीन नैयायिकों ने विषयप्रमोष के द्वारा विशिष्टविषयक संस्कार से निर्विकल्पक स्मरण का भी जन्म स्वीकार किया है और वेदान्तियों ने 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से भागत्यागलक्षणा के द्वारा निर्विकल्पक शाब्दबोध का भी जन्म माना है।

प्रत्यक्ष प्रमा का करण—प्रत्यक्ष प्रमाण तीन प्रकार का होता है—इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-ग्राह्य विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष और ज्ञान। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष

प्रकाशकारित्वनियमात् । ततोऽर्थसंनिकृष्टेनेन्द्रियेण निर्विकल्पकं नामजात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहि किञ्चिदिदमिति ज्ञानं जन्यते । तस्य ज्ञानस्येन्द्रियं करणं, छिदाया इव परशुः । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽवान्तरव्यापारः, छिदाकरणस्य परशोरिव दारुसंयोगः । निर्विकल्पकं ज्ञानं फलं, परशोरिव छिदा ।

कदा पुनरिन्द्रियार्थसंनिकर्षः करणम् ?

यदा निर्विकल्पकानन्तरं सविकल्पकं नामजात्यादियोजनात्मकं डित्थोऽयं, ब्राह्मणोऽयं, श्यामोऽयमिति विशेषणविशेष्यावगाहि ज्ञानमुत्पद्यते तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम् । निर्विकल्पकज्ञानम् अवान्तरव्यापारः । सविकल्पकं ज्ञानं फलम् ।

प्रमा का करण कभी इन्द्रिय होती है, कभी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होता है और कभी ज्ञान होता है । कब इन्द्रिय करण होती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जब निर्विकल्पकरूप प्रत्यक्षप्रमा फल होती है तब उसका करण इन्द्रिय होती है, इन्द्रिय से निर्विकल्पकरूप प्रत्यक्ष प्रमा का उदय इस प्रकार होता है—पहले आत्मा का मन के साथ संयोग होता है, फिर मन का इन्द्रिय के साथ संयोग होता है, उसके बाद इन्द्रिय का अर्थ-ग्राह्य विषय के साथ सन्निकर्ष-सम्बन्ध होता है । प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के लिये अर्थ के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष का होना परमावश्यक है क्योंकि यह नियम है कि इन्द्रियां प्राप्त वस्तु को ही प्रकाशित करती हैं अर्थात् सन्निकृष्ट वस्तु का ही प्रत्यक्ष उत्पन्न करती हैं । अतः जिस वस्तु के साथ जिस इन्द्रिय का सन्निकर्ष जब तक न होगा तब तक उस इन्द्रिय से उस वस्तु का प्रकाश-प्रत्यक्षज्ञान न हो सकेगा, इस लिये किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होने के पूर्व उसके साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष अपरिहार्य है ।

अर्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने के बाद अर्थसन्निकृष्ट इन्द्रिय से निर्विकल्पक ज्ञान का जन्म होता है, उस ज्ञान में वस्तु में नाम, जाति आदि की योजना नहीं होती अर्थात् वह ज्ञान वस्तु के नाम, जाति आदि को नहीं ग्रहण करता किन्तु वस्तु के स्वरूप मात्र को ग्रहण करता है अतः उस ज्ञान का परिचय वस्तु के नाम, जाति आदि के द्वारा न देकर 'यत्किञ्चिद् इदम्' यह कुछ है, इस विशेषानवबोधक शब्द से ही दिया जाता है । इस निर्विकल्पक ज्ञान का करण इन्द्रिय होती है, ठीक वैसे जैसे काटने की क्रिया का करण फरसा होता है । इन्द्रियार्थसन्निकर्ष उस निर्विकल्पक ज्ञान के उत्पादन में इन्द्रिय का अवान्तर (मध्यवर्ती) व्यापार होता है, यह भी ठीक वैसे जैसे छेदन क्रिया के करण फरसे का लकड़ी के साथ संयोग उस क्रिया के उत्पादन में फरसे का अवान्तर व्यापार होता है । निर्विकल्पक ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूप व्यापार के द्वारा इन्द्रिय का फल-कार्य होता है,

कदा पुनर्ज्ञानं करणम् ?

यदा उक्तसविकल्पकानन्तरं हानोपादानोपेक्षाबुद्धयो जायन्ते तदा निर्विकल्पकं ज्ञानं करणम्, सविकल्पकं ज्ञानमवान्तरव्यापारः, हानादिबुद्धयः फलम्। तज्जन्यस्तज्जन्यजनकोऽवान्तरव्यापारः। यथा कुठारजन्यः कुठारदारुसंयोगः कुठारजन्यच्छिदाजनकः।

अत्र कश्चिदाह—सविकल्पकादीनामपीन्द्रियमेव करणम्। यावन्ति त्वान्तरालिकानि सन्निकर्षादीनि तानि सर्वाण्यवान्तरव्यापार इति।

यह भी ठीक वैसे जैसे कटना लकड़ी के साथ फरसे के संयोग रूप व्यापार द्वारा फरसे का फल-कार्य होता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ से स्पष्ट है कि जब निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को प्रमा माना जायगा, तब उसका करण इन्द्रिय होगी जो अर्थ के साथ सन्निकृष्ट होकर अर्थ का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न करेगी और वही प्रत्यक्ष प्रमाण कही जायगी।

कब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जब निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है जो वस्तु के साथ नाम, जाति आदि के सम्बन्ध को ग्रहण करता है, वस्तु को विशेष्य और उसके गुण, धर्म आदि को विशेषण रूप से विषय करता है तथा जो 'डित्थोऽयम्—यह डित्थ नामवाला है, 'ब्राह्मणोऽयम्—यह ब्राह्मणत्वजातिवाला है' 'श्यामोऽयम्—यह श्यामरूपात्मक गुणवाला है' इन शब्दों से व्यवहृत होता है, तब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण होता है, निर्विकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार होता है और सविकल्पक ज्ञान फल होता है।

कब निर्विकल्पक ज्ञान करण होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जब उक्त सविकल्पक ज्ञान के बाद उस ज्ञान के विषयभूत वस्तु के सम्बन्ध में हान बुद्धि—यह वस्तु हेय—त्याग करने योग्य है, उपादान बुद्धि—यह वस्तु उपादेय—ग्रहण करने योग्य है अथवा उपेक्षाबुद्धि—यह वस्तु उपेक्षणीय है अर्थात् न हेय ही है और न उपादेय ही है, उत्पन्न होती है, तब निर्विकल्पक ज्ञान करण, सविकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार और हानबुद्धि, उपादानबुद्धि अथवा उपेक्षाबुद्धि फल होती है।

अभिप्राय यह है कि किसी वस्तु के ज्ञान के अर्जन की प्रक्रिया तबतक पूरी नहीं होती, जबतक उसका हेय, उपादेय वा उपेक्षणीय रूप में निर्धारण नहीं हो जाता। फलतया जब मनुष्य किसी वस्तु को प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा जानने का उपक्रम करता है, तब

उसे उस वस्तु के ज्ञान की पूर्णता के लिये उस वस्तु के सम्बन्ध में मुख्य रूप से तीन बातें जाननी होती हैं, उसका स्वरूप, उसका नाम, जाति आदि और उसकी उपयोगिता अर्थात् हेयता, उपादेयता अथवा उपेक्ष्यता। प्रत्यक्ष प्रमाण से वस्तु के ज्ञानार्जन की भूमिका में इन तीनों बातों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही सम्पादित होता है। इन तीनों में वस्तु के स्वरूप का ज्ञान—वस्तु का निर्विकल्पक ज्ञान इन्द्रिय से सम्पादित होता है। उसके नाम, जाति आदि का ज्ञान—वस्तु का सविकल्पक ज्ञान वस्तु के निर्विकल्पक ज्ञान से सम्पादित होता है और वस्तु की हेयता आदि का ज्ञान उसके सविकल्पक ज्ञान से सम्पादित होता है, अतः इन्द्रिय, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष और निर्विकल्पक ज्ञान ये तीनों निर्विकल्पकज्ञान, सविकल्पकज्ञान और हानादिबुद्धिरूप प्रमा के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। किसी भी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान की पूर्णता इन तीनों के सव्यापार होने पर ही सम्पन्न होती है, अतः इन तीनों को ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है।

अवान्तर व्यापार—

अवान्तर व्यापार की चर्चा अभी तत्काल की जा चुकी है, वह करण का प्राण है, उसके बिना करणत्व की निष्पत्ति हो ही नहीं सकती अतः उसका परिचय देना आवश्यक समझ उसे इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि जो जिससे जन्य होता है और जिसके जिस कार्य का जनक होता है वह उसका उस कार्य की उत्पत्ति के लिए व्यापार होता है, जैसे काष्ठ के साथ कुठार का संयोग—लकड़ी पर फरसे का प्रहार कुठार से जन्य होने तथा कुठार के कार्य छेदन—लकड़ी के कटान का जनक होने से लकड़ी काटने में कुठार का व्यापार होता है। सीधी सी बात हैं कि लकड़ी और फरसा के आमने सामने विद्यमान रहने पर भी जब तक लकड़ी पर फरसे का प्रहार नहीं होता तब तक लकड़ी नहीं कटती किन्तु जब लकड़ी पर फरसे का प्रहार होता है तब लकड़ी अवश्य कटती है अतः स्पष्ट है कि लकड़ी काटने के लिये उसे फरसे से आहत करने की अनिवार्य अपेक्षा है और इसीलिये लकड़ी पर फरसे का प्रहार, जिसे कुठार संयोग कहा जाता है, लकड़ी काटने में फरसे–कुठार का व्यापार माना जाता है। ठीक इसी प्रकार किसी वस्तु के निर्विकल्पक ज्ञान के लिये उस वस्तु के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष की एवं उस वस्तु के सविकल्पक ज्ञान के लिये उस वस्तु के निर्विकल्पक ज्ञान की तथा उस वस्तु को हेय, उपादेय अथवा उपेक्षणीय रूप में अवगत करने के लिये उस वस्तु के सविकल्पक ज्ञान की अनिवार्य अपेक्षा होने के कारण उस वस्तु के निर्विकल्पक ज्ञान में उस वस्तु के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष एवं उस वस्तु के सविकल्पक ज्ञान के लिए उस वस्तु का निर्विकल्पक ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का तथा उस वस्तु के हेयत्व आदि की बुद्धि के लिये उस वस्तु का सविकल्पक ज्ञान उस वस्तु के निर्विकल्पक

इन्द्रियार्थयोस्तु यः सन्निकर्षः साक्षात्कारिप्रमाहेतुः स षड्विध एव। तद्यथा संयोगः, संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेष्यविशेषणाभावश्चेति।

ज्ञान का अवान्तर व्यापार होता है क्योंकि इन्द्रिय से जन्य इन्द्रियार्थसन्निकर्ष इन्द्रिय के कार्य निर्विकल्पक ज्ञान का, एवं इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जन्य निर्विकल्पक ज्ञान इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के कार्य सविकल्पक ज्ञान का और निर्विकल्पक ज्ञान से जन्य सविकल्पकज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान के कार्य हेयत्व आदि की बुद्धि का जनक होने से इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञान क्रम से इन्द्रिय, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष और निर्विकल्पक ज्ञान के अवान्तर व्यापार के लक्षण से संगृहीत होते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमा के त्रिविध करण के प्रतिपादन की आलोचना करते हुए एक तार्किक समुदाय का कथन यह है कि जैसे इन्द्रिय निर्विकल्पक ज्ञान का करण है। उसी प्रकार सविकल्पक ज्ञान का भी वही करण है। अन्तराल में होनेवाले जितने भी सन्निकर्ष आदि हैं, वे सब अवान्तर व्यापार हैं। आशय यह है कि निर्विकल्पक ज्ञानरूप प्रमा के जनन में केवल इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष ही इन्द्रिय का अवान्तर व्यापार है, सविकल्पक ज्ञानरूप प्रमा के जनन मे इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा निर्विकल्पक ज्ञान यह दो उसके अवान्तर व्यापार हैं और हान आदि की बुद्धि के जनन में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञान यह तीन उसके अवान्तर व्यापार हैं, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण त्रिविध न होकर केवल एकविध ही है और वह है इन्द्रिय। यदि यह बात न मानकर प्रत्यक्ष प्रमाण के पूर्वोक्त तीन भेद माने जायंगे तो सविकल्पक ज्ञान आदि में जो इन्द्रिय-जन्यत्व का अनुभव होता है, जिसे 'चक्षुषा घटं पश्यामि' इत्यादि शब्दों से अभिहित किया जाता है, उसकी प्रामाणिकता समाप्त हो जायगी।

इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के, जिसे इन्द्रिय के व्यापार रूप में साक्षात्कारिणी—प्रत्यक्ष प्रमा का करण बताया गया है, छः भेद हैं—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव।

विशेषणविशेष्यभाव का अर्थ है विशेषणता और विशेष्यता, यह दोनों स्वरूप-सम्बन्धविशेष हैं, यदि प्रतियोगी के स्वरूप को सम्बन्ध माना जायगा तो वह विशेषणता शब्द से अभिहित होगा और यदि अनुयोगी के स्वरूप को सम्बन्ध माना जायगा तो वह विशेष्यता शब्द से अभिहित होगा। इसके कई भेद हैं जैसे संयुक्तविशेषणता, संयुक्त-समवेतविशेषणता, संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणता, विशेषणता, समवेतविशेषणता, समवेत-समवेतविशेषणता, संयुक्तविशेषणविशेषणता आदि।

तत्र यदा चक्षुषा घटविषयं ज्ञानं जन्यते तदा चक्षुरिन्द्रियम्, घटोऽर्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयोग एव, अयुतसिद्ध्यभावात्। एवम् मनसाऽन्तरेणेन्द्रियेण यदात्मविषयकं ज्ञानं जन्यतेऽहमिति तदा मन इन्द्रियम्, आत्मार्थः, अनयोः सन्निकर्षः सयोग एव।

कदा पुनः संयुक्तसमवायसन्निकर्षः? यदा चक्षुरादिना घटगतरूपादिकं गृह्यते घटे श्याम रूपमस्तीति, तदा चक्षुरिन्द्रिय, घटरूपमर्थः, अनयोः सन्निकर्षः सयुक्तसमवाय एव, चक्षुः-सयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्। एव मनसात्मसमवेते सुखादौ गृह्यमाणे अयमेव सन्निकर्षः।

घटगतपरिमाणादिग्रहे चतुष्टयसन्निकर्षोऽप्यधिक कारणमिष्यते। सत्यपि संयुक्तसमवाये तदभावे दूरे परिमाणाद्यग्रहणात्। चतुष्टयसन्निकर्षो यथा-इन्द्रियावयवैरर्थावयविनाम्, इन्द्रियावयविनामर्थावयवानाम्, इन्द्रियावयवैरर्थावयवानाम्, अर्थावयविनामिन्द्रियावयविनां सन्निकर्ष इति।

जब चक्षु से घट का ज्ञान उत्पन्न होता है तब चक्षु इन्द्रिय होता है, घट अर्थ होता है और उन दोनों का सन्निकर्ष उनका परस्पर संयोग ही होता है क्योंकि वे दोनों अयुतसिद्ध-अपृथक् सिद्ध नहीं हैं किन्तु उन दोनों का अस्तित्व एक दूसरे पर निर्भर न होने से वे दोनों ही युतसिद्ध-पृथक् सिद्ध हैं, अतः उनमें परस्पर संयोग होने में कोई बाधा नहीं है। इसी प्रकार मनरूप आन्तर इन्द्रिय से जब आत्मा का ज्ञान होता है जिसे 'अहम्' शब्द से व्यपदिष्ट किया जाता है, तब मन इन्द्रिय होता है, आत्मा अर्थ होता है, उन दोनों का सन्निकर्ष भी संयोग ही होता है।

संयुक्तसमवाय कब सन्निकर्ष होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जब चक्षु आदि से घट के रूप आदि गुण, कर्म और जाति का ज्ञान होता है जिसे 'घटे श्यामं रूपम् अस्ति—घड़े में श्याम रूप है, 'घटः कम्पते—घड़ा हिलता है, 'घटो द्रव्यम्—घड़ा द्रव्यत्व जाति का आश्रय है' इन शब्दों से व्यवहृत किया जाता है, तब चक्षु इन्द्रिय होता है, घट में रहने वाला रूप आदि गुण, कर्म और जाति अर्थ होता है, संयुक्त-समवाय इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होता है। इसी प्रकार आत्मा में समवेत-समवाय सम्बन्ध से रहने वाले सुख, दुःख, ज्ञान, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न इन गुणों का तथा आत्मत्व, द्रव्यत्व और सत्ता इन जातियों का मन से प्रत्यक्ष होने में भी यही—संयुक्त-समवाय ही इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होता है क्योंकि मन-इन्द्रिय से संयुक्त आत्मा में सुख आदि गुणों का तथा आत्मत्व आदि जातियों का समवाय सम्बन्ध होता है।

यह अभी बताया गया है कि घट में रहने वाले गुण; कर्म और जाति का प्रत्यक्ष चक्षु आदि इन्द्रिय के संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से होता है पर इस सम्बन्ध में यह

यदा पुनश्चक्षुषा घटरूपसमवेतं रूपत्वादिसामान्यं गृह्यते तदा चक्षुरिन्द्रियं रूपत्वादिसामान्यमर्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयुक्तसमवेतसमवाय एव, यतश्चक्षुः-संयुक्ते घटे रूपं समवेतं तत्र रूपत्वस्य समवायात् ।

ध्यान में रखना आवश्यक है कि घट के रूप का प्रत्यक्ष तो इस सन्निकर्ष से हो जाता है, पर उसके अन्य गुणों का केवल इसी एक सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, अपितु परिमाण आदि कई गुणों के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवाय से अतिरिक्त चार अन्य सन्निकर्षों को भी कारण मानना पड़ता है क्योंकि घट के परिमाण आदि गुणों के साथ चक्षु का संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष होने पर भी दूर से उन गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता।

आशय यह है कि बीच में कोई व्यवधान होने पर चक्षु का संयोग पर्याप्त दूर तक के द्रव्य के साथ होने के कारण उस द्रव्य के गुणों के साथ उसका संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष सम्पन्न हो जाता है, पर उस सन्निकर्ष से उसके गुणों में केवल उसके रूप का ही प्रत्यक्ष होता है, किन्तु यह सब प्रत्यक्ष नहीं हो पाता कि उसका परिमाण क्या है ? उसकी संख्या क्या है ? अतः परिमाण आदि के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवाय से अतिरिक्त अन्य चार सन्निकर्षों को कारण मानना आवश्यक है जिनके अभाव में दूर से परिमाण आदि के प्रत्यक्षाभाव की उपपत्ति की जा सके।

वे चार सन्निकर्ष ये हैं— (१) इन्द्रिय के अवयवों के साथ अर्थ–अवयवी का संयोग (२) इन्द्रिय-अवयवी का अर्थ के अवयवों के साथ संयोग (३) इन्द्रिय के अवयवों के साथ अर्थ के अवयवों का संयोग (४) और अर्थ-अवयवी का इन्द्रिय-अवयवी के साथ संयोग। ये चार संयोग ग्राह्य द्रव्य के दूर रहने की दशा में नहीं सम्पन्न हो पाते, अतः दूरस्थ घट आदि द्रव्यों के परिमाण आदि गुणों का उनके साथ चक्षु का संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं हो पाता।

जब चक्षु से घटके रूप में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले रूपत्व आदि जातियों का ग्रहण होता है तब चक्षु इन्द्रिय होता है, रूपत्व आदि जातियाँ अर्थ होती हैं, चक्षु का उन जातियों के साथ संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवेत होता है और उस रूप में रूपत्व का समवाय सम्बन्ध होता है।

समवाय सन्निकर्ष कब होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जब श्रोत्र-कान से शब्द का ग्रहण-श्रवण होता है तब श्रोत्र इन्द्रिय होता है, शब्द अर्थ होता है और शब्द के साथ श्रोत्र का समवाय सन्निकर्ष होता है क्योंकि कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न अर्थात् कान के मध्यभाग में स्थित आकाश ही श्रोत्र कहा जाता है अतः श्रोत्र आकाशस्वरूप है और शब्द आकाश का गुण है एवं गुण और गुणी के बीच समवाय सम्बन्ध होता है,

कदा पुनः समवायः सन्निकर्षः ? यदा श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते तदा श्रोत्रमिन्द्रियं, शब्दोऽर्थः, अनयोः सन्निकर्षः समवाय एव। कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रम्। श्रोत्रस्याकाशात्मकत्वाच्छब्दस्य चाकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात्।

कदा पुनः समवेतसमवायः सन्निकर्षः ? यदा शब्दसमवेतं शब्दत्वादिसामान्यं श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते तदा श्रोत्रमिन्द्रियं, शब्दत्वादिसामान्यमर्थः। अनयोः सन्निकर्षः समवेतसमवाय एव, श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्।

कदा पुनर्विशेषणविशेष्यभाव इन्द्रियार्थसन्निकर्षो भवति ? यदा चक्षुषा संयुक्ते भूतले घटाभावो गृह्यते 'इह भूतले घटो नास्ति' इति, तदा विशेषणविशेष्यभावः सम्बन्धः। तदा चक्षुःसंयुक्तस्य भूतलस्य घटाद्यभावो विशेषणं,

इस लिये श्रोत्ररूप आकाशात्मक गुणी के साथ उसके गुण शब्द का समवाय ही सन्निकर्ष बन सकता है, अतः स्पष्ट है कि श्रोत्र से शब्द के प्रत्यक्ष में शब्द के साथ श्रोत्र का समवायरूप सन्निकर्ष कारण है, यह सन्निकर्ष उसी शब्द के साथ उत्पन्न होता है जो दूर पर उत्पन्न हुये शब्द की धारा-द्वारा श्रोत्रात्मक आकाश में उत्पन्न होता है।

समवेतसमवाय सन्निकर्ष कब होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जब शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली शब्दत्व आदि जातियों का श्रोत्र से प्रत्यक्ष होता है तब श्रोत्र इन्द्रिय होता है, शब्दत्व आदि जातिया अर्थ होती हैं और जातियों के साथ श्रोत्र का समवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है क्योंकि श्रोत्र में समवेत होता है शब्द और उसमें समवेत होता है शब्दत्व, अतः शब्दत्व के साथ श्रोत्र के समवेतसमवाय सम्बन्ध के होने में कोई बाधा नहीं होती।

विशेषणविशेष्यभाव कब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जब चक्षु से संयुक्त भूतल में घट के अभाव का प्रत्यक्ष होता है जिसे 'इह भूतले घटो नास्ति—इस भूभाग में घड़ा नहीं है' इस शब्द से व्यवहृत किया जाता है तब घटाभावरूप अर्थ के साथ चक्षु इन्द्रिय का विशेषणविशेष्यभाव-अर्थात् चक्षुःसंयुक्तविशेषणता वा चक्षुःसंयुक्तविशेष्यतारूप सन्निकर्ष होता है क्योंकि घटाभाव चक्षु से संयुक्त भूतल का विशेषण होता है और भूतल उस विशेषण का विशेष्य होता है। आशय यह है कि जिस भूतल में घट नहीं होता उस भूतल को घटाभाव घटयुक्त अन्य भूतलों से विशिष्ट—विलक्षण बना देता है जिससे वह भूतल घटाभाववद् भूतल कहा जाने लगता है, इस प्रकार घटशून्य भूतल का घटयुक्त भूतल से विशेषक—व्यवच्छेदक होने के

भूतलं विशेष्यम्। यदा च मनःसंयुक्त आत्मनि सुखाद्यभावो गृह्यते 'अहं सुखरहितः' इति तदा मनःसंयुक्तस्यात्मनः सुखाद्यभावो विशेषणम्। यदा श्रोत्र-समवेते गकारे घत्वाभावो गृह्यते तदा श्रोत्रसमवेतस्य गकारस्य घत्वा-भावो विशेषणम्।

कारण घटाभाव भूतल का विशेषण और भूतल उसका विशेष्य-व्यवच्छेद्य कहा जाता है। यतः यह सर्वसम्मत तथ्य है कि इस प्रकार का विशेषणविशेष्यभाव उन्हीं पदार्थों में होता है जिनमें परस्पर कोई न कोई सम्बन्ध होता है, अतः भूतल के साथ घटाभाव का कोई न कोई सम्बन्ध आवश्यक है, वह सम्बन्ध संयोग नहीं हो सकता क्योंकि संयोग दो द्रव्यों में ही होता है, इन दोनों में एक ही अर्थात् भूतल ही द्रव्य है, घटाभाव द्रव्य नहीं है अतः इन दोनों में संयोग असम्भव है। समवाय सम्बन्ध भी इन दोनों के बीच सम्भव नहीं है क्योंकि वह सम्बन्ध दो भावात्मक पदार्थों में ही प्रमाणसिद्ध है, कालिक और दैशिक सम्बन्ध भी इन दोनों के बीच नहीं माने जा सकते क्योंकि भूतल जैसे जन्य मूर्त द्रव्यों के काल और दिक् की उपाधि होने से उनके साथ घटाभाव का उक्त सम्बन्ध होनेपर भी आत्मा आदि नित्य पदार्थ जो काल, दिक् अथवा उनके उपाधि नहीं हैं, उनमें उक्त सम्बन्ध सम्भव न होने से उनके साथ अभाव का सम्बन्ध न हो सकेगा, अतः अभाव के लिये कोई ऐसा ही सम्बन्ध मानना चाहिये जो अभाव के सभी विशेष्यों में रह सके, विचार करने पर ऐसे किसी अतिरिक्त सम्बन्ध के प्राप्य न होने से घटाभाव और भूतल के स्वरूप को ही उन दोनों के बीच सम्बन्ध मानना होगा, इस प्रकार यदि अभावात्मक विशेषण के स्वरूप को सम्बन्ध माना जायगा तब उसे विशेषणता शब्द से व्यवहृत किया जायगा और जब भूतल आदि विशेष्य के स्वरूप को सम्बन्ध माना जायगा तब उसे विशेष्यता शब्द से व्यवहृत किया जायगा, इसी बात को संकेतित करने के लिये भूतल के साथ घटाभाव के सम्बन्ध को विशेषणविशेष्यभाव शब्द से अभिहित किया गया है। इस स्पष्टीकरण को सावधानी के साथ ध्यान में रखना आवश्यक है जिससे यह भ्रम न हो कि विशेषणविशेष्यभाव शब्द से विषयतारूप विशेषणता और विशेष्यता विवक्षित हैं, क्योंकि यदि विषयता को उक्त शब्द से विवक्षित माना जायगा तब भूतल में घटाभाव का प्रत्यक्ष होने के पूर्व भूतल में विषयतात्मक विशेष्यता और घटाभाव में विषयतात्मक विशेषणता न हो सकने से भूतलनिष्ठ घटाभाव के साथ चक्षु का संयुक्तविशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष न हो सकने से भूतल में घटाभाव का प्रत्यक्ष ही न हो सकेगा।

इसी प्रकार जब मन से संयुक्त आत्मा में सुखादि गुणों के अभाव का प्रत्यक्ष होता है जिसे 'अहं सुखरहितः—मैं सुखहीन हूँ' ऐसे शब्दों से व्यवहृत किया जाता है तब

तदेवं संक्षेपतः पञ्चविधसम्बन्धान्यतमसम्बन्धसम्बद्धविशेषणविशेष्यभाव-लक्षणेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण अभाव इन्द्रियेण गृह्यते ।

एवं समवायोऽपि । चक्षुःसम्बद्धस्य तन्तोर्विशेषणभूतः पटसमवायो गृह्यते 'इह तन्तुषु पटसमवायः' इति । तदेवं षोढा सन्निकर्षो वर्णितः । संग्रहश्च—

अक्षजा प्रमितिर्द्वेधा सविकल्पाऽविकल्पिका ।
करणं त्रिविधं तस्याः सन्निकर्षस्तु षड्विधः ॥
घट–तन्नील–नीलत्व–शब्द–शब्दत्व–जातयः ।
अभाव–समवायौ च ग्राह्याः सम्बन्धषट्कतः ॥

भी मन से संयुक्त आत्मा में सुखाभाव के विशेषण होने से विशेषणविशेष्यभाव—मनःसंयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष होता है, और जब श्रोत्रसमवेत 'ग' वर्ण में घत्व के अभाव का प्रत्यक्ष होता है उस समय भी विशेषणविशेष्यभाव अर्थात् श्रोत्रसमवेतविशेषणता सन्निकर्ष होता है ।

विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष के सम्बन्ध में संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय और समवेतसमवाय इन पांच सन्निकर्षों में किसी एक से सम्बद्ध पदार्थ के विशेषणविशेष्यभावरूप सन्निकर्ष के द्वारा इन्द्रिय से अभाव का प्रत्यक्ष होता है। उदाहरणार्थ चक्षु से भूतल में घटाभाव का प्रत्यक्ष चक्षुःसंयुक्तविशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष से होता है क्योंकि चक्षु से संयोग सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है भूतल और उसका विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध होता है भूतलस्थ घटाभाव के साथ। एवं घटरूप में घटाभाव का प्रत्यक्ष चक्षुःसंयुक्तसमवेतविशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष से होता है क्योंकि चक्षु से संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है घटरूप और उसका विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध होता है घटरूपस्थ घटाभाव के साथ। इसी प्रकार घटरूपस्थ रूपत्व में घटाभाव का प्रत्यक्ष चक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवेत-विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष से होता है क्योंकि चक्षु से संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है घटरूप में रहने वाला रूपत्व और उसका विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध होता है रूपत्वगत घटाभाव के साथ। 'क' में 'खत्व' के अभाव का प्रत्यक्ष होता है श्रोत्रसमवेतविशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष से, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से श्रोत्र से सम्बद्ध होता है श्रोत्र में उत्पन्न 'क' और उसका विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध होता है 'क' में रहनेवाले खत्वाभाव के साथ। कत्व में खत्वाभाव का प्रत्यक्ष होता है श्रोत्रसमवेत-समवेतविशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से क्योंकि समवेतसमवाय सम्बन्ध से श्रोत्र से

सम्बद्ध होता है कत्व और उसका विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध होता है कत्व में रहनेवाले खत्वाभाव के साथ।

इस सन्दर्भ में संयोग आदि पांच सम्बन्धों का जो उल्लेख किया गया है उसे विशेषणविशेष्यभाव रूप छठें सम्बन्ध का भी सूचक समझना चाहिये क्योंकि भूतलस्थ घटाभाव में भी पटाभाव का प्रत्यक्ष होता है पर भूतलस्थ घटाभाव संयोग आदि उक्त पांच सम्बन्धों में से किसी सम्बन्ध से इन्द्रियसम्बद्ध नहीं होता है, अपितु संयुक्त-विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है अतः भूतलस्थ घटाभाव में पटाभाव का प्रत्यक्ष चक्षुःसंयुक्तविशेषणविशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से होता है क्योंकि चक्षु से संयुक्त होता है भूतल उसका विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध होता है घटाभाव के साथ और घटाभाव का विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध होता है घटाभावस्थ पटाभाव के साथ।

इसी प्रकार समवाय भी विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है, जैसे तन्तुओं में पट के समवाय का प्रत्यक्ष, जिसे 'इह तन्तुषु पटसमवायः—इन तन्तुवों में पट का समवाय है' इस शब्द से अभिहित किया जाता है, चक्षुःसंयुक्तविशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष से होता है क्योंकि चक्षु से संयुक्त होता है तन्तु और उसमें विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से पटसमवाय के विद्यमान होने से उसके साथ तन्तु का विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध होता है।

समवाय के विषय में यह ध्यातव्य है कि उसका प्रत्यक्ष संयोग आदि उक्त छः सम्बन्धों में संयोग, संयुक्तसमवाय और समवाय इन तीन सम्बन्धों ही में से किसी एक सम्बन्ध से सम्बद्ध पदार्थ के विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष से होता है क्योंकि द्रव्य, गुण और कर्म में ही समवाय का आवास होता है और उनमें द्रव्य संयोग सम्बन्ध से इन्द्रियसम्बद्ध होता है तथा शब्द से अन्य सारे गुण एवं कर्म संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से इन्द्रियसम्बद्ध होते हैं और शब्द समवाय सम्बन्ध से श्रोत्र इन्द्रिय से सम्बद्ध होता है। इस प्रकार छः प्रकार के सन्निकर्षों का वर्णन किया गया।

प्रत्येक प्रमा के विषय में अब तक कही गई सब बातों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

इन्द्रिय जन्य प्रमा के दो भेद हैं—निर्विकल्पक और सविकल्पक। प्रत्यक्षप्रमा के करण तीन प्रकार के हैं—इन्द्रिय, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष और निर्विकल्पक ज्ञान। प्रत्यक्षप्रमा के उत्पादक सन्निकर्ष छः प्रकार के हैं—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव उनमें संयोग से घट आदि द्रव्य का, संयुक्तसमवाय से नील आदि गुणों का, संयुक्तसमवेतसमवाय से नीलत्व आदि जातियों

का, समवाय से शब्द का, समवेतसमवाय से शब्दत्व आदि जातियों का और विशेषण-विशेष्यभाव से अभाव एवं समवाय का प्रत्यक्ष होता है।

सन्निकर्ष के लौकिक-अलौकिक भेद—

अभी इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के जो छः भेद बताये गये हैं वे सब लौकिक सन्निकर्ष हैं, अर्थात् ये ऐसे सन्निकर्ष हैं जो लोक में सर्वसाधारण जनों को बुद्धिगम्य हैं, जिन्हें सामान्य जन सम्बन्ध के रूप में सरलता से ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि उक्त सन्निकर्ष इन्द्रिय के सम्मुख अपेक्षाकृत समीपवर्ती स्थान में उपस्थित द्रव्य और तद्गत गुण आदि के ही साथ होते हैं, पर इन्द्रिय के कुछ सन्निकर्ष ऐसे अर्थों के साथ भी आवश्यकता-वश मानने पड़ते हैं जो इन्द्रिय के सम्मुख एवं समीप न होकर विरुद्ध दिशा में तथा बहुत दूर होते हैं, ऐसे अर्थों के साथ भी इन्द्रिय का सन्निकर्ष मानना होता है जो सन्निकर्षसापेक्ष इन्द्रिय के समय अपना अस्तित्व ही नहीं रखते, इसके अतिरिक्त ऐसे अर्थ और इन्द्रिय के बीच भी सन्निकर्ष की अपेक्षा होती है जिनमें लोकगम्य ग्राह्य-ग्राहकभाव स्वभावतः सम्भाव्य ही नहीं होता, इस प्रकार के जितने भी सन्निकर्ष होते हैं वे लोक में सर्वजनगम्य न होने तथा अप्रसिद्ध होने से अलौकिक सन्निकर्ष कहे जाते हैं। लौकिक सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष लौकिक और अलौकिक सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष अलौकिक कहे जाते हैं।

अलौकिक सन्निकर्ष—

जिस अलौकिक सन्निकर्ष की संक्षिप्त चर्चा अभी की गई है, उसके तीन भेद हैं—सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज। सन्निकर्ष को प्रत्यासत्ति शब्द से व्यवहृत किया जाता है, अतः ये तीनों सन्निकर्ष सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति, ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति और योगजप्रत्यासत्ति शब्द से भी व्यपदिष्ट होते हैं। भाषापरिच्छेद-कारिकावली में विश्वनाथ ने व्यापार शब्द से उल्लेख कर इन्हें इस प्रकार प्रदर्शित किया है—

> अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः।
> सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा॥ (प्रत्यक्षखण्ड, ६३)

सामान्यलक्षण सन्निकर्ष—

सामान्यलक्षण में लक्षण शब्द का स्वरूप और ज्ञान अर्थ लेने से सामान्यलक्षण शब्द से दो प्रकार के सामान्यलक्षण सन्निकर्ष का बोध होता है—सामान्यस्वरूप और सामान्यज्ञान।

सामान्य का अर्थ है—समान-सदृश अनेक आश्रयों में ज्ञात होने वाला धर्म। अतः कोई भी धर्म, चाहे उसका वास्तव आश्रय एक ही हो या अनेक, यदि अनेक

आश्रयों में अवगत होता है तो वह सामान्य शब्द से व्यवहृत होने लगता है, इस लिए कोई एक रूप आदि व्यक्ति भी जो वस्तुतः किसी एक ही द्रव्य में आश्रित होता है, वह भी भ्रमोत्पादकदोष-वश यदि अन्य द्रव्यों में भी ज्ञात हो जाता है तो एक व्यक्ति मात्र में रहने वाला वह रूप आदि व्यक्ति भी इस सन्दर्भ में सामान्य कहा जाता है।

कोई सामान्य अथवा उसका ज्ञान उस समय इन्द्रिय का सन्निकर्ष बनता है जब किसी आश्रय में इन्द्रिय के लौकिक सन्निकर्ष से उसका ज्ञान होता है, जैसे जब किसी एक धूम के साथ चक्षु का संयोग होने पर उस धूम में धूमत्व का लौकिक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है तब उस समय धूमत्व अथवा धूमत्वज्ञान समस्त धूमों के साथ चक्षु का सन्निकर्ष बन जाता है क्योंकि धूमत्व समवाय सम्बन्ध से तथा धूमत्वज्ञान स्वविषयभूत-धूमत्वसमवाय सम्बन्ध से समस्त धूमों में विद्यमान होता है। प्रत्येक सम्बन्ध के लिए प्रतियोगी और अनुयोगी का होना आवश्यक होता है अतः इस सामान्य अथवा सामान्यज्ञानरूप सम्बन्ध का भी कोई प्रतियोगी तथा कोई अनुयोगी अवश्य होना चाहिये, तो फिर इस सम्बन्ध का प्रतियोगी तथा अनुयोगी क्या है ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। उत्तर यह है कि चाहे सामान्य को सम्बन्ध माना जाय और चाहे सामान्यज्ञान को सम्बन्ध माना जाय, दोनों का ही प्रतियोगी होगा इन्द्रिय और अनु-योगी होगा सामान्य का आश्रय, क्योंकि यह नियम है कि जिस सम्बन्ध के द्वारा जिससे किसी पदार्थ को सम्बद्ध किया जाता है वह उस सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है और जिसे सम्बद्ध किया जाता है वह अनुयोगी होता है, सामान्य अथवा सामान्यज्ञानरूप सम्बन्ध के द्वारा सामान्य के आश्रय को इन्द्रिय से सम्बद्ध करना है अतः इन्द्रिय इस सम्बन्ध का प्रतियोगी तथा सामान्य का आश्रय इस सम्बन्ध का अनुयोगी होगा।

प्रत्येक सम्बन्ध की प्रतियोगिता तथा अनुयोगिता के नियामक सम्बन्ध की अपेक्षा होती है क्योंकि ऐसा न मानने पर सम्बन्ध का कोई नियत पदार्थ ही प्रतियोगी और कोई नियत पदार्थ ही अनुयोगी न हो सकेगा, तो फिर इस सम्बन्ध की प्रतियोगिता और अनुयोगिता के नियामक सम्बन्ध क्या होंगे ? यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है, उत्तर यह है कि सामान्य को सन्निकर्ष मानने पर उसकी प्रतियोगिता का नियामक सम्बन्ध होगा स्वविषयकज्ञानविषयसंयोग, जैसे स्व है धूमत्वसामान्य, स्वविषयक ज्ञान है इन्द्रियसन्निकृष्ट धूम या बाष्प में धूमत्व का ज्ञान, उसका विषय है धूम या बाष्प, उसका संयोग है इन्द्रिय में, अतः इन्द्रिय धूमत्वस्वरूप सामान्य सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है। इसी प्रकार जो सामान्य जिस सम्बन्ध से आश्रित होता है वह उसकी अनुयोगिता का नियामक होता है, जैसे धूमत्व को सन्निकर्ष मानने पर उसकी अनुयोगिता का नियामक

समवाय होता है। और यदि सामान्यज्ञान को सन्निकर्ष माना जायगा तो उसकी प्रतियोगिता का नियामक होगा स्वविषयसंयोग, जैसे धूमत्वज्ञान को सन्निकर्ष मानने पर स्व है धूम या बाष्प में धूमत्व का ज्ञान, उसका विषय है धूम या बाष्प उसका संयोग है इन्द्रिय में अतः इन्द्रिय उसका प्रतियोगी होता है, उक्त सन्निकर्ष की अनुयोगिता का नियामक सम्बन्ध होगा स्वविषयसामान्याश्रयता, जैसे स्व है धूमत्वज्ञान, उसका विषयभूत सामान्य है धूमत्व, उसकी आश्रयता है धूम में, अतः धूम धूमत्वज्ञानात्मक सन्निकर्ष का अनुयोगी होता है।

इस प्रसङ्ग में यह ध्यान देने योग्य है कि सामान्यज्ञान जब मन का सन्निकर्ष माना जायगा तब उसकी प्रतियोगिता का नियामक उक्त सम्बन्ध न होगा किन्तु तब उसकी प्रतियोगिता का नियामक स्वाश्रयसंयोग होगा, जैसे धूमत्वज्ञान को मन का सन्निकर्ष मानने पर स्व है धूमत्वज्ञान, उसका आश्रय है आत्मा, उसका संयोग है मन में, अतः मन उसका प्रतियोगी है।

सामान्यज्ञान को सन्निकर्ष माननेवाले तार्किकों में मतभेद है, कुछ लोग सामान्यप्रकारक ज्ञान को तथा कुछ लोग सामान्यविषयक ज्ञान को सामान्यलक्षण सन्निकर्ष मानते है, पहला मत प्राचीन मत अथवा साम्प्रदायिक मत कहा जाता है। पहले मत के अनुसार यह सन्निकर्ष तभी सम्भव होगा जब किसी पदार्थ में सामान्य का प्रकारविधया ज्ञान होगा, किन्तु दूसरे मत के अनुसार केवल सामान्यप्रकारक ज्ञान ही सन्निकर्ष न होगा अपि तु उसके समान ही सामान्यविषयक निर्विकल्पक, सामान्यविशेष्यक एवं सामान्यसंसर्गक ज्ञान भी सन्निकर्ष होगा।

संक्षेप में निष्कर्ष यह है कि मतभेद से सामान्यलक्षण सन्निकर्ष के चार स्वरूप मान्य हैं—सामान्य, इन्द्रियजन्य सामान्यप्रकारक ज्ञान, सामान्यप्रकारक ज्ञान तथा सामान्यविषयक ज्ञान। सामान्य को सन्निकर्ष मानने में यह त्रुटि होती है कि जब किसी अनित्य सामान्य की अविद्यमानता में उसका भ्रम होने पर उसके वास्तव आश्रय का अलौकिक प्रत्यक्ष उत्पादनीय होगा तो उसकी उत्पत्ति न हो सकेगी क्योंकि उसका कारण अनित्य सामान्यरूप सामान्यलक्षण सन्निकर्ष उस समय विद्यमान न हो सकेगा। इन्द्रियजन्य सामान्यज्ञान को सन्निकर्ष मानने में त्रुटि यह है कि इन्द्रिय के भेद से उस सन्निकर्ष का भेद होने से गौरव होगा। सामान्यप्रकारक ज्ञान को सन्निकर्ष मानने में यह त्रुटि है कि, सामान्यविशेष्यक ज्ञान के अनन्तर अनुभव में आने वाले सामान्याश्रय के अलौकिक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति न हो सकेगी। इन्हीं सब त्रुटियों को दृष्टिगत कर नवीन नैयायिकों ने सामान्यविषयक ज्ञान को सामान्यलक्षण सन्निकर्ष मानकर इस प्रकार का कार्यकारणभाव स्वीकार किया है कि—

स्वप्रकारीभूततत्तत्सामान्याश्रयनिष्ठविषयता सम्बन्ध से प्रत्यक्ष के प्रति स्वविषयीभूततत्तत्सामान्याश्रयनिष्ठविषयता सम्बन्ध से ज्ञान कारण होता है इसके अनुसार धूमत्व के ज्ञान से समस्त धूम को विषय करने वाले धूमत्वप्रकारक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है, क्योंकि धूमत्वज्ञानरूप कारण स्वविषयीभूतसामान्याश्रयनिष्ठविषयता सम्बन्ध से समस्त धूम में रहता है, जैसे स्व है धूमत्वज्ञान, उसका विषयभूत सामान्य है धूमत्व, उसका आश्रय है समस्तधूम, तन्निष्ठ विषयता है ईश्वरज्ञानीय धूमनिष्ठ विषयता, वह समस्त धूम में रहती है, अतः उक्तसम्बन्ध से धूमत्वज्ञान के समस्त धूम में विद्यमान होने से उनमें स्वप्रकारीभूतसामान्याश्रयनिष्ठविषयता सम्बन्ध से धूमत्वप्रकारक प्रत्यक्ष का जन्म सर्वथा सुसंगत है, क्योंकि समस्त धूम में धूमत्वप्रकारक प्रत्यक्ष का उक्त सम्बन्ध अक्षुण्ण है, जैसे स्व है धूमत्वप्रकारक प्रत्यक्ष, उसमें प्रकारभूत सामान्य है धूमत्व, उसका आश्रय है समस्त धूम, तन्निष्ठ विषयता है उत्पन्न होने वाले धूमत्वप्रकारक प्रत्यक्ष की विषयता, वह विषयता है समस्तधूम में, अतः उक्तविषयता सम्बन्ध से समस्त धूम में धूमत्वप्रकारक प्रत्यक्ष का जन्म न्याय्य है।

प्रस्तुत कार्यकारणभाव के सम्बन्ध में इस प्रकार का एक प्रश्न उठ सकता है कि जैसे कारणभूत धूमत्वज्ञान के समस्त धूमविषयक न होने पर भी स्वविषयीभूतसामामान्याश्रयनिष्ठविषयता शब्द से ईश्वरज्ञानीयविषयता को लेकर उक्त सम्बन्ध से धूमत्वज्ञान का अस्तित्व समस्त धूम में हो जाता है उसी प्रकार कार्यभूत धूमत्वप्रकारक प्रत्यक्ष भी ईश्वरज्ञानीय विषयता को लेकर स्वप्रकारीभूतसामान्याश्रयनिष्ठ विषयता सम्बन्ध से उत्पन्न हो सकता है, तो फिर इस कार्यकारणभाव के आधार पर सामान्यलक्षण सन्निकर्ष द्वारा समस्तधूम को विषय करनेवाले धूमत्वप्रकारक प्रत्यक्ष का उदय कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि ईश्वरज्ञान यतः कार्यमात्र का कारण होता है अतः उसकी विषयता कारणतावच्छेदक सम्बन्ध तो बन सकती है पर ईश्वरज्ञान के अकार्य होने के कारण उसकी विषयता कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध नहीं बन सकती। इसलिये कार्यभूत धूमत्वप्रकारक प्रत्यक्ष को समस्त धूम का ग्राहक मानना आवश्यक है।

सामान्यज्ञान के सन्निकर्षत्वपक्ष में यह एक बात ध्यान में अवश्य रखी जानी चाहिये कि बाह्य इन्द्रिय से सामान्यज्ञान द्वारा सामान्य के समस्त आश्रयों को ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष का जन्म उसी स्थिति में होगा जब सामान्य के किसी एक आश्रय के बाह्येन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले लौकिक प्रत्यक्ष की सामग्री उपस्थित रहेगी, और जब इस प्रकार की कोई सामग्री न रहेगी उस दशा में सामान्य के समस्त आश्रय का बाह्य प्रत्यक्ष न होकर केवल मानस प्रत्यक्ष ही उत्पन्न होगा।

सामान्यलक्षण सन्निकर्ष क्यों ?

प्रश्न होता है कि जब अन्य देशस्थ तथा अन्यकालस्थ समस्त धूमों के प्रत्यक्ष होने का अनुभव लोक को नहीं होता तब उन सभी को इन्द्रिय सन्निकृष्ट बनाने की कोई आवश्यकता न होने से ज्ञायमान सामान्य अथवा सामान्यज्ञान को सन्निकर्ष मानने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यदि सामान्यलक्षण सन्निकर्ष को स्वीकार न किया जायगा तो कई अनुपपत्तियां होंगी, जैसे पर्वत में धूम को देखने पर दूर से पर्वतस्थ अग्नि का जो अनुमान होता है वह उक्त सन्निकर्ष के अभाव में न हो सकेगा क्यों कि उक्त अनुमान के लिये पर्वत में अग्निव्याप्ति से विशिष्ट धूम के ज्ञानरूप परामर्श का होना आवश्यक है, और उसके लिये पर्वतस्थ धूम में पर्वतस्थ अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान अपेक्षित है जो पर्वतस्थ अग्नि और धूम के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष न होने से सम्भव नहीं है, और जब सामान्यलक्षण सन्निकर्ष माना जायगा तब पाकशाला, यज्ञशाला आदि स्थानों में अग्नि और धूम के साहचर्य-सह अवस्थान का प्रत्यक्ष होने पर अग्नित्व तथा धूमत्वरूप सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से सार्वदेशिक और सार्वकालिक अग्नि और धूम के इन्द्रिय सन्निकृष्ट हो जाने से समस्त धूमों में समस्त अग्नि के साहचर्य का अलौकिक प्रत्यक्ष सम्भव होने से समस्त धूम में समस्त अग्नि की व्याप्ति का अलौकिक प्रत्यक्षात्मक अनुभव हो जायगा और उसके आधार पर कालान्तर में पर्वतस्थ धूम के दृष्टिगोचर होने पर उक्त रीति से उसमें पर्वतस्थ अग्नि की पूर्वानुभूत व्याप्ति का स्मरणात्मक ज्ञान हो जायगा और उस ज्ञान से पर्वत में अग्निव्याप्ति से विशिष्ट धूम के ज्ञानरूप परामर्श का उदय हो सकने से पर्वत में अग्नि का अनुमान होने में कोई बाधा न होगी।

उक्त सन्निकर्ष के अभाव में एक अन्य कारण से भी पर्वत में अग्नि का अनुमान न हो सकेगा, वह कारण है अनुमान में पर्वत के विशेषण रूप में भासित होनेवाले पर्वतस्थ अग्नि के ज्ञान का अभाव। आशय यह है कि पर्वत में अग्नि का जो अनुमान होगा उसमें पर्वतस्थ अग्नि विशेषण होगी, इसलिये वह अनुमान अग्निविशिष्टबुद्धिरूप होगा अतः विशिष्टबुद्धि में विशेषणज्ञान के कारण होने से उस अनुमान के लिये पूर्व में पर्वतस्थ अग्निरूप विशेषण का ज्ञान अपेक्षणीय होगा जो सामान्यलक्षण सन्निकर्ष को स्वीकार न करने पर पर्वतस्थ अग्नि के इन्द्रियसन्निकृष्ट न होने से सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार एक दो स्थानों में धूम में अग्नि का साहचर्य देखने पर इस प्रकार का सन्देह होता है कि 'धूमः अग्निव्याप्यो न वा' अर्थात् प्रत्यक्ष दृश्यमान धूम के समान ही क्या संसार के सारे धूम अग्नि से व्याप्त हैं अथवा कोई धूम अग्नि का व्यभिचारी

भी है ! सामान्यलक्षण सन्निकर्ष के अभाव में इस सन्देह का उदय न हो सकेगा, क्योंकि जो धूम सन्निहित है उसमें अग्नि की व्याप्ति-व्यभिचाराभाव प्रत्यक्ष निर्णीत है अतः उसमें अग्नि के व्यभिचार का सन्देह नहीं हो सकता और जो धूम असन्निहित है उसके ज्ञान का कोई उपाय न होने से वह अज्ञात है अतः उसमें भी उक्त सन्देह नहीं हो सकता क्योंकि सन्देह में धर्मिज्ञान कारण होता है। किन्तु जब सामान्य लक्षण सन्निकर्ष माना जायगा तब यह संकट नहीं होगा क्योंकि किसी धूम का लौकिक प्रत्यक्ष होने पर धूमत्व या धूमत्वज्ञानरूप सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से समस्त धूमों का अलौकिक प्रत्यक्ष हो जायगा, फलतः कोई धूम अज्ञात नहीं रहेगा। अतः जो धूम असन्निहित है किन्तु सामान्यलक्षणसन्निकर्ष द्वारा ज्ञात है उसमें अग्नि की व्याप्ति वा व्यभिचार का निर्णय न रहने से उसमें अग्निव्यभिचार का सन्देह होने में कोई बाधा न होगी।

सामान्यलक्षण सन्निकर्ष न मानने पर तम का प्रत्यक्ष न हो सकेगा क्योंकि जो जो तेज अपने को तथा अन्य को प्रकाशित करते हैं उन तेजों के अभावों का समुदाय अथवा उन सभी तेजों का सामान्याभाव ही तम कहा जाता है अतः उसका प्रत्यक्ष तभी होगा जब उसके प्रतियोगीभूत समस्त तेजों का ज्ञान हो क्योंकि अभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है, और सामान्यलक्षण सन्निकर्ष के अभाव में समस्त तेजों के ज्ञान का कोई उपाय नहीं है। पर यदि सामान्यलक्षण सन्निकर्ष माना जायगा तो किसी एक तेजका लौकिक प्रत्यक्ष होने पर तेजस्त्व वा तेजस्त्वज्ञानरूप सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से समस्त तेजों का ज्ञान सम्भव होने से तेज के अभावरूप तम के प्रत्यक्ष में कोई बाधा न होगी।

सामान्यलक्षण सन्निकर्ष न मानने पर प्रागभाव का प्रत्यक्ष न हो सकेगा, क्योंकि प्रागभाव का प्रतियोगी अनुत्पन्न पदार्थ ही होता है अतः उसके प्रत्यक्ष में प्रतियोगी के रूप में अनुत्पन्न पदार्थ का ही भान मानना पड़ेगा और यह तभी सम्भव होगा जब उसके साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष हो और अनुत्पन्न पदार्थ के साथ लौकिक सन्निकर्ष हो नहीं सकता अतः ज्ञानलक्षण अलौकिक सन्निकर्ष ही मानना होगा, किन्तु सामान्यलक्षण सन्निकर्ष के अभाव में वह भी सम्भव न होगा। पर जब सामान्यलक्षण सन्निकर्ष माना जायगा तब किसी एक घट का लौकिक प्रत्यक्ष होने पर घटत्व वा घटत्वज्ञानरूप सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से अनुत्पन्न घट का भी ज्ञान हो जायगा और फिर उस ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से प्रागभाव के प्रत्यक्ष में उसका भान होने में कोई बाधा न होगी।

सामान्यलक्षण सन्निकर्ष के अभाव में सुख की इच्छा न हो सकेगी क्योंकि इच्छा उसी वस्तु की होती है जो ज्ञात और अप्राप्त होती है, किन्तु सुख ज्ञात और अप्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि वही सुख अप्राप्त होगा जो अनुत्पन्न हो, और जो अनुत्पन्न होगा

वह सामान्यलक्षण के अभाव में किसी भी अन्य प्रकार से ज्ञात न हो सकेगा, किन्तु जब सामान्यलक्षण सन्निकर्ष माना जायगा तब किसी एक सुख का लौकिक प्रत्यक्ष होने पर सुखत्वरूप सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से अनुत्पन्न अप्राप्त सुख का भी अलौकिक प्रत्यक्ष हो जायगा अतः उस ज्ञात अप्राप्त सुख की इच्छा होने में कोई बाधा न होगी।

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि ने उक्त सभी प्रयोजनों का प्रकारान्तर से उपपादन कर सामान्यलक्षण सन्निकर्ष को अस्वीकृत कर दिया है।

इस विषय पर रघुनाथ और उनके गुरु पक्षधर मिश्र का मतभेद तथा शास्त्रार्थ सुप्रसिद्ध हैं। सामान्यलक्षणा के विरुद्ध रघुनाथ द्वारा उपस्थित किये गये तर्कों से त्रस्त हुये मिश्र की यह क्रोधोक्ति न्यायजगत् में सर्वविदित है—

वक्षोजपानकृत् काण ? संशये जाग्रति स्फुटम्।
सामान्यलक्षणा कस्मादकस्मादपलप्यते ॥

ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष—

जब कोई वस्तु ज्ञात होती है तब उस वस्तु के ज्ञान को उस वस्तु के साथ इन्द्रिय का ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष कहा जाता है, इस सन्निकर्ष के बल वस्तु किसी ऐसे ज्ञान का भी विषय बनती है जिसमें इन्द्रिय के लौकिक सन्निकर्ष से उसके भान की सम्भावना नहीं होती। जैसे घट का ज्ञान उत्पन्न होने पर वह ज्ञात घटके साथ मन का ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष होता है, और उस सन्निकर्ष से घटज्ञान के मानसप्रत्यक्ष में ज्ञान के विशेषणरूप में घट का भान होता है, यदि इस सन्निकर्ष को अस्वीकृत कर दिया जायगा तो 'घटं जानामि' घटज्ञान के इस मानस प्रत्यक्ष में ज्ञान के विशेषणरूप में घट का भान कैसे सम्भव होगा ? क्योंकि प्रत्यक्ष में इन्द्रियसन्निकृष्ट वस्तु का ही भान होता है और घट के साथ मन का लौकिक सन्निकर्ष नहीं होता।

इसी प्रकार उक्त सन्निकर्ष के अभाव में सीपी में रजतत्व और रस्सी में सर्पत्व आदि का भ्रम न हो सकेगा क्योंकि सीपी और रस्सी के साथ इन्द्रिय संयोग होने की दशा में रजतत्व और सर्पत्व के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष के सम्भव न होने से सीपी और रस्सी में रजतत्व और सर्पत्व का भ्रम न हो सकेगा, पर ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष माननेपर उक्त भ्रम के होने में कोई बाधा न होगी क्योंकि उक्त भ्रम में रजतत्व और सर्पत्व का प्रकारविधया भान होने से उसके पूर्व में उन धर्मों का ज्ञान अवश्य मानना होगा, फिर उस ज्ञानात्मक सन्निकर्ष के द्वारा भ्रम में उन धर्मों के भान होने में कोई बाधा न होगी।

चन्दन के सौरभ-सुगन्ध का अनुभव जिसे पहले कभी हुआ रहता है उसे चन्दन के सम्मुख आनेपर नेत्र से ही 'चन्दनं सुरभि—चन्दन सुगन्धयुक्त है, ऐसा प्रत्यक्ष होता हैं, इस प्रत्यक्ष में सौरभ का भान लौकिक सन्निकर्ष से सम्भव नहीं है, क्योंकि नेत्र के लौकिक सन्निकर्ष से गन्ध स्वभावतः अग्राह्य है, अतः उक्त प्रत्यक्ष में सौरभ के भान को उपपन्न करने के लिए ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष को स्वीकार करना आवश्यक है।

इस ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष का अनुयोगी वही होता है जो इस ज्ञान का विषय होता है अतः विषयता ही इस सन्निकर्ष की अनुयोगिता का नियामक होती है, और इस सन्निकर्ष का प्रतियोगी कभी मन होता है और कभी बाह्य इन्द्रियां होती हैं, मन में इस सन्निकर्ष की प्रतियोगिता का नियामक है स्वाश्रयसंयोग, जैसे स्व है घटज्ञान उसका आश्रय है आत्मा, उसका संयोग है मन में। बाह्य इन्द्रियां भी इस सन्निकर्ष का प्रतियोगी होती हैं उनमें इस सन्निकर्ष की प्रतियोगिता का नियामक है स्वाश्रयसंयुक्तसंयोग, जैसे स्व है रजतत्वादिका ज्ञान, उसका आश्रय है आत्मा, उससे संयुक्त है मन और मन से संयुक्त हैं बाह्य इन्द्रियां।

सामान्यलक्षण और ज्ञानलक्षण का परस्पर भेद—

प्रश्न होता है कि सामान्य को सामान्यलक्षण सन्निकर्ष मानने पर ज्ञानलक्षण से उसका भेद तो स्फुट है किन्तु सामान्यज्ञानको सामान्यलक्षण सन्निकर्ष मानने पर उन दोनों में स्वरूपकृत भेद तो सम्भव नहीं है तो फिर उन दोनों में क्या भेद है? उत्तर स्पष्ट है और वह यह है कि सामान्यलक्षण का अनुयोगी होता है उसके विषयभूत सामान्य का आश्रयभूत पदार्थ और ज्ञानलक्षण का अनुयोगी होता है उसका विषयभूत पदार्थ। इसी तथ्य को विशद करते हुए विश्वनाथ ने अपने भाषापरिच्छेद में कहा है कि—

> आसत्तिराश्रयाणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते।
> विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणः ॥

ज्ञानलक्षण अपने विषयभूत पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है और सामान्यज्ञानात्मक सामान्यलक्षण सन्निकर्ष अपने विषयभूत सामान्य के आश्रय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है। जैसे घटत्व का ज्ञान ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष के रूप में उपस्थित होने पर घटत्व के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है और उस सन्निकर्ष से घटत्व का ही प्रत्यक्ष होता है, और जब वही घटत्व का ज्ञान सामान्यलक्षण सन्निकर्ष का कार्य करने को प्रस्तुत होता है तब वह घटत्व के आश्रय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है और उस सन्निकर्ष से समस्त घटों का प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है।

योगज सन्निकर्ष—

पुराण आदि शास्त्रों में यह उल्लेख बार बार प्राप्त होता है कि योगियों को समीपस्थ, सम्मुखस्थ, वर्तमान, स्थूल वस्तुओं के समान ही दूरस्थ, पृष्ठस्थ, भूत, भविष्यद् तथा परम सूक्ष्म वस्तुवों का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है। प्रश्न उठता है कि यह प्रत्यक्ष उन्हें कैसे सम्भव हो पाता है? क्यों कि इन्द्रियों की क्षमता सीमित है, वह तो, जिन वस्तुओं के साथ उक्त छः सन्निकर्षों में कोई सन्निकर्ष सम्भव होता है, केवल उन्हीं वस्तुओं के प्रत्यक्ष को जन्म दे पाती हैं, तो फिर दूरस्थ, पृष्ठस्थ, भूत और भावी पदार्थ जिनमें इन्द्रिय के उक्त सन्निकर्ष कथमपि सम्भव नहीं हैं, योगी को उनका प्रत्यक्ष कैसे हो जाता है?

इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये योगज सन्निकर्ष को मान्यता दी गई है। आशय यह है कि लम्बे समय तक लगातार योग का अभ्यास करने पर साधक में एक विशेष प्रकार के सामर्थ्य का उदय हो जाता है जिसे न्याय शास्त्र में योगज धर्म शब्द से अभिहित किया गया है, यह सामर्थ्य ही—यह धर्म ही सर्वदेशस्थ और सर्वकालस्थ समस्त वस्तुओं के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष बन जाता है, फलतः जिन वस्तुओं के साथ इन्द्रिय के उक्त छः लौकिक सन्निकर्ष, तथा सामान्यलक्षण और ज्ञानलक्षणरूप अलौकिक सन्निकर्ष नहीं होते उनके साथ भी योगी की इन्द्रिय का यह योगज—योगाभ्यासजन्य धर्मरूप सन्निकर्ष हो जाता है, अतः किसी स्थान और किसी भी काल की कोई एक वस्तु भी ऐसी नहीं बचती जो योगी की इन्द्रिय से सन्निकृष्ट न हो, इसलिये सभी वस्तु योगी को प्रत्यक्षगम्य हो जाती है, कोई वस्तु उसके लिये अप्रत्यक्ष नहीं रह पाती।

प्रश्न होता है कि योगज धर्म तो योगी के आत्मा में समवेत होता है, आत्मभिन्न वस्तुवों में तो रहता नहीं, फिर वह समस्त वस्तुवों के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष कैसे बन जाता है? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि योगज धर्म समवाय सम्बन्ध से योगी के आत्मा में ही रहता है, यह ठीक है, किन्तु स्वाश्रयसमानकालिकत्व सम्बन्ध से वह सर्वदेशस्थ और सर्वकालस्थ सभी वस्तुओं में रहता है, जैसे स्वाश्रयसमानकालिकत्व में स्व का अर्थ है योगज धर्म, उसका आश्रय है योगी की आत्मा, उसका समानकालिक है संसार का सम्पूर्ण पदार्थ, अतः इस सम्बन्ध से योगज धर्म के सर्ववस्तुगामी होने से समस्त पदार्थ इस योगजधर्मात्मक सम्बन्ध के अनुयोगी हो सकते हैं, इसी प्रकार योगी की इन्द्रियां इस सम्बन्ध का प्रतियोगी भी बन सकती हैं क्योंकि योगी की बाह्य इन्द्रियों के साथ योगजधर्म का स्वाश्रयसंयुक्तसंयोग सम्बन्ध होता है और योगी के आन्तर इन्द्रिय मन के साथ स्वाश्रयसंयोग सम्बन्ध होता है, अतः इन सम्बन्धों के द्वारा इन्द्रिय के योगजधर्मात्मक सम्बन्ध के प्रतियोगी होने में कोई बाधा नहीं है। फलतः उक्त

सम्बन्धों के द्वारा वस्तुगत और इन्द्रियगत होने से योगज धर्म के उन दोनों के बीच सन्निकर्ष होने में कोई अड़चन नहीं हो सकती।

विश्वनाथ ने भाषापरिच्छेद-कारिकावली में इस सन्निकर्ष का परिचय देते हुये इसके दो भेद बताये हैं—युक्तयोगज और युञ्जान योगज। जो साधक युक्त अर्थात् सर्वथा योगसिद्ध हो चुका होता है उसका योगजधर्म युक्तयोगज कहा जाता है, इस सन्निकर्ष से सिद्ध योगी को सब वस्तुओं का सदैव प्रत्यक्ष होता रहता है और जो साधक योगाभ्यास में लगा होता है, जिसकी साधना समाप्त नहीं हुई होती है उसका योगज धर्म युञ्जानयोगज कहा जाता है, इससे वस्तुओं का प्रत्यक्ष युञ्जान योगी को उसी समय होता है जब वह सावधान हो चिन्तन की मुद्रा में अवस्थित होता है। यही बात निम्न कारिकार्ध में व्यक्त की गई है—

युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः।

अलौकिक सन्निकर्ष और तर्कभाषाकार—

इन त्रिविध अलौकिक सन्निकर्षों के विषय में दार्शनिकों के बीच बड़ा मतभेद है, वेदान्त आदि दर्शनों में इन सन्निकर्षों को कोई मान्यता नहीं दी गई है। अनेक नैयायिक विद्वानों ने भी इसके सम्बन्ध में अपनी असम्मति प्रकट की है, इन सन्निकर्षों के विरुद्ध विभिन्न दर्शनग्रन्थों में जो बातें कही गई हैं उनकी चर्चा से अनावश्यक विस्तार होगा, अतः उनका उल्लेख न करते हुए इतना ही कहा जा सकता है कि तर्कभाषाकार को भी इन सन्निकर्षों के विरुद्ध कही हुई अन्यान्य विद्वानों की बातें सम्भवतः मान्य हैं, अन्यथा लौकिक सन्निकर्षों के समान अलौकिक सन्निकर्षों की भी संक्षिप्त चर्चा उन्होंने अवश्य की होती।

विषय इन्द्रियों से किस प्रकार सन्निकृष्ट होते हैं ?

दूरस्थ, पृष्ठस्थ, भूत और भावी पदार्थों का लौकिक प्रत्यक्ष न होने से यह निर्विवाद है कि किसी भी पदार्थ के लौकिक प्रत्यक्ष के लिये उसके साथ इन्द्रिय का लौकिक सन्निकर्ष होना आवश्यक है, पर प्रश्न है कि यह हो कैसे ? क्योंकि इन्द्रियां तो द्रष्टा के शरीर में अवस्थित रहती हैं और ग्राह्य वस्तुएँ शरीर से बाहर दूर विद्यमान होती हैं। उत्तर में यह कहा जा सकता है कि द्रष्टा के शरीर में दो प्रकार की इन्द्रियाँ हैं—एक वह जो शरीर से बाहर जा विषय के साथ सम्पर्क स्थापित कर सकती हैं और दूसरी वह जो शरीर से बाहर नहीं जा सकतीं किन्तु उनके निकट वस्तु के पहुँचने पर वह उनसे सम्पर्क स्थापित कर सकती हैं। पहले प्रकार में एक ही इन्द्रिय आती है और वह है चक्षु। चक्षु की रचना तेज के परमाणुवों से होती है, वह आँख के भीतर काली पुतली

के ऊपरी भाग पर अवस्थित रहती है, तेज से उत्पन्न होने के कारण वह द्रुतगामी किरणों से सम्पन्न होती है, अतः जब कभी द्रष्टा की आँख खुलती है तब तत्काल ही वह किरणों द्वारा सामने पड़ी बाहर की वस्तुओं पर पहुँच जाती हैं और उन्हें अपने सन्निकर्ष से प्रत्यक्षगम्य बना देती है। अन्य सभी इन्द्रियाँ—जैसे घ्राण, रसना, त्वक् और श्रोत्र किसी भी रूप में अपने स्थान का परित्याग नहीं करतीं, जब वायु आदि के सहयोग स कोई गन्धयुक्त पदार्थ घ्राण के, कोई रसयुक्त पदार्थ रसना के, कोई स्पर्शयुक्त पदार्थ त्वक् के और कोई शब्द श्रोत्र के निकटवर्ती होता है तब ये इन्द्रियाँ अपने निश्चित स्थान पर ही अपने ग्राह्य वस्तु गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द से सन्निकर्ष स्थापित कर उनका प्रत्यक्ष अनुभव उत्पन्न करती हैं।

आन्तर इन्द्रिय-मन भी अपने अधिकृत स्थान की सीमा का अतिक्रमण नहीं करता वह देह के भीतर ही आत्मा और उसके सुख, दुःख आदि गुणों से अपना सम्पर्क स्थापित कर उसका प्रत्यक्ष करा देता है।

इस प्रकार सभी इन्द्रियों से सन्निकृष्ट पदार्थ का ही ग्रहण होने से न्यायशास्त्र में उन्हें प्राप्यकारी—प्राप्त अर्थात् सन्निकृष्ट वस्तु का प्रकाशक माना गया है।

प्रत्यक्ष के सम्बन्ध मे अन्य दर्शनों के मत—

न्याय और वैशेषिक दर्शन म ज्ञान को आत्मा का गुण माना गया है, इस मान्यता के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के प्रकार का वर्णन संक्षेप से किया गया, किन्तु सांख्य, योग, वेदान्त आदि दर्शनों में ज्ञान को आत्मा का गुण न मान कर बुद्धि-चित्त का धर्म माना गया है, अतः उन दर्शनों की मान्यता के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति का प्रकार न्यायवैशेषिक सम्मत प्रकार से भिन्न पड़ता है जैसे—

सांख्यमत—

सांख्यमत में बुद्धि, जिसे महत्तत्त्व, अन्तःकरण, सत्त्व, चित्त आदि शब्दों से व्यवहृत किया गया है, एक तैजस पदार्थ के समान है, प्रमाणों द्वारा ग्राह्य पदार्थ के आकार में उसका परिणमन होता है, बुद्धि का यह अर्थाकार परिणाम ही ज्ञान कहलाता है, परिणाम सदैव परिणामी-परिणममान वस्तु में ही आश्रित होता है, अतः यह अर्थाकार परिणामात्मक ज्ञान भी परिणामिनी बुद्धि में ही आश्रित होता है, इसीलिये ज्ञान आत्मधर्म या आत्मगुण न होकर बुद्धिधर्म होता है। बुद्धि का यह अर्थाकार परिणाम यदि अनुमान, वा शब्द रूप परोक्ष प्रमाण से अथवा पदार्थ को ग्रहण करने के लिये शरीर से बाहर न जाने वाली घ्राण, रसना, त्वक् आदि इन्द्रियों से प्रादुर्भूत होता है तो यह ज्ञाता के शरीर के भीतर ही होता है, किन्तु जब इसका प्रादुर्भाव चक्षु से होने

को होना है तब शरीर से बाहर विषय देश में चक्षु की किरणों के साथ बुद्धि का भी अंशतः गमन होता है और वहीं विषय के आकार में उसका परिणमन होता है। ग्राह्य विषय यदि कोई मूर्त पदार्थ होता है, यदि उसका त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल, लम्बा, चौड़ा, पतला, आदि कोई आकार होता है तो यह बुद्धिपरिणाम उसे ग्रहण कर लेता है। अर्थात् बुद्धि विषय देश में पहुँचने पर विषय के त्रिकोण आदि आकारों में ही परिणत हो जाती है, किन्तु यदि ग्राह्य विषय की कोई मूर्ति नहीं होती, उसका कोई आकार नहीं होता तब बुद्धि भी किसी आकार में नहीं परिणत होती, ऐसे विषय के सम्बन्ध में बुद्धि का परिणाम भी अमूर्त-अनाकार होता है। पर यह तो सत्य है कि ऐसे विषयों में होने वाला बुद्धिपरिणाम भी अर्थाकार परिणाम ही कहा जाता है। प्रश्न होता है कि ऐसे प्रसङ्गों में आकार का क्या अर्थ होगा ? उत्तर यह है कि ज्ञान शब्द से व्यवहृत होने वाले अर्थाकार बुद्धिपरिणाम में जिस आकार की चर्चा होती है वह अर्थ की मूर्ति, अर्थ की कोई आकृति नहीं होती किन्तु वह अर्थ के साथ बुद्धि का एक प्रकार का सम्बन्ध होता है, इसलिये अर्थाकार बुद्धिपरिणाम का अर्थ है बुद्धिगत अर्थ का सम्बन्ध, यह सम्बन्ध ही ज्ञान है जो प्रमाणों से प्रादुर्भूत होता है, यह चक्षु से तब प्रादुर्भूत होता है जब बुद्धि चक्षु का अनुगमन करती हुई विषयदेश में पहुँचती है, किन्तु प्रमाणों से इस बुद्धि-अर्थसम्बन्ध के उदय में अर्थदेश में बुद्धि के गमन की आवश्यकता नहीं होती।

इस सन्दर्भ में इतना और समझना आवश्यक है कि बुद्धि का विषयाकार परिणाम हो जाने मात्र से ही विषय की अवगति नहीं होती किन्तु उसके लिये चैतन्य-प्रकाश का संस्पर्श अपेक्षित होता है, बुद्धि निसर्गतः जड़ होती है अतः उसमें वह प्रकाश नहीं होता, अतः विषय के आकार में परिणत हुई बुद्धि में चैतन्यघन-प्रकाशपुञ्जात्मक आत्मा-पुरुष के प्रतिबिम्ब की आवश्यकता होती है। जब बुद्धि इस प्रतिबिम्ब को प्राप्त कर लेती है तो वह सच्चे प्रकाशपिण्ड के समान चमक उठती है और अपने सम्पर्क में आये पदार्थ को प्रकाशित करने लगती है, इस प्रकार किसी पदार्थ के ज्ञान के समय दो घटनायें होती हैं, बुद्धि का विषयाकार परिणाम और विषयाकारपरिणता बुद्धि में पुरुष-चैतन्य का प्रतिबिम्ब। इन दोनों में पहले को प्रमा मानने पर उसे उत्पन्न करने वाली इन्द्रिय, लिङ्ग अथवा शब्द को प्रमाण कहा जायगा और दूसरे को प्रमा मानने पर विषयाकार बुद्धिपरिणाम को ही प्रमाण कहा जायगा।

बुद्धिगत अर्थाकार परिणाम को प्रमाण तथा पुरुष के साथ उक्त परिणाम के प्रतिबिम्बमूलक सम्बन्ध को प्रमा मानने का पक्ष प्रबल और बहुसंख्यसम्मत है। योगदर्शन, व्यासभाष्य १, ७ में इसी पक्ष को मान्यता दी गई है, वहाँ का वचन इस प्रकार है—

'इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्, फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः' ।

आशय यह है कि इन्द्रिय अपने स्थान से विषयदेश तक प्रणालिका-नाली के समान फैल जाती है, निर्मल जल जैसा स्वच्छ चित्त-बुद्धितत्त्व उस नाली के रास्ते विषय देश में पहुँच कर विषय से सम्पर्क कर लेता है, उसके फलस्वरूप चित्त का अर्थाकार परिणमन होता है जिसे चित्तवृत्ति या बुद्धिवृत्ति कहा जाता है। पदार्थ में दो अंश होते हैं—सामान्य और विशेष। इन्द्रियजन्य उक्त वृत्ति में पदार्थ का सामान्य अंश गौण और विशेष अंश प्रधान होकर भासित होता है। यही वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण कही जाती है। पुरुष में यह वृत्ति प्रतिबिम्बित होती है, जिसके फलस्वरूप उसके साथ वृत्ति का एक सम्बन्ध सा बन जाता है जिससे उक्त वृत्ति का बोध पौरुषेय कहा जाने लगता है, पौरुषेय कहा जानेवाला यह बोध ही प्रमा कहा जाता है।

अर्थाकार बुद्धिवृत्ति को प्रमाण और पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ने से पुरुषगतत्वेन उस वृत्ति के बोध को प्रमा मानने के पक्ष में एक बहुत ही स्पष्ट त्रुटि है जिसके कारण इस व्याससम्मत मत को ठीक उसी रूप में मान्यता देने में निष्पक्ष मनीषी को बड़ी कठिनाई है। वह त्रुटि यह है कि अर्थाकार बुद्धिवृत्ति वास्तव में बुद्धि का धर्म होने से बुद्धि में ही आश्रित होती है, पुरुष तो निर्धर्मक और कूटस्थ है अतः वह उसमें कदापि, कथमपि आश्रित नहीं हो सकती। फिर भी उसमें पुरुषगतत्व का बोध इसलिये होता है कि वह अपनी आधारभूता बुद्धि के साथ पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है। ऐसी स्थिति में यह अत्यन्त स्पष्ट है कि बुद्धिवृत्ति में पुरुषगतत्व का बोध प्रतिबिम्बदोषमूलक भ्रम है। फिर इस भ्रम को प्रमा कहने में क्या औचित्य है? इस प्रकार इस दृष्टि से पूरे सन्दर्भ पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि इन्द्रिय, लिङ्ग और शब्द ही वास्तव में प्रमाण हैं और उनसे प्रादूर्भूत होने वाली अर्थाकार बुद्धिवृत्ति ही प्रमा है, बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बमूलक पुरुषगतत्व का बोध तो निरा भ्रम है। हाँ, इस बोध का हान-उपादानलक्षण व्यवहार में अनन्यथासिद्ध उपयोगिता है और इसकी भ्रमात्मकता का मनुष्य के व्यवहार पर, यदि इस बोध की विषयभूता बुद्धिवृत्ति यथार्थ है, तो कोई अवांछनीय प्रभाव नहीं हो सकता। केवल इस कारण यदि इस बोध को प्रमा शब्द से अभिहित किया जाय तो दूसरी बात है, पर इससे यथार्थ में इस बोध की प्रमात्मकता नहीं प्रतिष्ठापित हो सकती। इसलिये व्यासभाष्य में उक्त पौरुषेय बोध को जो प्रमा कहा गया है, व्यास की सर्वज्ञता पर आस्था रख उक्त रीति से ही उस कथन की उपपत्ति करना उचित प्रतीत होता है।

बुद्धितत्त्व और पुरुष के बीच किसमें किसका प्रतिबिम्ब होता है ?

बुद्धितत्त्व और पुरुष के मध्य कौन किसमें प्रतिबिम्बित होता है, इस सम्बन्ध में दो मत प्रसिद्ध हैं, एक वाचस्पति मिश्र का और दूसरा विज्ञानभिक्षु का। मिश्र के मतानुसार बुद्धितत्त्व में पुरुष का प्रतिबिम्ब होता है न कि पुरुष में बुद्धितत्त्व का, इस मत के समर्थन में उनकी ओर से यह कहा जा सकता है कि किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब उसी पदार्थ में मान्य हो सकता है जो प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर सके, बुद्धितत्त्व कर्तृस्वभाव से सम्पन्न होने के कारण प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर सकता है अतः उसमें प्रतिबिम्ब का होना माना जा सकता है, पर पुरुष में प्रतिबिम्ब का उदय नहीं माना जा सकता क्योंकि वह कूटस्थ अकर्ता होने के कारण प्रतिबिम्ब को ग्रहण नहीं कर सकता। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका की अपनी व्याख्या सांख्यतत्त्वकौमुदी में पाँचवी कारिका का व्याख्यान करते हुये इस मत को स्पष्ट रूप में संकेतित किया है, उनका कथन इस प्रकार है—

'सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्तिना ज्ञानसुखादिना तत्प्रतिबिम्बितस्तच्छायापत्त्या ज्ञानसुखादिमानिव भवति।'

इस वाक्य में आये 'तत्प्रतिबिम्बितः' और 'तच्छायापत्त्या' इन शब्दों में 'तत्' पद से बुद्धितत्त्व विवक्षित है अतः इस वाक्य का यह अर्थ होता है कि—

पुरुष बुद्धितत्त्व में प्रतिबिम्बित होता है, जिसके फलस्वरूप उसमें बुद्धितत्त्व की छायापत्ति-सादृश्यप्राप्ति हो जाती है और इस कारण वह बुद्धितत्त्व के ज्ञान, सुख आदि धर्मों से उन धर्मों के आश्रय जैसा हो जाता है। वास्तव में ज्ञान, सुख आदि से शून्य होते हुये भी वह उन धर्मों का आधार सा प्रतीत होने लगता है।

उक्त वाक्य में आये 'तच्छायापत्त्या' शब्द का कई व्याख्याकारों ने 'तत्तादात्म्यापत्त्या' अथवा 'तदभेदापत्त्या' अर्थ किया है, जिससे वाचस्पति मिश्र का यह आशय प्रतीत होने लगता है कि बुद्धितत्त्व में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने से पुरुष में बुद्धितत्त्व के अभेद की प्राप्ति होती है, इस अभेदप्राप्ति के कारण बुद्धितत्त्व के ज्ञान, सुख आदि धर्म पुरुष में प्रतीत होने लगते हैं। किन्तु मिश्र का यह आशय मानना उचित नहीं है क्योंकि विचार करने पर ज्ञात होता है कि पुरुष में बुद्धितत्त्व के धर्मों की प्रतीति होने के लिये उन दोनों में अभेदापत्ति की कोई आवश्यकता नहीं है, उक्त प्रतीति तो उन दोनों में परस्पर भेद के अज्ञानमात्र से ही उपपन्न हो सकती है, अतः 'तच्छायापत्ति' का "तत्तादात्म्यापत्ति' अर्थ मानना अनावश्यक है, साथ ही यह अर्थ उचित भी नहीं है क्योंकि जहाँ कहीं भी किसी पदार्थ में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब होता है वहाँ प्रतिबिम्बित होने वाली वस्तु में प्रतिबिम्बग्राही पदार्थ के अभेद की प्रतीति नहीं देखी जाती, जैसे

दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ने पर मुख में दर्पण के अभेद की प्रतीति किसी को भी मान्य नहीं है।

विज्ञानभिक्षु के मतानुसार पुरुष में बुद्धितत्त्व का प्रतिबिम्ब पड़ता है न कि बुद्धितत्त्व में पुरुष का, उनके इस मत के समर्थन में यह बात कही जाती है कि किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब उसी पदार्थ में उदित होता है जो प्रतिबिम्ब धारण के लिये अपेक्षित स्वच्छता से सम्पन्न होता है, पुरुष निसर्गतः निर्विकार होने से नितान्त स्वच्छ है अतः उसमें प्रतिबिम्ब का उदय युक्तिसंगत है, बुद्धितत्त्व के विकारी होने से उसमें पुरुष जैसी स्वच्छता नहीं है, अतः उसमें प्रतिबिम्ब का उदय मानना उचित नहीं प्रतीत होता, बुद्धितत्त्व में पुरुष का प्रतिबिम्ब मानने में एक और बाधा है, और वह है पुरुष की निर्धर्मकता। आशय यह है कि प्रतिबिम्ब उसी वस्तु का मान्य होता है प्रतिबिम्बग्राही पदार्थ में जिसकी कोई छाया पड़ती है, जिसका उसमें कुछ धर्म अवगत होता है, पुरुष यतः छायाहीन तथा निर्धर्मक है अतः उसका प्रतिबिम्ब मानने से बुद्धितत्त्व में उसकी कोई छाया नहीं पड़ सकती, उसमें उसका कोई धर्म नहीं अवगत हो सकता, इसलिये बुद्धितत्त्व में पुरुष का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता, विज्ञानभिक्षु ने अपने इस मत के समर्थनार्थ सांख्यप्रवचन भाष्य १।१।३ में एक अत्यन्त उपयुक्त पद्य का उद्धरण दिया है जो इस प्रकार है—

तस्मिँश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः॥

जिस प्रकार तालाब के तट पर उगे वृक्ष तालाब में प्रतिबिम्बित होते हैं ठीक उसी प्रकार पुरुष के निकटवर्ती-पुरुष से भिन्न प्रतीत न होने वाले बुद्धितत्त्व की समस्त वृत्तियाँ चिदात्मक पुरुषरूप स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्बित होती हैं। तालाब और तटद्रुम की उपमा से यह स्पष्ट है कि जैसे तटद्रुम की अस्वच्छता के कारण उसमें तालाब का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ पाता किन्तु स्वच्छ तालाब में तटद्रुम का ही प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार बुद्धितत्त्व के अस्वच्छ होने के कारण उसमें पुरुष का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता किन्तु स्वच्छ पुरुष में बुद्धितत्त्व का ही प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। अतः स्पष्ट है कि पुरुष में बुद्धितत्त्व का प्रतिबिम्ब होता है यह पक्ष ही न्यायसंगत है।

अद्वैत वेदान्त के मतानुसार प्रत्यक्ष ज्ञान के उदय की प्रक्रिया इस प्रकार है—

जब द्रष्टा के बाह्य करण-चक्षु आदि इन्द्रिय का किसी वस्तु के साथ सम्पर्क होता है तब उस इन्द्रिय के माध्यम से उसके अन्तःकरण का भी उस वस्तु के साथ सम्पर्क हो जाता है और उस सम्पर्क के फलस्वरूप उस वस्तु के आकार में अन्तःकरण का

परिणाम होता है जिसे अन्तःकरण की वृत्ति कहा जाता है, वृत्ति और ग्राह्य वस्तु के एकदेशस्थ होने से वृत्तिचैतन्य–ग्राहक चैतन्य और ग्राह्य चैतन्य में ऐक्य हो जाता है, ग्राह्य चैतन्य के साथ एकीभूत यह वृत्तिचैतन्य ही प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है जो उक्त रीति से सम्पन्न होता है।

तथ्य यह है कि अद्वैतवेदान्त के मत में अद्वितीय चैतन्य ही एकमात्र परमार्थभूत वस्तु है उसी में सारा जगत् अज्ञानद्वारा कल्पित है, इस कल्पित जगत् की भिन्न भिन्न वस्तुएँ उस चैतन्य का अवच्छेद करती हैं, उसमें नानात्व की परिकल्पना करती हैं जिससे वह एक ही चैतन्य तत्तद् वस्तुओं से अवच्छिन्न होकर अनेक चैतन्य का स्वरूप प्राप्त कर लेता है। अवच्छिन्न चैतन्य के मुख्यतया तीन भेद हो सकते हैं–प्रमातृ चैतन्य—अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य अर्थात् ज्ञाता पुरुष, प्रमाणचैतन्य—वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य और प्रमेय चैतन्य अर्थात् विषयावच्छिन्न चैतन्य। जब इन तीनों चैतन्यों में ऐक्य होता है तब प्रत्यक्षज्ञान की प्रक्रिया पूर्ण होती है। इन चैतन्यों का ऐक्य उस स्थिति में होता है जब उनके तीनों अवच्छेदक, अन्तःकरण, वृत्ति और विषय एकत्र होते हैं, अवच्छेदकों का यह एकत्र समागम उसी दशा में होता है जब इन्द्रिय द्वारा विषय-देश में अन्तःकरण और उसकी वृत्ति दोनों का सन्निधान होता है, यह सन्निधान प्रत्यक्षज्ञान की प्रक्रिया में ही सम्भव होता है क्योंकि उक्त प्रक्रिया में इन्द्रिय के माध्यम से अन्तःकरण का विषय-देश में गमन तथा वहीं उसकी विषयाकार वृत्ति का जनन होता है, इस प्रकार अन्तःकरण, वृत्ति और विषय के एकदेशस्थ होने से उन तीनों से अवच्छिन्न चैतन्यों में भेद का तिरोधान हो उनमें एकत्व की स्थापना हो जाती है।

बौद्धमत

बौद्धमत में अर्थजन्य ज्ञानको ही प्रमाणभूत प्रत्यक्ष माना जाता है अतः प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक, सविकल्पक भेदों में केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाणभूत प्रत्यक्ष हो सकता है क्योंकि स्वलक्षण–अपने सहज स्वरूप से भिन्न सभी प्रकार के लक्षणों से शून्य वस्तुमात्र को विषय करनेके कारण एकमात्र वही तथाविध वस्तुरूप अर्थ से जन्य होता है, सविकल्पक प्रत्यक्ष तो निर्विकल्पक द्वारा उपस्थित की गई वस्तु को नाम, जाति आदि कल्पित पदार्थों से जोड़ता है, सत्य वस्तु को इन असत्य पदार्थों के परिवेष में ग्रहण करता है, अतः वह अर्थ—प्रमाणसिद्ध वस्तु से जन्य न होने के कारण प्रमाण नहीं हो सकता। आशय यह है कि जिस वस्तु को नाम, जाति आदि द्वारा व्यवहृत किया जाता है वह तो अज्ञात काल से प्रवृत्त एक स्वाभाविक कार्यकारणप्रवाह का घटक होने के कारण अपने स्वरूप में सत्य हो सकता है पर प्रकाश में आते ही उसे जिन नाम, जाति आदि पदार्थों से जोड़ दिया जाता है वे तो मनुष्य की एकमात्र कल्पना की ही देन हैं। उनमें

नाम की काल्पनिकता में तो किसी को कोई विवाद नहीं होता क्योंकि नाम के विषय में यह सर्वसाधारण मान्यता है कि नाम सभी सांकेतिक होते हैं, पर जाति की काल्पनिकता में विवाद है। न्यायवैशेषिक दर्शन में जाति को भावात्मक सत्य पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है और बड़ी दृढ़ता के साथ कहा गया है कि भावात्मक जाति को स्वीकार न करने पर अनुगत प्रतीति, अनुगत व्यवहार तथा अनेकों कार्यकारणभाव आदि की उपपत्ति न की जा सकेगी। जैसे विभिन्न देश और विभिन्न काल की विभिन्न गो व्यक्तियों में यदि गोत्व जाति न होगी तो किसके आधार पर उन सभी में 'यह गौ है, यह भी गौ है, वह भी गौ है' इस प्रकार एक ढंग की प्रतीति हो सकेगी ? और किसके आधार पर उन सभी के लिए एक गो शब्द का प्रयोग हो सकेगा ? इसी प्रकार विभिन्न पटों और तन्तुवों में यदि पटत्व और तन्तुत्व जातियाँ न मानी जायगी तो पटसामान्य के प्रति तन्तुसामान्य कारण होता है इस कार्यकारणभाव की स्थापना किस आधार पर की जा सकेगी ? अतः अनुगत प्रतीति, अनुगत व्यवहार और अनुगत कार्यकारणभाव आदि के उपपादनार्थ भावात्मक जाति का अभ्युपगम अनिवार्य है।

न्यायवैशेषिक दर्शन की इस जातिविषयक मान्यता के विरुद्ध बौद्ध मनीषियों का यह तर्क है कि गोत्व आदि जातियोंका भावात्मक अस्तित्व मानने पर कई ऐसे संकट उपस्थित होते हैं जिनका परिहार करना कथमपि सम्भव नहीं हो सकता, जैसे समस्त गो व्यक्तियों में एक गोत्व जाति का अस्तित्व मानने पर यह प्रश्न उठता है कि जब कभी कहीं कोई एक गौ उत्पन्न होती है तब उसी के साथ उस व्यक्ति में क्या गोत्व की भी उत्पत्ति होती है ? और जब कोई गो व्यक्ति नष्ट होती है तब क्या उस व्यक्ति के साथ उसमें ज्ञात होने वाला गोत्व भी नष्ट हो जाता है ? उत्तर में 'हाँ' नहीं कहा जा सकता क्योंकि यदि गोत्व का जन्म और विनाश माना जायगा तो वह समस्त गौ में आश्रित होने वाली एक नित्य जाति न हो सकेगी और यदि उसका जन्म और विनाश न माना जायगा तब यह प्रश्न होगा कि कहीं किसी गो व्यक्ति का जन्म होने पर उसमें गोत्व का सम्बन्ध कैसे होगा ? क्या जहाँ गौ का जन्म होता है वहाँ पहले से ही गोत्व अवस्थित रहता है और गौ के उत्पन्न होते ही वह उस पर आरूढ़ हो जाता है अथवा किसी अन्य स्थान से आकर उस नयी गौ को अपना आस्पद बनाता है ? दोनों ही पक्ष दोषयुक्त हैं, क्योंकि यदि गौ की उत्पत्ति के पूर्व गौ के उत्पत्तिस्थान में गोत्व का अस्तित्व माना जायगा तब वह स्थान भी गौ हो जायगा क्योंकि गोत्व के सम्बन्ध से ही कोई पदार्थ गौ माना जाता है और यदि अन्य स्थान से उसका आगमन माना जायगा तो वह स्थान यदि गौ से भिन्न होगा तो वहाँ से गोत्व का प्रस्थान न होने तक उसमें गोरूपता की आपत्ति होगी क्योंकि उनके समय तक उसमें गोत्व का सम्बन्ध था और यदि वह स्थान अन्य गौ ही होगा तो यह प्रश्न खड़ा होगा कि गोत्व पूर्व के गौ को सर्वथा

त्याग कर नई गौ के निकट आता है अथवा उसमें रहते हुये। यदि पूर्व गौ को त्याग कर आयेगा तो वह गौ गौ न रह जायगी और यदि उसमें रहते हुये आयेगा तो उसे सिकुड़ने और फैलने वाला रबर जैसा कोई अंशवान् पदार्थ मानना पड़ेगा और उस स्थिति में वह एक नित्य अमूर्त जातिरूप न हो सकेगा, क्योंकि नित्य पदार्थ में किसी प्रकार का सिकुड़न व फैलाव कभी नहीं होता और अमूर्त पदार्थ में जाने आने की क्रिया कभी नहीं होती। इन सब संकटों का संकेत करने वाली यह कारिका दार्शनिक-समुदाय में अत्यन्त प्रसिद्ध है—

नायाति न च तत्रासीन्न चोत्पन्नं न चांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः॥

इस प्रकार बौद्ध विद्वानों की दृष्टि में जाति का अभ्युपगम क्षोदक्षम नहीं है।

जाति की कल्पना बौद्ध दर्शन की मान्यता के भी प्रतिकूल है, क्योंकि जातिवादी नैयायिक और वैशेषिकों ने ऐसे धर्म को जाति माना है जो नित्य तथा अनेक व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से आश्रित होता है, जैसे गोत्व आदि धर्म नित्य तथा अनेक गौ आदि व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से आश्रित होने के कारण जातिस्वरूप माने जाते हैं। स्पष्ट है कि बौद्ध दार्शनिक ऐसे किसी धर्म को स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि ऐसे धर्म की कल्पना उनकी 'सर्वं क्षणिकम्—सब कुछ क्षणिक है' इस मूल भावना के विरुद्ध है।

इस सन्दर्भ में यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि जाति का अस्तित्व न माना जायगा तो जिन प्रयोजनों के लिए नैयायिकों ने जाति का अस्तित्व माना है उनकी उपपत्ति किस प्रकार होगी? आशय यह है कि जाति की कल्पना के दो मुख्यतम प्रयोजन हैं एक है विभिन्न व्यक्तियों में एकाकार प्रतीति का निर्वाह और दूसरा है विभिन्न कार्य-कारण व्यक्तियों में अनुगत कार्यकारणभाव का अभ्युपगम। जैसे रूप-रंग, डील-डौल, देश-काल आदि का भेद होते हुए भी विभिन्न गो व्यक्तियों में यह गौ है, वह गौ है, यह भी गौ है, वह भी गौ है, इस प्रकार यह, वह इन विभिन्न शब्दों से विशेष्य अंश के अनेकत्व को और गौ इस एक शब्द से विशेषण अंश के एकत्व को संकेत करने वाली प्रतीति का होना सर्वमान्य है, किन्तु इस प्रतीति की उपपत्ति तभी सम्भव हो सकती है जब विभिन्न गो व्यक्तियो में एक गोत्व धर्म माना जाय, और यदि ऐसा कोई गोत्वनामक धर्म है तो वही न्यायवैशेषिक दर्शन की परिभाषा में गोत्वनामक जाति है, इस प्रकार अनेक गो व्यक्तियों में गौ की एकाकार प्रतीति के निर्वाहार्थ गोत्व जाति की परिकल्पना मान्य है। इसी प्रकार घटात्मक कार्यव्यक्ति और कपालात्मक कारणव्यक्ति अनेक हैं, अब इन व्यक्तियों में अमुक घटके प्रति अमुक कपाल कारण है और अमुकघट के प्रति अमुक

कपाल कारण है, इस प्रकार यदि केवल व्यक्ति की दृष्टि से ही कार्यकारणभाव माना जायगा तब जिस घट व्यक्ति का जिस कपाल व्यक्ति से जन्म होने वाला है उस घट व्यक्ति और उस कपाल व्यक्ति के बीच कार्यकारण भाव का ज्ञान न होने से नये घट के उत्पादनार्थ नये कपाल को ग्रहण करने में प्रवृत्ति न हो सकेगी, अतः इस प्रवृत्ति के उपपादनार्थ समस्त घटव्यक्तियों में एक घटत्व धर्म और समस्त कपाल व्यक्तियों में एक कपालत्व धर्म को मान कर उन धर्मों द्वारा घट और कपाल के बीच अनुगत कार्यकारणभाव की कल्पना भी अपरिहार्य है। इस प्रकार विभिन्न कार्य-कारण व्यक्तियों में अनुगत कार्यकारणभाव के अभ्युपगमार्थ भी जाति की कल्पना मान्य होती है। किन्तु बौद्ध-दर्शन के अनुसार यदि ऐसे धर्मों का अस्तित्व न माना जायगा तो उक्त प्रयोजनों की उपपत्ति न हो सकेगी।

इस प्रश्न के उत्तर में बौद्धों का कथन यह है कि अनेक गोव्यक्तियों में एक गवाकार प्रतीति के उपपादनार्थ गोत्व जाति को मान्यता देना आवश्यक नहीं है। क्योंकि उक्त प्रतीति की उपपत्ति अपोहरूप गोत्व से भी हो सकती है, तात्पर्य यह है कि उक्त प्रतीति का निर्वाहक गोत्व कोई जाति नहीं है किन्तु अतद्व्यावृत्ति-अगोभिन्नत्वरूप है, और वह अतद्व्यावृत्ति स्वयं अपोह है अर्थात् गोत्व भावात्मक है अथवा अभावात्मक, क्षणिक है अथवा स्थायी ऐसे ऊह—तर्क-वितर्क की सीमा से परे है, इस प्रकार 'अपगतः—विनिवृत्तः ऊहः—उक्त विधो विविधो वितर्को यस्मात् सः' इस अर्थ में गोत्व अपोहात्मक है ओर वही विभिन्न व्यक्तियों में अनुगताकार प्रतीति का नियामक है। वस्तुस्थिति तो यह है कि बौद्ध-दर्शन की दृष्टि में कोई अनुगताकार यथार्थ प्रतीति है ही नहीं, यथार्थ प्रतीति जिस वस्तु को विषय करती है वह वस्तु अन्य सभी वस्तुओं से सर्वथा विलक्षण, स्वमात्र में विश्रान्त, एकान्तरूप से स्वलक्षण होती है और जो प्रतीति अनुगताकार जैसी लगती है वह यथार्थ नहीं होती, अतः उसकी उत्पत्ति के लिये किसी प्रामाणिक अनुगत धर्म को मान्यता देने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

जाति की कल्पना का दूसरा आधारभूत प्रयोजन बताया गया है—विभिन्न कार्य-कारण व्यक्तियों में अनुगत कार्यकारणभाव का अभ्युपगम। बौद्धदृष्टि में यह प्रयोजन भी अमान्य है, क्योंकि कार्यकारण के सन्दर्भ में बौद्धों की यह धारणा है कि उत्पन्न होनेवाले कार्य के कारणों को कोई समझ-बूझ कर जुटाता नहीं है, किन्तु उसके समस्त कारण स्वाभाविक ढंग से अपने कारणों के बल जब सह-संभूत होते हैं, संगठित होते हैं, तब उस कार्य की उत्पत्ति होती है, इस ढंग से होने वाली यह कार्योत्पत्ति प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द से व्यवहृत होती है। यही इस विषय में बौद्ध-

ननु निर्विकल्पकं परमार्थतः स्वलक्षणविषयं भवतु प्रत्यक्षम्, सविकल्पकं तु शब्दलिङ्गवदनुगताकारावगाहित्वात्सामान्यविषयं कथं प्रत्यक्षमर्थजस्यैव प्रत्यक्षत्वात् ? अर्थस्य च परमार्थतः सत एव तज्जनकत्वात्। स्वलक्षणं तु परमार्थतः सत्, न तु सामान्यम्, तस्य प्रमाणनिरस्तविधिभावस्याऽन्यव्यावृत्त्यात्मनस्तुच्छत्वात्। मैवम्, सामान्यस्यापि वस्तुभूतत्वात्।

तदेवं व्याख्यातं प्रत्यक्षम्।

लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्। येन हि अनुमीयते तदनुमानम्। लिङ्गपरामर्शेन चानुमीयतेऽतो लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्। तच्च धूमादिज्ञानमनुमितिं प्रति करणत्वात्। अग्न्यादिज्ञानमनुमितिः, तत्करणं धूमादिज्ञानम्।

दर्शन का मान्य सिद्धान्त है। फलतः विभिन्न कार्य-कारण व्यक्तियों में कोई अनुगत कार्यकारणभाव स्वीकार्य ही नहीं है किन्तु तत्तत् कार्य के प्रति तत्तत् कारणों को तत्तत्कार्यानुकूलकुर्वद्रूपत्व रूप से अननुगत ही कार्यकारण भाव है, अतः उक्त दूसरे प्रयोजन के निमित्त भी जात्यात्मक अनुगत धर्मों की कल्पना निरर्थक है। इस प्रकार युक्तियुक्त न होने और निष्प्रयोजन होने से बौद्ध विद्वानों को जाति आदि किसी भी प्रामाणिक अनुगत धर्म का अस्तित्व मान्य नहीं है।

सामान्य-जाति के विषय में अपनी इस मान्यता के अनुसार प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में बौद्ध विद्वानों का यह कथन है कि प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक और सविकल्पक इन द्विविध भेदों में केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाण हो सकता है क्योंकि वह पारमार्थिक—सत्यभूत स्वलक्षण वस्तु को विषय करता है परन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष तो शब्दज और लिङ्गज ज्ञान के समान अनुगत आकार का ग्राहक होने से सामान्यविषयक है, फिर वह प्रमाणभूत प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है क्योंकि अर्थजन्य ज्ञान को ही प्रमाणभूत प्रत्यक्ष कहा जाता है और प्रमाणभूत कहे जाने वाले ज्ञान का जनक वही अर्थ होता है जो पारमार्थिक—वास्तविक रूप में सत् तथा उस प्रत्यक्ष के पूर्व विद्यमान होता है, इस प्रकार का अर्थ केवल वही हो सकता है जो स्वलक्षण हो, जो स्वयं ही अपना लक्षण हो, जिसका अन्य कोई लक्षण न हो। सामान्य इस प्रकार का अर्थ नहीं हो सकता क्यों कि वह स्वलक्षण नहीं है।

अनुमान

प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में संक्षिप्त चर्चा की गई, अब अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध में बात की जायगी।

लिङ्गपरामर्श अनुमान है, क्योंकि जिससे अनुमिति की जाय वह अनुमान होता

किं पुनर्लिङ्गं कश्च तस्य परामर्शः ? उच्यते—व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम् । यथा धूमोऽग्नेर्लिङ्गम् । तथाहि 'यत्र धूमस्तत्राग्नि;' इति साहचर्यनियमो व्याप्तिः, तस्यां गृहीतायामेव व्याप्तौ धूमोऽग्निं गमयति, अतो व्याप्तिबलेनाग्न्यनुमापकत्वाद् धूमोऽग्नेर्लिङ्गम् । तस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः । तथाहि प्रथमं तावन्महानसादौ भूयो भूयो धूमं पश्यन् वह्निं पश्यति, तेन भूयोदर्शनेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकं सम्बन्धमवधारयति 'यत्र धूमस्तत्राग्निः' इति ।

है, लिङ्गपरामर्श से अनुमिति की जाती है अतः लिङ्गपरामर्श अनुमान है । धूम आदि का ज्ञान लिङ्गपरामर्शरूप अनुमान है क्योंकि वह अनुमिति का करण है, उससे अनुमिति की जाती है । अग्नि आदि का ज्ञान अनुमिति है, धूम आदि का ज्ञान उसका करण है ।

यह स्पष्ट है कि दूर से कहीं धूम दिखने पर उस स्थान में, जहाँ से धूम उठ रहा है, अग्नि के होने का ज्ञान होता है, अग्नि का यह ज्ञान धूमज्ञान के पश्चात् होने के कारण 'अनु-पश्चात्-कस्यचिद् ज्ञानानन्तरं जायमाना मितिः-ज्ञानम् अनुमितिः' अनुमिति शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार अनुमिति है, और इस अग्निज्ञान रूप अनुमिति के पूर्व विद्यमान होने से, उसका करण होने से 'अनुमीयते येन तद् अनुमानम्, अनुमितिकरण वा अनुमानम्' अनुमान शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार धूमज्ञान अनुमान होता है किन्तु इस धूमज्ञान को लिङ्गपरामर्श के रूप में जानने के लिये लिङ्ग-परामर्श को जानना आवश्यक है । लिङ्गपरामर्श में दो अंश हैं—एक लिङ्ग और दूसरा परामर्श, 'लीनम्-अन्तर्हितम्-अप्रत्यक्षम् अर्थं गमयति-बुद्धिविषयतां नयति यत् तत् लिङ्गम्' लिङ्ग शब्द का इस व्युत्पत्ति के अनुसार लिङ्ग शब्द का अर्थ है लीन अर्थ का ज्ञापक, लीन अर्थ का ज्ञापन व्याप्ति के बल से होता है । अतः लिङ्ग का अर्थ है व्याप्ति के बल से अर्थ का गमक—ज्ञापक । धूम अग्नि का लिङ्ग है, क्योंकि जहाँ धूम होता है—जिस स्थान पर धूम का जन्म होता है, उस स्थानपर अग्नि अवश्य रहता है, धूम में अग्नि के साथ ही रहने का यह नियम ही व्याप्ति है । इस व्याप्ति का ज्ञान होने पर ही धूम अग्नि का गमक होता है, इसलिये व्याप्ति के बल से अग्नि का अनुमापक होने के कारण धूम अग्नि का लिङ्ग होता है ।

धूमरूप लिङ्ग का तीसरा ज्ञान परामर्श कहा जाता है । आशय यह है कि धूम के तीन ज्ञान होने के पश्चात् अग्नि की अनुमिति का उदय होता है, महानस आदि में वह्नि-धूम के सहचारदर्शन से 'वह्निव्याप्यो धूमः' इस प्रकार वह्निव्याप्यरूप से धूम का जो प्रथम बार दर्शन होता है वह धूम का पहला ज्ञान कहा जाता है, उसके बाद दूर से पर्वत आदि में जो धूम का दर्शन होता है वह धूम का दूसरा ज्ञान कहा जाता

यद्यपि 'यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वमपि' इति भूयोदर्शनं समानमवगम्यते, तथापि मैत्रीतनयत्वश्यामत्वयोर्न स्वाभाविकः सम्बन्धः किन्त्वौपाधिक एव, शाकाद्यन्नपरिणामस्योपाधेर्विद्यमानत्वात्। तथाहि श्यामत्वे

है, इस दूसरे धूमज्ञान से पहले धूमज्ञान के द्वारा उत्पन्न हुए व्याप्तिविषयक संस्कार का उद्बोधन होने से 'धूमो वह्निव्याप्यः' इस प्रकार व्याप्तिस्मरण होकर जो 'वह्निव्याप्य-धूमवान् पर्वतः' इस प्रकार पर्वत के साथ वह्निव्याप्यधूम के सम्बन्ध का ज्ञान होता है वह धूम का तीसरा ज्ञान कहा जाता है, यही ज्ञान परामर्श कहा जाता है इसे अनुमिति का चरम कारण कहा जाता है, कोई बाधक न रहने पर इस ज्ञान का जन्म होने के दूसरे क्षण में अनुमिति का उदय अनिवार्य होता है। इस तीसरे परामर्शरूप ज्ञान के दो मुख्य विषय होते हैं जिन्हें ग्रहण करने के कारण ही यह ज्ञान अनुमिति का उत्पादक होता है, वे विषय हैं व्याप्ति और पक्षधर्मता। पक्षधर्मता का अर्थ है पक्ष के साथ हेतु का वह सम्बन्ध जिससे हेतु साध्य का व्याप्य होता है, यह तीसरा ज्ञान यतः व्याप्तिविशिष्ट हेतु के वैशिष्ट्य को ग्रहण करता है और विशिष्टवैशिष्ट्यग्राही ज्ञान में विशिष्टग्राही ज्ञान-विशेषणतावच्छेदक रूप से विशेषण का ज्ञान कारण होता है अतः इस तीसरे ज्ञान के उदय के लिये पूर्व में हेतु में साध्यव्याप्ति के ज्ञान की अपेक्षा होती है, किन्तु हेतु में साध्यव्याप्ति का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक ज्ञाता को साध्य-व्याप्ति का परिचय न हो, इसलिए सर्वप्रथम व्याप्ति का परिचय देना और उसके ज्ञान का उपाय बताना आवश्यक है। तर्कभाषा में 'तथा हि प्रथमं तावन्महानसादौ भूयो भूयो धूमं पश्यन् वह्निं पश्यति' कहते हुये इसी आवश्यकता की पूर्ति का उपक्रम किया गया है, जिसका संक्षिप्त किन्तु सुस्पष्ट आशय यह है कि हेतु के साथ साध्य के स्वाभाविक सम्बन्ध का नाम है व्याप्ति और उसके ज्ञान का उपाय है साध्य के साथ हेतु का पुनः पुनः दर्शन। धूम में अग्नि की व्याप्ति को जानने की प्रक्रिया यह है कि मनुष्य पहले महानस आदि अनेक स्थानों में धूम और वह्नि को साथ-साथ देखता है, धूम और वह्नि का यह सहदर्शन धूम और वह्नि का सहचार दर्शन कहा जाता है, इस दर्शन की पुनः पुनः आवृत्ति होने से धूम और अग्नि के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध का अवधारण इस रूप में होता है कि जहाँ धूम होता वहाँ अग्नि अवश्य होता है, धूम में अग्नि के स्वाभाविक सम्बन्ध का यह अवधारण ही धूम में वह्निव्याप्ति का ज्ञान कहा जाता है।

इस सन्दर्भ में यह प्रश्न होता है कि यदि हेतु में साध्यसहचार का पुनः पुनः दर्शन ही व्याप्तिज्ञान का कारण है तो मैत्रीतनयत्व में श्यामत्व की व्याप्ति का ज्ञान क्यों नहीं होता और मैत्रीतनयत्व को श्यामत्व का व्याप्य क्यों नहीं माना जाता क्योंकि

मैत्रीतनयत्वं न प्रयोजकं, किंतु शाकाद्यन्नपरिणतिभेद एव प्रयोजकः, प्रयोजकश्चोपाधिः इत्युच्यते, न च धूमाग्न्योः सम्बन्धे कश्चिदुपाधिरस्ति, अस्ति चेद् योग्योऽयोग्यो वा ? अयोग्यस्य शङ्कितुमशक्यत्वाद्, योग्यस्य चाऽनुपलभ्यमानत्वात्। यत्रोपाधिरस्ति तत्रोपलभ्यते यथा, अग्नेर्धूमसम्बन्धे आर्द्रेन्धनसंयोगः। हिंसात्वस्य चाऽधर्मसाधनत्वेन सह सम्बन्धे निषिद्धत्वमुपाधिः। मैत्रीतनयत्वस्य च श्यामत्वेन सह सम्बन्धे शाकाद्यन्नपरिणतिभेदः। न चेह धूमस्याग्निसाहचर्ये कश्चिदुपाधिरस्ति, यद्यभविष्यत्ततोऽद्रक्ष्यत, ततो दर्शनाभावान्नास्ति इति तर्कसहकारिणाऽनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवोपाध्यभावोऽवधार्यते। तथा च उपाध्यभावग्रहणजनितसंस्कारसहकृतेन भूयोदर्शनजनितसंस्कारसहकृतेन साहचर्यग्राहिणा प्रत्यक्षेणैव धूमाग्न्योर्व्याप्तिरवधार्यते। तेन धूमाग्न्योः स्वाभाविक एव सम्बन्धः न त्वौपाधिकः। स्वाभाविकश्च सम्बन्धो व्याप्तिः।

मैत्री के अनेक तनयों में श्यामत्व की प्रतीति होने से मैत्रीतनयत्व में श्यामत्व के सहचार का पुनः पुनः दर्शन निर्विवाद सिद्ध है।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह सत्य है कि मैत्रीतनयत्व में श्यामत्व के सहचार का भूयोदर्शन ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार धूम में वह्नि के सहचार का भूयोदर्शन, किन्तु अन्तर यह है कि मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व के बीच जो सम्बन्ध है वह स्वाभाविक नहीं किन्तु औपाधिक है और वह उपाधि है शाक आदि श्यामवर्ण के आहार का परिपाक। अभिप्राय यह है कि मैत्री नामक स्त्री के आठ पुत्रों में से जो सात पुत्र श्यामवर्ण के हैं वे इसलिये श्याम नहीं हैं कि वे मैत्री के तनय हैं, क्योंकि यदि वे मैत्री का तनय होने के कारण ही श्याम होते तो मैत्री के आठवें तनय को भी गौर न हो कर श्याम ही होना चाहिये था क्योंकि श्यामवर्ण वाले सात पुत्र जिस प्रकार मैत्री के तनय हैं उसी प्रकार गौर वर्ण वाला आठवाँ पुत्र भी मैत्री का तनय है। अतः स्पष्ट है कि मैत्री के सात पुत्रों के श्याम होने का कोई और ही कारण है। जो उसके आठवें पुत्र में नहीं है और वह है गर्भावस्था में शाक आदि श्याम वर्ण के आहार का ग्रहण। तात्पर्य यह है कि मैत्री जब गर्भावस्था में शाक आदि श्याम वर्ण के खाद्य पदार्थों का सेवन करती थी तब उन पदार्थों के परिपाक से उसके शरीर में जो रक्त बनता था उसमें श्यामता होती थी, और उस रक्त से जिस बालक के शरीर का निर्माण होता था वह बालक श्याम वर्ण का होता था, इस प्रकार मैत्री ने गर्भावस्था में शाक आदि का सेवन कर जिन सात बालकों को जन्म दिया वे श्याम हुये और जिस बालक के गर्भस्थ रहने के समय शाक आदि का सेवन न कर दूध, मलाई, मक्खन आदि का उत्तम आहार ग्रहण किया उस बालक का शरीर इन उत्तम आहारों के परिपाक से

बने गौर वर्ण के रक्त से निर्मित हुआ अतः वह बालक श्याम न होकर गौर हुआ। इस प्रकार यह सुव्यक्त है कि मैत्री के सात पुत्रों का श्यामत्व मैत्रीतनयत्वप्रयुक्त नहीं है किन्तु शाकपाकजन्यत्वप्रयुक्त है, इसलिये मैत्रीतनयत्व के साथ श्यामत्व का जो सहचार सम्बन्ध है वह शाकपाकजन्यत्वरूप उपाधि से प्रयुक्त होने के कारण औपाधिक है, स्वाभाविक नहीं है, अतः मैत्रीतनयत्व में श्यामत्व के सहचार का भूयोदर्शनरूप ग्राहक के होने पर भी स्वाभाविक सम्बन्ध रूप ग्राह्य के न होने के कारण मैत्रीतनयत्व में श्यामत्व की व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो पाता।

धूम में वह्नि के सहचार का भूयोदर्शन होने पर धूम में वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान इसलिये हो पाता है कि धूम के साथ वह्नि का जो सम्बन्ध है वह स्वाभाविक है। उसमें कोई उपाधि नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि धूम के साथ वह्नि के सम्बन्ध का प्रयोजक कोई उपाधि नहीं है। इस बात का निश्चय कैसे होगा? उत्तर यह है कि ऐसी किसी उपाधि की सम्भावना नहीं है, क्योंकि उपाधि दो ही प्रकार की हो सकती है, प्रत्यक्षयोग्य अथवा प्रत्यक्षायोग्य, उनमें प्रत्यक्षायोग्य किसी उपाधि के होने की शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि शङ्का के लिये शङ्कनीय पदार्थ का स्मरण अपेक्षित होता है और स्मरण के लिये पूर्वानुभव की अपेक्षा होती है और अयोग्य का कोई भी पूर्वानुभव सम्भव नहीं है, क्योंकि अयोग्य का प्रत्यक्ष तो हो ही नहीं सकता और प्रत्यक्ष न होने पर किसी हेतु में उसकी व्याप्ति का ज्ञान तथा किसी शब्द का उसमें वृत्तिज्ञान न होने के कारण उसका आनुमानिक अथवा शाब्दिक अनुभव भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार प्रत्यक्षयोग्य भी किसी उपाधि की सम्भावना नहीं की जा सकती क्योंकि यदि प्रत्यक्षयोग्य कोई उपाधि होती तो वह अवश्य उपलब्ध होती, क्योंकि जहाँ कहीं प्रत्यक्षयोग्य उपाधि होती है वहाँ वह उपलब्ध होती है जैसे अग्नि के साथ धूम के सम्बन्ध में आर्द्र इन्धन का संयोग, हिंसात्व के साथ अधर्मसाधनत्व के सम्बन्ध में निषिद्धत्व और मैत्रीतनयत्व के साथ श्यामत्व के सम्बन्ध में शाक आदि के आहार का विशिष्ट परिणाम—शाकपाकजन्यत्व।

आशय यह है कि जैसे 'जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होता है' इस प्रकार धूम में अग्नि के सहचार का भूयोदर्शन होता है वैसे ही महानस आदि अनेक स्थानों में 'जहाँ जहाँ अग्नि होता है वहाँ वहाँ धूम होता है' इस प्रकार अग्नि में धूम के सहचार का भी भूयोदर्शन होता है, किन्तु धूम में अग्निसहचार के भूयोदर्शन से धूम में अग्नि के अनौपाधिक सम्बन्धरूप व्याप्ति का ज्ञान होता है। पर अग्नि में धूम-सहचार के भूयोदर्शन से अग्नि में धूम के अनौपाधिक सम्बन्धरूप व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता। क्योंकि अग्नि में जो धूम का सम्बन्ध होता है वह अनौपाधिक नहीं होता किन्तु आर्द्र इन्धन संयोगरूप उपाधि से प्रयुक्त होता है, तात्पर्य यह है कि धूम का होना

केवल अग्नि के होने पर निर्भर नहीं है अपि तु अग्नि के साथ गीली लकड़ी आदि के संयोग पर निर्भर है, क्योंकि यदि केवल अग्नि के होने मात्र से धूम होता तो लोह के गोले को अग्नि में तपा देने पर लोह के गोले से भी धूम निकलता क्योंकि लोहे के तपे गोले में भी अग्नि तो रहता ही है। अतः स्पष्ट है कि अग्नि के साथ धूम का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है किन्तु औपाधिक है और वह उपाधि अग्नि के साथ आर्द्र इन्धन के संयोग के रूप में प्रत्यक्ष उपलब्ध है।

इसी प्रकार विभिन्न शास्त्रवचनों से 'जो जो हिंसा है वह सब अधर्म का साधन है इस प्रकार हिंसात्व में अधर्मसाधनत्व के सहचार का भूयान् अवबोध होने पर भी हिंसात्व में अधर्मसाधनत्व के अनौपाधिक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता क्योंकि हिंसात्व के साथ अधर्मसाधनत्व का सम्बन्ध भी स्वाभाविक नहीं है किन्तु औपाधिक है और वह उपाधि है निषिद्धत्व। तात्पर्य यह है कि कोई भी हिंसा केवल हिंसा होने के नाते अधर्म का साधन नहीं होती अपि तु 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' आदि शास्त्रवचनों से निषिद्ध होने के नाते अधर्म का साधन होती है, अत एव विभिन्न यज्ञों में शास्त्रवचन के आधार पर होनेवाली अनिषिद्ध हिंसावों से अधर्म का प्रादुर्भाव नहीं माना जाता, इस प्रकार हिंसात्व में अधर्मसाधनत्व के सम्बन्ध का प्रयोजक निषिद्धत्व उपाधि भी शास्त्रतः उपलब्ध है। इसी प्रकार मैत्रीतनयत्व में श्यामत्व का सम्बन्ध भी औपाधिक ही है और वह उपाधि है शव्दपाकजन्यत्व जो मैत्री के कथन आदि से उपलब्ध है। तो जिस प्रकार अग्नि के साथ धूम के सम्बन्ध में, हिंसात्व के साथ अधर्मसाधनत्व के सम्बन्ध में और मैत्रीतनयत्व के साथ श्यामत्व के सम्बन्ध में आर्द्रेन्धनसंयोग, निषिद्धत्व और शाकपाकजन्यत्वरूप उपाधियां उपलब्ध होती हैं उसी प्रकार धूम के साथ अग्नि का सम्बन्ध होने में भी यदि कोई प्रत्यक्षयोग्य उपाधि होती तो उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि अवश्य होती, यतः उसकी उपलब्धि नहीं होती अतः वह नहीं है इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कोई बाधा नहीं है।

उपर्युक्त बातों के आधार पर यह निस्संशय कहा जा सकता है कि धूम के साथ अग्नि के सम्बन्ध का प्रयोजक यदि कोई उपाधि होती तो वह अवश्य उपलब्ध होती यह तर्क और 'उपाधि की अनुपलब्धि' इन दोनों के सहयोग से प्रत्यक्ष प्रमाण से ही धूम के साथ अग्नि का सम्बन्ध होने में किसी उपाधि के न होने का अवधारण होता है और इस अवधारण से उद्भूत संस्कार तथा धूम में अग्निसहचार के भूयोदर्शन से उद्भूत संस्कार जिस मनुष्य को होते हैं उसे धूम में अग्नि के सहचार को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष से ही धूम में अग्नि की व्याप्ति का अवधारण होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धूम और अग्नि के मध्य स्वाभाविक ही सम्बन्ध है, औपाधिक नहीं और स्वाभाविक सम्बन्ध ही व्याप्ति है।

तदनेन न्यायेन धूमाग्न्योर्व्याप्तौ गृह्यमाणायां महानसे यद् धूमज्ञानं तत्प्रथमम्। पर्वतादौ पक्षे यद् धूमज्ञानं तद् द्वितीयम्। ततः पूर्वगृहीतां धूमाग्न्योर्व्याप्तिं स्मृत्वा 'यत्र धूमस्तत्राग्निः' इति तत्रैव पर्वते पुनर्धूमं परामृशति 'अस्त्यत्र पर्वतेऽग्निना व्याप्तो धूम इति' तदिदं धूमज्ञानं तृतीयम्। एतच्चावश्याभ्युपेतव्यम्, अन्यथा 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इत्येव स्याद्, इह तु कथमग्निना भवितव्यम्? तस्माद् 'इहापि धूमोऽस्ति' इति ज्ञानमन्वेषितव्यम्, अयमेव लिङ्गपरामर्शः, अनुमितिं प्रति करणत्वाच्च अनुमानम्। तस्माद् 'अस्त्यत्र पर्वतेऽग्निः' इत्यनुमितिज्ञानमुत्पद्यते।

ननु कथं प्रथमं महानसे यद्धूमज्ञानं तन्नाग्निमनुमापयति? सत्यम्, व्याप्तेरगृहीतत्वाद् गृहीतायामेव व्याप्तावनुमित्युदयात्।

अथ व्याप्तिनिश्चयोत्तरकालं महानस एवाग्निरनुमीयताम्,

मैवम्, अग्नेर्दृष्टत्वेन सन्देहस्यानुदयात्। सन्दिग्धश्चार्थोऽनुमीयते। यथोक्तं भाष्यकृता—'नाऽनुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किन्तु सन्दिग्धे'

(गौ. सू. वा. भा. १. १. १.)

इस प्रकार धूम में अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान अर्जित करने की प्रक्रिया में महानस में धूम का जो ज्ञान होता है वह हेतु का प्रथम दर्शन है, पर्वत आदि पक्ष में जो धूम का ज्ञान होता है वह हेतु का दूसरा दर्शन है, 'जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होता है' इस रूप में धूम में अग्नि की पूर्वगृहीत व्याप्ति का स्मरण होकर 'पर्वत में अग्निव्याप्य धूम है' इस रूप में उसी पर्वत में धूम का जो पुनः परामर्श होता है वही हेतु का तृतीय दर्शन है। अनुमिति के लिये हेतु के इस तृतीय दर्शन को मान्यता प्रदान करना आवश्यक है, क्योंकि इस तृतीय दर्शन को न मानने पर पर्वत में कोरे धूम का दर्शन मात्र होने से 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है' इस प्रकार धूम के साथ अग्नि के होने का केवल सामान्य-ज्ञान मात्र ही हो सकता है न कि धूम के होने से इस पर्वत में अग्नि को भी अवश्य होना चाहिये, यह भी ज्ञान हो सकेगा। अतः इस पर्वत में अग्निव्याप्य रूप से धूम का ज्ञान अपेक्षणीय है, और यही ज्ञान लिङ्गपरामर्श है तथा अनुमिति का करण होने से अनुमान है, इसी ज्ञान से 'इस पर्वतमें अग्नि है' इस प्रकार की अनुमिति का उदय होता है।

प्रश्न होता है कि महानस में धूम का जो पहला ज्ञान होता है उसी से अग्नि की अनुमिति क्यों नहीं होती, उसके लिये पक्ष में साध्यव्याप्य रूप से हेतु के तीसरे ज्ञान तक जाने की क्या आवश्यकता है? उत्तर है कि प्रश्न ठीक है किन्तु महानस में धूम

अथ पर्वतगतमात्रस्य पुंसो यद् धूमज्ञानं तत्कथं नाग्निमनुमापयति ? अस्ति चात्राग्निसन्देहः साधकबाधकप्रमाणाभावेन संशयस्य न्यायप्राप्तत्वात् ।

सत्यम्, अगृहीतव्याप्तेरिव गृहीतविस्मृतव्याप्तेरपि पुंसोऽनुमानानुदयेन व्याप्तिस्मृतेरप्यनुमितिहेतुत्वात् । धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति 'यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसम्' इति । तेन धूमदर्शने जाते व्याप्तिस्मृतौ भूतायां यद् धूमज्ञानं तत्तृतीयं 'धूमवांश्चायम्' इति तदेवाग्निमनुमापयति नान्यत् । यदेवानुमानं, स एव लिङ्गपरामर्शः । तेन व्यवस्थितमेतल्लिङ्गपरामर्शोऽनुमानमिति ।

तच्चानुमानं द्विविधम् । स्वार्थं, परार्थं चेति । स्वार्थं स्वप्रतिपत्तिहेतुः । तथाहि, स्वयमेव महानसादौ विशिष्टेन प्रत्यक्षेण धूमाग्न्योर्व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वतवर्तिनीमविच्छिन्नमूलामभ्रंलिहां धूमलेखां पश्यन् धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति 'यत्र धूमस्तत्राग्निः' इति ततो 'अत्रापि धूमोऽस्ति' इति प्रतिपद्यते तस्माद् 'अत्र पर्वतेऽग्निरप्यस्ति' इति स्वयमेव प्रतिपद्यते, तत् स्वार्थानुमानम् ।

के प्रथम दर्शन के समय धूम में वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान न होने से उस समय अनुमिति का उदय नहीं हो सकता, अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञान के कारण होने से उसके अनन्तर ही अनुमिति का उदय हो सकता है। फिर प्रश्न होता है कि ठीक है धूम के प्रथम दर्शन के समय व्याप्ति का ज्ञान न होने से अनुमिति का जन्म न हो किन्तु महानस में धूम और अग्नि के सहचार दर्शन से धूम में अग्नि की व्याप्ति का निश्चय होने पर महानस में ही अग्नि की अनुमिति क्यों नहीं होती ? उत्तर है कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि महानस में अग्नि प्रत्यक्ष दृष्ट है, अतः वहाँ अग्नि का सन्देह नहीं हो सकता, और नियम यह है कि जो पदार्थ जहाँ सन्दिग्ध होता है वहीं उसकी अनुमिति होती है, जैसा कि भाष्यकार ने न्यायदर्शन के वात्स्यायनभाष्य, १,१,१ में कहा है—'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते किन्तु सन्दिग्धे' अज्ञात और निर्णीत पदार्थ में अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु सन्दिग्ध पदार्थ में ही होती है। फिर प्रश्न होता है कि अच्छा यह बताइये कि जिस मनुष्य को पहले धूम में व्याप्ति का ज्ञान हो चुका है वह जब पर्वत के पास पहुँचता है और धूम मात्र का दर्शन करता है तब उसे उतने मात्र से ही पर्वत में अग्नि की अनुमिति क्यों नहीं होती क्योंकि साधक प्रमाण-अग्नि का निश्चय और बाधक प्रमाण-अग्नि के अभाव का निश्चय न होने से संशय के न्यायप्राप्त होने के कारण उस समय उसे पर्वत में अग्नि का संशय भी रहता है। इस प्रकार पक्ष में साध्य का संशय, हेतु में साध्य-

यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं बोधयितुं पञ्चावयवमनुमानवाक्यं प्रयुङ्क्ते तत् परार्थानुमानम्। तद्यथा 'पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसम्, तथा चाऽयं, तस्मात्तथा' इति। अनेन वाक्येन प्रतिज्ञादिमता प्रतिपादितात् पञ्चरूपोपपन्नाल्लिङ्गात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते। तेनैतत् परार्थमनुमानम्।

व्याप्ति का ज्ञान और पक्ष में हेतु का दर्शन, अनुमिति के जब यह तीनों कारण विद्यमान हैं तब अनुमिति का उदय क्यों नहीं होता? उत्तर है कि प्रश्न ठीक है, किन्तु बात यह है कि जैसे व्याप्ति का ज्ञान न रहने पर अनुमिति नहीं होती उसी प्रकार व्याप्ति का विस्मरण हो जाने पर भी अनुमिति नहीं होती, अतः व्याप्तिस्मरण को अनुमिति का कारण माना जाता है। इस लिये पर्वत में धूम के दर्शन से पूर्वगृहीत व्याप्ति के संस्कार का उद्बोध होने पर 'जो जो धूम का आश्रय होता है वह-वह अग्नि का आश्रय होता है जैसे महानस'। इस प्रकार धूम में अग्नि की व्याप्ति का स्मरण होता है। इस प्रकार पक्ष में धूम का दर्शन, और व्याप्ति का स्मरण होने पर पक्ष में अग्निव्याप्त रूप से धूम का जो तीसरा ज्ञान होता है वही अग्नि का अनुमापक होता है, अन्य ज्ञान नहीं होता है। वही ज्ञान अनुमान और लिङ्गपरामर्श कहा जाता है, अतः सुनिश्चित है कि लिङ्गपरामर्श ही अनुमान है।

अब तक जिस अनुमान की चर्चा की गई उसके दो भेद हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

स्वार्थानुमान—

स्वार्थानुमान वह अनुमान है जिससे स्वयं अनुमानकर्ता को साध्यानुमिति का लाभ होता है। जैसे कोई मनुष्य महानस आदि अनेक स्थानों में जाकर धूम और अग्नि के सहचार को देख धूम में अग्नि की व्याप्ति का निश्चय करता है, उसके बाद पर्वत के पास पहुँचने पर पर्वत में उसे अग्नि का सन्देह होता है, किन्तु जब वहाँ मूल-स्थान से आकाश तक अविच्छिन्न रूप में फैले धूम को देखता है तब उस धूम में पूर्वगृहीत अग्निव्याप्ति के संस्कार का उद्बोधन होकर 'जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होता है', इस प्रकार धूम में अग्नि की व्याप्ति का स्मरण होता है। उसके बाद पर्वत में अग्नि-व्याप्य रूप से धूम का दर्शन होता है और इस दर्शन के फलस्वरूप उसे पर्वत में अग्नि की अनुमिति होती है। इस प्रकार यह साध्यानुमिति उसी मनुष्य को होती है जिसे पक्ष में साध्यव्याप्त रूप से हेतु का निश्चयरूप अनुमान हुआ रहता है। अत एव यह अनुमान स्वार्थानुमान कहा जाता है।

अनुमान के दो भेद बताये जा चुके हैं—एक स्वार्थानुमान और दूसरा परार्थानुमान।

उनमें स्वार्थानुमान का संक्षिप्त परिचय अभी प्रस्तुत किया गया है, अब परार्थानुमान का परिचय देना है।

परार्थानुमान—

जब कोई मनुष्य स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान कर दूसरे मनुष्य को उस अनुमित अग्नि का बोध कराने के लिये पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग करता है, तब उस वाक्य के द्वारा दूसरे मनुष्य को जो अनुमान होता है उसे परार्थानुमान कहा जाता है। जैसे 'पर्वतोऽग्निमान्—पर्वत अग्नि से युक्त है' (१) 'धूमवत्त्वात्—क्योंकि वह धूम से युक्त है' (२) 'यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसम्—जो जो धूम से युक्त होता है वह वह अग्नि से युक्त होता है जैसे महानस—रसोईघर' (३) 'तथा चायम्—पर्वत वैसा है अर्थात् अग्निनियत धूम से युक्त है' (४) 'तस्मात्तथा—इसलिये वैसा है अर्थात् 'अग्नि से युक्त है' (५) इन पांच वाक्यों का प्रयोग होने पर श्रोता को उन वाक्यों द्वारा 'पर्वतोऽग्निव्याप्यधूमवान्—पर्वत अग्निव्याप्य धूम से युक्त है' इस प्रकार का मानस बोध होता है, यह बोध ही परार्थानुमान है। इससे श्रोता को पर्वत में अग्नि की अनुमिति ठीक उसी प्रकार होती है जिस प्रकार उक्त वाक्यों का प्रयोग करनेवाले व्यक्ति को पहले कभी अपने निजी प्रयास से पर्वत में अग्निव्याप्य धूम के ज्ञानरूप स्वार्थानुमानका उदय होकर पर्वत में अग्नि की अनुमिति हुई होती है।

यह परार्थानुमान जिन पांच वाक्यों से सम्पन्न होता है उन पांचों के समूह को 'न्याय' कहा जाता है और उस समूह के एक एक वाक्य को न्यायावयव कहा जाता है, उनमें पहले वाक्य का नाम है 'प्रतिज्ञा'। इस वाक्य से पक्ष में साध्य के सम्बन्ध का बोध होता है। दूसरे वाक्य का नाम है 'हेतु', इससे हेतु में साध्य की ज्ञापकता का बोध होता है। तीसरे वाक्य का नाम है 'उदाहरण'। इससे हेतु में साध्य की व्याप्ति का बोध होता है, चौथे वाक्य का नाम है 'उपनय', इससे पक्ष में साध्यव्याप्य हेतु के सम्बन्ध का अर्थात् पक्षधर्मता का बोध होता है। पाँचवे वाक्य का नाम है 'निगमन', इससे व्याप्ति और पक्षधर्मता से युक्त हेतु में अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व के ज्ञापन के साथ पक्ष में साध्य के सम्बन्ध का ज्ञापन होता है।

इन प्रतिज्ञा आदि वाक्यों से पक्षसत्त्व (१) सपक्षसत्त्व (२) विपक्षासत्त्व (३) अबाधितत्व (४) और असत्प्रतिपक्षत्व (५) इन पाँच गमकतौपयिक–अनुमापकता-प्रयोजक रूपों से युक्त लिङ्ग का ज्ञान होता है। इन पाँच रूपों से ज्ञात हुये लिङ्ग से अन्य व्यक्ति भी, जिसने व्याप्ति और पक्षधर्मता के ज्ञान के लिये स्वयं कोई प्रयास नहीं किया है, अग्नि की अनुमिति कर लेता है।

आशय यह है कि किसी हेतु को किसी साध्य का अनुमापक होने के लिये उसे

अत्र पर्वतस्याग्निमत्त्वं साध्यं, धूमवत्त्वं हेतुः। स चाऽन्वयव्यतिरेकी, अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमत्त्वात्। तथाहि, 'यत्र यत्र धूमवत्त्वं, तत्र तत्राग्निमत्त्वं, यथा महानसे, इति अन्वयव्याप्तिः, महानसे धूमाग्न्योरन्वयसद्भावात्। एवं 'यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा महाह्रदे' इतीयं व्यतिरेकव्याप्तिः, महाह्रदे धूमाग्न्योर्व्यतिरेकस्य सद्भावदर्शनात्।

व्यतिरेकव्याप्तेस्त्वयं क्रमः—अन्वयव्याप्तौ यद् व्याप्यं तदभावोऽत्र व्यापकः, यच्च व्यापकं तदभावोऽत्र व्याप्य इति। तदुक्तम्—

> व्याप्य-व्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते।
> तयोरभावयोस्तस्माद्विपरीतः प्रतीयते॥
> अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते।
> तदभावोऽन्यथा व्याप्यो व्यापकः साधनात्ययः॥
> व्याप्यस्य वचनं पूर्वं व्यापकस्य ततः परम्।
> एवं परीक्षिता व्याप्तिः स्फुटीभवति तत्त्वतः॥

कु. श्लो वा. १२१-१२३

पक्षसत्त्व आदि उक्त पाँच रूपों से युक्त होना आवश्यक होता है। उन रूपों में 'पक्षसत्त्व' का अर्थ है पक्ष में रहना अर्थात् जिस धर्मी में साध्य की अनुमिति होनी है उस धर्मी में रहना। 'सपक्षसत्त्व' का अर्थ है सपक्ष में रहना अर्थात् जिस धर्मी में साध्य का निश्चय हो उसमें रहना। 'विपक्षासत्त्व' का अर्थ है विपक्ष में न रहना अर्थात् जिस धर्मी में साध्याभाव का निश्चय हो उसमें न रहना। 'अबाधितत्त्व' का अर्थ है पक्ष में साध्य का बाध न होना अर्थात् जिस धर्मी में साध्य की अनुमिति कराने के लिये हेतु प्रयुक्त है उस धर्मी में साध्यभाव के निश्चय का न होना। 'असत्प्रतिपक्षत्व' का अर्थ है सत्प्रतिपक्ष का न होना अर्थात् जिस धर्मी में साध्य की अनुमिति कराने के लिये हेतु प्रयुक्त है उसमें साध्याभावव्याप्य के निश्चय का न होना। पर्वत में अग्नि की अनुमिति कराने के लिये प्रयुक्त होने वाला धूम उक्त पाँचों रूपों से युक्त होता है क्योंकि वह पक्ष—पर्वत में रहने के कारण पक्षसत्त्व से, सपक्ष—महानस में रहने के कारण सपक्षसत्त्व से, विपक्ष—जलाशय में न रहने के कारण विपक्षासत्त्व से, पक्ष—पर्वत में साध्य—अग्नि का बाध न होने से अबाधितत्त्व से और पक्ष में साध्याभावव्याप्य—अग्न्यभावव्याप्य का निश्चय न होने से असत्प्रतिपक्षत्व से सम्पन्न होता है।

इस प्रकार प्रतिज्ञा आदि पाँच वाक्यों द्वारा होने वाला अनुमान यतः परार्थ होता है—परप्रयोजन का सम्पादक होता है अतः वह परार्थानुमान कहा जाता है।

इस परार्थानुमान में पर्वत में अग्निमत्त्व—अग्निसम्बन्ध अथवा अग्नि साध्य है, धूमवत्त्व—धूमसम्बन्ध अथवा धूम हेतु है और वह हेतु अन्वयव्यतिरेकी है, क्योंकि उसमें अन्वय-

मूलक अर्थात् हेतु में साध्यसहचारमूलक भी व्याप्ति होती है और व्यतिरेकमूलक अर्थात् साध्याभाव में हेत्वभावसहचारमूलक भी व्याप्ति होती है। जैसे महानस में धूम और अग्नि का सम्बन्ध होने से 'जिस जिस स्थान में धूमवत्त्व है उस उस स्थान में अग्निमत्त्व है' इस प्रकार हेतु में साध्यसहचार के ज्ञान से धूमवत्त्व में अग्निमत्त्व की अन्वयव्याप्ति का, एवं जलह्रद में अग्नि और धूम का अभाव होने से 'जिस जिस स्थान में अग्निमत्त्व का अभाव है उस उस स्थान में धूमवत्त्वका अभाव है' इस प्रकार साध्याभाव में हेत्वभावसहचार के ज्ञान से धूमवत्त्व में अग्निमत्त्वकी व्यतिरेकव्याप्ति का ज्ञान होता है।

अन्वयव्याप्ति का स्वरूप है 'हेतुव्यापकसाध्यसामानाधिकरण्य–हेतु के व्यापक साध्य के अधिकरण में हेतु का रहना। जैसे जब धूम से अग्नि का अनुमान किया जाता है तब हेतु होता है धूम, उसका व्यापक साध्य होता है अग्नि, उसके अधिकरण महानस आदि में धूम रहता है' तो इस प्रकार धूमव्यापक अग्नि के अधिकरण में धूम का रहना ही धूम में अग्नि की अन्वयव्याप्ति है।

व्यतिरेकव्याप्ति का स्वरूप है 'साध्याभावव्यापकाभावप्रतियोगित्व—हेतु का साध्याभाव के व्यापक अभाव का प्रतियोगी होना। जैसे धूम से अग्नि का अनुमान करने पर अग्नि का अभाव है साध्याभाव, उसका व्यापक अभाव है धूमाभाव, उसका प्रतियोगी है धूम' तो इस प्रकार धूम में अग्न्यभाव के व्यापक अभाव का प्रतियोगित्व ही धूम में अग्नि की व्यतिरेकव्याप्ति है।

उपर्युक्त विवरण से अन्वय-व्याप्ति और व्यतिरेक-व्याप्ति इन दोनों व्याप्तियों में यह अन्तर स्पष्ट है कि अन्वय-व्याप्ति में हेतु व्याप्य होता है और साध्य व्यापक होता है तथा व्यतिरेक-व्याप्ति में साध्याभाव व्याप्य होता है और हेत्वभाव व्यापक होता है।

व्यतिरेकव्याप्ति का यह क्रम है कि अन्वयव्याप्ति में जो व्याप्य होता है, उसका अभाव व्यतिरेकव्याप्ति में व्यापक होता है और अन्वयव्याप्ति में जो व्यापक होता है उसका अभाव व्यतिरेकव्याप्ति में व्याप्य होता है। इस बात को कुमारिल भट्ट ने अपने 'श्लोकवार्तिक' ग्रन्थ मे इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि—

जिन भावपदार्थों में जैसा व्याप्यव्यापकभाव होता है, उनके अभावों में वैसा व्याप्यव्यापकभाव नहीं होता किन्तु उससे विपरीत प्रतीत होता है। अन्वयव्याप्ति में–दो भाव पदार्थों के व्याप्यव्यापकभाव में साधन व्याप्य और साध्य व्यापक होता है, किन्तु व्यतिरेकव्याप्ति में—उन्हीं भाव पदार्थों के अभावों के व्याप्यव्यापकभाव में उससे विपरीत बात होती है अर्थात् अन्वयव्याप्ति में जो व्यापक होता है व्यतिरेक–व्याप्ति में उसका अभाव व्याप्य होता है और जो व्याप्य होता है उसका अभाव

तदेवं धूमवत्त्वे हेतावन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिरस्ति। यत्तु वाक्ये केवलमन्वयव्याप्तेरेव प्रदर्शनं तदेकेनापि चरितार्थत्वात्; तत्राप्यन्वयस्यावक्रत्वात्प्रदर्शनम्, ऋजुमार्गेण सिध्यतोऽर्थस्य वक्रेण साधनायोगात्। न तु व्यतिरेक-व्याप्तेरभावात्। तदेवं धूमवत्त्वं हेतुरन्वयव्यतिरेकी। एवमन्येऽप्यनित्यत्वादौ साध्ये कृतकत्वादयो हेतवोऽन्वयव्यतिरेकिणो द्रष्टव्याः। यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद् घटवत्। यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वम्। यत्रानित्यत्वाभावस्तत्र कृतकत्वाभावः, यथा गगने।

व्यापक होता है। व्याप्य और व्यापक को पहचानने की रीति यह है कि व्याप्यव्यापक-भाव का प्रतिपादन करने के लिये जिस वाक्य का प्रयोग किया जाता है उस वाक्य में जिसका कथन पहले हो वह व्याप्य होता है और जिसका कथन पीछे हो वह व्यापक होता है, जैसे धूम और अग्नि के व्याप्यव्यापकभाव के प्रतिपादनार्थ प्रयुक्त होनेवाले 'जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होता है' इस वाक्य में धूम का कथन पहले होने से धूम व्याप्य समझा जाता है और अग्नि का कथन पीछे होने से अग्नि व्यापक समझा जाता है। उसी प्रकार अग्न्यभाव और धूमाभाव के व्याप्यव्यापकभाव के प्रतिपादनार्थ प्रयुक्त होने वाले 'जहाँ जहाँ अग्नि नहीं होता वहाँ वहाँ धूम नहीं होता' इस वाक्य में अग्न्यभाव का कथन पहले होने से अग्न्यभाव को व्याप्य तथा धूमाभाव का कथन पीछे होने से धूमाभाव को व्यापक समझना चाहिये। व्याप्य और व्यापक के इस पूर्व और पश्चात् कथन के आधार पर परीक्षा करने से व्याप्ति का तात्त्विक स्वरूप स्फुट हो जाता है।

इस प्रकार यद्यपि स्पष्ट है कि धूमवत्त्व में अग्निमत्त्व की अन्वयव्याप्ति भी है और व्यतिरेकव्याप्ति भी है, तथापि 'पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसम्, तथा चायम्, तस्मात्तथा' इस अनुमान वाक्य में जो अन्वयव्याप्तिमात्र का ही प्रदर्शन किया जाता है वह इसलिये कि दोनों व्याप्तियों में से किसी एक व्याप्तिमात्र से भी काम निकल जाता है। पूँछा जा सकता है कि जब अन्वय और व्यतिरेक दोनों व्याप्तियों में किसी भी एक से काम चल सकता है तो फिर अनुमानवाक्य में अन्वयव्याप्ति का ही प्रदर्शन क्यों किया जाता है, व्यतिरेक-व्याप्ति का ही प्रदर्शन क्यों नहीं किया जाता? उत्तर यह है कि व्यतिरेकव्याप्ति की अपेक्षा अन्वयव्याप्ति सीधी और सुगम होती है, और यह नीति है कि जो अर्थ सीधे मार्ग से सिद्ध हो सकता हो उसका साधन वक्र रीति से नहीं करना चाहिये। अतः व्यतिरेकव्याप्ति का प्रदर्शन न करने का यह कारण कदापि न समझना चाहिये कि धूमवत्त्व में अग्निमत्त्व की व्यतिरेकव्याप्ति नहीं है।

कश्चिद्धेतुः केवलव्यतिरेकी। तद्यथा—सात्मकत्वे साध्ये प्राणादिमत्त्वं हेतुः। यथा–जीवच्छरीरं सात्मकं, प्राणादिमत्त्वात्। यत् सात्मकं न भवति, तत् प्राणादिमन्न भवति यथा घटः। न चेदं जीवच्छरीरं तथा। तस्मान्न तथेति। अत्र हि जीवच्छरीरस्य सात्मकत्वं साध्यं, प्राणादिमत्त्वं हेतुः। स च केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेभावात्। तथाहि यत् प्राणादिमत् तत् सात्मकं यथाऽमुक इति दृष्टान्तो नास्ति। जीवच्छरीरं सर्वं पक्ष एव।

लक्षणमपि केवलव्यतिरेकी हेतुः। यथा पृथिवीलक्षणं गन्धवत्त्वम्। विवादपदं पृथिवीति व्यवहर्तव्यम्, गन्धवत्त्वात्, यन्न पृथिवीति व्यवह्रियते तन्न गन्धवद् यथाऽपः। प्रमाणलक्षणं वा यथा प्रमाकरणत्वम्। तथाहि— प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यम्, प्रमाकरणत्वात्, यत् प्रमाणमिति न व्यवह्रियते तन्न प्रमाकरणं, यथा प्रत्यक्षाभासादि, न पुनस्तथेदं, तस्मान्न तथेति। न पुनरत्र यत् प्रमाकरणं तत् प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यं यथाऽमुक इत्यन्वयदृष्टान्तोऽस्ति, प्रमाणमात्रस्य पक्षीकृतत्वात्। अत्र च व्यवहारः साध्यो न तु प्रमाणत्वं, तस्य प्रमाकरणत्वाद्धेतोरभेदेन साध्याभेददोषप्रसङ्गात्। तदेवं केवलव्यतिरेकिणो दर्शिताः।

इस प्रकार धूमवत्त्व में अग्निमत्त्व की अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्ति होने से वह हेतु अन्वयव्यतिरेकी है।

इसी प्रकार अनित्यत्व आदि साध्यों के अनुमापक कृतकत्व आदि हेतुवों को भी अन्वयव्यतिरेकी हेतु समझना चाहिये, जैसे 'शब्दोऽनित्यः–शब्द अनित्य है' 'कृतकत्वात्–क्योंकि वह कृतक अर्थात् जन्य है' इस अनुमान में जन्यत्व अन्वय व्यतिरेकी हेतु है, क्योंकि जिस जिसमें जन्यत्व रहता है उस उसमें अनित्यत्व रहता है जैसे घट में उन दोनों का अन्वय है, इसी प्रकार जिसमें अनित्यत्व का अभाव होता है उसमें जन्यत्व का भी अभाव होता है जैसे आकाश में अनित्यत्व और जन्यत्व दोनों का अभाव है। फलतः जैसे महानस में धूम और अग्नि का अन्वय तथा जलह्रद में अग्नि और धूम का व्यतिरेक होने से अग्नि के अनुमान में धूम अन्वयव्यतिरेकी हेतु होता है उसी प्रकार घट में जन्यत्व और अनित्यत्व का अन्वय तथा आकाश में अनित्यत्व और जन्यत्व का व्यतिरेक होने से अनित्यत्व के अनुमान में जन्यत्व भी अन्वयव्यतिरेकी हेतु होता है।

कोई हेतु केवलव्यतिरेकी होता है। जैसे सात्मकत्व के अनुमान में प्राणादिमत्त्व हेतु। इस हेतु द्वारा अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है। 'जीवच्छरीरं सात्मकम्–जीवित शरीर सात्मक–आत्मा से युक्त होता है, प्राणादिमत्त्वात्— क्योंकि वह प्राणादिमान् होता है, यत् सात्मकं न भवति तत् प्राणादिमन्न भवति—जो सात्मक नहीं होता

वह प्राणादिमान् नहीं होता जैसे घट। न चेदं जीवच्छरीरं तथा—जीवित शरीर प्राणादि-हीन नहीं होता। तस्मान्न तथा—इसलिये वह निरात्मक नहीं होता'। इस अनुमान में जीवित शरीर में सात्मकत्व साध्य है और प्राणादिमत्त्व हेतु है। यह प्राणादिमत्त्व हेतु केवलव्यतिरेकी हेतु है क्योंकि उसमें अन्वयव्याप्ति नहीं है। ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है जहाँ प्राणादिमत्त्व के साथ सात्मकत्व ज्ञात होसके, क्योंकि ये दोनों धर्म जीवित शरीर में ही सम्भव हैं, अतः वही दृष्टान्त हो सकता था, पर उक्त अनुमान में समस्त जीवित शरीर के पक्ष में अन्तर्भूत होने के कारण दृष्टान्तरूप में उसका उपयोग नहीं किया जा सकता।

लक्षण भी केवलव्यतिरेकी हेतु होता है, जैसे पृथिवी का लक्षण है गन्ध। उसे हेतु बना कर और पृथिवी को विवादास्पद वस्तु के रूप में पक्ष बनाकर इस प्रकार अनुमान का प्रयोग किया जाता है कि 'जिसमें यह विवाद—संशय है कि यह पृथिवी शब्द से व्यहृत हो अथवा न हो वह पृथिवी शब्द से व्यहृत होने योग्य है, क्योंकि उसमें गन्ध है, जो पृथिवी शब्द से व्यवहृत होने योग्य नहीं होता उसमें गन्ध नहीं रहता जैसे जल'। इस अनुमान में भी पृथिवी से अतिरिक्त कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसमें पृथिवी शब्द से व्यवहृत होने की योग्यतारूप साध्य तथा गन्धरूप हेतु का सहचार सम्भव हो और इसलिये उसे अन्वयी दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। जल में उक्त साध्य और हेतु का अन्वय नहीं है किन्तु उन दोनों का व्यतिरेक है अतः उसे व्यतिरेकी दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, अत एव पृथिवी का गन्धात्मक लक्षण केवलव्यतिरेकी हेतु के रूप में पृथिवी में पृथिवीशब्द से व्यवहृत होने की योग्यता का साधक होता है।

पृथिवी के गन्धात्मक लक्षण के समान प्रमाण का प्रमाकरणत्वरूप लक्षण भी केवल-व्यतिरेकी हेतु है। उस हेतु से अनुमान का प्रयोग इस प्रकार किया जाता है—'प्रत्यक्ष, अनुमान आदि विवादास्पद पदार्थ प्रमाण शब्द से व्यहृत होने योग्य हैं, क्योंकि वे सब प्रमा के करण हैं, जो प्रमाण शब्द से व्यवहृत होने योग्य नहीं होते वे प्रमा के करण नहीं होते जैसे प्रत्यक्षाभास—मिथ्या प्रत्यक्ष, अनुमानाभास—मिथ्या अनुमान आदि। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमा के अकरण नहीं हैं, अतः वे प्रमाण शब्द से व्यवहृत होने के अयोग्य नहीं हैं'। इस अनुमान में ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है जिसमें प्रमाकरण-त्वरूप हेतु और प्रमाण शब्द से व्यवहृत होने की योग्यतारूप साध्य रहते हों, क्योंकि ये दोनों धर्म प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में ही सम्भव हैं और वे सब पक्ष में अन्तर्भूत हैं, अतः इस अनुमान में भी प्रत्यक्षाभास आदि व्यतिरेकी दृष्टान्त ही प्राप्य हैं।

इस अनुमान में उक्त रीति से प्रमाणशब्द का व्यवहार ही साध्य हो सकता है, प्रमाणत्व साध्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसे साध्य करने पर प्रमाकरणत्व हेतु से उसका

कश्चिदन्यो हेतुः केवलान्वयी । यथा शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्, यत् प्रमेयं तदभिधेयं यथा घटः, तथा चायं, तस्मात्तथेति । अत्र शब्दस्य अभिधेयत्वं साध्यम्, प्रमेयत्वं हेतुः, स च केवलान्वय्येव । यदभिधेयं न भवति, तत्प्रमेयमपि न भवति यथाऽमुक इति व्यतिरेकदृष्टान्ताभावात् । सर्वत्र हि प्रामाणिक एवार्थो दृष्टान्तः, स च प्रमेयश्चाभिधेयश्चेति ।

एतेषां च अन्वयव्यतिरेकि-केवलान्वयि-केवलव्यतिरेकिहेतूनां त्रयाणां मध्ये यो हेतुरन्वयव्यतिरेकी स पञ्चरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते, न त्वेकेनापि रूपेण हीनः । तानि पञ्चरूपाणि पक्षसत्त्वं, सपक्षसत्त्वं, विपक्षव्यावृत्तिः, अबाधितविषयत्वम्, असत्प्रतिक्षत्वं चेति । एतानि तु पञ्च रूपाणि धूमवत्त्वादौ अन्वयव्यतिरेकिणि हेतौ विद्यन्ते । तथाहि, धूमवत्त्वं पक्षस्य पर्वतस्य धर्मः; पर्वते तस्य विद्यमानत्वात् । एवं सपक्षसत्त्वं, सपक्षे महानसे तद् विद्यत इत्यर्थः । एवं विपक्षान्महाह्रदाद् व्यावृत्तिस्तत्र नास्तीत्यर्थः । एवमबाधितविषयं च धूमवत्त्वम् । तथाहि धूमवत्त्वस्य हेतोर्विषयः साध्यो धर्मः, तच्चाग्निमत्त्वं, तत् केनापि प्रमाणेन न बाधितं–न खण्डितमित्यर्थः । एवमसत्प्रतिपक्षत्वम्–असन् प्रतिपक्षो यस्येत्यसत्प्रतिपक्षं धूमवत्त्वं हेतुः । तथा हि साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते, स च धूमवत्त्वे हेतौ नास्त्येव, अनुपलम्भात् । तदेवं पञ्च रूपाणि धूमवत्त्वे हेतौ विद्यन्ते, तेनैतद्धूमवत्त्व-मग्निमत्त्वस्य—गमकम्–साधकम् ।

अग्नेः पक्षधर्मत्वं हेतोःपक्षधर्मताबलात् सिध्यति । तथाहि अनुमानस्य द्वे अङ्गे, व्याप्तिः पक्षधर्मता च । तत्र व्याप्त्या साध्यसामान्यस्य सिद्धिः । पक्षधर्मताबलात्तु साध्यस्य पक्षसम्बन्धित्वं विशेषः सिध्यति । पर्वतधर्मेण धूमवत्त्वेन वह्निरपि पर्वतसम्बद्ध एवानुमीयते । अन्यथा साध्यसामान्यस्य व्याप्तिग्रहादेव सिद्धेः कृतमनुमानेन ।

भेद न होने के कारण साध्य और हेतु में अभेददोष का प्रसङ्ग होगा, और उस स्थिति में प्रत्यक्ष आदि पक्ष में प्रमाकरणत्व का निश्चय रहने पर सिद्धसाधन और निश्चय न रहने पर हेत्वसिद्धि दोष होगा । अतः इस अनुमान में प्रमाणत्व को साध्य मानना उचित नहीं है । इस प्रकार तीन केवलव्यतिरेकी हेतुवों का प्रदर्शन किया गया ।

धूम, कृतकत्व आदि अन्वयव्यतिरेकी तथा प्राणादिमत्त्व, गन्धवत्त्व और प्रमाकरणत्व आदि केवलव्यतिरेकी हेतुवों से अन्य कोई हेतु केवलान्वयी हेतु होता है । जैसे 'शब्द

अभिधेय है—अभिधा अर्थात् शक्ति-नामक वृत्ति के द्वारा पदबोध्य है, क्योंकि प्रमेय है–प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान का विषय है, जो प्रमेय होता है वह अभिधेय होता है जैसे घट प्रमेय होने से अभिधेय है, शब्द अभिधेयत्व के व्याप्य प्रमेयत्व का आश्रय है, अतः प्रमेयत्व से ज्ञाप्य अभिधेयत्व का आश्रय है' इस प्रकार के अनुमानप्रयोग में शब्द पक्ष, अभिधेयत्व साध्य और प्रमेयत्व हेतु होता है। यह हेतु केवलान्वयी ही होता है, यह अन्वयव्यतिरेकी अथवा केवलव्यतिरेकी नहीं होता, क्योंकि इस अनुमान में अभिधेयत्वरूप साध्य और प्रमेयत्वरूप हेतु का आश्रयभूत घट, पट आदि अन्वयी दृष्टान्त ही सुलभ है। जो अभिधेय नहीं होता वह प्रमेय नहीं होता इस प्रकार का कोई पदार्थ व्यतिरेकी दृष्टान्त के रूप में प्राप्य नहीं है, क्योंकि सर्वत्र प्रमाणसिद्ध पदार्थ ही दृष्टान्त होता है और जो प्रमाणसिद्ध है वह प्रमेय और अभिधेय ही होता है। अतः किसी भी पदार्थ में अभिधेयत्व और प्रमेयत्व का व्यतिरेक न होने से व्यतिरेकव्याप्ति के दुर्ग्रह होने के कारण अभिधेयत्व के साधनार्थ प्रयुक्त होने वाला प्रमेयत्व हेतु केवलान्वयी ही हेतु हो सकता है।

अन्वयव्यतिरेकी, केवलव्यतिरेकी और केवलान्वयी इन तीनों हेतुओं में जो अन्वयव्यतिरेकी हेतु होता है वह पाँच रूपों से युक्त होने पर ही अपने साध्य की अनुमिति कराने में समर्थ होता है। यदि वह पाँच रूपों में से किसी एक रूप से भी हीन होता है, तो वह अपने साध्य के साधन में समर्थ नहीं होता। वे पाँच रूप हैं, पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। ये गमकतौपयिक–अनुमापकता के प्रयोजक रूप कहे जाते हैं, जो हेतु इन सभी रूपों से सम्पन्न होता है वही अन्वयव्यतिरेकी हेतु के रूप में साध्य का अनुमापक हो सकता है। ये पाँचों रूप धूमवत्त्व आदि अन्वयव्यतिरेकी हेतु में विद्यमान होते हैं। जैसे—धूमवत्त्व पर्वत में विद्यमान होने से पक्ष–पर्वत का धर्म है, इसलिये उसमें पहला रूप पक्षसत्त्व विद्यमान है। वह सपक्ष–महानस में जहाँ साध्य–अग्नि का निश्चय है, विद्यमान है, अतः उसमें दूसरा रूप सपक्षसत्त्व भी है। विपक्ष–जलह्रद में, जहाँ साध्याभाव–अग्नि के अभाव का निश्चय है, वह नहीं रहता, अतः उसमें तीसरा रूप विपक्षव्यावृत्ति भी है। धूमवत्त्व हेतु में चौथा रूप अबाधितविषयत्व भी है क्योंकि उसका विषय है अग्निमत्त्व रूप साध्यात्मक धर्म, जो पक्ष–पर्वत में किसी भी प्रमाण से बाधित–खण्डित नहीं है। उसमें पाँचवाँ रूप असत्प्रतिपक्षत्व भी विद्यमान है, क्योंकि जिसका प्रतिपक्ष विद्यमान न हो वही असत्प्रतिपक्ष होता है और धूमवत्त्व का कोई प्रतिपक्ष विद्यमान नहीं है। जैसे साध्य के साधनार्थ प्रयुक्त हेतु से भिन्न कोई हेतु जब साध्यविपरीत अर्थात् साध्यविरोधी साध्याभाव के साधनार्थ प्रयुक्त होता है तब वही

यस्त्वन्याऽप्यन्वयव्यतिरेकी हेतुः, स सर्वः पञ्चरूपोपपन्न एव सद्धेतुः। अन्यथा हेत्वाभासोऽहेतुरिति यावत्।

केवलान्वयी चतूरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयति। तस्य हि विपक्षाद् व्यावृत्तिर्नास्ति, विपक्षाभावात्।

केवलव्यतिरेकी च चतूरूपोपपन्न एव। तस्य हि सपक्षसत्त्वं नास्ति सपक्षाभावात्।

के पुनः पक्ष-सपक्ष-विपक्षाः? उच्यन्ते—संदिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः, यथा धूमानुमाने पर्वतः पक्षः। सपक्षस्तु निश्चितसाध्यधर्मा धर्मी, यथा महानसं धूमानुमाने। विपक्षस्तु निश्चितसाध्याभाववान् धर्मी, यथा तत्रैव महाह्रद इति।

तदेवमन्वयव्यतिरेकि–केवलान्वयि–केवलव्यतिरेकिणो दर्शिताः।

साध्य के साधक हेतु का प्रतिपक्ष कहा जाता है, धूमवत्त्व हेतु का वैसा कोई प्रतिपक्ष नहीं है क्योंकि वैसे किसी का उपलम्भ नहीं होता।

इस प्रकार धूमवत्त्व हेतु में गमकतौपयिक उक्त पाँचों रूप विद्यमान हैं अतः धूमवत्त्व हेतु अग्निमत्त्व का साधक होता है।

अग्नि की पक्षधर्मता धूमात्मक हेतु की पक्षधर्मता के बल से सिद्ध होती है क्योंकि पक्ष में हेतुकी विद्यमानता ही पक्ष में साध्य की विद्यमानता का गमक होती है। तात्पर्य यह है कि अनुमान के दो अङ्ग होते हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता। उनमें व्याप्ति से 'जहाँ हेतु होता है वहाँ साध्य होता है' इस प्रकार सामान्य रूप से ही हेतु के आश्रय में साध्य की सिद्धि होती है, किन्तु पक्षधर्मता–पक्ष में हेतु की विद्यमानता के बल से 'इस पक्ष में यह साध्य है' इस प्रकार विशेष रूप से पक्ष में साध्य की सिद्धि होती है। पर्वत में विद्यमान धूम से पर्वत में विद्यमान अग्नि की ही अनुमिति होती है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो अनुमान की कोई सार्थकता ही न होगी क्योंकि हेतु के आश्रय में साध्य की सामान्यसिद्धि तो व्याप्तिज्ञान से ही सम्पन्न हो जाती है।

धूम से अन्य भी जो कोई अन्वयव्यतिरेकी हेतु होता है वह सब भी धूम के समान उक्त पाँच रूपों से युक्त होने पर ही सद्धेतु होता है, अन्यथा होने पर अर्थात् उक्त रूपों में से किसी एक रूप से भी हीन होने पर हेत्वाभास—असद्धेतु हो जाता है।

केवलान्वयी हेतु उक्त रूपों में से तीसरे रूप विपक्षव्यावृत्ति को छोड़ अन्य चार रूपों से युक्त होने पर ही अपने साध्य का साधक होता है, उसमें तीसरा रूप विपक्षव्यावृत्ति नहीं होता क्योंकि केवलान्वयी हेतु का जो साध्य होता है उसका सर्वत्र सद्भाव होने से

केवलान्वयी हेतु का कोई विपक्ष नहीं होता, अतः उसमें विपक्षव्यावृत्तिरूप से सम्पन्न होने की बात ही नहीं उठ सकती।

केवलव्यतिरेकी हेतु उक्त रूपों में से दूसरे रूप सपक्षसत्त्व को छोड़ अन्य चार रूपों से युक्त होने पर ही अपने साध्य का साधक होता है, उसमें दूसरा रूप सपक्षसत्त्व नहीं होता, क्योंकि केवलव्यतिरेकी हेतु का जो साध्य होता है वह अनुमान से पूर्व कहीं सिद्ध नहीं रहता, क्योंकि अनुमान होने से पूर्व पक्ष में तो वह सन्दिग्ध ही रहता है और पक्ष से अन्य में उसका बाध होने से उनमें उसके सिद्ध होने की कोई कथा ही नहीं हो सकती, अतः केवलव्यतिरेकी हेतु का सपक्ष न होने के कारण उसमें सपक्षसत्त्व के होने की बात ही नहीं उठ सकती।

प्रश्न होता है कि पक्ष, सपक्ष और विपक्ष किसे कहा जाता है? उत्तर है कि जिस धर्मी में साध्यात्मक धर्म सन्दिग्ध हो उसे पक्ष कहा जाता है, जैसे पर्वत में धूम से अग्नि का अनुमान करने पर पर्वत पक्ष होता है क्योंकि अनुमान से पूर्व पर्वत में अग्नि का होना सन्दिग्ध रहता है।

जिस धर्मी में साध्यात्मक धर्म का निश्चय हो उसे सपक्ष कहा जाता है जैसे उक्त अनुमान में महानस, क्योंकि उक्त अनुमान से पूर्व भी उसमें साध्य–अग्नि का सद्भाव निश्चित रहता है।

जिस धर्मी में साध्याभाव का निश्चय हो उसे विपक्ष कहा जाता है जैसे उक्त अनुमान में ही जलह्रद, क्योंकि उसमें साध्य–अग्नि का अभाव निश्चित रहता है।

इस प्रकार अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी हेतुओं का प्रदर्शन किया गया।

इन हेतुओं के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि अन्वयव्यतिरेकी आदि तीन वर्गों में हेतुवों का जो विभाजन किया गया है उसके आधार के विषय में विद्वानों में मतभेद है। उदयनाचार्य जैसे प्राचीन नैयायिकों का मत यह है कि सभी अनुमान एकमात्र अन्वयव्याप्ति से ही सम्पन्न होते हैं, चाहे किसी अन्वयी दृष्टान्त में हेतु और साध्य के अन्वयसहचार का ज्ञान हो, चाहे किसी व्यतिरेकी दृष्टान्त में दोनों के व्यतिरेक-सहचार का ज्ञान हो और चाहे दोनों प्रकार के दृष्टान्तों में एक ही साथ अन्वय–सहचार और व्यतिरेकसहचार दोनों का ज्ञान हो, उन सभी ज्ञानों से हेतु में साध्य की अन्वयव्याप्ति का ही ज्ञान होता है और सर्वत्र उसी ज्ञान से अनुमिति का उदय होता है। इस मत के अनुसार हेतु का विभाजन व्याप्तिग्राहक सहचार के आधार पर होगा और वह इस प्रकार होगा कि जब 'जहाँ जहाँ हेतु रहता है वहाँ वहाँ साध्य रहता है' इस प्रकार हेतु में साध्य के अन्वयसहचारमात्र के ज्ञान से अन्वयव्याप्ति का ज्ञान

होकर अनुमिति का उदय होगा उस समय हेतु केवलान्वयी हेतु कहा जायगा। इसी प्रकार 'जहाँ जहाँ साध्य नहीं रहता वहाँ वहाँ हेतु नहीं रहता' इस प्रकार जब साध्य के व्यतिरेक में हेतु के व्यतिरेकसहचारमात्र के ज्ञान से अन्वयव्याप्ति का ज्ञान होकर अनुमिति का उदय होगा, उस समय हेतु केवलव्यतिरेकी हेतु कहा जायगा।

इसी प्रकार जब अन्वयसहचार और व्यतिरेकसहचार दोनों का एक साथ ज्ञान होने से अन्वयव्याप्ति का ज्ञान होकर अनुमिति का जन्म होगा उस समय हेतु अन्वय-व्यतिरेकी हेतु कहा जायगा।

इस प्रकार इस मत में एक ही हेतु कभी केवलान्वयी, कभी केवलव्यतिरेकी और कभी अन्वयव्यतिरेकी होगा।

तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेशोपाध्याय का मत यह है कि हेतु में साध्य के अन्वय-सहचार के ज्ञान से अन्वयव्याप्ति का ज्ञान होकर अनुमिति का उदय होता है, और साध्य के व्यतिरेक में हेतु के व्यतिरेकसहचार के ज्ञान से व्यतिरेकव्याप्ति का ज्ञान होकर अनुमिति का उदय होता है, और जब दोनों प्रकार के सहचार का एक साथ ज्ञान होता है तब अन्वय और व्यतिरेक दोनों व्याप्तियों का ज्ञान होकर अनुमिति का उदय होता है। इस मत के अनुसार व्याप्ति के आधार पर हेतु का भेद होगा और वह इस प्रकार होगा कि जब हेतु में साध्य की अन्वयव्याप्तिमात्र का ज्ञान होकर केवल उस एक ही व्याप्ति के ज्ञान से अनुमिति का उदय होगा उस समय हेतु केवलान्वयी हेतु कहा जायगा।

जिस समय हेतु में साध्य की व्यतिरेकव्याप्तिमात्र का ज्ञान होकर अनुमिति का उदय होगा। उस समय हेतु केवलव्यतिरेकी हेतु कहा जायगा।

जिस समय दोनों प्रकार के सहचारों से दोनों प्रकार की व्याप्तियों का एक साथ ज्ञान होकर अनुमिति का उदय होगा उस समय हेतु अन्वयव्यतिरेकी कहा जायगा।

इस प्रकार इस मत में भी एक ही हेतु कभी केवलान्वयी, कभी केवलव्यतिरेकी और कभी अन्वयव्यतिरेकी होगा।

दीधितिकार तार्किकशिरोमणि रघुनाथ का मत यह है कि साध्य के भेद से हेतु का भेद होता है। इस मत के अनुसार हेतु के प्रथम दो भेद किये जायंगे केवलान्वयी और व्यतिरेकी। व्यतिरेकी के दो भेद होंगे केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। जिस हेतु से केवलान्वयी—सर्वत्र रहने वाले साध्य का अनुमान होगा वह हेतु केवलान्वयी कहा जायगा, और जिस हेतु से व्यतिरेकी—सर्वत्र न रहने वाले साध्य का अनुमान होगा वह व्यतिरेकी हेतु कहा जायगा। व्यतिरेकी साध्य का अनुमान जब किसी हेतु से

अतोऽन्ये हेत्वाभासाः।

ते च असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-प्रकरणसम-कालात्ययापदिष्टभेदात् पञ्चैव।

तत्र लिङ्गत्वेनानिश्चितो हेतुः असिद्धः। तत्रासिद्धस्त्रिविधः—आश्रयासिद्धः, स्वरूपासिद्धो व्याप्यत्वासिद्धश्चेति। आश्रयासिद्धो यथा—गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्। अत्र गगनारविन्दमाश्रयः, स च नास्त्येव। स्वरूपासिद्धो यथा - शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वाद्, घटवत्। अत्र चाक्षुषत्वं हेतुः, स च शब्दे नास्त्येव, तस्य श्रावणत्वात्।

व्याप्यत्वासिद्धस्तु द्विविधः। एको व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात्, अपरस्तूपाधिसद्भावात्। तत्र प्रथमो यथा—शब्दः क्षणिकः, सत्त्वात्। यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरपटलं, तथा च शब्दादिरिति। न च सत्त्वक्षणिकत्वयोर्व्याप्तिग्राहकं प्रमाणमस्ति। सोपाधिकतया सत्त्वस्य व्याप्यत्वासिद्धौ उच्यमानायां क्षणिकत्वमन्यप्रयुक्तमित्यभ्युपगतं स्यात्।

द्वितीयो यथा क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसाऽधर्मसाधनं, हिंसात्वात्, क्रतुबाह्यहिंसावत्। अत्र ह्यधर्मसाधनत्वे हिंसात्वं न प्रयोजकं, किन्तु निषिद्धत्वमेव प्रयोजकम्-उपाधिरिति यावत्। तथाहि साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापक उपाधिः—इत्युपाधिलक्षणम्, तच्चास्ति निषिद्धत्वे। निषिद्धत्वं हि साध्यस्याऽधर्मसाधनत्वस्य व्यापकम्, यतो यत्र यत्राऽधर्मसाधनत्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वमपीति। एवं साधनं हिंसात्वं न व्याप्नोति निषिद्धत्वम्, न हि यत्र यत्र हिंसात्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वं, यज्ञीयपशुहिंसाया निषिद्धत्वाभावात्। तदेवं निषिद्धत्वस्योपाधेः सद्भावाद् अन्यप्रयुक्तव्याप्त्युपजीवि हिंसात्वं व्याप्यत्वासिद्धमेव।

व्यतिरेकसहचारमात्र के ज्ञान से व्याप्तिज्ञान होकर सम्पादित होगा उस समय वह हेतु केवलव्यतिरेकी कहा जायगा और जब किसी हेतु से अन्वयसहचार और व्यतिरेकसहचार दोनों से व्याप्तिज्ञान होकर सम्पादित होगा उस समय वह हेतु अन्वयव्यतिरेकी हेतु कहा जायगा।

इस प्रकार इस मतमें जिस हेतु का साध्य केवलान्वयी होगा उसे केवलान्वयी और जिस हेतु का साध्य व्यतिरेकी होगा उसे कभी केवलव्यतिरेकी और कभी अन्वयव्यतिरेकी कहा जायगा।

तर्कभाषाकार ने जो हेतु का विभाजन किया है वह दृष्टान्तभेद पर आधारित है, उसके अनुसार जिस हेतु में साध्य के सहचार को ग्रहण करने के लिये अन्वयी दृष्टान्त तथा साध्याभाव में साधनाभाव के सहचार को ग्रहण करने के लिये व्यतिरेकी दृष्टान्त

सुलभ है वह हेतु अन्वयव्यतिरेकी और जिस हेतु में साध्य के अन्वयसहचार को ही ग्रहण करने के लिये दृष्टान्त प्राप्य है व्यतिरेकसहचार को ग्रहण करने के लिये कोई दृष्टान्त प्राप्य नहीं है वह केवलान्वयी और जिस हेतु में साध्य के सहचार का ग्राहक कोई दृष्टान्त प्राप्य नहीं है किन्तु साध्यव्यतिरेक में हेतुव्यतिरेक के ही सहचार का ग्राहक दृष्टान्त प्राप्य है वह केवलव्यतिरेकी अनुमान होता है।

अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी इन तीन वर्गों में सद्धेतु का वर्णन किया गया, अब आगे हेत्वाभास—असद्धेतु का वर्णन करना है।

हेत्वाभास शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ की जाती हैं एक है 'आभासन्त इत्याभासाः, हेतोराभासा हेत्वाभासाः' और दूसरी है 'हेतुवद् आभासन्त इति हेत्वाभासाः'। पहली व्युत्पत्ति के अनुसार हेत्वाभास शब्द का अर्थ है हेतुगत दोष और दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार हेत्वाभास शब्द का अर्थ है, वास्तव में. हेतु न होते हुये भी हेतु के समान प्रतीत होने वाला --दुष्ट हेतु।

न्यायशास्त्र के मूर्धन्य ग्रन्थों में हेतुगतदोषात्मक हेत्वाभास के कई लक्षण किये गये हैं उनमें जो बाहुल्येन चर्चित होता है वह इस प्रकार हैं—

जिसके ज्ञान से अनुमिति अथवा अनुमिति के कारण तृतीय लिङ्गपरामर्श का प्रतिबन्ध हो वह हेत्वाभास—हेतुगत दोष होता है। उसके पाँच भेद हैं—असिद्ध, विरोध, अनैकान्तिकत्व–व्यभिचार, प्रकरणसमत्व–सत्प्रतिपक्ष और कालात्ययापदिष्टत्व–बाध। इनमें प्रथम तीन के ज्ञान से अनुमिति के कारण परामर्श का और अन्तिम दो के ज्ञान से अनुमिति का प्रतिबन्ध होता है।

जिन अनुमानों के प्रयोग में ये दोष प्राप्य होते हैं उन अनुमानों में प्रयुक्त होने वाले हेतु दुष्ट हेतु के अर्थ में हेत्वाभास होते हैं। उनके भी पाँच भेद हैं, असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक–व्यभिचारी, प्रकरणसम–सत्प्रतिपक्षित और कालात्ययापदिष्ट–बाधित।

असिद्ध—

पाँच दुष्ट हेतुवों में असिद्ध नाम का जो हेत्वाभास है, उसका लक्षण यह है कि जिस हेतु में लिङ्गत्व–व्याप्ति और पक्षधर्मता (दोनों अथवा दोनों में कोई एक) सिद्ध—निश्चित न हो वह असिद्ध है। उसके तीन भेद हैं—आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध। इनमें प्रथम दो में पक्षधर्मता सिद्ध नहीं हो पाती और तीसरे में व्याप्ति सिद्ध नहीं हो पाती।

आश्रयासिद्ध—

जिस हेतु का आश्रय अर्थात् पक्ष सिद्ध—निश्चित न हो उसे आश्रयासिद्ध कहा जाता है। जैसे 'गगनारविन्दं सुरभि–आकाशकमल सुगन्धयुक्त है, 'अरविन्दत्वात्—

क्योंकि वह कमल है, जैसे तालाब का कमल'। इस प्रकार अनुमान का प्रयोग होने पर अरविन्दत्व हेतु आश्रयासिद्ध होता है क्योंकि उसका आश्रय अर्थात् जिस आश्रय—पक्ष में साध्य के साधनार्थ वह हेतु प्रयुक्त है वह आकाशकमलरूप आश्रय सिद्ध नहीं है, क्योंकि आकाश में कमल का पुष्प नहीं होता और जब उक्त हेतु का पक्ष ही सिद्ध नहीं है तो उक्त हेतु में पक्षधर्मता की सिद्धि सम्भव न होने से लिङ्गत्व सुतराम् असिद्ध है।

स्वरूपासिद्ध—

जो हेतु आश्रय—पक्ष में अपने स्वरूप से सिद्ध न हो अर्थात् जिस हेतु का पक्ष में अभाव हो उसे स्वरूपासिद्ध कहा जाता है, जैसे 'शब्दः अनित्यः—शब्द अनित्य—नश्वर है, चाक्षुषत्वात्—क्योंकि वह चाक्षुष है—चक्षु से साक्षात्कृत होता है जैसे घट। इस अनुमान-प्रयोग में चाक्षुषत्व हेतु है और वह हेतु शब्द—पक्ष में नहीं ही है। क्योंकि उसमें श्रावणत्व है—वह श्रवण से गृहीत होता है। अतः शब्द—पक्ष में अपने स्वरूप से सिद्ध न होने के कारण उक्त अनुमान में चाक्षुषत्व हेतु स्वरूपासिद्ध है।

व्याप्यत्वासिद्ध—

जिस हेतु में व्याप्ति सिद्ध न हो उसे व्याप्यत्वासिद्ध कहा जाता है, उसके दो भेद हैं—एक वह जिसमें, व्याप्ति का ग्राहक कोई प्रमाण न होने से व्याप्ति सिद्ध नहीं हो पाती, दूसरा वह जिसमें उपाधि होने से व्याप्ति सिद्ध नहीं हो पाती। उनमें पहले व्याप्यत्वासिद्ध का उदाहरण है क्षणिकत्व का साधन करने के लिये प्रयुक्त होने वाला सत्त्व। जैसे 'शब्दः क्षणिकः—शब्द क्षणिक है अर्थात् अपनी उत्पत्ति के अनन्तर उत्तरक्षण में नश्वर है, 'सत्त्वात्—क्यों कि वह सत् है', 'यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधर-पटलम्—जो सत् होता है वह क्षणिक होता है जैसे बादलों की घटा, तथा च शब्दादिः—शब्द आदि पदार्थ वैसा है—सत् है। इस अनुमान में क्षणिकत्व के साधनार्थ प्रयुक्त सत्त्व हेतु में क्षणिकत्व की व्याप्ति नहीं सिद्ध हो पाती क्योंकि सत्त्व में क्षणिकत्व की व्याप्ति का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है। अतः व्याप्तिग्राहक प्रमाण के अभाव से व्याप्ति की सिद्धि न होने के कारण क्षणिकत्व के अनुमानार्थ प्रयुक्त सत्त्व हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है।

इस हेतु को उपाधियुक्त होने के कारण व्याप्यत्वासिद्ध नहीं माना जा सकता क्यों कि वैसा मानने पर शब्द आदि पदार्थों में क्षणिकत्व है किन्तु वह सत्त्वप्रयुक्त न होकर अन्यप्रयुक्त है, यह मानना होगा। परन्तु यह बात पदार्थस्थैर्यवादी नैयायिकों को मान्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि शब्द आदि पदार्थों में क्षणिकत्व की अनुमिति कराने के उद्देश्य से सत्त्व हेतु का प्रयोग करने पर यदि उस हेतु को सोपाधिक मान कर

व्याप्यत्वासिद्ध माना जायगा तो उससे केवल यही सिद्ध होगा कि सत्त्व में क्षणिकत्व की व्याप्ति न होने से सत्त्व से क्षणिकत्व का अनुमान न हो सकेगा पर इससे यह तो नहीं सिद्ध हो सकेगा कि शब्द आदि में क्षणिकत्व नहीं है। हो सकता है कि शब्द आदि में क्षणिकत्व किसी अन्य हेतु से प्रयुक्त हो जो सोपाधिक न होने से क्षणिकत्व का व्याप्य हो। किन्तु जब व्याप्तिग्राहक प्रमाण के अभाव से सत्त्व को व्याप्यत्वासिद्ध कहा जाता है तब उससे यह संकेत मिलता है, कि शब्द आदि पदार्थों में रहने वाले किसी धर्म में क्षणिकत्व की व्याप्ति का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है अतः यदि किसी धर्म में क्षणिकत्व की व्याप्ति का ग्राहक प्रमाण होगा भी तो उससे शब्द आदि में क्षणिकत्व का अनुमान न हो सकेगा क्योंकि वह धर्म शब्द आदि पदार्थों में स्वयं स्वरूपासिद्ध है।

यहाँ इस बात को समझ लेना आवश्यक है कि शब्द आदि में क्षणिकत्व के साधनार्थ सत्त्व हेतु का प्रयोग करने में बौद्ध विद्वानों का क्या अभिप्राय है?

बात यह है कि बौद्ध विद्वान् उसी पदार्थ की सत्ता स्वीकार करते हैं जो अर्थ-क्रिया-कारी होता है—किसी कार्य को उत्पन्न करता है। जो किसी कार्य को उत्पन्न नहीं करता, उसे सत् मानने में कोई युक्ति नहीं है। संसार का प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी पदार्थ का उत्पादक होने से ही सत् होता है, अतः अनभिमत होने पर भी यह मानना ही होगा कि संसार का प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है क्योंकि क्षणिक पदार्थ को ही किसी कार्य का उत्पादक माना जा सकता है, स्थिर पदार्थ को नहीं, क्योंकि यह नियम है कि जिस पदार्थ में जिस कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता होती है वह उसे उत्पन्न करने में विलम्ब नहीं करता, फलतः जो पदार्थ जिस क्षण में स्वयं अस्तित्व में आयेगा उसके अनन्तर उत्तर क्षण में ही उसके सारे कार्य उत्पन्न हो जायंगे, उसका कोई कार्य शेष न रह जायगा, अतः दूसरे क्षण उसके अस्तित्व का कोई प्रयोजन न होने से वह अपने दूसरे क्षण में ही नष्ट हो जायगा। इस लिये यह निर्विवाद है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। इस क्षणिकता का परिहार उस स्थिति में हो सकता है यदि पदार्थों को विलम्ब से अपने कार्य का उत्पादक माना जाय, किन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि विलम्ब से कार्य का उत्पादन करना यदि उसका स्वभाव होगा तो 'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते' के अनुसार उस पदार्थ के सारे जीवनकाल में उसका वह स्वभाव बना रहेगा जिसका परिणाम यह होगा कि वह कभी किसी कार्य को उत्पन्न न कर सकेगा और जब वह अनुत्पादक होगा तो उसका अस्तित्व ही प्रमाणहीन हो जायगा।

बौद्धों के इस तर्क के विरुद्ध नैयायिकों का कथन यह है कि संसार का कोई पदार्थ किसी कार्य का उत्पादक होने से सत् नहीं होता किन्तु सत् होने से उत्पादक होता है अर्थात् पदार्थ पहले स्वयं अपने अस्तित्व में आता है तब वह अन्य किसी कार्य को उत्पन्न करता

है, दोनों बात हो सकती है, वह किसी कार्य को अपने जन्म के दूसरे ही क्षण उत्पन्न कर सकता है और किसी को विलम्ब से भी उत्पन्न कर सकता है। विलम्ब से उत्पादक मानने पर वह उत्पादक ही न हो सकेगा, यह सोचना निरर्थक है, क्योंकि जो कभी उत्पादक ही नहीं होगा उसे विलम्बोत्पादक कैसे कहा जा सकेगा। क्योंकि विलम्बोत्पादक कहने का अर्थ ही यह है कि वह उत्पादक अवश्य है, पर उत्पादन में वह स्वतन्त्र नहीं है किन्तु अन्य सहयोगियों की अपेक्षा करता है, अतः जिस कार्य के उत्पादन में अपेक्षित सहयोगी उसे उसके जन्मक्षण में ही प्राप्त हो जाते हैं उस कार्य को तो वह अपनी उत्पत्ति के दूसरे क्षण में ही उत्पन्न कर देता है, पर जिन कार्यों के उत्पादन में अपेक्षित सहयोगी उसे विलम्ब से प्राप्त होते हैं उन कार्यों को वह विलम्ब से उत्पन्न करता है। अतः 'जो पदार्थ जिन कार्यों के उत्पादन की क्षमता रखता है उन सभी कार्यों को वह उत्पन्न होते ही कर डालता है'. यह नियम है, इसलिये बाद में उसकी कोई उपयोगिता न होने से बाद में उसका अस्तित्व अप्रामाणिक है, यह कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि पदार्थों का कार्योत्पादकता के सम्बन्ध में उक्त नियम ही अप्रामाणिक है, अतः उस नियम के बल से पदार्थों की स्थिरता का प्रतिषेध नहीं हो सकता।

दूसरे व्याप्यत्वासिद्ध का उदाहरण इस प्रकार है—

यज्ञ में होने वाली हिंसा को पक्ष बनाकर उसमें अधर्मसाधनत्व की अनुमिति कराने के उद्देश्य से जब इस प्रकार अनुमान का प्रयोग किया जाता है कि 'यज्ञ में होने वाली हिंसा अधर्म की उत्पादिका है, क्यों कि वह भी हिंसा है, हिंसा जो भी हो वह सब अधर्म की उत्पादिका होती है, जैसे यज्ञ के बाहर की हिंसा'। तो इस अनुमान में प्रयुक्त हिंसात्व हेतु उपाधिग्रस्त होने से व्याप्यत्वासिद्ध हो जाता है। उसे इस प्रकार व्याप्यत्वासिद्ध कहने का आशय यह है कि कोई भी हिंसा इस लिए अधर्म की उत्पादिका नहीं होती कि वह हिंसा है किन्तु इस लिये अधर्म की उत्पादिका होती है कि वह शास्त्रतः निषिद्ध है, यज्ञ के बाहर की हिंसा शास्त्रनिषिद्ध होने के कारण अधर्म उत्पन्न करती है किन्तु यज्ञ में होने वाली हिंसा शास्त्रनिषिद्ध नहीं है, किन्तु शास्त्रविहित है, अतः केवल हिंसा होने के कारण वह अधर्म का उत्पादन नहीं कर सकती।

हिंसा के अधर्मसाधनत्व में हिंसात्व प्रयोजक नहीं होता किन्तु निषिद्धत्व प्रयोजक होता है, प्रयोजक को उपाधि कहा जाता है, अतः हिंसात्व हेतु में निषिद्धत्व उपाधि है। निषिद्धत्व के उपाधि होने में कोई शङ्का नहीं की जा सकती क्योंकि वह उपाधि के लक्षण से अनुगत है। उपाधि का लक्षण है 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्' अर्थात् जो साध्य का व्यापक और साधन—हेतु का अव्यापक होता है उसे उपाधि कहा जाता है। उपाधि का यह लक्षण निषिद्धत्व में विद्यमान है, क्योंकि जिस जिस कर्म में अधर्मसाधनत्व है उन सभी कर्मों में निषिद्धत्व है, जैसे मद्यपान, परस्त्रीसेवन, मिथ्या-

भाषण, परधन का अपहरण आदि कर्मों में अधर्मसाधनत्व के साथ निषिद्धत्व विद्यमान है। इस लिये निषिद्धत्व अधर्मसाधनत्वरूप साध्य का व्यापक है। निषिद्धत्व हिंसात्वरूप साधन का अव्यापक है, क्योंकि हिंसात्व यज्ञ में होने वाली हिंसा में विद्यमान है किन्तु उसमें निषिद्धत्व नहीं है। अभिप्राय यह है कि यद्यपि 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि—किसी भी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिये' इस शास्त्रवचन से सारी हिंसा का निषेध प्रतीत होता है, पर समस्त हिंसा के निषेध में उक्त वचन का तात्पर्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत-अग्नि और सोम देवता के उद्देश्य से पशुहिंसा करनी चाहिये' ऐसे अनेक शास्त्रवचनों से अनेक हिंसायें विहित हैं। अतः इन दोनों प्रकार के शास्त्रवचनों के सामञ्जस्य और प्रामाण्य के लिये 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' इस वचन को केवल उन हिंसावों में ही सीमित कर देना होगा जो किसी शास्त्रवचन से विहित नहीं हैं। फलतः उक्त वचन से समस्त हिंसा का निषेध न होने के कारण यज्ञ में विहित हिंसा में निषिद्धत्व हिंसात्व का अव्यापक हो जाता है। इस प्रकार निषिद्धत्व उपाधिलक्षण से युक्त हो जाता है। अतः जहाँ कहीं हिंसात्व में अधर्मसाधनत्व की व्याप्ति है वहाँ वह अन्यप्रयुक्त—औपाधिक है। इस लिये हिंसात्व में अधर्मसाधनत्व का अनौपाधिक सम्बन्ध न होने से हिंसात्व निस्संशय व्याप्यत्वासिद्ध है।

इस सन्दर्भ में यह ध्यान देने योग्य है कि व्याप्यत्वासिद्ध के उक्त दो भेदों का कथन एक संकेतमात्र है, क्योंकि अन्य कई कारणों से भी हेतुवों में व्याप्यत्व की असिद्धि देखी जाती है। जैसे किसी अनुमान में यदि किसी ऐसे साध्य और साधन का प्रयोग हो जो किसी प्रमाण से सिद्ध न हो सकें तो वैसे अनुमान में प्रयुक्त होने वाले हेतु भी व्याप्यत्वासिद्ध होंगे। उदाहरणार्थ 'पर्वतः काञ्चनमयवह्निमान्—पर्वत काञ्चनमय अग्नि से युक्त है, क्योंकि वह काञ्चनमय धूम से युक्त है' यह अनुमान लिया जा सकता है। अग्नि और धूमकी काञ्चनमयता में कोई प्रमाण न होने से काञ्चनमय अग्नि और काञ्चनमय धूम का अस्तित्व नहीं माना जा सकता, फिर इस स्थिति में काञ्चनमय अग्नि के साधनार्थ प्रयुक्त हेतु में काञ्चनमय अग्नि की व्याप्ति, तथा काञ्चनमय धूम का हेतु के रूप में प्रयोग करने पर उस हेतु में अन्य साध्य की व्याप्ति कैसे सिद्ध हो सकती है ?। फलतः उक्त प्रकार के अनुमानों में प्रयुक्त होने वाले हेतुवोंका व्याप्यत्वासिद्ध होना अपरिहार्य है। इसी प्रकार किसी अनुमान में जब किसी ऐसे हेतु का प्रयोग किया जाता है जो व्यर्थ-विशेषण से घटित होता है तो वह हेतु भी व्याप्यत्वासिद्ध होता है, जैसे अग्नि के साधनार्थ शुद्ध धूम का प्रयोग न कर यदि नीलधूम का प्रयोग किया जाय तो उसमें नीलत्व विशेषण के व्यर्थ होने से लाघववश शुद्ध धूम में ही अग्नि की व्याप्ति मानी जायगी, गौरव के कारण नीलधूम में अग्नि की व्याप्ति नहीं मानी

साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादात्मवत्, कृतकत्वं हि साध्यनित्यत्वविपरीतानित्यत्वेन व्याप्तम्, यत्कृतकं तदनित्यमेव, न नित्यमित्यतो विरुद्धं कृतकत्वमिति।

सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। स द्विविधः साधारणानैकान्तिकोऽसाधारणानैकान्तिकश्चेति। तत्र पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः साधारणः। यथा–शब्दो नित्यः प्रमेयत्वाद्, व्योमवत्। अत्र हि प्रमेयत्वं हेतुस्तच्च नित्यानित्यवृत्ति। सपक्षाद् विपक्षाद् व्यावृत्तो यः पक्ष एव वर्तते, सोऽसाधारणानैकान्तिकः। यथा भूर्नित्या, गन्धवत्त्वात्। गन्धवत्त्वं हि सपक्षान्नित्याद्विपक्षाच्चानित्याद् व्यावृत्तं भूमात्रवृत्ति।

प्रकरणसमस्तु स एव यस्य हेतोः साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते। यथा शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मरहितत्वात्, शब्दो नित्योऽनित्यधर्मरहितत्वादिति। अयमेव हि सत्प्रतिपक्ष इति चोच्यते।

पक्षे प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावो हेतुर्बाधितविषयः कालात्ययापदिष्ट इति चोच्यते। यथाग्निरनुष्णः कृतकत्वाज्जलवत्। अत्र हि कृतकत्वस्य हेतोः साध्यमनुष्णत्वं तदभावः प्रत्यक्षेणैवावधारितः, स्पार्शनप्रत्यक्षेणैवोष्णत्वोपलम्भात्।

इति व्याख्यातमनुमानम्।

जायगी, अतः नीलधूम हेतु का भी व्याप्यत्वासिद्ध होना ध्रुव है। इस प्रकार अन्यविध व्याप्यत्वासिद्ध के भी प्रामाणिक होने से उक्त दो ही प्रकार के व्याप्यत्वासिद्ध के कथन को निश्चय ही संकेतमात्र मानना ही उचित है।

(२) विरुद्ध

जब साध्य का साधन करने के लिए किसी ऐसे हेतु का प्रयोग कर दिया जाता है जो साध्य का व्याप्य न होकर साध्य के विरोधी साध्याभाव का व्याप्य होता है तब वह हेतु विरुद्ध कहा जाता है। जैसे शब्द को पक्ष और आत्मा को दृष्टान्त बनाकर शब्द में नित्यत्व का साधन करने के लिए यदि कृतकत्व–कार्यत्व हेतु का प्रयोग किया जायगा तो कृतकत्व विरुद्ध हेतु कहा जायगा, क्योंकि कृतकत्व नित्यत्व का व्याप्य न होकर नित्यत्व-विरोधी अनित्यत्व का व्याप्य है अर्थात् जो कृतक–कार्य होता है वह अनित्य ही होता है, नित्य नहीं होता। इसलिए नित्यत्व के अनुमान में कृतकत्व विरुद्ध है।

यह हेत्वाभास अन्य सभी हेत्वाभासों से निकृष्ट है क्योंकि इसके प्रयोग से अनुमानप्रयोक्ता की बहुत बड़ी अशक्तता–अज्ञता सूचित होती है, उसे इतनी भी

सूझ नहीं रहती कि वह जिस हेतु का प्रयोग कर रहा है, उससे उसके अपने अभिमत साध्य के साधन की बात तो दूर रही उलटे उससे उसके नितान्त अनभिमत साध्याभाव की सिद्धि गले पड़ जाती है।

(३) अनैकान्तिक—

जिस हेतु में साध्य का व्यभिचार होता है अर्थात् जो हेतु नियमेन साध्य के साथ नहीं रहता किन्तु कहीं साध्याभाव के साथ भी रहता है उसे अनैकान्तिक कहा जाता है। उसके दो भेद हैं—साधारण अनैकान्तिक और असाधारण अनैकान्तिक। साधारण अनैकान्तिक वह हेतु होता है जो पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में रहता है। जैसे 'शब्दः नित्यः–शब्द नित्य है, प्रमेयत्वात्–क्योंकि वह प्रमेय है' व्योमवत्–जैसे आकाश' इस अनुमान में प्रमेत्व हेतु साधारण अनैकान्तिक है, क्योंकि वह पक्ष–शब्द, सपक्ष–आकाश आदि नित्य पदार्थ और विपक्ष–घट आदि अनित्य पदार्थ इन तीनों में रहता है।

असाधारण अनैकान्तिक वह हेतु होता है जो सपक्ष और विपक्ष दोनों में न रह कर केवल पक्ष में ही रहता है। जैसे 'भूः नित्या–भूमि नित्य है, गन्धवत्त्वात्–क्योंकि उसमें गन्ध है' इस अनुमान में गन्ध हेतु असाधारण अनैकान्तिक है, क्योंकि वह जिनमें साध्य–नित्यत्व निश्चित है उन आकाश आदि सपक्षों में तथा जिनमें साध्याभाव–अनित्यत्व निश्चित है उन जल आदि विपक्षों में न रह कर केवल पक्ष–भूमि में ही रहता है।

यहाँ एक यह बात चर्चा करने योग्य प्रतीत होती है कि कतिपय नैयायिक विद्वानों ने अनुपसंहारी नाम का तीसरा अनैकान्तिक मान कर अनैकान्तिक के तीन भेद माने हैं। अनुपसंहारी का अर्थ है जिससे पक्ष में साध्य का उपसंहार–समर्पण न किया जा सके। जैसे जब विश्वमात्र को पक्ष बना कर किसी साध्य के साधनार्थ किसी हेतु का प्रयोग किया जाता है तब वह हेतु अनुपसंहारी होता है, क्योंकि विश्व भर में साध्य का सन्देह होने से कहीं भी हेतु में साध्य के सहचार का निर्णय न हो सकने के कारण उस हेतु से पक्ष में साध्य का उपसंहार नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए 'सर्वम् अनित्यम्–सब अनित्य है, प्रमेयत्वात्–क्योंकि सब प्रमेय है' इस अनुमान में प्रयुक्त प्रमेयत्व को प्रस्तुत किया जा सकता है। इस अनुमान में समस्त विश्वके पक्ष होने से सर्वत्र साध्य का संशय मानना होता है। फलतः कहीं भी प्रमेयत्व में साध्य–अनित्यत्व के सहभाव का निश्चय न हो सकने से उससे पक्ष में साध्य का उपसंहार नहीं हो पाता, अतः उक्त अनुमान में प्रमेयत्व हेतु अनुपसंहारी अनैकान्तिक होता है।

तर्कभाषाकार ने अनैकान्तिक के भेदों में इसका परिगणन नही किया है, क्यों कि उन्होंने विश्वमात्रपक्षक अनुमान को असम्भाव्य माना है। उनका आशय यह प्रतीत होता है कि जब कहीं हेतु में साध्य का व्याप्तिज्ञान सम्भव रहता है तभी अन्यत्र साध्य के साधनार्थ अनुमान-प्रयोग का अवसर उपस्थित होता है। किन्तु जब सारा विश्व ही पक्ष होगा, सम्पूर्ण जगत् ही साध्यसन्देह से आक्रान्त होगा तब कहीं भी हेतु में साध्य के व्याप्तिज्ञान की सम्भावना न होने से अनुमान का प्रयोग न हो सकेगा, अतः उनकी दृष्टि से उक्त प्रकार के अनुपसंहारी अनैकान्तिक की कल्पना बुद्धिसंगत नहीं प्रतीत होती।

(४) प्रकरणसम

जब किसी हेतु के साध्य के विपरीत अर्थ का साधक अन्य हेतु विद्यमान होता है तब वह हेतु–साध्य के साधनार्थ प्रयुक्त हेतु 'प्रकरणसम' कहा जाता है।

'प्रकरण' शब्द दो प्रकार से बनता है, प्रपूर्वक कृ धातु से भाव में ल्युट् प्रत्यय करने से तथा करण में ल्युट् प्रत्यय करने से। भावल्युट् से बने प्रकरण शब्द का अर्थ होता है परि-स्थिति–(प्रकृत में) साध्यसन्देह की स्थिति। और करणल्युट् से बने प्रकरण शब्द का अर्थ होता है पूर्वकी परिस्थिति–साध्यसन्देह की स्थिति जिससे बनी रहे, अर्थात् जो साध्य-सन्देह को बनाये रहे। इस सन्दर्भ में प्रयुक्त प्रकरण शब्द करणल्युट् से बना हुआ है, अतः प्रकरणसम शब्द का अर्थ है—साध्यसंदेह पैदा करने वाले के समान। इसलिए किसी साध्य के साधनार्थ किसी एक हेतु का प्रयोग होने पर जब उस साध्य के विरोधी साध्याभाव के साधनार्थ किसी अन्य हेतु का प्रयोग कर दिया जाता है तब साध्या-भावसाधक हेतु के साथ ज्ञात होने से साध्यसाधक हेतु साध्य का निश्चायक नहीं हो पाता, उस हेतु का प्रयोग होने पर भी साध्यसन्देह की स्थिति पूर्ववत् बनी रहती है। अतः प्रकरण–साध्यसन्देह को बनाये रहने वाले साधारण धर्म के समान होने से वह हेतु प्रकरणसम कहा जाता है।

उदाहरण के रूप में यह कहा जा सकता है कि जब शब्द में नित्यत्वसाधक एक हेतु का और अनित्यत्वसाधक अन्य हेतु का एक साथ प्रयोग वा ज्ञान होता है उस समय उक्त दोनों हेतु एक दूसरे के प्रति प्रकरणसम हो जाते हैं। जैसे 'शब्दः अनित्यः—शब्द अनित्य है, नित्यधर्मरहितत्वात्—क्योंकि वह नित्यत्वनियत धर्म से शून्य है' यह, तथा 'शब्दः नित्यः—शब्द नित्य है, अनित्यधर्मरहितत्वात्–क्योंकि वह अनित्यत्व-नियत धर्म से शून्य है' यह, ये दोनों अनुमान जब एक साथ प्रयुक्त होते हैं, तब अनित्यत्व का साधक नित्यधर्मरहितत्व और नित्यत्व का साधक अनित्यधर्मरहितत्व ये दोनों हेतु प्रकरणसम होते हैं, क्योंकि उन दोनों अनुमानों के उपस्थिति-काल

में या तो नित्यत्व और अनित्यत्व का अनुमित्यात्मक संशय होता है, या दोनों के एक दूसरे के कार्य का विरोधी होने से नित्यत्व और अनित्यत्व में किसी का भी निश्चय न हो सकने के कारण साध्यसन्देह की स्थिति पूर्ववत् बनी रहती है।

प्रकरणसम को ही सत्प्रतिपक्ष भी कहा जाता है। जो लोग साध्यसाधक तथा साध्याभावसाधक अनुमानों के सह सन्निधान में साध्य और साध्याभाव की संशयात्मक अनुमिति की उत्पत्ति मानते हैं वे उन अनुमानों में प्रयुक्त हेतु को प्रकरणसम कहते हैं और जो लोग उन अनुमानों को एक दूसरे का प्रतिपक्ष–विरोधी मानकर उनके अनुमित्यात्मक कार्यों का प्रतिबन्ध मानते हैं वे उन अनुमानों में प्रयुक्त हेतु को सत्प्रतिपक्ष कहते हैं।

(५) कालात्ययापदिष्ट

कालात्ययापदिष्ट का अर्थ है–उचित काल का अत्यय–अतिक्रमण हो जाने पर अपदिष्ट–प्रयुक्त होने वाला हेतु। जिस समय तक पक्ष में साध्य का बाध–साध्याभाव का निश्चय नहीं रहता उतना समय पक्ष में साध्य के साधनार्थ हेतु के प्रयोग का उचित काल है, उसके अतिक्रमण हो जाने पर अर्थात् किसी प्रमाण से पक्ष में साध्य का बाध हो जाने पर जब उसमें साध्य के साधनार्थ हेतु का प्रयोग होता है तब वह हेतु कालात्ययापदिष्ट हो जाता है, उस समय साध्यसाधक हेतु का प्रयोग होने पर भी पक्ष में साध्यानुमिति का उदय नहीं हो सकता क्योंकि उसके विरोधी निश्चय का उदय अन्य प्रमाण द्वारा पहले ही सम्पन्न हो गया रहता है।

कालात्ययापदिष्ट हेतु को बाधितविषयक भी कहा जाता है। बाधितविषयक का अर्थ है, जिसका विषय बाधित हो अर्थात् जिसके साध्य का अभाव प्रमाणान्तरद्वारा पक्ष में अवधारित हो। उदाहरण के लिये अग्नि में अनुष्णत्व के साधनार्थ प्रयुक्त होने वाले हेतु को प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसे 'अग्निः अनुष्णः—अग्नि उष्णस्पर्श-शून्य है, कृतकत्वात्–क्योंकि वह कृतक-कार्य है' जलवत्–जैसे जल' इस अनुमान में कृतकत्व हेतु बाधितविषयक है, क्योंकि स्पार्शन प्रत्यक्ष से अग्नि में उष्णता का उपलम्भ होने से यह सिद्ध है कि कृतकत्व हेतु के साध्य अनुष्णत्व का अभाव—उष्णस्पर्श अग्नि में प्रत्यक्ष प्रमाण से अवधारित है।

हेत्वाभास के विभाग के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि दुष्ट हेतु के अर्थ में हेत्वाभास का जो पाँच वर्गों में विभाग किया गया है उसका प्रयोजक हेतुदोषरूप हेत्वाभास नहीं हो सकता, क्योंकि जो धर्म विभाज्य पदार्थ के कई विभिन्न वर्गों में न रह कर केवल एक ही वर्ग में रहता है और ऐसे किसी धर्म से न्यूनवृत्ति नहीं होता वही

धर्म विभाजक माना जाता है। जैसे पृथिवीत्व, जलत्व आदि धर्म विभाज्य द्रव्य के पृथिवी, जल आदि कई वर्गों में नहीं रहते किन्तु केवल एक ही एक वर्ग पृथिवी, जल आदि में ही रहते हैं तथा ऐसे किसी धर्म से न्यूनवृत्ति नही हैं, अतः वे द्रव्य के विभाजक होते हैं। पर असिद्धि, विरोध आदि हेतुदोष ऐसे नहीं हैं, वे तो विभाज्य दुष्ट हेतु के एक ही एक वर्ग में नियत न होकर उसके कई वर्गों में रहते हैं, 'जैसे वायुः गन्धवान्-वायु गन्ध का आश्रय है, स्नेहात्—क्योंकि उसमें स्नेह है' इस अनुमान में प्रयुक्त स्नेह हेतु में असिद्धि, विरोध आदि पाँचो दोष हैं, इस लिये वे दोष असिद्ध, विरुद्ध आदि में ही सीमित नहीं हैं किन्तु असिद्धि, विरुद्ध आदि में भी है और विरोध असिद्ध आदि में भी है। इसलिये इस विषय में यही कहना होगा कि दुष्ट हेतु के विभाजक असिद्धि आदि दोष नहीं हैं किन्तु असिद्धित्व, विरोधत्व आदि दोषतावच्छेदक धर्म हैं, अर्थात् दोषतावच्छेदक के पाँच प्रकार होने से दोष के पाँच प्रकार होते हैं और दोष के पाँच प्रकार होने से दुष्ट हेतु के पाँच प्रकार होते हैं। इस बात को गङ्गेशोपाध्याय ने अपने तत्त्वचिन्तामणि ग्रन्थ के अनुमानखण्ड में 'उपधेयसङ्करेऽप्युपाधेरसङ्करात्' कह कर संकेतित किया है।

अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध में थोड़ा और परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। जो इस प्रकार है।

अनुमान का प्रामाण्य—

प्रमाण के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है, विद्वानों का एक समुदाय ऐसा था जो कार्यकारणभाव को ही मान्यता नहीं देता था अतः उसके मत में प्रमाण-प्रमेयभाव की कोई सम्भावना न होने से उसकी दृष्टि में किसी प्रमाण का कोई अस्तित्व न था। न्यायकुसुमाञ्जलि के प्रथम स्तबक में—

'सापेक्षत्वादनादित्वाद् वैचित्र्याद् विश्ववृत्तितः।
प्रत्यात्मनियताद् भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः'॥

इस कारिका की अपनी 'प्रकाश' नाम की व्याख्या में वर्धमानोपाध्याय ने इस मत का स्पष्ट उल्लेख किया है।

बाद में चार्वाक दर्शन में कार्यकारणभाव को मान्यता मिली और उसके फलस्वरूप प्रमाणप्रमेयभाव की स्थापना हुई और एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण की सत्ता स्वीकार की गई। ऐसा समझा गया कि अनुमान प्रमाण का अस्तित्व हेतु-साध्य के व्याप्यव्यापकभाव पर आश्रित है और हेतु में उपाधियुक्त होने का संशय सम्भव रहने से अनौपाधिक-

सम्बन्धरूप व्याप्ति के निश्चय के अशक्य होने से व्याप्य-व्यापकभाव को स्वीकृति देना असम्भव है।

वैशेषिक दर्शन में इस सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया गया और प्रत्यक्षा-योग्य उपाधि के अज्ञात होने से उसे संशयानर्ह मान कर तथा प्रत्यक्षयोग्य उपाधि की उपलब्धि न होने से उसका अभाव मान कर अनौपाधिकसम्बन्धरूप व्याप्ति की सुबोधता का प्रतिपादन कर अनुमान के प्रमाणत्व की बाधा का निराकरण किया गया। साथ ही यह कह कर अनुमान के प्रमाणत्व का समर्थन किया गया कि यदि अनुमान को प्रमाण न माना जायगा तो संसार का सारा व्यवहार ही लुप्त हो जायगा, क्योंकि कोई मनुष्य जब कुछ करता है तो इसी विश्वास से करता है कि उसके अमुक कार्य से अमुक फल की प्राप्ति होगी। पर अनुमान को प्रमाण न मानने पर यह विश्वास कथमपि सम्भव न होगा, क्योंकि जो कार्य अभी करना है, जो फल अभी पाना है, वह तो अभी अस्तित्व ही में नहीं है, तो फिर जिस समय जिसका अस्तित्व ही नहीं है उस समय उसका प्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा ?

अनुमान को प्रमाण न मानने पर यह भी एक दुस्समाधेय प्रश्न उठता है कि 'अनुमान प्रमाण नहीं है' यह कहने वाले को अनुमान का अप्रमाणत्व ज्ञात है या नहीं ? यदि ज्ञात नहीं है तो उसका कथन नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी मनुष्य उसी बात को कह पाता है जो उसे ज्ञात होती है, जो बात ज्ञात नहीं होती उसे न कोई कहता है और न कह ही सकता है। अतः यह मानना होगा कि अनुमान को अप्रमाण कहने वाले मनुष्य को अनुमान का अप्रमाणत्व ज्ञात है, और यदि यह माना गया कि अनुमान का अप्रमाणत्व ज्ञात है तो इस हठ का तत्काल त्याग करना होगा कि उपाधि-युक्त अथवा व्यभिचारी होने का सन्देह होने से व्याप्तिज्ञान के दुर्घट होने के कारण अनुमान का अस्तित्व ही नहीं हो सकता, क्योंकि यदि अनुमान का अस्तित्व ही न होगा तो उसमें अप्रमाणत्व का ज्ञान कैसे हो सकेगा ? इसके साथ ही 'अनुमान प्रमाण नहीं है' इस आग्रह का भी परित्याग करना होगा, क्योंकि अनुमान को छोड़ अनुमान के अप्रमाणत्व का दूसरा कोई ज्ञापक नहीं है।

इस सन्दर्भ में यह भी एक विचारणीय बात है कि 'अनुमान प्रमाण नहीं है' इस कथन की सार्थकता तो उसी मनुष्य के प्रति हो सकती है जिसे अनुमान में अप्रमाणत्व का अज्ञान, संशय अथवा प्रमाणत्व का विपर्यय हो, अतः जिस मनुष्य के प्रति 'अनुमान प्रमाण नहीं है' यह बात कहनी है, कहने वाले को उसके उक्त अज्ञान, संशय और विपर्यय का परिज्ञान आवश्यक है, और एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के अज्ञान आदि के जानने

का अनुमान को छोड़ अन्य कोई साधन नहीं है। फिर जिस साधन से दूसरे के अज्ञान आदि का ज्ञान किया जायगा उसी का प्रतिषेध कैसे किया जा सकता है ?

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यदि अनुमान को प्रमाण न माना जायगा तो प्रत्यक्ष के प्रमाणत्व का भी निर्धारण कैसे होगा ? क्योंकि प्रमाणत्व को स्वतः ज्ञेय न मान कर अनुमान से ही ज्ञेय मानना होगा अन्यथा कभी उसका संशय न हो सकेगा।

यह भी स्मरणीय है कि अनुमान को प्रमाण न मानने पर प्रत्यक्ष को भी प्रमाण मानना सम्भव न होगा, क्योंकि किसी भी बात को मान्यता तभी प्राप्त होती है जब वह प्रमाणसिद्ध होती है, अतः प्रत्यक्ष के प्रमाणत्व को मान्यता प्रदान करने के लिये प्रत्यक्ष के प्रमाणत्व को प्रमाणसिद्ध बताना होगा, और वह प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाणकी सत्ता न मानने पर सम्भव नहीं है, क्योंकि न्याय–वैशेषिक मतों में चक्षु आदि इन्द्रियों को ही प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है और वे इन्द्रियाँ स्वयं अप्रत्यक्ष हैं, फिर उन अप्रत्यक्ष इन्द्रियों में प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमाणत्व का अवधारण कैसे सम्पादित हो सकता है ? यदि यह कहा जाय कि जो लोग प्रत्यक्षमात्र को ही प्रमाण मानते हैं उनके मत में ऐसी कोई वस्तु नहीं मान्य हो सकती जो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध न हो, अतः उनके मत में अप्रत्यक्ष इन्द्रियों का अस्तित्व ही नहीं है किन्तु शरीर के जिन दृश्य भागों में उन इन्द्रियों का अस्तित्व अन्य मतों में माना गया है, प्रत्यक्षमात्र-प्रमाणवादी के मत में शरीर के वे दृश्य भाग ही इन्द्रिय हैं और वही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, फलतः इन प्रत्यक्ष सिद्ध इन्द्रियों में प्रमाणत्व के प्रत्यक्षप्रमाणसिद्ध होने में कोई बाधा नहीं है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ भले प्रत्यक्षसिद्ध हों पर उनमें प्रमाकरणत्व-रूप प्रमाणत्व का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाकरणत्व प्रमा से घटित है, अतः वह उसी प्रमाण से गृहीत हो सकता है जिससे प्रमा गृहीत होती है। साथ ही उसे जिन आश्रयों में गृहीत होना है उन आश्रयों का भी उसके ग्राहक प्रमाणद्वारा ग्राह्य होना आवश्यक है, क्योंकि जब तक धर्मी और धर्म दोनों एकप्रमाणगम्य न होंगे तब तक उनमें धर्मि धर्मभाव—आश्रयाश्रितभाव का ग्रहण नहीं हो सकता। इसीलिये जो धर्मी और धर्म एक इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं होते उनके परस्परसम्बन्ध के अवधारण के लिये अनुमान की शरण लेनी पड़ती है, जैसे गन्ध घ्राण से ग्राह्य होता है चक्षु से नहीं और उसका आश्रय पृथिवी चक्षु से ग्राह्य होती है घ्राण से नहीं, इसलिये उन दोनों के सम्बन्ध को घ्राण या चक्षु से ग्राह्य न मान कर अनुमान से ग्राह्य माना जाता है। इसी प्रकार शब्द का ग्रहण श्रोत्र से होता है किन्तु उसके आश्रय आकाश का ग्रहण श्रोत्र से नहीं होता अतः शब्द के आश्रय रूप में आकाश का ग्रहण अनुमान प्रमाण से माना जाता है। ठीक उसी प्रकार नेत्रगोलक और उससे होने वाली रूप की प्रमा यह दोनों किसी

एक इन्द्रिय से गृहीत नहीं होते अतः उन दोनों का सम्बन्ध किसी भी इन्द्रिय से 'नेत्र-गोलक रूप में प्रमाण है' इस रूप में गृहीत नहीं हो सकता। फलतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि यदि अनुमान आदि प्रमाणों को स्वीकार न किया जायगा तो प्रत्यक्ष के प्रमाणत्व का भी समर्थन न किया जा सकेगा। अतः 'प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, प्रत्यक्ष से भिन्न कोई प्रमाण नहीं है' यह मत कथमपि बुद्धिसंगत नहीं हो सकता।

अनुमान के भेद—

अनुमान के सम्बन्ध में दार्शनिकों की दो परम्परायें प्रसिद्ध हैं—एक वैदिक और दूसरी अवैदिक। वैदिक परम्परा की दो शाखायें हैं—एक अनुमान के दो भेद मानने वाली और दूसरी उसके तीन भेद मानने वाली। पहली वैदिक परम्परा में वैशेषिक और मीमांसा दर्शन का समावेश है क्योंकि इन दोनों दर्शनों में अनुमान के दो भेद बताये गये हैं, जैसे वैशेषिक दर्शन के 'प्रशस्तपादभाष्य' में अनुमान का निरूपण करते हुये कहा गया है—'तत्तु द्विविधं दृष्टं सामान्यतो दृष्टं च'। इसी प्रकार मीमांसादर्शन के शाबरभाष्य १।१।५ में कहा गया है—'तत्तु द्विविधं प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धं सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं च'। इस प्रकार इन दोनों दर्शनों में अनुमान के दो भेद माने गये हैं—दृष्ट अथवा प्रत्यक्षतो दृष्ट तथा सामान्यतो दृष्ट। इन दोनों अनुमानों में अत्यन्त साम्य है। दूसरी वैदिक परम्परा में न्याय, सांख्य आदि दर्शनों का समावेश है क्योंकि उनमें अनुमान के तीन भेद बताये गये हैं। जैसे न्यायदर्शन में 'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च' (१।१।५) इस सूत्र से तथा सांख्यदर्शन में ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका के 'त्रिविधमनुमानमाख्यातम्' (सा. का. ५) इस कारिकांश से अनुमान के तीन भेदों का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। आयुर्वेदाचार्य महर्षि चरक ने भी न्याय और सांख्य के समान ही अनुमान का त्रिविधत्व स्वीकार किया है। चरक के सूत्रस्थान २१।२२ में स्पष्ट कहा गया है कि 'प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते'।

श्रीवाचस्पतिमिश्रने, जो षड्दर्शनीवल्लभ की उपाधि से अलङ्कृत हैं और छहों दर्शनों पर जिनके महत्त्वपूर्ण व्याख्याग्रन्थ उपलब्ध हैं, वैदिक परम्परावों की इन द्विविध मान्यतावों में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। उन्होंने अपनी 'सांख्यतत्त्व-कौमुदी' में पांचवी सांख्यकारिका की व्याख्या करते हुये अनुमान के द्विविधत्व और त्रिविधत्व की मान्यतावों का समन्वयपूर्ण समर्थन किया है जो इस प्रकार है—

अनुमान के दो भेद हैं—वीत और अवीत। जो अनुमान साध्य-साधन के अन्वयसहचार के आधार पर विधिरूप में—भावरूप में किसी साध्य के साधनार्थ प्रवृत्त होता है उसे 'वीत' अनुमान कहा जाता है। 'तत्र अन्वयमुखेन

प्रवर्तमानं विधायकं वीतम्' । जो अनुमान साध्य-साधन के व्यतिरेकसहचार को आधार बनाकर प्रवृत्त होता है और किसी का विधायक नहीं अपितु प्रतिषेधक होता है उसे 'अवीत' अनुमान कहा जाता है 'निषेधमुखेन प्रवर्तमानम् अविधायकम् अवीतम्' । यह अवीत अनुमान ही न्यायदर्शन में 'शेषवत्' शब्द से व्यवहृत किया गया है 'तत्र अवीतं शेषवत्' । शिष्यते परिशिष्यत इति शेषः । स एव विषयतया यस्य अस्ति अनुमानज्ञानस्य तच्छेषवत् । तदाहुः-प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः' । शेषवत् का अर्थ है शेषविषयक अनुमान । और शेष का अर्थ है परिशेष अर्थात् परितः—सब ओर से शेष—बचने वाला । ऐसा पदार्थ जिस अनुमान से सिद्ध हो वह शेषवत् अनुमान होता है । जैसे शब्द-गुण के आश्रय रूप में पृथिवी, जल, तेज, वायु, काल, दिक्, आत्मा और मन ये आठ द्रव्य प्रसक्त होते हैं, किन्तु शब्द श्रोत्र-ग्राह्य होता है और इन द्रव्यों के गुण श्रोत्रग्राह्य नहीं होते अतः उन द्रव्यों का प्रतिषेध हो जाता है, वे शब्द के आश्रय रूप में स्वीकृत नहीं हो पाते । द्रव्य से भिन्न गुण आदि पदार्थ शब्द के आश्रय रूप में प्रसक्त ही नहीं हो सकते क्योंकि गुण गुण आदि पदार्थों में आश्रित होने के स्वभावतः अनर्ह होते हैं । इस प्रकार प्रसक्त और अप्रसक्त दोनों वर्गों से अतिरिक्त बच जाता है आकाश, वही अनुमान प्रमाण से शब्द के आश्रय रूप में सिद्ध होता है । इसलिये शब्द के आश्रयरूप में आकाश का यह अनुमान पृथिवी आदि प्रसक्त और गुण आदि अप्रसक्त पदार्थों से शेष रह जाने वाले आकाश को विषय करने से शेषत् अनुमान होता है । यह पृथिवी आदि द्रव्यों में तथा गुण आदि अद्रव्यों में शब्द के निषेध का बोधन करते हुये शब्द के एक अतिरिक्त आश्रय आकाश का साधन करता है, इसलिये 'अवीत' की उक्त परिभाषा के अनुसार अवीत अनुमान कहा जाता है ।

वीत अनुमान के दो भेद होते हैं पूर्ववत् और सामान्यतो दृष्ट । 'वीतं च द्वेधा पूर्ववत् सामान्यतो दृष्टं च' । पूर्ववत् का अर्थ है पूर्वविषयक, पूर्व का अर्थ है प्रसिद्ध और प्रसिद्ध का अर्थ है दृष्टस्वलक्षण सामान्य, अर्थात् वह सामान्य जिसका कोई स्वलक्षण—स्व के लक्षित होने का आश्रय कहीं दृष्ट हो । ऐसे सामान्यों में उदाहरणार्थ वह्नित्व को प्रस्तुत किया जा सकता है क्योंकि उसका स्वलक्षण—उसके लक्षित होने का आश्रय एक वह्नि रसोईघर में दृष्ट है । अब जब उसी सामान्य के दूसरे स्वलक्षण का—दूसरे वह्नि का अनुमान पर्वत में किया जाता है तब वह अनुमान दृष्टस्वलक्षण-सामान्य-विषयक होने से पूर्ववत् अनुमान होता है ।

दूसरे वीत—सामान्यतो दृष्ट का अर्थ है उस सामान्य को विषय करने वाला जिसका अपना स्वलक्षण--अपना कोई आश्रय दृष्ट नहीं है किन्तु उसके व्यापक सामान्य

का स्वलक्षण—आश्रय दृष्ट है, अतः वह सामान्य स्वरूपतः दृष्ट न होने से स्वयं दृष्ट नहीं है किन्तु अपने व्यापक सामान्य के दृष्ट होने से सामान्यतो दृष्ट है, और उसको विषय करने वाला अनुमान 'सामान्यतो दृष्ट' अनुमान है। जैसे क्रियात्व हेतु से जब रूपादिज्ञान के करण का अनुमान होता है तब वह अनुमान सामान्यतो दृष्ट अनुमान होता है, क्योंकि वह अनुमान रूपादिज्ञान के करणरूप में इन्द्रिय का साधन करता है और उसमें आश्रित इन्द्रियत्व ऐसा सामान्य है जिसका कोई स्वलक्षण—आश्रय हम जैसे स्थूलदर्शी जनों को कभी दृष्ट नहीं है अपितु उसके व्यापक सामान्य—करणत्व का ही स्वलक्षण—कुठार आदि आश्रय दृष्ट है। इस प्रकार सामान्यतो दृष्ट अर्थ को विषय करने के कारण क्रियात्व हेतु से रूपदिज्ञान के करण चक्षु आदि इन्द्रिय का अनुमान 'सामान्यतो दृष्ट' अनुमान है।

यह बात सांख्यकारिका ५ की व्याख्या—सांख्यतत्त्वकौमुदी में इन शब्दों में कही गई है—

वीतं चं द्वेधा—पूर्ववत् सामान्यतो दृष्टं च। तत्रैकं दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं, तत्पूर्ववत्। पूर्वं प्रसिद्धं दृष्टस्वलक्षणसामान्यमिति यावत्, तदस्य विषयत्वेन अस्ति अनुमानज्ञानस्येति पूर्ववत्। यथा धूमाद् वह्नित्वसामान्यविशेषः पर्वतेऽनुमीयते, तस्य च वह्नित्वसामान्यस्य स्वलक्षणं वह्निविशेषो दृष्टो रसवत्याम्।

अपरं च वीतं सामान्यतोदृष्टम् अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं, यथेन्द्रियविषयमनुमानम्। अत्र हि रूपादिविज्ञानानां क्रियात्वेन करणवत्त्वमनुमीयते, यद्यपि करणत्वसामान्यस्य छिदादौ वास्यादि स्वलक्षणमुपलब्धं, तथापि यज्जातीयस्य रूपादिज्ञाने करणत्वमनुमीयते तज्जातीयस्य करणस्य न दृष्टं स्वलक्षणं प्रत्यक्षेण। इन्द्रियजातीयं हि तत्करणम्, न चेन्द्रियत्वसामान्यस्य स्वलक्षणमिन्द्रियविशेषः प्रत्यक्षगोचरोऽर्वाग्दृशां यथा वह्नित्वसामान्यस्य स्वलक्षणं वह्निः।

अनुमानविषयक अवैदिक परम्परा में बौद्ध तथा जैनदर्शन की अनुमानविषयक मान्यतावों का समावेश है। बौद्ध विद्वानों ने बहुत समय तक वैदिक परम्परा का अनुसरण करते हुये अनुमान का त्रिविधत्व स्वीकार किया है, जिसका उल्लेख 'उपायहृदय' नामक ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। किन्तु आचार्य दिङ्नाग ने, जिनका समय ईसा की चतुर्थ शताब्दी माना जाता है, इस परम्पराका परित्याग कर अनुमान के विषय में एक नई परम्परा प्रतिष्ठित की और वही भविष्य के लिये बौद्ध दर्शन के मान्य सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत हुई।

जैनदर्शन में अनुमान के जो लक्षण, भेद आदि वर्णित हैं उनपर भी वैदिक परम्परा का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है जिसे जैनदर्शन के विभिन्न ग्रन्थों के प्रमाण-प्रकरण में देखा जा सकता है।

तर्कभाषाकार का मत—

तर्कभाषा में अनुमान के न तो 'प्रत्यक्षतो दृष्ट' और 'सामान्यतो दृष्ट' नाम के दो भेद बताये गये हैं और न 'वीत' और 'अवीत' नाम के ही दो भेद बताये गये हैं। पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतो दृष्ट नाम के तीन भेद भी नहीं बताये गये हैं, किन्तु नव्यन्याय की पद्धति का अनुसरण कर स्वार्थानुमान और परार्थानुमान नाम के दो भेद बताये गये हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि न्याय-वैशेषिक के अन्य ग्रन्थों में वर्णित अनुमान के उक्त भेद तर्कभाषाकार को अभिमत नहीं हैं। तर्कभाषा में किये गये अनुमान-विभाजन का स्पष्ट आशय यही है कि अनुमान के जितने भी प्रकार यत्र तत्र वर्णित हैं वे सब स्वार्थानुमान और परार्थानुमान की श्रेणी में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं।

परार्थानुमान—

परार्थानुमान के विषय में यह ज्ञातव्य है कि परार्थानुमान जिस वाक्य से सम्पन्न होता है उसे 'न्याय' कहा जाता है और उसके घटक वाक्यों को 'न्यायावयव' कहा जाता है। न्यायावयव की संख्या के विषय में विभिन्न दर्शनों की विभिन्न मान्यतायें हैं। न्यायदर्शन में उनकी पांच संख्या मानी गई है। उनके नाम हैं प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। वैशेषिक दर्शन में पहले वाक्य का नाम तो वही रखा गया है पर अन्य चार वाक्यों के नाम न्यायदर्शन के नामों से सर्वथा भिन्न हैं, जैसे 'हेतु' का नाम 'अपदेश', 'उदाहरण' का नाम' 'निदर्शन' 'उपनय' का नाम 'अनुसन्धान' तथा 'निगमन' का नाम 'प्रत्याम्नाय' बताया गया है।

न्यायदर्शन के 'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः' इस सूत्र के वात्स्यायनभाष्य में न्याय के दश अवयवों का उल्लेख किया गया है, जिसमें प्रतिज्ञा आदि से अतिरिक्त जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास का परिगणन किया गया है। जैसे 'दशावयवान् एके नैयायिका वाक्ये संचक्षते–जिज्ञासा, संशयः, शक्यप्राप्तिः, प्रयोजनं' संशयव्युदास इति'। न्यायभाष्य में जिज्ञासा आदि पांच अवयवों का खण्डनकर प्रतिज्ञा आदि पांच अवयवों की ही मान्यता स्वीकृत की गई है।

मीमांसा और वेदान्त दर्शन में न्याय के तीन ही अवयव माने गये हैं—प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय और निगमन।

बौद्ध दर्शन में न्याय के दो ही अवयव माने गये हैं—उदाहरण और उपनय। जैनदर्शन में न्याय के अवयवों की कोई नियत संख्या नहीं मानी गई है, अपि तु जिसके प्रति न्याय वाक्य का प्रयोग किया जाता है उसकी अर्हता के अनुसार न्याय

के अवयवों का प्रयोग होता है, अतः उस दर्शन के अनुसार कभी पञ्चावयव, कभी चतुरवयव, कभी त्र्यवयव, कभी द्व्यवयव और कभी एकावयव का ही प्रयोग होता है।

गमकतौपयिक रूप—

हेतु के जिन रूपों का ज्ञान होने पर अनुमिति का उदय होता है, उन रूपों को गमकतौपयिक रूप कहा जाता है। गमकता का अर्थ है अनुमापकता और औपयिक का अर्थ है प्रयोजक, इस प्रकार गमकतौपयिक का अर्थ है अनुमापकता का प्रयोजक। इन रूपों की संख्या के विषय में भी विभिन्न मत प्राप्त होते हैं।

वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध दर्शन में इन रूपों की तीन संख्या मानी गई है—पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व, किन्तु न्याय दर्शन में अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व को भी गमकतौपयिक मान कर उनकी संख्या पाँच मानी गई है।

हेत्वाभास—

हेतु के इन गमकतौपयिक रूपों की मान्यता के आधार पर ही हेत्वाभास को भी मान्यता प्रदान की गई है। वैशेषिक आदि जिन दर्शनों में हेतु के गमकतौपयिक तीन रूप माने गये हैं उन दर्शनों में हेत्वाभास के भी तीन ही भेद माने गये हैं जैसा कि प्रशस्तपादभाष्य में उल्लिखित इन दो कारिकाओं से स्पष्ट है—

यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥
विपरीतमतो यत्स्यादेकेन द्वितयेन वा।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत् ॥

इनमें पहली कारिका से हेतु के पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व इन तीन रूपों का प्रतिपादन किया गया है और दूसरी कारिका से हेतुगत उक्त रूपों के ज्ञान के विरोधी विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध इन तीन हेत्वाभासों का प्रतिपादन किया गया है।

न्यायदर्शन में यतः गमकतौपयिक रूपों में अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व का समावेश कर उनकी पाँच संख्या मानी गई है अतः उनके ज्ञान के विरोध के आधार पर हेत्वाभासों की पाँच संख्या मानी गई है और उन्हें सव्यभिचार, विरुद्ध, असिद्ध, सत्प्रतिपक्ष और बाधित नामों से व्यवहृत किया गया है।

उपमानम्

अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानम् उपमानम्। यथा गवयमजानन्नपि नागरिको 'यथा गौस्तथा गवय' इति वाक्यं कुतश्चिदारण्यकपुरुषाच्छ्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् यदा गोसादृश्यविशिष्टं पिण्डं पश्यति तदा तद्वाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम् उपमितिकरणत्वात्। गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानानन्तरम् 'अयमसौ गवयशब्दवाच्यः पिण्ड इति संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धप्रतीतिरुपमितिः, सैव फलम्। इदं तु प्रत्यक्षानुमानोऽसाध्यप्रमासाधकत्वात् प्रमाणान्तरमुपमानमस्ति।

इति व्याख्यातमुपमानम्।

प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण का प्रतिपादन करने के अनन्तर अब उपमान प्रमाण के प्रतिपादन का अवसर उपस्थित है, इससे पहले उसका अवसर नहीं था, क्योंकि किसी भी पदार्थ का प्रतिपादन उस पदार्थ की जिज्ञासा होने पर ही संगत होता है और प्रत्यक्ष का प्रतिपादन करने के अनन्तर मनुष्य को पहले उपमान की जिज्ञासा न होकर अनुमान की ही जिज्ञासा होती है। अतः जब तक अनुमान की जिज्ञासा का उपशम न हो जाय तब तक उपमान की जिज्ञासा नहीं हो सकती और जब तक उसकी जिज्ञासा न हो तब तक उसके प्रतिपादन की संगति नहीं हो सकती।

उपमान की जिज्ञासा से पहले अनुमान की जिज्ञासा होने के कई कारण हैं। एक तो यह कि प्रत्यक्ष के प्रामाण्य की सिद्धि उपमान के आयत्त न होकर अनुमान के आयत्त है, क्योंकि प्रत्यक्ष को प्रमाण बताने पर जब यह प्रश्न उठता है कि 'प्रत्यक्ष प्रमाण है' यह बात किस प्रमाण से सिद्ध होती है? तब उसके उत्तर में अनुमान ही प्रस्तुत होता है, उपमान नहीं। अतः जब उपमान से पूर्व अनुमान ही प्रस्तुत होता है तब उपमान की जिज्ञासा न होकर अनुमान की ही जिज्ञासा का पहले होना नितान्त स्वाभाविक है।

दूसरा कारण यह कि उपमान की अपेक्षा अनुमान के प्रामाण्य में अल्प विवाद है, अनुमान को अप्रमाण कहने वाले लोग थोड़े हैं और उपमान को अप्रमाण कहने वाले लोग बहुत अधिक हैं, अतः उपमान के प्रामाण्य को प्रतिष्ठित करने में जितने विरोधी मतों का खण्डन करने की आवश्यकता है, अनुमान के प्रामाण्य को प्रतिष्ठित करने में उससे बहुत कम विरोधी मतों का खण्डन करने की आवश्यकता है, इसलिये उपमान का प्रामाण्य दुरूह है और अनुमान का प्रामाण्य सुगम है और मनुष्य का स्वभाव है कि जो बात उसे सुगम प्रतीत होती है उसकी जिज्ञासा वह पहले करता है और जो बात उसे दुरूह प्रतीत होती है उसकी जिज्ञासा बाद में करता है।

तीसरा कारण यह कि उपमान की अपेक्षा अनुमान का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है, अनुमान से मनुष्य को अनन्त पदार्थों का परिज्ञान होता है और उपमान से अत्यन्त सीमित पदार्थों का ही ज्ञान होता है अतः उपमान की अपेक्षा अनुमान के अत्यधिक उपयोगी होने के कारण मनुष्य को पहले उसी की जिज्ञासा का होना अत्यन्त स्वाभाविक है। अस्तु।

जब किसी अज्ञातनामा पदार्थ में किसी ज्ञातनामा पदार्थ के सादृश्य का ज्ञान होता है और उस समय अतिदेशवाक्य—अज्ञातनामा पदार्थ का नाम बताने वाले वाक्य के अर्थ का स्मरण भी हो जाता है तब वह ज्ञान उपमान प्रमाण होता है, अर्थात् उससे उपमिति—अज्ञातनामा पदार्थ के नाम की प्रमा का उदय होता है। जैसे किसी ऐसे नागरिक पुरुष से, जिसने कभी गवय—नील गाय को नहीं देखा है, किसी आरण्यक पुरुष का परिचय होता है और वन्य पशुवों की चर्चा के प्रसङ्ग में गवय की चर्चा होने पर वह नागरिक पुरुष उस आरण्यक पुरुष से प्रश्न करता है कि 'कीदृशः गवयो भवति—गवय कैसा होता है, किस प्रकार के पशु को गवय कहा जाता है ?' उत्तर में आरण्यक पुरुष उसे बताता है कि 'गोसदृशः गवयो भवति—गवय गौ के सदृश होता है अर्थात् गोसदृश पशु को गवय कहा जाता है'। अब वह नागरिक पुरुष जब कभी अरण्य में जाता है और वहाँ गौ के सदृश किसी पशु को देखता है तब उस अतिदेशवाक्य—आरण्यक पुरुष के पूर्व वाक्य 'गोसदृशःगवयो भवति' के 'गौ के सदृश पशु को गवय कहा जाता है' इस अर्थ का स्मरण हो जाता है। इस प्रकार इस स्मरण का सन्निधान होने पर गोसदृश पशु का ज्ञान, जो अभी अभी उत्पन्न हुआ है, उपमिति प्रमा का करण होने से उपमान प्रमाण कहा जाता है, क्योंकि उस ज्ञान के अनन्तर नागरिक पुरुष को इस प्रकार की प्रमाका उदय होता है कि 'अयमसौ पिण्डः गवयशब्दवाच्यः—गौ के समान दीखने वाला यह पशुपिण्ड गवयशब्द का वाच्यार्थ है अर्थात् इसी पशु का नाम 'गवय' है। इस प्रकार 'नीलगाय' सञ्ज्ञी के साथ 'गवय' संज्ञा के वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध की जो यह प्रमा होती है वही उपमान प्रमाण का फल है। यह फल प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से असाध्य है, इसका साधक होने से उपमान एक अतिरिक्त प्रमाण है।

प्रश्न होता है कि जब संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतीति जो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से साध्य नहीं हो सकती, उसके लिये उपमान प्रमाण की आवश्यकता विद्यमान है तब वैशेषिक आदि जो दार्शनिक उस प्रमाण को नहीं मानते उनके मत में उक्त प्रतीति की उपपत्ति कैसे होगी ?

इस प्रश्न के उत्तर में वैशेषिक की ओर से यह कहा जा सकता है कि नील गाय में गवय शब्द के वाच्यत्व का निर्णय केवल इसी रूप में नहीं करना है कि 'नीलगाय

गवय शब्द का वाच्य है' किन्तु 'नीलगाय अमुक रूप से गवय शब्द का वाच्य है' इस रूप में करना है। वह रूप साधारणतया तीन प्रकार का हो सकता है—गोसदृशत्व, इदन्त्व और गवयत्व, क्योंकि गोसदृश पशु के दर्शनकाल में ये तीनों रूप नीलगाय में ज्ञात होते हैं। अतः यह विवेक कर लेना परमावश्यक प्रतीत होता है कि इन तीनों रूपों में किस रूप से नीलगाय को गवय शब्द का वाच्य मानना उचित है ? विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि गोसदृशत्व रूप से वाच्य मानने पर केवल नीलगाय ही गवय शब्द का वाच्य न होगी, अपितु गोसदृशत्व जिन अन्य पशुवों में रहेगा वे भी गवय शब्द के वाच्य हो जायंगे। दूसरी बात यह कि गोसदृशत्व इदन्त्व और गवयत्व की अपेक्षा गुरुतर है अतः उस रूप से नीलगाय को गवय शब्द का वाच्य मानने में गौरव भी है।

इदन्त्वरूप से भी नीलगाय को गवय शब्द का वाच्य मानना उचित नहीं है क्योंकि इदन्त्व तो केवल सामने दीखने वाली नीलगाय में ही विद्यमान है अतः उस रूप से नीलगाय को गवय शब्द का वाच्य मानने पर जो नीलगायें सामने उपस्थित नहीं हैं वे गवय शब्द का वाच्य न हो सकेंगी। दूसरी बात यह कि इदन्त्व पुरोवर्तित्व या पुरोदृश्यमानत्वस्वरूप होने से गवयत्व की अपेक्षा गुरुतर है अतः उस रूप से नीलगाय को गवयशब्द का वाच्य मानने में गौरव है।

इस प्रकार विचार करने पर उक्त तीनों रूपों में गवयत्व ही ग्राह्य प्रतीत होता है, क्योंकि वह समस्त नीलगायों में रहने वाली और नीलगाय से भिन्न किसी भी पदार्थ में न रहने वाली एक जाति होने से गोसदृशत्व और इदन्त्व की अपेक्षा निर्दोष और लघु है। इस प्रकार के विवेक के फलस्वरूप यह निश्चय होता है कि 'नीलगाय गवयत्वरूप से गवयशब्द का वाच्य है'। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि इस प्रकार के विचार की अवतारणा के पूर्व इतना निश्चय हो जाना आवश्यक है कि 'कोई धर्म गवयशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त अवश्य है अथवा जिन पदार्थों को बताने के लिये गवयशब्द का प्रयोग होता है वें पदार्थ किसी एक निश्चित रूप से गवयशब्द के वाच्य हैं' क्योंकि जब तक यह निश्चय न हो लेगा तब तक इस विचार का उत्थान ही सम्भव नहीं हो सकता कि गोसदृशत्व, इदन्त्व और गवयत्व इन तीन रूपों में किस रूप को गवयशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त मानना अथवा इन तीन रूपों में किस रूप से नीलगाय को गवयशब्द का वाच्य मानना उचित है ? और उक्त निश्चय इस प्रकार के अनुमान से ही शक्य है कि 'कोई धर्म गवयशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त अवश्य है अथवा जिन पदार्थों में गवयशब्द का प्रयोग होता है वे पदार्थ अवश्य ही किसी एक निश्चित रूप से गवयशब्द के वाच्य हैं, क्योंकि गवयशब्द अनेक पदार्थों में प्रयुक्त होने वाला एक साधु शब्द है और ऐसे प्रत्येक साधुशब्द के लिये यह नियम है कि उसका कोई

एक धर्म प्रवृत्तिनिमित्त अवश्य होता है अथवा ऐसे शब्द जिन पदार्थों में प्रयुक्त होते हैं वे पदार्थ अवश्य ही किसी एक निश्चित रूप से ऐसे शब्दों के वाच्य होते हैं'। अनुमानद्वारा इसका निश्चय हुये विना उक्त विचार हो ही नहीं सकता और उक्त विचार के अभाव में उपमान प्रमाण से भी यह निश्चय नही किया जा सकता कि 'गवयशब्द गवयत्वरूप से नीलगाय का वाचक है अथवा नीलगाय गवयत्वरूप से गवयशब्द का वाच्य है'।

इस स्थिति में वैशेषिकदर्शन का मन्तव्य यही है कि जब 'गवय शब्द गवयत्वरूप से नीलगाय का वाचक है' इस निश्चय पर पहुँचने के लिये उपमानप्रमाणवादी को भी इस अनुमान की कि 'अनेक पदार्थों में प्रयुक्त होने वाला साधु शब्द होने के नाते गवयशब्द किसी एक निश्चित रूप से अनेक अर्थ का वाचक है' तथा इस तर्क की कि 'गवयशब्द को गोसदृशत्व और इदन्त्व की अपेक्षा गवयत्वरूप से नीलगाय का वाचक मानने में दोषराहित्य और लाघव है' तब फिर उपमाननामक एक अतिरिक्त प्रमाण की कल्पना करना निरर्थक है, क्योंकि 'गवयशब्द गवयत्वरूप से नीलगाय का वाचक है अथवा नीलगाय गवयत्वरूप से गवयशब्द का वाच्य है' यह निश्चय उक्त तर्क के सहयोग से उक्त अनुमानद्वारा भी सम्पन्न किया जा सकता है।

वैशेषिक के इस तर्क के विरुद्ध नैयायिकों का कथन यह है कि अनुमान प्रमाण से उक्त निश्चय की प्राप्ति नहीं की जा सकती क्योंकि 'अनेक पदार्थों में प्रयुक्त होने वाले साधु शब्द अवश्य ही किसी एक सुनिश्चित रूप से अपने अर्थ के वाचक होते हैं' इस अनुमान से केवल इतना ही निश्चय प्राप्त किया जा सकता है कि 'गवयशब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने वाला साधु शब्द होने के नाते किसी एक निश्चित रूप से अपने अर्थ का वाचक अवश्य है' पर यह निश्चय नहीं प्राप्त किया जा सकता कि 'गवयशब्द गवयत्वरूप से अपने अर्थ नीलगाय का वाचक है' क्योंकि उक्त अनुमान का मूलभूत नियम केवल इतना ही बताता है कि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने वाले प्रत्येक साधु शब्द को किसी एक निश्चित रूप से अपने अर्थ का वाचक होना चाहिये, वह यह नहीं बताता कि अमुक शब्द को अमुक रूप से अपने अर्थ का वाचक होना चाहिये। अतः अनुमान प्रमाण से केवल इतना ही निश्चय प्राप्त किया जा सकेगा कि 'गवय शब्द किसी एक निश्चित रूप से अपने अर्थ का वाचक है'। उससे यह निश्चय नहीं प्राप्त किया जा सकता कि 'गवयशब्द गवयत्वरूप से नीलगाय का वाचक है' अतः इस निश्चय की प्राप्ति के लिये उपमान प्रमाण की कल्पना अपरिहार्य है।

इस प्रकार इस सम्बन्ध में वैशेषिक और नैयायिकों के मतभेद होने का आधार केवल यही बताया जा सकता है कि वैशेषिक को यह मान्य है कि अनुमान के मूलभूत

नियम—व्याप्ति में साध्य जिस रूप से प्रविष्ट नहीं रहता, विशेष प्रकार के तर्क के सहयोग से अनुमानद्वारा उस रूप से भी साध्य का अनुमित्यात्मक निश्चय प्राप्त किया जा सकता है, 'अतः अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने वाला प्रत्येक साधु शब्द किसी एक निश्चित रूप से अपने अर्थ का वाचक होता है' इस नियम में 'गवयत्वरूप से नीलगाय की वाचकता' यद्यपि विशेष रूप से प्रविष्ट नहीं है तथापि 'गवयशब्द को गवयत्वरूप से नीलगाय का वाचक मानने में लाघव है' इस तर्क के सहयोग से उक्तनियममूलक अनुमान के द्वारा ही यह निश्चय प्राप्त किया जा सकता है कि 'गवयशब्द गवयत्वरूप से नीलगाय का वाचक है'। इसलिये उपमान प्रमाण की कल्पना अनावश्यक है।

नैयायिकों को इसके विपरीत यह मान्य है कि अनुमान के मूलभूत नियम—व्याप्ति में साध्य जिस रूप में प्रविष्ट होता है, अनुमानद्वारा उसी रूप से साध्य का अनुमित्यात्मक निश्चय प्राप्त किया जा सकता है अन्य रूप से नहीं, क्योंकि 'जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होता है' इस नियम के आधार पर सम्पन्न होने वाले अनुमान से अग्नित्वरूप से ही अग्नि के अनुमित्यात्मक निश्चय का होना अनुभवसिद्ध है, न कि द्रव्यत्व, तेजस्त्व अथवा तद्व्यक्तित्व रूप से। अतः 'अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने वाला प्रत्येक साधु शब्द किसी एक निश्चित रूप से अपने अर्थ का वाचक होता है' इस नियम में विशेषरूप से 'गवयत्वरूप से नीलगाय की वाचकता' का प्रवेश न होने के कारण उक्तनियममूलक अनुमान से 'गवयशब्द गवयत्वरूप से नीलगाय का वाचक है' यह निश्चय नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसलिये इस निश्चय की प्राप्ति के लिये उपमान प्रमाण की कल्पना आवश्यक है, क्योंकि 'गवयशब्द को गवयत्वरूप से नीलगाय का वाचक मानने में लाघव है' इस लाघवज्ञानरूप तर्क के सहयोग से उपमान प्रमाण द्वारा 'गवयशब्द गवयत्वरूप से नीलगाय का वाचक है अथवा नीलगाय गवयत्वरूप से गवयशब्द का वाच्य है' इस निश्चय के होने में कोई बाधा नहीं है।

उपमान प्रमाण का क्षेत्र—

उपर्युक्त चर्चा से यह प्रतीत होता है कि संज्ञा और संज्ञी का सम्बन्ध ही उपमान प्रमाण का क्षेत्र है और अप्रसिद्धनामा पदार्थ में प्रसिद्धनामा पदार्थ के सादृश्य का ज्ञान ही अतिदेशवाक्यार्थ के स्मरण के सन्निधान में उपमान प्रमाण है, पर न्यायदर्शन के वात्स्यायन भाष्य तथा उसकी विश्वनाथीय वृत्ति को देखने से उपमान प्रमाण के प्रमेय और स्वरूप के बारे में और अधिक प्रकाश पड़ता है एवं उसका क्षेत्र तथा स्वरूप और विस्तृत प्रतीत होता है। तदनुसार इस सन्दर्भ में इतना और बता देना आवश्यक है कि संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध के निश्चयार्थ जैसे अप्रसिद्धनामा पदार्थ में प्रसिद्धनामा पदार्थ के सादृश्यज्ञान को उपमान प्रमाण माना

जाता है उसी प्रकार अप्रसिद्धनामा पदार्थ में प्रसिद्धनामा पदार्थ के वैसादृश्य-वैधर्म्य-ज्ञान को भी उपमान प्रमाण मानना आवश्यक है। जैसे—जिस पुरुष को उष्ट्र शब्द का अर्थ नहीं ज्ञात है उसे जब किसी अन्य पुरुष के वाक्य से यह ज्ञात होता है कि 'अन्य सभी पशुवों से विसदृश दीखने वाले पशुको उष्ट्र कहा जाता है' और वह बाद में जब कभी अत्यन्त लम्बी गर्दन, अत्यन्त चञ्चल होंठ और कछुये जैसे अत्यन्त कठोर, ऊँची नीची पीठ वाले पशु को कठोर कांटे चबाते देखता है तब अन्य सभी पशुवों से इस प्रकार के वैसादृश्य का ज्ञान होने पर 'जो अन्य सभी पशुवों से विसदृश होता है उस पशु को उष्ट्र कहा जाता है' इस पूर्वश्रुत अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण होने से उस पुरुष को उस विसदृश पशु में उष्ट्र शब्द की वाच्यता का उपमित्यात्मक निश्चय सम्पन्न होता है। इस अनुभव के आधार पर सादृश्यज्ञान के समान वैसादृश्य-ज्ञान को भी उपमान प्रमाण मानना आवश्यक प्रतीत होता है।

उपमान प्रमाण के स्वरूप के समान उसके विषय की विविधता को भी समझना आवश्यक है। उपमान केवल संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध का ही निश्चय नहीं कराता किन्तु अन्य विषय का भी निश्चय कराता है। जैसे 'मूंग के आकार में दीखने वाला पौधा विष दूर करने की औषधि है' यह सुनने के बाद जब मनुष्य जंगल में जाकर मूंग के आकार का कोई पौधा देखता है तब उसे उस पूर्वश्रुत बात का स्मरण होने पर यह निश्चय होता है कि 'मूंग के आकार का यह पौधा विष दूर करने वाला है'। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि अतिदेशवाक्यार्थ के स्मरण से सहकृत सादृश्यज्ञानरूप उपमान प्रमाण से संज्ञा और संज्ञी-शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ही निश्चय नहीं होता अपि तु विषहरणसाधनत्व जैसे अन्य पदार्थ का भी निश्चय होता है, अतः उपमान प्रमाण का क्षेत्र शब्दार्थसम्बन्ध तक ही सीमित नहीं है किन्तु अन्य पदार्थों तक भी फैला हुआ है।

मीमांसा दर्शन में उपमान प्रमाण की कल्पना की एक अन्य आवश्यकता बताई गई है। वह यह कि अरण्य में गये मनुष्य को गवय में गोसादृश्य का दर्शन होने पर अपनी ग्रामस्थ गौ में गवयसादृश्य के ज्ञान का होना भी अनुभवसिद्ध है, किन्तु यह ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान से साध्य नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष के लिये ग्रामस्थ गौ के साथ अरण्यगत मनुष्य के चक्षु का सन्निकर्ष अपेक्षित है जो ग्रामस्थ गौ के दूरस्थ और व्यवहित होने के कारण सम्भव नहीं है और अनुमान के लिये अनुमापक हेतु में अनुमेय साध्य की व्याप्ति और पक्षधर्मता का ज्ञान अपेक्षित है जो गवय में गो-सादृश्यदर्शन के समय सन्निहित नहीं है। अतः अरण्यगत मनुष्य को ग्रामस्थ गौ में गवयसादृश्य का ज्ञान उपपन्न करने के लिये किसी अन्य प्रमाण की कल्पना आवश्यक है और वह अन्य प्रमाण गवय में गोसादृश्यदर्शन रूप उपमान को छोड़ दूसरा कुछ नहीं हो सकता।

आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुषः। वाक्यं त्वाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः। अत एव 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इति पदानि न वाक्यम्, परस्पराकाङ्क्षाविरहात्। 'अग्निना सिञ्चेदि' ति न वाक्यं योग्यताविरहात्. न ह्यग्निसेकयोः परस्परान्वययोग्यताऽस्ति। तथाहि अग्निनेति तृतीयया सेकरूपं कार्यं प्रति करणत्वमग्नेः प्रतिपादितम्। न चाग्निः सेके करणीभवितुं योग्यः, कार्यकारणभावलक्षणसम्बन्धेऽग्निसेकयोरयोग्यत्वादग्निना सिञ्चेदिति न वाक्यम्। एवमेकैकशः प्रहरे प्रहरेऽसहोच्चारितानि 'गामानय' इत्यादिपदानि न वाक्यम्, सत्यामपि परस्पराकाङ्क्षायां, सत्यामपि परस्परान्वय-योग्यतायां परस्परसान्निध्याभावात्। यानि तु साकाङ्क्षाणि योग्यतावन्ति सन्निहितानि पदानि तान्येव वाक्यम्। यथा 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि। यथा च 'नदीतीरे पञ्च फलानि सन्ति' इति। यथा च तान्येव 'गामानय' इत्यादिपदान्यविलम्बितोच्चरितानि।

उपमान प्रमाण के ग्राह्य विषय के सम्बन्ध में मीमांसा दर्शन की यह मान्यता न्यायदर्शन को स्वीकार्य नहीं है। इस विषय में न्यायदर्शन की समीक्षा यह है कि गवय में गोसादृश्य का दर्शन होने पर ग्रामस्थ गौ में गवयसादृश्य का ज्ञान उसी दशा में होता है जब मनुष्य को यह ज्ञान होता है कि 'गवय का गोसादृश्य गौ के गवयसादृश्य के बिना अनुपपन्न है'। यह निर्विवाद है कि इस अनुपपत्तिज्ञान का उदय न होने तक गवय में गोसादृश्य का दर्शन होने पर भी ग्रामस्थ गौ में गवयसादृश्य का ज्ञान नहीं होता। तो इस प्रकार जब ग्रामस्थ गौ में गवयसादृश्य के ज्ञान से पूर्व उक्त अनुपपत्तिज्ञान अवश्य अपेक्षणीय होता है तब उक्त अनुपपत्तिज्ञान के रूप में व्यतिरेक-व्याप्तिज्ञान के विद्यमान होने के कारण ग्रामस्थ गौ में गवयसादृश्यज्ञान को अनुमितिरूप मानने में कोई बाधा न होने से उसके निमित्त उपमान प्रमाण की कल्पना युक्तिसंगत नहीं कही जा सकती।

इस विषय का विशद विचार न्यायकुसुमाञ्जलि के उपमानप्रमाण के निरूपण-प्रकरण में प्राप्त किया जा सकता है।

आप्तवाक्य को शब्द प्रमाण कहा जाता है। आप्त का अर्थ है यथाभूत अर्थ का उपदेश करने वाला—जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही बताने वाला पुरुष। वाक्य का अर्थ है आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त पदों का समूह। आप्त और वाक्य शब्द के इस अर्थ के अनुसार शब्द प्रमाण का स्वरूप यह निष्पन्न होता है कि 'ऐसे पदों का समूह शब्द प्रमाण होता है जो यथार्थ उपदेश करने वाले पुरुष से उच्चरित, परस्परसाकाङ्क्ष, परस्पर-अन्वय-योग्य अर्थों के प्रतिपादक और परस्पर-

सन्निहित होते हैं। उदाहरण के लिए 'सुरभि चन्दनम्' यह वाक्य प्रस्तुत किया जा सकता है। इस वाक्य के पद यथार्थ उपदेष्टा पुरुष से उच्चरित हैं, क्योंकि इस वाक्य का प्रयोग करने वाले पुरुष का उपदेष्टव्य अर्थ–सुगन्ध युक्त चन्दन वस्तुतः सुगन्धशाली होने से यथार्थ है। इस वाक्य के पद परस्परसाकाङ्क्ष भी हैं क्योंकि 'सुरभि' पद सुनने पर उपस्थित होने वाली 'किं सुरभि ?' इस आकांक्षा का शमन 'चन्दन' पद से और 'चन्दन' पद सुनने पर उपस्थित होने वाली 'कीदृशं चन्दनम्' इस आकांक्षा का शमन 'सुरभि' पद से होती है। इस वाक्य के पद परस्पर-अन्वययोग्य अर्थ के प्रतिपादक भी हैं क्यों कि चन्दन के साथ सौरभ का सम्बन्ध प्रामाणिक होने के कारण उनमें परस्पर अन्वित होने की योग्यता अक्षुण्ण है। इस वाक्य के पद परस्परसन्निहित भी हैं क्योंकि उन पदों में एक के उच्चारण के बाद दूसरे के उच्चारण में विलम्ब नहीं किया गया है। इस लिये 'सुरभि चन्दनम्' यह वाक्य आप्त पुरुष से उच्चरित, परस्परसाकाङ्क्ष, परस्पर-अन्वययोग्य, सन्निधियुक्त पदों का समूहरूप होने से निस्संशय एक प्रमाणभूत शब्द है।

वाक्य की उपर्युक्त परिभाषा में आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि का सन्निवेश किया गया है। प्रश्न होता है कि वाक्य की परिभाषा में इन सबों के सन्निवेश का क्या प्रयोजन है ? उत्तर यह है कि यदि आकांक्षा का सन्निवेश न किया जायगा तो 'गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती—गाय, घोड़ा, पुरुष, हाथी' इस प्रकार बोले गये इन पदों का समूह भी वाक्य कहलाने लगेगा। क्यों कि इन पदों में भी परस्पर सन्निधान है और इनके अर्थों में भी परस्पर-अन्वय की योग्यता है, किन्तु यह पदसमूह वास्तव में वाक्य नहीं है ! अतः ऐसे निराकांक्ष-पदसमूहों में वाक्यत्व का परिहार करने के लिये वाक्य की परिभाषा में आकांक्षा का सन्निवेश परमावश्यक है।

इसी प्रकार वाक्य की परिभाषा में यदि योग्यता का सन्निवेश न किया जायगा तो 'वह्निना सिञ्चेत्—अग्नि से सींचा जाय' यह पदसमूह भी वाक्य कहलाने लगेगा, क्योंकि इस वाक्य के पद भी परस्परसाकांक्ष और परस्परसन्निहित हैं, जैसे 'वह्निना' पद सुनने पर उत्थित होने वाली 'वह्निना किं कुर्यात् ?' इस आकांक्षा का शमन 'सिञ्चेत्' पद से और 'सिञ्चेत्' पद सुनने पर उत्थित होने वाली 'केन सिञ्चेत्' इस आकांक्षा का शमन 'वह्निना' पद से होने के कारण 'वह्निना' और 'सिञ्चेत्' ये पद परस्परसाकांक्ष हैं और एक के उच्चारण के बाद दूसरे के उच्चारण में विलम्ब न होने से परस्पर सन्निहित हैं। किन्तु अग्नि तो दाहक होता है, वह सींचने के काम में तो नहीं आ सकता, अतः 'वह्निना' और 'सिञ्चेत्' इन पदों के अर्थों में वह्नि शब्द के साथ सुनी जाने वाली तृतीया से जिस कार्यकारणभाव सम्बन्ध की प्रतीति होती है उस सम्बन्ध से उन अर्थों में परस्पर–अन्वय की योग्यता न होने के कारण 'वह्निना सिञ्चेत्'

नन्वत्रापि न पदानि साकाङ्क्षाणि किन्त्वर्थाः फलादीनामाधेयानां तीराद्याधाराकाङ्क्षितत्वात् । न च विचार्यमाणेऽर्था अपि साकाङ्क्षाः। आकाङ्क्षाया इच्छात्मकत्वेन चेतनधर्मत्वात् ।

इस पदसमूह को वाक्य नहीं माना जाता, पर यदि वाक्य की परिभाषा में योग्यता का सन्निवेश न होगा तो इस पदसमूह के वाक्यत्व का परिहार प्रकारान्तर से न हो सकेगा । अतः तदर्थ वाक्य की परिभाषा में योग्यता का सन्निवेश अनिवार्य है ।

इसी प्रकार वाक्य की परिभाषा में यदि सन्निधि का सन्निवेश न किया जायगा तो 'गाम्' और 'आनय' इन पदों का साथ उच्चारण न कर यदि एक के उच्चारण के एक प्रहर बाद दूसरे का उच्चारण किया जायगा तो उस दशा में भी उन पदों के समूह को वाक्य कहा जाने लगेगा, क्योंकि उस समूह के पद भी परस्परसाकांक्ष हैं और परस्पर-अन्वययोग्य अर्थों के प्रतिपादक हैं । किन्तु पदों में अविलम्बेन सहोच्चारण-रूप सन्निधि के न होने से उनके समूह को वाक्य नहीं कहा जाता, अतः विलम्ब से बोले जाने वाले परस्परसाकांक्ष और परस्पर-अन्वययोग्य अर्थों के प्रतिपादक पदों के समूह में वाक्यत्व का परिहार करने के लिये वाक्य की परिभाषा में सन्निधि का प्रवेश परमावश्यक है ।

इस प्रकार वाक्य की परिभाषा में आकांक्षा आदि के सन्निवेश की सार्थकता सिद्ध होने से वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में यही निष्कर्ष निकलता है कि जो पद साकांक्ष, अन्वययोग्य और सन्निहित होते हैं वे ही वाक्य कहे जाते हैं । जैसे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत—स्वर्ग की कामना करनेवाला पुरुष ज्योतिष्टोमनामक यज्ञ करे' 'नदीतीरे पञ्च फलानि सन्ति-नदी के तट पर पाँच फल हैं' और अविलम्ब से उच्चारण किये गये वही 'गाम् आनय—गौ का आनयन करो' इत्यादि पद । यह तीनों पद-समूह अलग-अलग तीन वाक्य हैं, क्योंकि इन समूहों में प्रविष्ट पद परस्परसाकांक्ष, परस्पर-अन्वययोग्य अर्थ के प्रतिपादक और उच्चारण में विलम्ब न होने से परस्पर सन्निहित हैं ।

प्रश्न होता है कि वाक्य की परिभाषा में यदि आकाङ्क्षा का सन्निवेश न होगा तो अभी समूहापन्न जिन पदों को वाक्य कहा गया है वे पद भी वाक्य न हो सकेंगे क्योंकि आकाङ्क्षा—एक को दूसरे की अपेक्षा पदों में नहीं होती किन्तु अर्थों में होती है, जैसे 'नदीतीरे पञ्च फलानि सन्ति' इस वाक्य के तीरे, फलानि, आदि पदों में परस्पर आकाङ्क्षा नहीं है क्योंकि वे तो एक दूसरे के बिना भी अपना अस्तित्वलाभ कर सकते हैं, आकाङ्क्षा तो उन पदों के तीर और फलरूप अर्थों में है क्योंकि उनमें तीर आधार के रूप में तथा फल आधेय के रूप में प्रतीत होता है और तीर की आधारता फलरूप

सत्यम् ? अर्थास्तावत् स्वपदश्रोतर्यन्योन्यविषयाकाङ्क्षाजनकत्वेन साकाङ्क्षा इत्युच्यन्ते, तद्द्वारेण तत्प्रतिपादकानि पदान्यपि साकाङ्क्षाणीत्युपचर्यन्तेरा यद्वा पदान्येवार्थान् प्रतिपाद्याऽर्थान्तरविषयाकाङ्क्षाजनकानीत्युपचारात् साकाङ्क्षाणि। एवमर्थाः साकाङ्क्षाः परस्परान्वययोग्याः, तद्द्वारेण पदान्यपि परस्परान्वययोग्यानीत्युच्यन्ते।

सन्निहितत्वं तु पदानामेकेनैव पुंसा अविलम्बेनोच्चरितत्वम्, तच्च साक्षादेव पदेषु संभवति, नार्थद्वारा।

तेनायमर्थः सम्पन्नः—अर्थप्रतिपादनद्वारा श्रोतुः पदान्तरविषयामर्थान्तरविषयां वा आकाङ्क्षां जनयतां प्रतीयमानपरस्परान्वययोग्यार्थप्रतिपादकानां सन्निहितानां पदानां समूहो वाक्यम्।

आधेय के विना तथा फल की आधेयता तीर रूप आधार के विना उपपन्न नहीं हो सकती। यदि और सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो तीर और फलरूप अर्थों में भी आकांक्षा नहीं सिद्ध हो सकती क्योंकि आकांक्षा इच्छारूप होने से चेतनका ही धर्म हो सकती है, तीर आदि अचेतन अर्थों का धर्म नहीं हो सकती।

उत्तर है कि यह सच है कि आकांक्षा चेतन का ही धर्म है अतः वह अचेतन अर्थों और पदों में आश्रित नहीं हो सकती, किन्तु अचेतन अर्थों और पदों में उसका उपचार—आरोपित व्यवहार तो हो ही सकता है। कहने का आशय यह है कि अचेतन अर्थ आकाङ्क्षा का आश्रय होने से यद्यपि वास्तव में साकाङ्क्ष नहीं होते तथापि अपना बोध कराने वाले पदों के श्रोता पुरुष में अन्योन्यविषयक आकांक्षा का उत्पादक होने के कारण उपचार—ऐच्छिक निमित्त से साकांक्ष कहे जाते हैं और इन साकांक्ष कहे जाने वाले अर्थों के द्वारा उनका प्रतिपादन करने वाले पद भी उपचार से साकांक्ष कहे जाते हैं। अथवा पद अपने अर्थ का प्रतिपादन कर अन्य-अर्थविषयक आकांक्षा का उत्पादक होने से सीधे ही उपचार से साकांक्ष कहे जा सकते हैं। इस प्रकार अर्थ उक्त रीति से परस्परसाकांक्ष और परस्पर-अन्वय-योग्य कहे जाते हैं तथा उनके द्वारा उनका प्रतिपादन करने वाले पद भी साकांक्ष और परस्पर-अन्वययोग्य कहे जाते हैं।

अर्थों और पदों की साकांक्षता की बात संक्षिप्त एवं स्पष्ट रूप में इस प्रकार कही जा सकती है कि एक अर्थ में अन्य अर्थ की साकांक्षता का अर्थ है अन्य-अर्थविषयक आकांक्षा का उत्पादकत्व और एक पद में दूसरे पद की साकांक्षता का अर्थ है दूसरे पद से प्रतिपाद्य अर्थविषयक आकांक्षा के उत्पादक अर्थ का प्रतिपादकत्व। तात्पर्य यह है कि जो अर्थ जिस अर्थ के सम्बन्ध में आकांक्षा का उत्पादन करता है वह अर्थ

पदं च वर्णसमूहः। समूहश्चात्रैकज्ञानविषयीभावः। एवं च वर्णानां क्रमवतामाशुतरविनाशित्वेन एकदाऽनेकवर्णानुभवासंभवात् पूर्वपूर्ववर्णाननुभूय अन्त्यवर्णश्रवणकाले पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन अन्त्यवर्णसम्बन्धेन पदव्युत्पादनसमयग्रहानुगृहीतेन श्रोत्रेण एकदैव सहसदनेकवर्णावगाहिनी

उस अर्थ में साकांक्ष कहा जाता है। जैसे 'तीरे फलानि सन्ति' इस वाक्य का उच्चारण होने पर श्रोता को जब 'तीरे' शब्द से तीर रूप आधार का ज्ञान होता है तब उस ज्ञान के होते ही यह आकांक्षा—जिज्ञासा होती है कि तीर का आधेय क्या है? क्योंकि किसी आधेय के विना कोई आधार नहीं हो सकता, अतः जब तक तीर का कोई आधेय न होगा तब तक तीर का आधारत्व नहीं उपपन्न हो सकता। इस प्रकार आधेय के रूप में फलरूप अन्य-अर्थविषयक आकांक्षा का उत्पादक होने से तीररूप आधार-भूत अर्थ फलरूप आधेयभूत अर्थ में साकांक्ष होता है। तीर और फलरूप अर्थों के इस प्रकार साकांक्ष होने से उन अर्थों का प्रतिपादन करने वाले 'तीरे' और 'फलानि' ये पद भी एक दूसरे में साकांक्ष कहे जाते हैं, क्योंकि 'तीरे' पद अपने अर्थ तीररूप आधार का प्रतिपादन कर 'फलानि' इस दूसरे पद के प्रतिपाद्य आधेयभूत फलरूप-अर्थविषयक आकांक्षा का उत्पादक होता है।

इस प्रकार पदों की साकांक्षता तो साक्षात् तथा वास्तव न होकर साकांक्ष अर्थों द्वारा पारम्परिक और औपचारिक होती है किन्तु उनकी परस्परसन्निधि अर्थद्वारा न होकर साक्षात् ही होती है क्योंकि एक पुरुष द्वारा अविलम्ब से उच्चरित होने को ही सन्निधि कहा जाता है और उच्चरित होना पद का अपना निजी धर्म है।

वाक्य के सम्बन्ध में अब तक कही गई समस्त बातों के आधार पर वाक्य के स्वरूप के विषय में यह निष्कर्ष निकलता है कि अपने अर्थ के प्रतिपादन-द्वारा श्रोता को अन्यपद-विषयक अथवा अन्य-अर्थविषयक आकांक्षा को उत्पन्न करने वाले, परस्पर में प्रतीत होने वाले सम्बन्ध के योग्य अर्थों का प्रतिपादन करने वाले एवं एक पुरुषद्वारा अविलम्ब उच्चरित होने वाले पदों के समूह का नाम है वाक्य।

वर्णों का समूह पद है। समूह का अर्थ है एक ज्ञान का विषय होना। समूह की इस परिभाषा के अनुसार किसी एक ज्ञान में भासित होने वाले वर्णों का नाम होता है 'पद'। इसी लिये घ, अ, ट और अ ये वर्ण क्रम से उच्चरित हो जब तक किसी एक व्यक्ति को एक साथ नहीं ज्ञात होते तब तक वे 'पद' नहीं कहे जाते, किन्तु जब वे किसी एक व्यक्ति को एक साथ ज्ञात हो एक ज्ञान के विषय बन जाते हैं तब वे 'पद' इस नाम के अर्ह होकर 'घट पद' कहे जाने लगते हैं। 'पट' 'मठ' आदि अन्य पदों की

पदप्रतीतिर्जन्यते सहकारिदाढ्यात् प्रत्यभिज्ञावत् । प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षे ह्यतीताऽपि पूर्वावस्था स्फुरत्येव । ततः पूर्वपूर्वपदानुभवजनितसंस्कारसहकृतेनान्त्यपदविषयेण श्रोत्रेन्द्रियेण पदार्थप्रत्ययानुगृहीतेनानेकपदावगाहिनी वाक्यप्रतीतिः क्रियते ।

तदिदं वाक्यमाप्तपुरुषेण प्रयुक्तं सच्छब्दनामकं प्रमाणम् । फलं त्वस्य वाक्यार्थज्ञानम् । तच्चैतच्छब्दलक्षणं प्रमाणं लोके वेदे च समानम् । लोके त्वयं विशेषो यः कश्चिदेवाप्तो भवति, न सर्वः । अतः किंचिदेव लौकिकं वाक्यं प्रमाणं यदाप्तवक्तृकम् । वेदे तु परमाप्तश्रीमहेश्वरेण कृतं सर्वमेव वाक्यं प्रमाणं सर्वस्यैवाप्तवाक्यत्वात् ।

भी यही स्थिति है । पद के लक्षण में समूह शब्द के सन्निवेश से यह कदापि नहीं सोचना चाहिए कि पद सदा अनेकवर्णात्मक ही होता है, किन्तु बहुत्र वह एक-वर्णात्मक भी होता है, जैसे विष्णुवाची 'अ', सुखवाची 'क', आकाशवाची 'ख' आदि ।

प्रश्न होता है कि पद जब एकवर्णात्मक भी होगा तब तो 'घट' यह एक पद न होकर कई पदों का समूह हो जायगा, उत्तर में यह कहा जा सकता है कि 'वर्णसमूहः' यह पद का पूरा लक्षण नहीं है यह तो उसके लक्षण के सम्बन्ध में एक संकेतमात्र है, उसका उचित लक्षण तो 'शक्तः साभिप्रायो वर्णो वर्णसमूहो वा पदम्' के रूप में किया जा सकता है । इसके अनुसार जो वर्ण या वर्णसमूह किसी अर्थ में शक्त और साभिप्राय होता है वह पद होता है । पद के इस लक्षण के अनुसार घ, अ, ट, और अ, इन चार वर्णों का समूहरूप होनेपर भी 'घट' पद एकवर्णात्मक पदों का समूह न होगा किन्तु एक ही पद होगा, क्योंकि उस पद के अङ्गभूत एक एक वर्ण किसी अर्थ में शक्त और साभिप्राय नहीं है अपि तु वे सब सम्भूय 'घड़ा' रूप अर्थ में शक्त हैं और उसी को बताने के अभिप्राय से उच्चरित हैं ।

अनेकवर्णात्मक पदों के सम्बन्ध में एक बड़ी जटिल समस्या खड़ी होती है, वह यह कि अनेक वर्णों का समूह सम्भव कैसे होगा ? क्योंकि एक मनुष्य कई वर्णों का एक साथ उच्चारण तो कर नहीं सकता, जब भी वह वर्णों का उच्चारण करेगा तब क्रम से ही करेगा, और वर्ण जब क्रम से ही उच्चरित होंगे तो क्रम से ही ज्ञात भी होंगे, अतः एक एक वर्ण अलग अलग एक एक ज्ञान का विषय होगा, कई वर्ण किसी एक ज्ञान के विषय न होंगे । यदि यह कहा जाय कि अनेकवर्णात्मक किसी एक पद के अङ्गभूत सारे वर्ण जब उच्चरित हो जाते हैं तब उन सबों का एक साथ ही एक ज्ञान उत्पन्न होता है, अलग अलग एक एक वर्ण का ज्ञान नहीं होता । तो यह कथन ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि क्रम से उच्चरित होने वाले वर्ण श्रोता के कान में क्रम से ही पहुँचेंगे और कान में पहुँचने पर कोई वर्ण बेसुना रह नहीं सकता, अतः कान में क्रम-

प्राप्त वर्णों का क्रमश्रवण ही युक्तिसंगत हो सकता है, एककालिक श्रवण युक्तिसंगत नहीं हो सकता । वर्णों के एककालिक श्रवण में एक बाधा और है, वह यह कि अनेक वर्णों का एक काल में श्रवण होने के लिए एक काल में उन सभी वर्णों का सन्निधान अपेक्षित है, जो वर्णों के अपने जन्म के तीसरे क्षण में स्वभावतः नश्वर होने के कारण कथमपि सम्भव नहीं है ।

इस समस्या का बड़ा सरल और सुन्दर समाधान यह है—यह ठीक है कि वर्ण क्रम से ही उच्चरित होते हैं और अत्यन्त शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं अतः एककाल में अनेक वर्णों का श्रवण सम्भव नहीं हो सकता, फिर भी एक ऐसी विधि है जिससे क्रमोत्पन्न, आशुतरविनाशी वर्णों का एक काल में श्रोत्रद्वारा ग्रहण किया जा सकता है । वह विधि इस प्रकार है—किसी एक पद के अङ्गभूत वर्ण जिस क्रम से उत्पन्न होते हैं उसी क्रम से श्रोत्रद्वारा उनका अनुभव होता है और उसी क्रम से अनुभवों द्वारा उनका संस्कार उत्पन्न होता है । इस क्रम से उस पद का अन्तिम वर्ण जब कान में पहुँचता है तब इस अन्तिम वर्ण से सम्बद्ध हुआ श्रोत्र पूर्ण वर्णों के अनुभवों से उत्पन्न हुये इन संस्कारों के सहयोग से एक साथ ही विनष्ट और विद्यमान सभी वर्णों को विषय करने वाले एक पदज्ञान को उत्पन्न करता है । विनष्ट और विद्यमान वर्णों की ग्राहकता में केवल यही अन्तर होता है कि विद्यमान वर्ण के साथ श्रोत्र का साक्षात् सम्बन्ध होता है और विनष्ट वर्णों के साथ संस्कारद्वारा होता है, अतः श्रोत्रद्वारा उत्पन्न होने वाले पदज्ञान में विद्यमान अन्तिम वर्ण का भान श्रोत्र के साक्षात् सम्बन्ध से होता है और विनष्ट हुये पूर्व वर्णों का भान उनके श्रोत्रज अनुभवों से उत्पन्न उनके संस्कारों से होता है ।

श्रोत्रद्वारा एक काल में अनेक वर्णों के ग्रहण की इस विधि की मान्यता पदव्युत्पादनसमयग्रह के अनुग्रहसे सिद्ध होती है । कहने का तात्पर्य यह है कि न्याय-वैशेषिकदर्शन में एक ज्ञान के विषयभूत अनेक वर्णों में पद शब्द का संकेत किया गया है, यह संकेत अनेक वर्णों के एक ज्ञान का विषय हुये विना सम्भव नहीं है अतः अनेक वर्णों को एक ज्ञान का विषय बनाने के लिये कोई न कोई मार्ग ढूँढ़ निकालना आवश्यक है । वह मार्ग यही है कि समवाय के समान संस्कार को भी श्रोत्र का सहकारी मान लिया जाय, अर्थात् यह मान लिया जाय कि श्रोत्र जैसे अपने में समवेत विद्यमान वर्ण को ग्रहण करता है वैसे ही अपने द्वारा उत्पादित अनुभवों से उत्पन्न किये गये संस्कारों के विषयभूत विनष्ट वर्णों को भी ग्रहण करता है । अतः श्रोत्रद्वारा एक ज्ञान में विनष्ट और विद्यमान वर्णों के ग्रहण होने में कोई बाधा नहीं है । हाँ, यदि एक ज्ञान के विषयभूत अनेक वर्णों में पद का संकेत न होता तो

अनेक वर्णों को एक ज्ञान का विषय बनाने की कोई चिन्ता न होती और तब श्रोत्रज अनुभवों द्वारा उत्पन्न संस्कारों को श्रोत्र का सहकारी मानने की कोई आवश्यकता न होती, अतः स्पष्ट है कि संस्कार और समवायद्वारा विनष्ट और विद्यमान वर्णों को श्रोत्रद्वारा एक साथ ग्रहण करने की उक्त विधि की मान्यता न्याय-वैशेषिक दर्शन के पदव्युत्पादनसमयग्रह पर ही आधारित है।

अतीत वस्तु को ग्रहण करने के लिये संस्कार को श्रोत्रेन्द्रिय का सहकारी मानने की कल्पना कोई अपूर्व कल्पना नहीं है किन्तु यह अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी स्वीकृत है। संस्कार यदि सुदृढ़ होता है तो उसे इन्द्रिय का सहकारी होने में कोई अस्वाभाविकता वा बाधा नहीं होती। अन्यथा संस्कार यदि इन्द्रिय का सहकारी होने में सर्वथा अक्षम ही होता तो पूर्वदृष्ट पदार्थ का 'स एवायं घटः—यह वही घड़ा है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञात्मक प्रत्यक्ष कैसे उत्पन्न होता ? क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में अतीत पूर्वावस्था का भान होता ही है और वह संस्कार के सहयोग से ही सम्भव है।

अनेकवर्णात्मक पदों के ज्ञान की समस्या उक्त प्रकार से सुलझ जाने से पदसमूहरूप वाक्य के ज्ञान की भी समस्या अनायास ही सुलझ जाती है। जैसे किसी पद के अन्तिम वर्ण को ग्रहण करते समय पूर्व पूर्व वर्णों के श्रोत्रज अनुभवों से उत्पन्न संस्कारों के सहयोग से विनष्ट वर्णों को भी श्रोत्र ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार किसी वाक्य के अन्तिम पद को ग्रहण करते समय पूर्व पूर्व पदों के श्रोत्रज अनुभवों से उत्पन्न पूर्व पूर्व पद-विषयक संस्कारों के सहयोग से विनष्ट हुये पूर्व पूर्व पदों को भी श्रोत्र ग्रहण कर सकता है, इस लिये क्रम से उच्चरित और अनुभूत होने वाले अनेक पदों को विषय करने वाले एक वाक्यज्ञान की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है।

पूर्व पूर्व पदों के संस्कारों में श्रोत्र के सहकारित्व की यह कल्पना पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध की प्रतीति के अनुग्रह पर आधारित है, अर्थात् क्रमिक एवं क्षणिक वर्णों के समूह रूप अनेक पदों का एक काल में सन्निधान सम्भव न होने पर भी उन पदों से उपस्थित होने वाले पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध का बोध होना अनुभवसिद्ध है, यह बोध तभी हो सकता है जब अनेक पदों का ज्ञान एक साथ सम्भव हो, अतः उसे सम्भव बनाने के उपाय की चिन्ता के फलस्वरूप इस बात को मान्यता प्रदान करना आवश्यक हो जाता है कि श्रोता विद्यमान अन्तिम पद को ग्रहण करते समय विनष्ट हुये पूर्वपदों को भी उनके संस्कारों के सहयोग से ग्रहण कर सकता है।

उक्तरीति से ग्रहण करने योग्य वाक्य जब किसी आप्त—यथार्थवक्ता पुरुष से प्रयुक्त होता है तब वह शब्दनामक प्रमाण होता है। उस वाक्यज्ञान से जो वाक्यार्थ-ज्ञान उत्पन्न होता है वही उस प्रमाण का फल होता है। यह शब्दप्रमाण लोक और

वेद में समान होता है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि लोक में कोई कोई ही आप्त होता है सब लोग आप्त नहीं होते, अतः कोई कोई ही लौकिक वाक्य, जो आप्त पुरुष-द्वारा उच्चरित होता है, प्रमाण होता है, परन्तु वेद के परम आप्त महेश्वरद्वारा प्रणीत होने से उसका सभी वाक्य प्रमाण होता है, क्योंकि वह सभी आप्तवाक्य होता है।

कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण बातें—

शब्द प्रमाण के सम्बन्ध में कुछ और भी महत्त्वपूर्ण बाते हैं जिनकी चर्चा कर देना अत्यावश्यक प्रतीत होता है, जैसे शब्द को एक अतिरिक्त प्रमाण मानने की आवश्यकता शब्द प्रमाण से उत्पन्न होने वाली प्रमा की कारणसामग्री, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, उसके ज्ञान का उपाय, उसका आश्रय, इन सभी विषयों में अन्य दार्शनिक मतों की संक्षिप्त समीक्षा।

शब्द का प्रामाण्य—

शब्दप्रामाण्य के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं, चार्वाक दर्शन के अध्येता प्रत्यक्ष से भिन्न किसी भी प्रमाण का अस्तित्व नहीं मानते, अतः उनकी दृष्टि से शब्द किसी भी रूप में प्रमाण नहीं हो सकता। बौद्ध दर्शन के अध्येता प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं, उनके मत में भी शब्द का प्रमाणत्व स्वीकार्य नहीं हो सकता। वैशेषिक दर्शन के अध्येता भी प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं, अतः उनके मत में भी शब्द का प्रामाण्य सम्भव नहीं है, किन्तु न्याय, सांख्य, मीमांसा, वेदान्त आदि के अध्येताओं ने शब्द को भी स्वतन्त्र प्रमाण माना है। प्रस्तुत ग्रन्थ न्यायदर्शन के सिद्धान्तों के प्रतिपादनार्थ रचित हुआ है अतः इसमें शब्द प्रमाण का अस्तित्व स्वीकार कर उसका निरूपण किया गया है।

प्रश्न होता है कि जिन दर्शनों में शब्द का प्रमाणत्व स्वीकृत किया गया है उनके अध्येतावों का मार्ग तो निष्कण्टक है, उनकी लोकयात्रा तो अक्लेशेन सम्पन्न हो सकती है, पर जिन दर्शनों में शब्द का प्रमाणत्व स्वीकृत नहीं है, उनके अध्येतावों की लोकयात्रा कैसे सम्भव होगी? क्योंकि जब शब्द प्रमाण न होगा, शब्द में प्रमा-जनन की क्षमता न होगी तो शब्द के प्रयोग की सार्थकता ही क्या होगी? शब्द सुनने पर भी जब उससे किसी प्रमा का उदय सम्भव न होगा तो उसे श्रोत्रगम्य बनाने के लिए उसके उच्चारण का प्रयास कोई क्यों करेगा? और जब उसे सुन कर भी कोई उपलब्धि होने को नहीं है तब उसे सुनने के लिए भी कोई उत्कर्ण क्यों होगा? फलतः शब्द का बोलना और सुनना निरर्थक होने से संसार अशब्द हो जायगा। शब्द का प्रमाणत्व न मानने वाले लोगों का अपने वर्ग के तथा अन्य वर्ग के व्यक्तियों के साथ सब प्रकार का व्यवहार ही लुप्त हो जायगा।

उत्तर में चार्वाक के अनुयायियों की ओर से यह कहा जा सकता है कि शब्द को प्रमाण न मानने का अर्थ यह नहीं है कि शब्द से किसी अर्थ का प्रमात्मक ज्ञान ही नहीं होता, किन्तु शब्द को अप्रमाण कहने का केवल इतना ही अभिप्राय है कि शब्द किसी ऐसे अर्थ में प्रमाण नहीं होता जो प्रत्यक्षसिद्ध न हो, अतः मूलभूत प्रमाण केवल प्रत्यक्ष ही है, शब्द तो प्रत्यक्षगृहीत अर्थ का केवल अनुवादक है, शब्द को सुनकर मनुष्य जो व्यवहार करता है वह इसी आधार पर करता है कि वह समझता है कि शब्द से जो बोध उसे हो रहा है वह प्रत्यक्षमूलक होने से यथार्थ है। इस प्रकार शब्द की उपयोगिता सम्भव होने से चार्वाकमत में भी शाब्दिक व्यवहार की अनुपपत्ति नहीं हो सकती।

उक्त प्रश्न के उत्तर में बौद्ध दर्शन की ओर से भी इस प्रकार की बात कही जा सकती है कि मूलभूत प्रमाण दो ही हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। उन दोनों को प्रमाण मानना आवश्यक है क्योंकि जगत् में दो प्रकार की वस्तुयें अनुभव में आती हैं विशेष और सामान्य। विशेष का अर्थ है स्वलक्षण क्षणिक भावात्मक व्यक्ति और सामान्य का अर्थ है अतद्व्यावृत्तिलक्षण अपोह। इनमें प्रथम के ग्रहणार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण की और दूसरे के ग्रहणार्थ अनुमान प्रमाण की स्वीकृति अपरिहार्य है। इन दोनों से भिन्न और कोई वस्तु अनुभव में नहीं आती जिसके लिए शब्द को भी एक अतिरिक्त मूलभूत प्रमाण माना जाय। अतः शब्द प्रत्यक्ष और अनुमान से गृहीत अर्थ का अनुवादक-मात्र ही हो सकता है, स्वतन्त्र प्रमाण नहीं हो सकता। शब्द को सुनकर मनुष्य जो व्यवहार करता है वह यही समझ कर कि शब्द से जो बोध हो रहा है वह प्रत्यक्ष और अनुमानमूलक होने से यथार्थ है, इस प्रकार इस मत में भी शब्दमूलकव्यवहार के लोप का भय नहीं रह जाता।

उक्त प्रश्न के उत्तर में वैशेषिक दर्शन की ओर से यह बात कही जा सकती है कि शब्द को प्रमाण न कहने का अर्थ यह नहीं है कि शब्द सुनने पर किसी प्रमा का उदय ही नहीं होता अथवा प्रमा के जनन में शब्द की कोई उपयोगिता ही नहीं होती। किन्तु उसका इतना ही तात्पर्य है कि शब्द सुनने पर प्रमा की उत्पत्ति अवश्य होती है पर वह प्रमा प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से होने वाली प्रमा से विजातीय नहीं होती, कभी शब्द अपने अर्थ की स्मृति उत्पन्न कर उस अर्थ को ग्रहण करने वाली अलौकिक प्रत्यक्षात्मक प्रमा के जन्म का प्रयोजक होता है और कभी अपने अर्थ को विषय करने वाली अनुमिति प्रमा के जन्म का प्रयोजक होता है। अनुमिति प्रमा का प्रयोजक दो प्रकार से होता है कभी अनुमिति में पक्ष बन कर और कभी लिङ्ग बन कर।

शब्द जब पक्ष बन कर अनुमिति का सम्पादन करता है तब इस प्रकार अनुमिति होती है—

'ये ये शब्द इन इन अर्थों के परस्पर-संसर्गज्ञान से प्रयुक्त हैं क्योंकि परस्परसाकांक्ष, परस्परान्वययोग्य अर्थ के स्मारक और परस्पर सन्निहित हैं, जो जो शब्द इस प्रकार के होते हैं वे सब अपने अपने अर्थों के संसर्गज्ञान से प्रयुक्त होते हैं'। इस अनुमिति में शब्द पक्ष होता है और उनके अर्थों का परस्पर सम्बन्ध साध्य का भाग होकर अनुमेय होता है।

शब्द जब लिङ्ग बनकर अनुमिति का सम्पादन करता है तब इस प्रकार की अनुमिति होती है—

'ये ये पदार्थ परस्पर सम्बद्ध हैं क्योंकि परस्परसाकांक्ष, परस्परान्वययोग्य अर्थों के अभिधायक तथा परस्पर सन्निहित शब्दों से उपस्थित हुये हैं, जो जो पदार्थ ऐसे शब्दों से उपस्थित होते हैं वे सब परस्पर सम्बद्ध होते हैं'। इस अनुमिति में शब्दों द्वारा उपस्थित होने वाले अर्थ पक्ष होते हैं और उन अर्थों को उपस्थित कराने वाले शब्द हेतु का भाग होकर अनुमापक होते हैं।

इस प्रकार इन शब्दपक्षक और अर्थपक्षक अनुमानों से उस ज्ञान की उपपत्ति होती है, जिसके द्वारा शब्द सुनने के अनन्तर श्रोता विभिन्न व्यवहारों में संलग्न होता है। ऐसी स्थिति में यदि शब्द का उच्चारण एवं श्रवण न होगा तो शब्द का ज्ञान और शब्दार्थ की उपस्थिति न होगी और फिर उस दशा में उक्त अनुमान किस प्रकार सम्भव होंगे? अतः शब्द को एक स्वतन्त्र विजातीय प्रमाण न मानने पर भी उसकी उपयोगिता निर्विवाद सिद्ध है।

शब्द को प्रमाण न मानने पर शब्दमूलक लोकव्यवहार के लोप के परिहारार्थ विभिन्न दर्शनों की ओर से उक्त प्रकार की जो बातें कही जाती हैं उनकी समीक्षा करते हुये नैयायिक विद्वानों का कथन है कि जब चार्वाक और बौद्ध दर्शन के अनुयायियों को भी शब्द से लोकव्यवहार के लिये अपेक्षणीय यथार्थ बोध का उदय अवश्य मानना ही होगा तब शब्द को अप्रमाण कहने का कोई अर्थ नहीं हो सकता। यह कहना कि शब्द किसी ऐसे अर्थ की, जो अन्य प्रमाण से अवगत न हो सके, प्रमा नही करा सकता, इसलिये अप्रमाण है, ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द से उपस्थित होने वाले तत्तत् अर्थों के अलग अलग प्रमाणान्तर से विदित होने पर भी उनका परस्पर सम्बन्ध तो शब्द के लिये नया ही होता है जो शब्दजन्य बोध से पूर्व प्रमाणान्तर से विदित नहीं रहता। यदि यह कहा जाय कि विभिन्न शब्दों से उपस्थित होने वाले विभिन्न अर्थों का परस्पर सम्बन्ध भी प्रमाणान्तर से अविदित नहीं होता किन्तु वक्ता को वह भी विदित रहता है अन्यथा उसे बताने के अभिप्राय से शब्द का उच्चारण ही कैसे होता? तो यह कथन

भी ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द को वक्ता के लिये तो प्रमाण होना नहीं है प्रमाण तो होना है श्रोता के लिये, और श्रोता को, शब्दार्थों के परस्पर का वह सम्बन्ध जो शब्द द्वारा बुबोधयिषित होता है, प्रमाणान्तर से अविदित रहता ही है। यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार तो शब्द केवल श्रोता ही के लिये प्रमाण हो सकता है, वक्ता के लिये तो नहीं ही हो सकता है, अतः 'शब्द सबके लिये प्रमाण नहीं है' इस अर्थ में शब्द को अप्रमाण कहने में कोई कठिनाई नहीं है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि वक्ता सदैव वक्ता ही तो नहीं होता, वह कभी श्रोता भी होता है, तो जब वह श्रोता होगा तब उसके लिये भी शब्द प्रमाण होगा ही, अतः 'शब्द सबके लिये प्रमाण नहीं है' इस अर्थ में भी शब्द को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। हाँ 'सब शब्द सबके लिए सदा प्रमाण नहीं होता' इस अर्थ में शब्द को यदि अप्रमाण कहना हो तो, कहा जा सकता है, पर इस प्रकार के विशेष अभिप्राय से शब्द को यदि अप्रमाण घोषित करना हो तब तो प्रत्यक्ष को भी अप्रमाण घोषित किया जा सकता है क्योंकि सब प्रत्यक्ष भी सब के लिये सदा प्रमाण नहीं होते, जैसे किसी वस्तु को एक बार देख लेने के बाद वह वस्तु जब पुनः देखी जाती है तब इस पुनर्दर्शन का साधनभूत प्रत्यक्ष देखने वाले के लिये प्रमाण नहीं माना जा सकता, इसी प्रकार आँख बन्द रहने पर हाथ से छूकर जिस वस्तु को पहले जान लिया गया, आँख खुलने पर जब वह वस्तु आँख से देखी जाती है तब आँख उस वस्तु के लिये प्रत्यक्षप्रमाण नहीं हो सकती क्योंकि वह वस्तु स्पर्शन द्वारा पूर्वविदित होने के कारण आँख के लिये नवीन नहीं रहती।

इसलिये यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यतः शब्दों से होने वाले लोकव्यवहार का अपलाप नहीं किया जा सकता, अतः शब्दों से यथार्थ बोध के उदय का भी अपलाप नहीं किया जा सकता, और इस प्रकार जब वह यथार्थबोधात्मक प्रमा का जनक है तब उसके प्रमाणत्व का अपलाप दुःशक है, इसलिये चार्वाक और बौद्ध दर्शन के अनुयायियों द्वारा शब्द के अप्रमाणत्व का कथन निस्सार है।

वैशेषिकों ने शब्द को अनुमान का अङ्ग मान कर उसके विजातीय प्रमाणत्व को जो अस्वीकार किया है, उस विषय में यह कहा जा सकता है कि शब्द को अनुमान का अङ्ग नहीं माना जा सकता, क्योंकि शब्द सुनने के अनन्तर शब्द से उपस्थित होने वाले अर्थों के परस्पर संसर्ग का यदि अनुमान माना जायगा तब उन शब्दार्थों के साथ कभी उन अर्थों का भी अनुमान होने लगेगा जो शब्द से उपस्थित न होकर किसी अन्य साधन से उपस्थित होंगे और जिनके सम्बन्धों का अनुमापक कोई अन्य लिङ्ग उपस्थित होगा। किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। शब्दार्थों के परस्पर सम्बन्ध के

बोध के साथ शब्दानुपस्थाप्य अर्थों के परस्पर सम्बन्ध का बोध होते कभी नहीं देखा जाता। इसलिये यही मानना उचित है कि शब्द सुनने के अनन्तर शब्द से उपस्थित होने वाले अर्थों के परस्पर सम्बन्ध का जो बोध होता है वह एक विजातीय यथार्थबोध है और उसका करण होने से शब्द एक स्वतन्त्र विजातीय प्रमाण है।

शब्दबोध की कारणसामग्री—

शब्द से होने वाले विजातीय बोध को शाब्दबोध कहा जाता है, वह जिन विशेष कारणों के सामग्र्य—सन्निधान में उत्पन्न होता है, उनकी संख्या सात मानी गई है—पदज्ञान (१) वृत्तिज्ञान अर्थात् पद और पदार्थ का सम्बन्धज्ञान (२) पदार्थस्मरण (३) आकाङ्क्षाज्ञान (४) सन्निधि—आसत्ति का ज्ञान (५) योग्यताज्ञान (६) और तात्पर्यज्ञान (७)। इन कारणों के सन्निधान का क्रम यह है—एक मनुष्य जब किसी दूसरे मनुष्य को कोई बात बताने के लिये किसी वाक्य का प्रयोग करता है तब वह जिस क्रम से पूर्व पूर्व पदों का उच्चारण करते हुये वाक्य के प्रयोग को पूरा करता है उस क्रम से पहले उन पदों का श्रवण और उन श्रवणों से उनके संस्कारों का उदय होता है, बाद में उन संस्कारों के सहयोग से अन्तिम पद के श्रवण के समय श्रोत्रद्वारा पूरे वाक्य का ज्ञान होता है। उसके साथ ही उस वाक्य के अङ्गभूत पदों में पौर्वापर्यरूप आकांक्षा तथा व्यवधानराहित्यरूप आसत्ति का भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार वाक्यज्ञान रूप एक ही ज्ञान से पदज्ञान, आकांक्षा-ज्ञान और आसत्तिज्ञान यह तीन ज्ञान गतार्थ हो जाते हैं। उनके लिये कालान्तर की अपेक्षा नहीं होती। आकांक्षा और आसत्ति को ग्रहण करने वाला वाक्यज्ञान पदज्ञानात्मक भी होता है। अतः वह पद-पदार्थ के पूर्वानुभूत परस्परसम्बन्ध के प्रथमतः स्थित संस्कार को उद्बुद्ध कर उसका स्मरणात्मक ज्ञान सम्पन्न करा देता है। इस प्रकार पद-पदार्थों के परस्परसम्बन्ध का ज्ञान हो जाने पर एक सम्बन्धी के ज्ञान के अपर सम्बन्धी का स्मारक होने के नियमानुसार पद-पदार्थसम्बन्धज्ञानात्मक पदरूप एक सम्बन्धी के ज्ञान से पदार्थरूप अपर सम्बन्धी का स्मरण उत्पन्न होता है। पदार्थों का स्मरण उत्पन्न हो जाने के बाद उनमें परस्पर-अन्वय की योग्यता का ज्ञान होता है और उसके बाद उन पदार्थों के बीच सम्भावित सम्बन्धों में किसी एक सम्बन्ध में वक्ता के वाक्य-तात्पर्य—वाक्यद्वारा बुबोधयिषा का ज्ञान होता है। इस प्रकार किसी वाक्य के अङ्गभूत पदों से उपस्थित होने वाले जिन पदार्थों के जिस सम्बन्ध में वक्ता के वाक्य-तात्पर्य का ज्ञान होता है, तात्पर्यज्ञान के अनन्तर उन पदार्थों में उस सम्बन्ध का शाब्द-बोध उत्पन्न होता है।

तात्पर्यज्ञान अर्थात् अमुक वाक्य से अमुक अमुक अर्थों के अमुक सम्बन्ध का बोध वक्ता को अभिप्रेत है इस प्रकार का ज्ञान स्पष्ट ही वाक्य को विषय करता है।

वाक्य के शरीर में पद, पदों का पौर्वापर्य और उनकी आसत्ति प्रविष्ट रहती है। अतः वह तात्पर्यज्ञान, पदज्ञान, आकांक्षाज्ञान और आसत्तिज्ञानरूप हो जाता है। वह वाक्य-घटक पदों के अर्थों और उनके सम्बन्ध को भी विषय करता है अतः वह पदार्थज्ञान और योग्यताज्ञानरूप भी हो जाता है। इसलिये तात्पर्यज्ञान के सन्निधानकाल में शाब्दबोध के प्रायः उपर्युक्त सभी कारणों का सन्निधान हो जाने से शाब्दबोध के उदय में कोई बाधा नहीं रहती। अतः उसके अनन्तर शाब्दबोध का जन्म मानना सर्वथा सुसंगत है।

पद और पदार्थ का सम्बन्ध --

पद-पदार्थ के सम्बन्धज्ञान को शाब्दबोध का अन्यतम कारण बताया गया है। अब विचारणीय यह है कि इस सम्बन्ध को मानने की आवश्यकता क्या है ? इस सम्बन्ध का स्वरूप क्या है ? और इसके ज्ञान का उपाय क्या है ?

पद से अर्थ का बोध होता है, किन्तु सब पदों से सब अर्थों का बोध नहीं होता, अपि तु सामान्य स्थिति में नियत पदों से नियत अर्थों का ही बोध होता है। प्रश्न होता है कि यह वस्तुस्थिति क्यों है ? कोई भी पद किसी भी अर्थ का स्वाभाविक ढंग से बोधक क्यों नहीं होता ? उत्तर यह है कि पद तथा अर्थ के बीच एक सम्बन्ध होता है और वही पद से अर्थ के बोध का नियामक होता है। वह सम्बन्ध सब पदों और सब अर्थों के बीच नहीं होता किन्तु नियत पद और नियत अर्थों के ही बीच होता है। यही कारण है कि सब पदों से सब अर्थों का बोध न होकर नियत पदों से नियत अर्थों का ही बोध होता है, क्योंकि पद और अर्थ के बीच के इस सम्बन्ध के आधार पर यह नियम स्वीकृत है कि जो अर्थ जिस पद से सम्बद्ध होता है उस पद से उसी अर्थ का बोध होता है, अन्य असम्बद्ध अर्थ का नहीं होता।

पदविशेष से अर्थविशेष के बोध का नियमन करने के हेतु पद और अर्थ के बीच जो सम्बन्ध स्वीकार्य है उसका स्वरूप क्या है ? वह किमात्मक है ? इस विषय में विद्वानों के अनेक मत हैं, उनमें प्रसिद्ध तीन मतों की चर्चा यहाँ की जायगी।

एक मत यह है कि शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध है। तादात्म्य का अर्थ है भेदसह अभेद—भेद को सहन करने वाला अभेद। इसके अनुसार अर्थ शब्द से भिन्न भी होता है और अभिन्न भी होता है। जो अर्थ जिस शब्द से भिन्नाभिन्न होता है उस शब्द से उस अर्थ का बोध होता है, सब अर्थ सब शब्दों से भिन्नाभिन्न नहीं होते अर्थात् सब अर्थों के साथ सब शब्दों का तादात्म्य नहीं होता, इस लिए सब शब्दों से सब अर्थों का बोध नहीं होता। यह मत वैयाकरण और आलङ्कारिकों को मान्य है।

महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश काव्य के आरम्भ में 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' कह कर वाणी और अर्थ के बीच इसी तादात्म्य सम्बन्ध का संकेत किया है।

दूसरा मत यह है कि शब्द और अर्थ के बीच एक ऐसा सम्बन्ध है जो कहीं अन्यत्र दृष्टचर नहीं है, उसका नाम है वाच्यवाचकभाव। संक्षेप के लिए उसे वाच्यता, वाचकता, अभिधा आदि नामों से भी व्यवहृत किया जाता है। इसके आधार पर ही शब्द को वाचक और अर्थ को वाच्य कहा जाता है। जिस शब्द से जो अर्थ वाच्य होता है अथवा जो शब्द जिस अर्थ का वाचक होता है उस शब्द से उस अर्थ का बोध होता है। यह सम्बन्ध भी सब पदों और सब अर्थों के बीच नहीं होता किन्तु नियत पदों और नियत अर्थों के ही बीच होता है। इस लिये इस मत के अनुसार भी सब पदों से सब अर्थों का बोध न होकर नियत पदों से नियत अर्थों के ही बोध की व्यवस्था होती है। मीमांसकों का यही मत है।

तीसरा मत यह है कि शब्द और अर्थ के बीच जो सम्बन्ध है वह संकेतरूप है। संकेत का अर्थ है—अमुक शब्द से अमुक अर्थ का बोध हो' अथवा 'अमुक शब्द अमुक अर्थ का बोधन करे' इस प्रकार की इच्छा। यह देखा जाता है कि जब कोई मनुष्य किसी वस्तु का निर्माण करता है तब उस वस्तु का कोई नामकरण भी करता है अर्थात् वह इस प्रकार की अपनी इच्छा व्यक्त करता है कि 'मेरी यह वस्तु इस नाम से समझी जाय' अथवा 'मेरी इस वस्तु का यह नाम हो'। उसकी इस इच्छा के अनुसार ही उसकी बनाई हुई वह वस्तु उस नाम से व्यवहृत होने लगती है। इस आधुनिक संकेत के आधार पर ही यह कल्पना की जाती है कि जिन अर्थों में जो शब्द परम्परा से प्रयुक्त होते आ रहे हैं, अवश्य ही उन अर्थों उन और शब्दों के बीच भी किसी पुरुष का वैसा ही संकेत है, और निश्चय ही वह अनादि पुरुष परमेश्वर के अनादि संकेत से अन्य नहीं हो सकता। यह संकेत ही शब्द और अर्थ के बीच का सम्बन्ध है। शक्ति, अभिधा आदि इसी के नामान्तर हैं। यह संकेत भी सब पदों और सब अर्थों के बीच न होकर नियत पदों और नियत अर्थों के ही बीच होता है। अतः इस मत के अनुसार भी सब पदों से सब अर्थों के बोध का उदय न होकर नियत पदों से नियत अर्थों के ही बोध के उदय की व्यवस्था होती है। नैयायिकों का यही मत है।

उपर्युक्त तीनों मतों में पहले के दो मत विशुद्ध शास्त्रीय हैं, उन्हें लोकानुभव का का कोई आधार नहीं प्राप्त है किन्तु तीसरा मत उक्त रीति से लोकानुभव पर—मनोवैज्ञानिक तथ्य पर आधारित है अतः एकमात्र शास्त्रीय न होने से अधिक हृदयंगम है अतः पूर्व के दो मतों की अपेक्षा यह मत श्रेष्ठतर प्रतीत होता है।

शब्द और अर्थ के बीच इस प्रकार का जो सम्बन्ध माना जाता है वह शब्दार्थ का सहज सम्बन्ध है। सामान्य स्थिति में इसी सम्बन्धद्वारा शब्द से अर्थबोध का उदय होता है, किन्तु कभी कभी ऐसी विशेष स्थिति भी होती है जब इस सम्बन्ध से काम नहीं चल पाता। जैसे किसी ने कहा 'गङ्गायां घोषः', गङ्गा का अर्थ होता है वह विशेष जलधारा जो हिमालय से भारतवर्ष के पूर्वी समुद्र तक अनवरत प्रवाहित होती है, और 'घोष' का अर्थ होता है 'आभीरपल्ली' जहाँ अहीर लोग अपनी गायों के साथ निवास करते हैं, स्पष्ट है कि जलधारा में आभीरग्राम नहीं टिक सकता, अतः यह मानना पड़ता है कि 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य का गङ्गा शब्द अपने सहज अर्थ जलप्रवाह के बोधनार्थ नहीं प्रयुक्त है किन्तु उसके समीपस्थ तीर के बोधनार्थ प्रयुक्त है, किन्तु समस्या यह है कि गङ्गा शब्द से तीर का बोध हो कैसे? क्योंकि शब्द से अर्थबोध के सम्पादनार्थ शब्दार्थ के बीच जो सहज सम्बन्ध माना जाता है वह तीर और गङ्गा शब्द के बीच है नहीं। इसी समस्या के समाधानार्थ शब्द और अर्थ के बीच लक्षणानामक एक अन्य सम्बन्ध की भी कल्पना की जाती है। जहाँ शक्तिनामक सहज शब्दार्थ-सम्बन्ध से विवक्षित अर्थ का बोध नहीं हो पाता वहाँ इस दूसरे सम्बन्ध से उसे सम्पन्न किया जाता है। 'गङ्गायां घोषः' के गङ्गा शब्द से तीर का बोध इस लक्षणात्मक सम्बन्ध से ही सम्पन्न होता है।

लक्षणा के स्वरूप के सम्बन्ध में भी अनेक मत हैं जिनकी चर्चा विस्तार के भय से यहाँ नहीं करनी है। सामान्यतः शक्यार्थसम्बन्ध को लक्षणा कहा जाता है। जैसे गङ्गा शब्द का शक्यार्थ है जलप्रवाह और उसका सामीप्य —संयोग सम्बन्ध है तीर के साथ। अतः गङ्गापदशक्यजलप्रवाहसंयोग को तीर के साथ गङ्गा शब्द का लक्षणात्मक सम्बन्ध कहा जाता है।

कुछ लोग शक्ति और लक्षणा के अतिरिक्त शब्द और अर्थ के बीच 'व्यञ्जना' नाम का भी सम्बन्ध मानते हैं। उनका कहना यह है कि कभी कभी शब्द से ऐसे अर्थ का भी बोध होता है जिनका बोधन शक्ति और लक्षणाद्वारा सम्भव नहीं हो पाता। जैसे 'गङ्गायां घोषः' इसी वाक्य में गङ्गा शब्द से लक्षणा द्वारा तीर का बोध होने पर उसमें शीतलता और पावनता का भी बोध होता है, क्योंकि यह बोध यदि न होगा तो गङ्गा शब्द से तीर का बोध कराने का प्रयास ही व्यर्थ हो जायगा। तीर की शीतलता और पावनता का यह बोध गङ्गा शब्द की शक्ति और लक्षणा से सम्भाव्य नहीं है क्योंकि उन अर्थों में गङ्गा शब्द की न शक्ति ही है और न लक्षणा ही है, क्योंकि उन अर्थों में गङ्गा शब्द का स्वाभाविक अनादि प्रयोग नहीं होता अतः उन अर्थों में गङ्गा शब्द की शक्ति नहीं मानी जाती। एवं तीर की शीतलता और पावनता के साथ गङ्गा शब्द के

शक्यार्थ का सीधा सम्बन्ध नहीं होता अतः गङ्गा शब्द की उन अर्थों में लक्षणा भी नहीं मानी जा सकती। साथ ही लक्षणा से उन अर्थों का बोध मानने का कोई प्रयोजन भी नहीं है और प्रयोजन के बिना लाक्षणिक बोध की मान्यता नहीं हो सकती। अतः ऐसे अर्थों के बोध के सम्पादनार्थ व्यञ्जना को मान्यताप्रदान करना आवश्यक है।

कहीं कहीं 'तात्पर्य' नामके एक चौथे सम्बन्ध की भी कल्पना कर शब्दार्थ के बीच चार प्रकार के सम्बन्ध माने गये हैं—शक्ति, लक्षणा, व्यञ्जना और तात्पर्य। शब्दार्थ के इन सम्बन्धों को 'वृत्ति' शब्द से भी व्यवहृत किया जाता है क्योंकि इन्हीं सम्बन्धों द्वारा अर्थ में शब्द का वर्तन—व्यवहार होता है।

न्यायशास्त्र में शब्दार्थ के दो ही सम्बन्ध माने गये हैं शक्ति और लक्षणा, क्योंकि जिन अर्थों के बोध के लिये व्यञ्जना को मान्यता देने की बात कही गई है उनका बोध कहीं मन से अलौकिक प्रत्यक्ष के रूप में और कहीं अनुमान से अनुमिति के रूप में सम्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार जिस वाक्यार्थबोध के लिये 'तात्पर्य वृत्ति' मानने की आवश्यकता अन्य लोगों ने समझी है, न्यायशास्त्र के अनुसार उस बोध की उपपत्ति वाक्यसामर्थ्य से हो सकती है, और वह सामर्थ्य शब्दार्थ का सम्बन्धरूप न होकर वाक्य की रचनारूप अर्थात् वाक्य के अङ्गभूत शब्दों का पौर्वापर्यरूप है।

शब्दार्थ क्या है ?

ऊपर के सन्दर्भ से यह सिद्ध हो चुका है कि अर्थ के साथ शब्द का एक सहज सम्बन्ध होता है जिसे शक्ति कहा जाता है और उस सम्बन्ध के द्वारा ही शब्द से अर्थबोध का नियमन होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि वह अर्थ क्या है ? जिसके साथ शब्द के शक्ति सम्बन्ध को मान्यता देना आवश्यक माना गया है।

उत्तर में नैयायिकों का कथन यह है कि शब्द का उच्चारण करने पर श्रोता को जिन अर्थों के बोध का होना सर्वानुभवसिद्ध है वह सब शब्द का अर्थ है, उन सभी अर्थों में शब्द की शक्ति है। जैसे गोशब्द का उच्चारण होने पर श्रोता को एक विशेष जाति और एक विशेष आकार के पशुव्यक्तियों का बोध होना सर्वसम्मत है। अतः वह जाति, वह आकार तथा वह व्यक्ति जिनका बोध शब्द के श्रवण से सम्पन्न होता है, गोशब्द का अर्थ है। उन सभी अर्थों में गोशब्द की शक्ति है। उनका नाम है गोत्व, सास्ना—गलकम्बल—गले के नीचे लटकने वाली चमड़े की सादड़ी और गौ। इसी बात को महर्षि गौतम ने अपने न्यायदर्शन में 'जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः' इस सूत्र से अभिहित किया है। इस सूत्र में उल्लिखित 'आकृति' शब्द की व्याख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में मत भेद है, जैसे—

प्राचीन काल के विद्वानों ने आकृति शब्द के प्रसिद्ध अर्थ आकार—अवयवों के संस्थान को ही सूत्रस्थ आकृति शब्द से ग्रहण किया था किन्तु अर्वाचीन काल के विद्वानों ने उस अर्थ का परित्याग कर आकृति शब्द से जाति और व्यक्ति के सम्बन्ध को ग्रहण किया। इस प्रकार जाति, आकार और व्यक्ति शब्दार्थ है यह प्राचीन मत है तथा जाति, व्यक्ति और उन दोनों का समवाय सम्बन्ध शब्दार्थ है यह नवीन मत है।

मीमांसकों ने शब्दार्थ के विषय मे इस न्यायमत को मान्यता नहीं दी है। उन्होंने लाघव की दृष्टि से आकृति और व्यक्ति का त्याग कर जातिमात्र को ही शब्द का अर्थ माना है, केवल उसी में शब्द की शक्ति स्वीकार की है। शब्द सुनने के बाद व्यक्ति का जो बोध होता है उसे अन्य प्रकार से उन्होंने उपपन्न किया है। जैसे प्रभाकर ने जातिमात्र को शब्द का शक्य मानते हुये जाति और व्यक्ति में तुल्यवित्तिवेद्यता—समानसामग्रीग्राह्यता मान कर जातिबोधक सामग्री से ही व्यक्तिबोध की उपपत्ति की है। कुमारिल भट्ट ने शब्द से केवल जाति का ही बोध माना है, व्यक्ति का बोध अनुमान से उपपन्न किया है। मण्डनमिश्र ने जाति का बोध शब्दशक्ति से और व्यक्ति का बोध लक्षणा से माना है। श्रीकर ने जाति का बोध तो शक्तिद्वारा शब्दजन्य माना किन्तु व्यक्ति का बोध 'व्यक्ति के बिना जाति अनुपपन्न है' इस अनुपपत्तिज्ञानरूप अर्थापत्ति के सहयोग के शब्दजन्य माना है।

शब्द की शक्ति केवल जाति में ही है व्यक्ति में नहीं, अतः व्यक्ति का बोध शब्दशक्ति से न होकर प्रकारान्तर से होता है, मीमांसकों का यह मत विचार करने पर उचित नहीं प्रतीत होता, क्यों कि शब्द सुनने के अनन्तर जब जाति और व्यक्ति दोनों का बोध समान रूप से ही होता है, दोनों के होने में कालभेद और प्रक्रियाभेद की कोई प्रतीति नहीं होती तब दोनों में यह अन्तर करना, कि जाति का बोध शब्दशक्ति से और व्यक्ति का बोध प्रकारान्तर से होता है, कैसे स्वीकार्य हो सकता है? अतः जाति के समान ही व्यक्ति को भी शब्द का शक्य मानना उचित है। यह कहना कि 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः–जो अर्थ अन्य प्रकार से अवगत न हो सके, उसी को शब्दशक्य मानना उचित होता है, अतः प्रकारान्तर से ज्ञात हो सकने के कारण व्यक्ति में शब्दशक्ति की कल्पना असंगत है, ठीक नहीं है, क्यों कि जिन पद्धतियों से मीमांसकों ने व्यक्तिबोध के उपपादन का प्रयास किया है उन समस्त पद्धतियों के सदोष होने से व्यक्ति की अन्यलभ्यता ही अप्रामाणिक है। जैसे प्रभाकर के मत में यह दोष है कि व्यक्तिबोध का जब कोई कारण न माना जायगा तब जाति और व्यक्ति की तुल्यवित्तिवेद्यता के नियममात्र से उसकी उपपत्ति न हो सकेगी क्योंकि कोई भी कार्य किसी कारण से ही उत्पन्न होता है, किसी नियममात्र से नहीं उत्पन्न होता।

भट्ट के मत में यह दोष है कि व्यक्ति का बोध अनुमान से इस लिये नहीं माना जा सकता कि अनुमानजन्य बोध में वस्तु का भान पक्ष, साध्य और उन दोनों के सम्बन्ध के रूप में ही होता है, व्यक्ति इन तीनों में किसी भी रूप से अनुमानजन्य बोध का विषय नहीं हो सकती, क्योंकि 'व्यक्ति शब्दशक्य नहीं होती' इस मत में श्रोता को वह ज्ञात नहीं हो सकती और ज्ञात हुए विना अनुमानजन्य बोध में उसका भान सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमानजन्य बोध में पक्ष, साध्य या दोनों के सम्बन्ध के रूप में भान होने के लिये वस्तु को परामर्शात्मक ज्ञान का विषय होना आवश्यक होता है। किन्तु व्यक्ति शब्द का श्रवण होने पर अनुपस्थित रहने के कारण परामर्श का विषय नहीं हो सकती।

मण्डनमिश्र के मत में यह दोष है कि शब्द से व्यक्ति का बोध उस स्थिति में भी होता है जब लक्षणा का बीज न रहने के कारण लक्षणा नहीं मानी जा सकती, जैसे 'गौः अस्ति' कहने पर गोत्व में अस्तित्व के अन्वयकी अनुपपत्ति न होने से गौ में गो शब्द की लक्षणा नही मानी जा सकती। अतः व्यक्ति की अशक्यतापक्ष में उस वाक्य से गो व्यक्ति के अस्तित्वबोध का उपपादन नहीं किया जा सकता।

श्रीकर के मत में यह दोष है कि दो विजातीय प्रमाणों से एक ज्ञान का उदय नहीं होता अतः शब्द और अर्थापत्ति के मिथःसहयोग से व्यक्तिबोध की उपपत्ति नहीं की जा सकती।

सबसे मुख्य बात तो यह है कि शब्दश्रवण के अनन्तर जातिबोध और व्यक्तिबोध के होने में क्रम नहीं प्रतीत होता, दोनों एक साथ ही उदित प्रतीत होते हैं और दोनों का एक साथ उदय व्यक्ति को अन्यलभ्य मानने पर सम्भव नहीं हो सकता, अतः व्यक्ति की अन्यलभ्यता प्रामाणिक न होने के कारण 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' के आधार पर व्यक्ति की शब्दशक्यता का परित्याग नहीं किया जा सकता।

अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद—

यह सर्वविदित है कि शब्दश्रवण के अनन्तर किसी एक पदार्थमात्र की अनुभूति नहीं होती किन्तु भिन्न-भिन्न पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध की अनुभूति होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न पदार्थों के परस्परसम्बन्ध का यह बोध कैसे होता है? क्या पदार्थों के परस्परसम्बन्ध में पद की शक्ति होती है और उसी के प्रभाव से उसका बोध होता है? अथवा उसमें पद की शक्ति नहीं होती किन्तु उसका बोध वाक्यसामर्थ्य—वाक्यरचना के प्रभाव से अर्थात् वाक्यघटक पदों के पौर्वापर्यरूप आकाङ्क्षा के बल से सम्पन्न होता है? इस प्रश्न का उत्तर जिन दो प्रकारों से दिया गया है वे ही अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद के रूप में व्यवहृत हुये हैं।

अभिहितान्वयवाद नैयायिकों को और मीमांसकों में कुमारिल को मान्य है। इस वाद का अभिप्राय यह है कि पदों से शक्तिद्वारा केवल उनके अर्थ ही अभिहित होते हैं उनके अर्थों का सम्बन्ध अभिहित नहीं होता' के अभिहित अर्थों का सम्बन्धबोध तो पदों के पौर्वापर्य रूप वाक्यसामर्थ्य से ही सम्पन्न होता है।

अन्विताभिधानवाद प्रभाकर का अभिमत पक्ष है। इस वादका आशय यह है कि शब्दजन्य बोध में उसी अर्थ का भान माना जा सकता है जो शब्दद्वारा उपस्थित हो, अन्यथा किसी शब्द का श्रवण होने पर उस शब्द के अर्थमात्र का बोध न होकर उन अनेक अर्थों का भी बोध होने लगेगा जो उस शब्द से उपस्थित न होकर अन्य साधनों से उपस्थित होंगे। तो फिर जब शब्दजन्य बोध में शब्दार्थ का ही भान नियमेन मान्य है तब यदि पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध को शब्दशक्य तथा शब्द से उस सम्बन्ध का अभिधान न माना जायगा तब शब्दजन्य बोध में उसका भान कैसे हो सकेगा? अतः यह स्वीकार करना आवश्यक है कि पद की शक्ति शुद्ध अर्थ में नहीं किन्तु अन्वित—सम्बन्धयुक्त अर्थ में होती है। इसलिये पद से शुद्ध अर्थमात्र का अभिधान नहीं किन्तु अन्वित अर्थ का अभिधान होता है।

यह अन्विताभिधान तीन प्रकारों में विकसित हुआ है। कार्यान्विताभिधान (१) इतरान्विताभिधान (२) और अन्विताभिधान (३)। इसमें कार्यान्विताभिधान ही प्रभाकर का मुख्य पक्ष है। इसके अनुसार प्रत्येक शाब्दबोध नियमेन कार्यत्वविषयक ही होता है, अतः कार्यत्वबोधक लिङ् आदि प्रत्यय जिस वाक्य में नहीं होते, उनसे शाब्दबोध नहीं होता। शाब्दबोध कार्यत्वविषयक ही होता है यह नियम न मानने वाले लोगों को इतरान्विताभिधान पक्ष मान्य है। इतर अर्थ का लाभ पदान्तर से सम्भव होने के कारण कुछ लोग अन्विताभिधान पक्ष को ही मान्यता प्रदान करते हैं। गदाधर के शक्तिवाद की हरिनाथी व्याख्या में अन्विताभिधान को भट्ट का मत कहा गया है, यह भट्ट कौन हैं यह अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका है।

शब्दार्थसम्बन्धज्ञान के साधन—

ऊपर यह बताया जा चुका है कि शब्दविशेष से अर्थविशेष के बोध के नियमनार्थ शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध की कल्पना आवश्यक है। अब यह बताना है कि अर्थ के साथ शब्द का सम्बन्ध होने पर भी जब तक वह ज्ञात नहीं होगा तब तक वह अर्थबोध का सम्पादक नहीं हो सकता, क्योंकि यदि वह अज्ञात रहने पर भी अर्थबोध का सम्पादक होगा तब किसी भी शब्द का अर्थ किसी के लिये अज्ञात न रह सकेगा। यतः सब शब्दों से सबको अर्थबोध नहीं होता, अतः यह मानना अनिवार्य है कि शब्दार्थसम्बन्ध ज्ञात होनेपर ही अर्थबोध का सम्पादक होता है। प्रश्न होता है कि शब्दार्थसम्बन्ध

का ज्ञान किन उपायों से अर्जित किया जा सकता है ? उत्तर है कि उसके कई उपाय हैं, जिनका संग्रह इस प्रकार किया गया है—

> शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
> वाक्यस्य शेषांद विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ।।
> लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः ।

यह बताया जा चुका है कि शाब्दबोध के सम्पादक शब्दार्थसम्बन्ध के दो भेद हैं शक्ति और लक्षणा। उनमें शक्ति का ज्ञान व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष और विवरण इन आठ साधनों से सम्पादित होता है। इन आठों में व्यवहार शक्तिज्ञान का प्रथम और सर्वश्रेष्ठ उपाय है, क्योंकि बालक को, जिसे किसी शब्द का अर्थ पहले से ज्ञात नहीं रहता, प्रथमतः व्याकरण आदि साधनों से शक्तिग्रह नहीं हो सकता, उसे सबसे पहले अपने बड़ों के व्यवहार—शब्दमूलक कार्यकलाप को देख कर ही शक्तिज्ञान सम्पन्न होता है, बाद में बुद्धि का क्रमिक विकास और आवश्यक शब्दों का परिचय हो जानेपर व्याकरण आदि से भी शक्तिज्ञान होता है।

दूसरे शब्दार्थसम्बन्ध—लक्षणा का ज्ञान अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्ति के ज्ञान से सम्पन्न होता है, जैसे 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य को सुनने पर गङ्गाशब्द के मुख्य अर्थ जलप्रवाह का घोष के साथ आधाराधेयभाव सम्बन्ध की अनुपपत्ति का ज्ञान होने से तीर में गङ्गा शब्द के शक्यसम्बन्धरूप लक्षणा का ज्ञान होता है। एवं 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस वाक्य का श्रवण होने पर समस्त दधिविघातकों में काकशब्द के वक्तृतात्पर्य की अनुपपत्ति का ज्ञान होने से समस्त दधिविघातकों में काकशब्द की शक्यसम्बन्धरूप लक्षणा का ज्ञान होता है।

शक्ति का आश्रय क्या है ?—

शब्दार्थसम्बन्धविषयक विचार के सन्दर्भ में यह बताया गया है कि जिस शब्द में जिस अर्थ की शक्ति या लक्षणा ज्ञात होती है उस अर्थ का बोध उस शब्द से सम्पन्न होता है। प्रश्न होता है कि जिसमें अर्थनिरूपित शक्ति का ज्ञान होनेपर शाब्दबोध का उदय होता है, जो अर्थनिरुपित शक्ति का आश्रय होता है वह शब्द क्या है ? क्या जिन वर्णों को हम अपने कानों सुनते हैं वे वर्ण ही वह शब्द हैं ? अथवा उन वर्णों से अभिव्यक्त होनेवाला कोई अतिरिक्त पदार्थ शब्द है ? वैयाकरणों का कहना है कि वह शब्द अनेक वर्णों का समुदायरूप नहीं हो सकता, क्योंकि वर्ण क्रमोत्पन्न और क्षणिक होते हैं अतः उनका समुदाय—एक स्थान और एक काल में उनका होना अथवा एक ज्ञान का विषय होना सम्भव ही नहीं हो सकता। अतः सुनाई देने वाले

वर्ण केवल ध्वनिमात्र हैं, शब्द नहीं हैं। शब्द तो वह है जो उन सभी वर्णों से अभिव्यक्त होता है। वह एक और नित्य स्फोट ही अर्थनिरूपित शक्ति का आश्रय है, अर्थनिरूपिता शक्ति उसी में ज्ञात होकर शाब्दबोध की उत्पत्ति का प्रयोजक होती है।

इस विषय में नैयायिकों का मत यह है कि क्रमोत्पन्न, क्षणिक, अनेक वर्णों के एकज्ञान की उपपत्ति तो स्फोटवादी को भी किसी न किसी प्रकार अवश्य करनी होगी क्योंकि यदि इस प्रकार का ज्ञान न माना जायगा तब 'नदी' शब्द का उच्चारण होनेपर नदीरूप अर्थ के बोधक स्फोटकी अभिव्यक्ति किस प्रकार होगी ? यदि उस शब्द के प्रत्येक वर्ण या प्रत्येकवर्णज्ञान को स्फोट का अभिव्यञ्जक माना जायगा तब प्रथम वर्ण के ज्ञान से ही स्फोट की अभिव्यक्ति हो जाने से दूसरे तीसरे वर्ण का उच्चारण व्यर्थ हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि पूर्व पूर्व वर्ण से स्फोट की अपूर्ण ही—अस्पष्ट ही अभिव्यक्ति होती है किन्तु अर्थबोध के लिये उसकी पूर्ण—स्पष्ट अभिव्यक्ति अपेक्षित है, अतः तदर्थ अन्य वर्णों के उच्चारण की सार्थकता होगी, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'नदी' शब्द के प्रत्येक वर्ण की क्षमता समान है अतः यदि पूर्व वर्णों से अपूर्ण—अस्पष्ट अभिव्यक्ति होगी तो अन्तिम वर्ण से भी अपूर्ण—अस्पष्ट ही अभिव्यक्ति होगी, उससे भी पूर्ण—स्पष्ट अभिव्यक्ति न हो सकेगी। यदि पूर्व पूर्व वर्ण के ज्ञान को अथवा उनसे होने वाली अपूर्ण—अस्पष्ट अभिव्यक्तियों को चरम वर्ण के ज्ञान का सहकारी मान उन सबों के सहयोगद्वारा चरमवर्णज्ञान से स्फोट की पूर्ण—स्पष्ट अभिव्यक्ति की बात कही जाय तो यह भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि वर्णों के समान ही उनके ज्ञान अथवा उनसे होने वाली स्फोट की अपूर्ण अभिव्यक्तियाँ भी क्रमिक और क्षणिक हैं, फिर वे सब भी सम्भूय चरमवर्णज्ञान का सहकारी कैसे हो सकेंगी ? फलतः स्फोटवाद में भी यह कल्पना करनी होगी कि पूर्व पूर्व वर्णों के अनुभवों से उत्पन्न संस्कारों के द्वारा विनष्ट वर्णों को तथा श्रोत्रसन्निकर्षद्वारा विद्यमान अन्तिम वर्ण को ग्रहण करने वाला उन सभी वर्णों का एक ज्ञान उत्पन्न होता है और वही स्फोट का पूर्ण अभिव्यञ्जक है। तो फिर जब अनेक वर्णों का एक ज्ञान सुघट हो ही सकता है तब उसी से अर्थबोध का उदय मानने में कोई बाधा न होने के कारण उस प्रयोजन के अनुरोध से स्फोट की कल्पना निरर्थक है।

यदि यह कहा जाय कि स्फोट को स्वीकार न कर अनेक वर्णों को ही पद मानने पर 'एकं पदम्' इस प्रकार पद में एकत्व का ज्ञान और व्यवहार न हो सकेगा, क्योंकि अनेक में एकत्व बाधित होता है। और जब वर्णों से भिन्न स्फोट का अस्तित्व स्वीकार किया जायगा तब अनेक वर्णों से अभिव्यक्त होने वाले स्फोट के एक होने से स्फोटात्मक पद में एकत्व के ज्ञान और व्यवहार में कोई बाधा न होगी, अतः स्फोट की कल्पना नितान्त न्यायसंगत है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अनेकत्व के साथ संख्या-

वर्णितानि चत्वारि प्रमाणानि। एतेभ्योऽन्यन्न प्रमाणं, प्रमाणस्य सतः अत्रैवान्तर्भावात्।

नन्वर्थापत्तिः पृथक् प्रमाणमस्ति। अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः। तथाहि 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति दृष्टे श्रुते वा रात्रिभोजनं कल्प्यते। दिवा अभुञ्जानस्य पीनत्वं रात्रिभोजनमन्तरेण नोपपद्यतेऽतः पीनत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिरेव रात्रिभोजने प्रमाणम्, तच्च प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं रात्रिभोजनस्य प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात्।

रूप एकत्व तथा सजातीयद्वितीयराहित्य—दूसरे सजातीय का अभावरूप एकत्व का ही विरोध होता है, अतः अनेक वर्णों में उस एकत्व का ज्ञान और व्यवहार भले न हो किन्तु एकज्ञानविषयत्वरूप एकत्व का अनेकत्व के साथ कोई विरोध न होने से अनेक वर्णों में उस एकत्व के ज्ञान और व्यवहार के होने में कोई बाधा नहीं हो सकती। अनेक वर्णों में एकज्ञानविषयत्वरूप एकत्व के ज्ञान और व्यवहार के होने में बाधा उसी स्थिति में हो सकती थी जब अनेक वर्णों को ग्रहण करने वाले एकज्ञान का उदय ही न होता, किन्तु जब अन्तिम वर्ण के श्रवणकाल में संस्कारद्वारा पूर्व पूर्व विनष्ट वर्णों और श्रोत्रसमवायद्वारा विद्यमान अन्तिम वर्ण को ग्रहण करने वाले अनेकवर्णविषयक एकज्ञान की उपपत्ति बता दी गई तब अनेकवर्णात्मक पद में भी एकज्ञानविषत्वरूप एकत्व के ज्ञान और व्यवहार के उपपन्न होने में कोई बाधा न होने से यह स्पष्ट है कि पद में एकत्वज्ञान और एकत्वव्यवहार के अनुरोध से स्फोटात्मक पद की कल्पना सर्वथा निरर्थक है। तर्कभाषाकार ने 'सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीतिर्जन्यते' कह कर स्फोटकल्पना की इस निरर्थकता का ही संकेत किया है।

उक्त रीति से एककाल में ज्ञात होने वाले अनेक वर्णों के इच्छात्मक या इच्छाविषयतात्मक शक्ति का आश्रय होने में भी कोई बाधा नहीं हो सकती क्योंकि भिन्नकालिक विषय और विषयी के बीच विषयता सम्बन्ध सर्वमान्य है।

अर्थापत्ति

चार प्रमाणों का वर्णन किया गया। इन वर्णित प्रमाणों से भिन्न दूसरा कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि जो भी प्रमाण हो सकता है उसका अन्तर्भाव इन्हीं चारों में हो जाता है। उदाहरणार्थ अर्थापत्ति प्रमाण का उल्लेख किया जा सकता है।

मीमांसा, और वेदान्त दर्शनों में 'अर्थापत्ति' नाम का एक अतिरिक्त प्रमाण माना गया है और उसके सम्बन्ध में यह बताया गया है कि—

अर्थापत्ति शब्द भिन्न-भिन्न व्युत्पत्तियों से प्रमाण और प्रमा दोनों में प्रयुक्त होता है। 'अर्थस्य आपत्तिः यस्मात्—जिससे अर्थ की आपत्ति—यथार्थ प्रतिपत्ति हो' इस

नैतत्, रात्रिभोजनस्यानुमानविषयत्वात्। तथाहि, अयं देवदत्तो रात्रौ भुंक्ते दिवा अभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्, यस्तु न रात्रौ भुंक्ते नासौ दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनो यथा दिवा रात्रावभुञ्जानोऽपीनो, न चायं तथा, तस्मान्न तथेति केवलव्यतिरेक्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य प्रतीयमानत्वात् किमर्थमर्थापत्तिः पृथक्त्वेन कल्पनीया।

व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थापत्ति शब्द अर्थ की विजातीय प्रमा के साधनभूत अर्थापत्तिनामक प्रमाण का प्रतिपादन करता है। तथा 'अर्थस्य आपत्तिः—अर्थ की आपत्ति—विजातीय प्रमा' इस व्युत्पत्ति से अर्थापत्ति शब्द अर्थापत्तिनामक विजातीय प्रमा का प्रतिपादन करता है।

अनुपपद्यमान अर्थ के दर्शन को अर्थापत्ति प्रमाण कहा जाता है और उस अर्थ के उपपादक की कल्पना को अर्थापत्ति प्रमा कहा जाता है।

जैसे दिन में भोजन न करने वाले मनुष्य का पीनत्व—स्वास्थ्ययुक्त स्थूलता अनुपपद्यमान अर्थ है और रात का भोजन उसका उपपादक अर्थ है। क्योंकि जो मनुष्य दिन में भोजन नहीं करता वह यदि रात में भी भोजन न करेगा तो स्वस्थ और स्थूल नहीं हो सकता।

अब यदि ऐसा देखने या सुनने में आये कि देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता फिर भी वह पीन—स्वस्थ और स्थूल है तो यह अवश्य कल्पना होगी कि वह रात में भोजन करता है।

यहाँ 'दिन में भोजन न करने वाले देवदत्त का पीनत्व रात के भोजन के विना अनुपपन्न है' यह ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण है, और 'देवदत्त रात में भोजन करता है' यह कल्पना अर्थापत्ति प्रमा है।

यह प्रमा रात्रिभोजन के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष न होने की दशा में भी उत्पन्न होती है अतः इसे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। यह परामर्श—रात्रिभोजनव्याप्यहेतु में पक्षधर्मतानिश्चय के अभावदशा में भी उत्पन्न होती है अतः इसे अनुमिति नहीं कहा जा सकता। यह सादृश्यज्ञान और किसी अतिदेशवाक्य के अर्थस्मरण के अभाव में भी उत्पन्न होती है अतः इसे उपमिति नहीं कहा जा सकता। यह शब्द से रात्रिभोजन की अनुपस्थितिदशा में भी उत्पन्न होती है अतः इसे शाब्दबोध भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार देवदत्त में रात्रिभोजन की कल्पनारूप यह प्रमा अर्थापत्ति नाम की एक विजातीय प्रमा है और उस प्रमा का साधनभूत ज्ञान—दिन में भोजन न करने वाले देवदत्त का पीनत्व रात्रिभोजन के विना अनुपपन्न है—यह ज्ञान अर्थापत्ति नाम का एक अतिरिक्त प्रमाण है।

अभावः

ननु अभावाख्यमपि पृथक् प्रमाणमस्ति। तच्चाभावग्रहणायाङ्गीकरणीयम्, तथाहि घटाद्यनुपलब्ध्या घटाद्यभावो निश्चीयते, अनुपलब्धिश्चोपलब्धेरभाव इत्यभावप्रमाणेन घटाद्यभावो गृह्यते।

नैतत्, यद्यत्र घटोऽभविष्यत् तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यदित्यादितर्कसहकारिणा अनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवाभावग्रहणात्।

न्यायदर्शन में दिन में भोजन न करने पर पीन दिखाई देने वाले देवदत्त में रात्रिभोजन की कल्पना को अनुमानसाध्य बताते हुये अर्थापत्ति को प्रमाणान्तर मानने की बात का खण्डन कर दिया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि देवदत्त में रात्रिभोजन की जो कल्पना होती है वह कोई विजातीय प्रमा नहीं है अपितु वह अनुमिति है, उसमें देवदत्त पक्ष है, रात्रिभोजन साध्य है, और दिनभोजनाभावविशिष्ट पीनत्व हेतु है। 'दिन में भोजन न करने वाले मनुष्य का पीनत्व रात्रिभोजन के विना अनुपपन्न है' यह ज्ञान व्यतिरेकव्याप्ति का ज्ञान है, क्योंकि साध्याभाव में साधनाभाव की व्याप्ति ही व्यतिरेकव्याप्ति कही जाती है और वह यहाँ भी है, क्योंकि रात्रिभोजनरूप साध्य के अभाव में दिनभोजनाभावविशिष्ट पीनत्वरूप हेतु के अभाव की व्याप्ति है अतः स्पष्ट है कि जो रात में भोजन नहीं करता वह दिन में भोजन न करते हुये पीन नहीं हो सकता। तो इस प्रकार उक्त कल्पना का साधनभूत ज्ञान जब रात्रिभोजनरूप साध्य की व्यतिरेक-व्याप्ति से विशिष्ट दिनभोजनाभावविशिष्टपीनत्वरूप हेतु के परामर्शरूप में सुलभ है तब उक्त कल्पना को अनुमिति मानने में कोई बाधा न होने से अर्थापत्तिनामक अतिरिक्त प्रमा की कल्पना सर्वथा युक्तिहीन ही है।

अनेक विचारशील विद्वानों का मत है कि अभाव पदार्थ को ग्रहण करने के हेतु 'अभाव' नामक अतिरिक्त प्रमाण की कल्पना आवश्यक है। प्रमाण के रूप में स्वीकरणीय 'अभाव' का अर्थ है उपलब्धि का अभाव। किसी पदार्थ की उपलब्धि के अन्य समस्त साधनों के होते भी जब उस पदार्थ की उपलब्धि नहीं हो पाती तब उस पदार्थ के अभाव का अवधारण होता है। यह अवधारण अन्य प्रमाणों की अनुपस्थिति में पदार्थ की अनुपलब्धिमात्र से सम्पन्न होता है अतः अभाव के इस अवधारण के उपपादनार्थ अनुपलधि—उपलब्धि के अभाव को 'अभाव' नाम से एक अतिरिक्त प्रमाण मानने का औचित्य स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगता है। जैसे पर्याप्त प्रकाश में भूतल के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होने की स्थिति में यदि भूतल में घट भी विद्यमान होता है तो उसके साथ चक्षु का सन्निकर्ष होने पर घट की उपलब्धि अवश्य होती है, अतः जब

नन्विन्द्रियाणि संबद्धार्थग्राहकाणि । तथाहीन्द्रियाणि वस्तु प्राप्य प्रकाशकारीणि ज्ञानकरणत्वादालोकवत्, यद्वा चक्षुःश्रोत्रे वस्तु प्राप्य प्रकाशकारिणी बहिरिन्द्रियत्वात् त्वगादिवत्। त्वगादीनां तु प्राप्य प्रकाशकारित्वमुभयवादिसिद्धमेव, न चेन्द्रियाभावयोः सम्बन्धोऽस्ति, संयोगसमवायौ हि संबन्धौ, न च तौ तयोः स्तः, द्रव्ययोरेव संयोग इति नियमाद्, अभावस्य च द्रव्यत्वाभावात्। अयुतसिद्धत्वाभावान्न समवायोऽपि ।

कभी वैसी स्थिति में भी भूतल में घट की उपलब्धि नहीं होती तब अनायास ही यह बात बुद्धि में आती है कि घट की उपलब्धि के अन्य सभी कारणों के हेतु हुये भी घटोपलब्धि का जो अभाव हो रहा है अवश्य ही वह घटाभावमूलक है, क्योंकि भूतल में उस समय यदि घट होता तो उसके साथ भी चक्षु का सन्निकर्ष होकर भूतल के समान उसकी भी उपलब्धि अवश्य होती, यतः अन्य समस्त साधनों के होते भी इस समय भूतल में घट की उपलब्धि नहीं हो रही है अतः इस समय भूतल में घट का अभाव है। इस प्रकार घटाभाव के अस्तित्व में घट की अनुपलब्धि के रूप में अभाव नाम का एक प्रमाण सिद्ध होता है।

न्यायदर्शन इस 'अभाव' प्रमाण को अपनी मान्यता नहीं प्रदान करता। उसका कहना है कि घट की अनुपलब्धि घटाभाव को ग्रहण करने वाला कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है अपि तु वह चक्षु का सहायक है। उसकी सहायता से चक्षु ही घटाभाव को ग्रहण करता है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से ही घटाभाव का ज्ञान सम्भव होने से उसके ग्रहणार्थ अनुपलब्धि को अभावनामक अतिरिक्त प्रमाण की मान्यता प्रदान करना अनावश्यक है।

शङ्का होती है कि अभाव का ग्रहण चक्षु से नहीं हो सकता क्योंकि अभाव के साथ चक्षु का कोई सम्बन्ध नहीं होता और यह नियम है कि इन्द्रियां स्वसम्बद्ध अर्थ को ही ग्रहण करती हैं। सभी इन्द्रियां स्वसम्बद्ध अर्थ को ही ग्रहण करती हैं, यह बात इस प्रकार के अनुमान से सिद्ध होती है कि—

इन्द्रियां स्वप्राप्त–स्वसम्बद्ध वस्तु की प्रकाशिका हैं क्योंकि वे ज्ञान की जनिका हैं, जो ज्ञान का जनक होता है वह स्वसम्बद्ध वस्तु का ग्राहक होता है, जैसे आलोक–प्रकाश ज्ञान का कारण होने से स्वसम्बद्ध वस्तु का ही ग्राहक होता है।

अथवा—

चक्षु और श्रोत्र स्वप्राप्त–स्वसम्बद्ध वस्तु के प्रकाशक—ग्राहक हैं क्योंकि वे दोनों बाह्य इन्द्रिय हैं—आत्मा के बाहर की वस्तुओं को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय हैं। जो

विशेषणविशेष्यभावश्च सम्बन्ध एव न संभवति, भिन्नोभयाश्रितैकत्वात-भावात्। सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नो भवत्युभयसम्बन्ध्याश्रितश्चैकश्च यथा, भेरीदण्डयोः संयोगः। स हि भेरीदण्डाभ्यां भिन्नस्तदुभयाश्रितश्चैकश्च। न च विशेषणविशेष्यभावस्तथा। तथा हि दण्डपुरुषयोर्विशेषणविशेष्यभावो न ताभ्यां भिद्यते। न हि दण्डस्य विशेषणत्वमर्थान्तरं नापि पुरुषस्य विशेष्यत्वमर्थान्तरमपि तु स्वरूपमेव। अभावस्यापि विशेषणत्वाद् विशेष्यत्वाच्च। न चाभावे कस्यचित् पदार्थस्य द्रव्याद्यन्यतमस्य सम्भवः। तस्मादभावस्य स्वोपरक्तबुद्धिजनकत्वं यत् स्वरूपं तदेव विशेषणत्वं, न तु तदर्थान्तरम्। एवं व्याप्यव्यापकत्वकारणत्वादयो-

बाह्य इन्द्रिय होती है वह सब स्वसम्बद्ध वस्तु का ही ग्राहक होती है, जैसे त्वक् इन्द्रिय संयोग सम्बन्ध से स्वसम्बद्ध द्रव्य का, घ्राण आदि स्वसंयुक्तसमवाय सम्बन्ध से स्वसम्बद्ध गन्ध आदि का ग्राहक होती है।

त्वक् आदि इन्द्रियों की स्वसम्बद्धग्राहकता उभय वादियों को अर्थात् जो वादी चक्षु और श्रोत्र को सम्बद्धग्राहक मानते हैं तथा जो वादी उन्हें असम्बद्धग्राहक मानते हैं, उन दोनों को अभिमत है, अतः उनके दृष्टान्त से चक्षु और श्रोत्र में स्वसम्बद्ध-ग्राहकता का अनुमान कर यह सिद्धान्त स्वीकृत किया जा सकता है कि सभी इन्द्रियां स्वसम्बद्ध अर्थ को ही ग्रहण करती हैं।

अतः इस शङ्का के लिये पूरा अवसर है कि चक्षु अभाव का ग्राहक नहीं हो सकता क्योंकि अभाव के साथ चक्षु का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अभाव के साथ चक्षु का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता यह बात अभाव और चक्षु के बीच प्रसिद्ध सम्बन्धों के अभाव से सिद्ध की जा सकती है। जैसे संयोग और समवाय ये दो ही प्रसिद्ध सम्बन्ध हैं। इनमें कोई भी अभाव के साथ चक्षु का सम्बन्ध नहीं बन सकता, क्योंकि संयोग सम्बन्ध दो द्रव्यों के ही मध्य होता है, अभाव द्रव्य नहीं है अतः उसके साथ चक्षु का संयोग नहीं हो सकता।

अभाव के साथ चक्षु का समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता क्योंकि समवाय सम्बन्ध अयुतसिद्ध पदार्थों के ही मध्य होता है और अभाव तथा चक्षु अयुतसिद्ध नहीं हैं क्योंकि वे दोनों एक दूसरे के अभाव में भी अपना अस्तित्वलाभ कर लेते हैं। अतः अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, कर्म-कर्मवान्, जाति-व्यक्ति और नित्यद्रव्य तथा विशेष के समान अभाव और चक्षु के बीच समवाय सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार अभाव और चक्षु के बीच संयोग और समवाय का अभाव होने से यह सिद्ध होता है कि उनके बीच कोई सम्बन्ध नहीं है और जब उनके बीच कोई सम्बन्ध नहीं है तब चक्षु से अभाव का ग्रहण कैसे सम्भव हो सकता है?

ऽप्यूह्याः। स्वप्रतिबद्धबुद्धिजनकत्वस्वरूपमेव हि व्यापकत्वमग्न्यादीनाम्। कारणत्वमपि कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकिस्वरूपमेव हि तन्त्वादीनां, न त्वर्थान्तरम-भावस्यापि व्यापकत्वात् कारणत्वाच्च। न ह्यभावे सामान्यादिसंभवः। तदेवं विशेषणविशेष्यभावो न विशेषणविशेष्यस्वरूपाभ्यां भिन्नः। नाप्युभयाश्रितो विशेषणे विशेषणभावमात्रस्य सत्त्वाद् विशेष्यभावस्याभावाद्, विशेष्ये च विशेष्यभावमात्रस्य सद्भावात् विशेषणभावस्याभावात्। नाप्येको, विशेषणं च विशेष्यं च तयोर्भाव इति द्वन्द्वात्परः श्रूयमाणो भावशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, तथा च विशेषणभावो विशेष्यभावश्चेत्युपपन्नम्। द्वावेतावेकश्च संबन्धः। तस्माद्विशेषणविशेष्यभावो न सम्बन्धः। एवं व्याप्यव्यापकभावादयोऽपि। सम्बन्धशब्दप्रयोगस्तूभयनिरूपणीयत्वसाधर्म्येणोपचारात्। तथा चासंबद्धस्याभावस्येन्द्रियेण ग्रहणं न संभवति।

अतः इन्द्रियद्वारा अभाव का ज्ञान सम्भव न होने से तदर्थ अनुपलब्धि को अभावनामक अतिरिक्त प्रमाण के रूप में प्रमाणत्व की मान्यता प्रदान करना आवश्यक है।

यदि यह कहा जाय कि अभाव के साथ इन्द्रिय का संयोग या समवाय सम्बन्ध भले न हो पर विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध तो हो ही सकता है। क्योंकि 'भूतलं घटाभाववत्—भूतल घटाभाव से विशिष्ट है' एवं 'भूतले घटाभावः—घटाभाव भूतल से विशिष्ट है' इस प्रकार की प्रतीतियां सर्वसम्मत हैं। इनमें पहली प्रतीति में घटाभाव विशेषण तथा भूतल विशेष्य है और दूसरी प्रतीति में भूतल विशेषण तथा घटाभाव विशेष्य है। इस प्रकार इन दोनों प्रतीतियों के अनुसार घटाभाव और भूतल में विशेषणविशेष्यभाव निर्विवाद है और उसे भूतल के साथ घटाभाव का तथा भूतल-द्वारा घटाभाव के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध मानने में कोई बाधा नहीं है। फलतः 'इन्द्रिय स्वसम्बद्ध अर्थ का ही ग्राहक होती है' इस नियम के होते हुये भी इन्द्रिय से अभाव के ग्रहण में कोई अवरोध न होने से अभाव के ग्रहणार्थ अभावप्रतियोगी की अनुपलब्धि को अभावनामक एक अतिरिक्त प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त प्रतीतियों के अनुसार घटाभाव का तथा भूतलद्वारा घटाभाव के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह दो व्यक्तियों में आश्रित, आश्रयभूत दोनों व्यक्तियों से भिन्न एक व्यक्तिरूप नहीं है।

कहने का आशय यह है कि सम्बन्ध होने के लिये तीन बातों की आवश्यकता होती है—दो व्यक्तियों में आश्रित होना, आश्रयभूत दोनों व्यक्तियों से भिन्न होना और स्वयं एक होना। यह तीनों बातें जिस पदार्थ में घटित होती हैं वही सम्बन्ध कहलाने का अधिकारी होता है। जैसे भेरी—धौंसा और दण्ड का परस्पर संयोग। यह

संयोग भेरी और दण्ड इन दो व्यक्तियों में आश्रित है, दोनों से भिन्न है तथा स्वयं एक है, अतः वह भेरी और दण्ड के बीच का सम्बन्ध है। विशेषणविशेष्यभाव में यह तीनों बातें नहीं घटित होतीं, अतः उसे सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। जैसे 'दण्डी पुरुषः—पुरुष दण्ड से विशिष्ट है' इस प्रतीति में दण्ड विशेषण और पुरुष विशेष्य है अतः दोनों में विशेषणविशेष्यभाव है, किन्तु वह दण्ड और पुरुष इन दो व्यक्तियों में आश्रित, इन दोनों से भिन्न तथा स्वयं एकव्यक्तिरूप नहीं है, क्योंकि विशेषण-विशेष्यभाव का अर्थ है विशेषणता और विशेष्यता, इन दोनों में विशेषणता केवल विशेषण में ही आश्रित होती है और विशेषण से भिन्न न होकर विशेषणस्वरूप ही होती है। इसी प्रकार विशेष्यता भी केवल विशेष्य में ही आश्रित होती है और विशेष्य से भिन्न न होकर विशेष्यस्वरूप ही होती है। विशेषण और विशेष्य परस्पर भिन्न दो पदार्थ हैं अतः विशेषणस्वरूप विशेषणता और विशेष्यस्वरूप विशेष्यता भी परस्पर भिन्न दो पदार्थ हैं। इस लिये स्पष्ट है कि विशेषणविशेष्यभाव प्रातिस्विक रूप से जब एक व्यक्तिमात्र में आश्रित तथा अपने आश्रय से अभिन्न और परस्पर में भिन्न विशेषणता और विशेष्यतारूप है तब वह दो व्यक्तियों में आश्रित, दोनों से भिन्न एकव्यक्ति न होने से सम्बन्धरूप नहीं हो सकता।

जिस प्रकार दण्ड और पुरुष के बीच का विशेषणविशेष्यभाव विशेषणता और विशेष्यतारूप होने से दण्ड और पुरुष में आश्रित तथा दण्ड और पुरुष से भिन्न कोई एक पदार्थ नहीं है उसी प्रकार घटाभाव और भूतल के बीच का बिशेषणविशेष्य-भाव भी विशेषणता और विशेष्यतारूप होने से घटाभाव और भूतल में आश्रित, घटाभाव और भूतल से भिन्न कोई एक पदार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि उसे यदि घटाभाव और भूतल से भिन्न माना जायगा तब वह उनसे भिन्न होने पर भी सर्वथा नवीन तो होगा नहीं, होगा तो द्रव्य आदि छः पदार्थों में ही कोई पदार्थ, और उस स्थिति में वह अभाव में आश्रित न हो सकेगा क्योंकि द्रव्य आदि छः पदार्थों में कोई भी पदार्थ अभाव में आश्रित नहीं होता, अतः यही बात माननी होगी कि अभाव में जो स्वोपरक्त-बुद्धि—भूतल घटाभावविशिष्ट है इस बुद्धि की जनकता है वही अभावगत विशेषणता है, और वह अभाव से भिन्न नहीं है किन्तु अभावस्वरूप ही है। इसी प्रकार उक्त बुद्धि की जनकता जो भूतल में है वही भूतलगत विशेष्यता है, वह भी भूतल से भिन्न नहीं है किन्तु भूतलस्वरूप ही है। फलतः घटाभाव और भूतल के बीच का विशेषण विशेष्यभाव दो व्यक्तियों में आश्रित, आश्रयभूत दोनों व्यक्तियों से भिन्न एक व्यक्ति-रूप न होने के कारण सम्बन्ध नहीं हो सकता। तो फिर जब उसमें सामान्यसम्बन्धत्व ही सम्भव नहीं है तब उसमें भूतल के साथ अभाव का अथवा भूतलद्वारा अभाव के

साथ इन्द्रिय का सम्बन्धत्व कैसे हो सकता है ? अतः अभाव के ग्रहणार्थ अन्य प्रमाण की कल्पना अपरिहार्य है ।

जिस प्रकार विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता उसी प्रकार व्याप्यव्यापकभाव और कार्यकारणभाव आदि भी सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि अग्नि आदि में धूम आदि की जो व्यापकता है वह 'धूमादिः अग्न्यादिप्रतिबद्धः— धूम आदि अग्नि आदि का व्याप्य है' इस प्रकार की स्वप्रतिबद्धबुद्धि की अग्निनिष्ठ जनकता से भिन्न नहीं है और जनकता अपने आश्रयभूत अग्नि आदि से भिन्न नहीं है । इसी प्रकार धूम आदि में अग्नि आदि की जो व्याप्यता है वह भी 'अग्न्यादिः धूमादिप्रतिबन्धी— अग्नि आदि धूम आदि का व्यापक है' इस प्रकार की धूमादिप्रतिबन्धिता अर्थात् धूमादिव्यापकताबुद्धि की जो धूमादिनिष्ठ जनकता है, उससे भिन्न नहीं है और वह जनकता अपने आश्रयभूत धूमादि से भिन्न नहीं है । अतः धूम और अग्नि के बीच जो व्याप्यव्यापकभाव—व्याप्यता और व्यापकता है, वह धूममात्र और अग्निमात्र में आश्रित होने के कारण दो व्यक्तियों में आश्रित नहीं है । धूमस्वरूप और अग्निस्वरूप होने के कारण अपने दोनों सम्बन्धी धूम और अग्नि से भिन्न नहीं है, और परस्परभिन्न धूम और अग्नि से अभिन्न होने के कारण परस्परभिन्न होने से एकरूप नहीं है । फलतः सम्बन्ध होने के लिए अवश्य अपेक्षणीय उक्त तीनों रूपों से हीन होने के कारण व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध के रूप में स्वीकार्य नहीं हो सकता ।

इसी प्रकार कार्यकारणभाव —कार्यता और कारणता भी उभयाश्रित तथा अपने आश्रय से भिन्न एकव्यक्तिरूप नहीं है, क्योंकि कारण के अन्वय और व्यतिरेक का अनुकरण करना ही कार्यता है, जो केवल कार्य में ही आश्रित तथा कार्यस्वरूप होने से उभयाश्रित तथा आश्रयभूत सम्बन्धी से भिन्न नहीं है । कार्य से अनुकृत अन्वय और व्यतिरेक से युक्त होना ही कारणता है, वह भी केवल कारण में ही आश्रित तथा कारणस्वरूप होने से उभयाश्रित तथा आश्रयभूत सम्बन्धी से भिन्न नहीं है । अतः सम्बन्ध होने के लिए वाञ्छनीय उभयाश्रितत्व, सम्बन्धिभिन्नत्व, और एकत्व इन तीन रूपों से सम्पन्न न होने से कार्यकारणभाव—कार्यत्व और कारणत्व भी सम्बन्ध के रूप में स्वीकार्य नहीं हो सकता ।

यह कहा जा चुका कि विशेषणविशेष्यभाव विशेषण और विशेष्य के स्वरूप से भिन्न नहीं है । यह भी बताया जा चुका कि वह उभयाश्रित नहीं है । यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि वह एकव्यक्तिरूप नहीं है । इस सब का यह कारण भी बता दिया गया कि यतः विशेषणविशेष्यभाव विशेषणता तथा विशेष्यतास्वरूप है अतः विशेषण-विशेष्यरूप सम्बन्धियों से भिन्न, विशेषण-विशेष्य उभय में आश्रित एक व्यक्ति नहीं है ।

किन्तु प्रश्न यह है कि इस बात का आधार क्या है कि विशेषणविशेष्यभाव का अर्थ है विशेषणता तथा विशेष्यता। उत्तर यह है कि विशेषण-विशेष्यभाव शब्द दो समासों द्वारा निष्पन्न होता है। पहले तो 'विशेषणं च विशेष्यं च विशेषणविशेष्ये' इस प्रकार विशेषण और विशेष्य शब्द में द्वन्द्व समास होता है और उसके बाद 'तयोर्भावः' इस प्रकार उस द्वन्द्व का भावशब्द के साथ षष्ठीतत्पुरुष समास होता है। यह नियम है कि 'द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते—द्वन्द्वसमास से पूर्व वा उत्तर में सुनाई देने वाले शब्द का सम्बन्ध द्वन्द्व समास के अङ्गभूत प्रत्येक शब्द के साथ होता है'। विशेषणविशेष्यभाव शब्द में 'विशेषणविशेष्य' इस द्वन्द्व समास के उत्तर में 'भाव' शब्द सुनाई देता है, अतः अब नियमानुसार विशेषण और विशेष्य दोनो शब्दों के साथ उसका सम्बन्ध होने से 'विशेषणभाव' तथा 'विशेष्यभाव' ऐसे दो शब्द बुद्धिगत होते हैं, उनमें 'विशेषणभाव' का अर्थ हैं 'विशेषणता' और 'विशेष्य-भाव' का अर्थ है 'विशेष्यता'। इस प्रकार 'विशेषण-विशेष्यभाव' का अर्थ होता है विशेषणता और विशेष्यता। तो इस प्रकार विशेषणविशेष्यभाव जब विशेषणता एवं विशेष्यता के रूप में उभयात्मक है, और विशेषणता केवल विशेषण में ही आश्रित तथा विशेषणस्वरूप है एवं विशेष्यता केवल विशेष्य में आश्रित तथा विशेष्यस्वरूप है तब उसका विशेषण-विशेष्य से भिन्न न होना, विशेषण-विशेष्य उभय में आश्रित न होना तथा एक व्यक्तिरूप न होना युक्तिसंगत ही है और उसी कारण उसका सम्बन्ध न होना भी सर्वथा न्यायसंगत ही है।

विशेषणविशेष्यभाव के समान ही व्याप्यव्यापकभाव, कार्यकारणभाव, आधाराधेय-भाव, स्वस्वामिभाव, प्रतियोग्यनुयोगिभाव आदि का भी सम्बन्धत्व असिद्ध है।

प्रश्न होता है कि जब उक्तरीति से इन सबों में सम्बन्धत्व सिद्ध नहीं हो पाता तब किस आधार पर शास्त्रों में इन्हें सम्बन्ध शब्द से व्यवहृत किया जाता है? उत्तर है कि इनमें सम्बन्धत्व नहीं है, यह तो सत्य है, किन्तु इनमें सम्बन्ध का साधर्म्य है और वह है उभयनिरूपणीयत्व–उभय से बोधित होना। आशय यह है कि जैसे भेरी और दण्ड का संयोगसम्बन्ध भेरी और दण्ड के विना बोध्य नहीं होता किन्तु उन दोनों से ही बोध्य होता है उसी प्रकार विशेषण-विशेष्यभाव आदि विशेषण और विशेष्य आदि युगल के विना बोध्य नहीं होते किन्तु उस युगल से ही बोध्य होते हैं, अत; उभयनिरूपणी-यत्व—उभयबोध्यत्वरूप से सम्बन्ध का सधर्मा होने से वे सब सम्बन्ध न होते हुये भी उपचार—लक्षणा से सम्बन्ध कहे जाते हैं।

उपर्युक्त सन्दर्भ से यह स्पष्ट है कि अभाव के साथ इन्द्रिय का कोई सम्बन्ध न होने से अभाव इन्द्रिय से सर्वथा असम्बद्ध है और इन्द्रिय में स्वसम्बद्ध अर्थ की ही ग्राहकता

का नियम है अतः इन्द्रिय से उसका ग्रहण शक्य न होने के कारण उसके ग्रहणार्थ अभावनामक अतिरिक्त प्रमाण की कल्पना अनिवार्य है।

इस विषय में न्यायदर्शन का मन्तव्य यह है कि 'इन्द्रिय स्वसम्बद्ध ही अर्थ का ग्राहक होती है' यह नियम भाव और अभाव सभी पदार्थों के लिये नहीं है किन्तु केवल भावात्मक पदार्थों के ही लिये है, अतः इन्द्रिय से किसी भावात्मक पदार्थ का ग्रहण तभी होगा जब वह इन्द्रिय से सम्बद्ध होगा, किन्तु अभाव को ग्रहण करने के लिये उसके साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध की कोई अपेक्षा नहीं है, उसका ग्रहण तो इन्द्रियसम्बन्ध के बिना ही केवल विशेषणविशेष्यभाव के आधार पर ही इन्द्रिय द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है, अतः तदर्थ अभावनामक पृथक् प्रमाण की कल्पना अनावश्यक है।

यह कहना कि इन्द्रिय से यदि असम्बद्ध अभाव का ग्रहण माना जायगा तब किसी सन्निहित स्थान में किसी एक अभाव के ग्रहण के समय असन्निहित स्थानों में विद्यमान अन्य सभी अभावों के भी ग्रहण का अतिप्रसङ्ग होगा, ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव का ग्रहण होने के लिये अभाव में विशेषणता का होना आवश्यक है जो असन्निहित स्थानों के अभाव में सम्भव नहीं है, क्यों कि असन्निहित स्थान के अभाव सन्निहित स्थान में विद्यमान न होने के कारण सन्निहित स्थान में विशेषण नहीं हो सकते और असन्निहित स्थान के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध न होने से असन्निहित स्थान में भी विशेषण नहीं हो सकते।

मुख्य बात तो यह है कि यह अतिप्रसङ्ग दोष अभावनामक पृथक् प्रमाण के स्वीकारपक्ष में भी है क्योंकि जैसे इन्द्रिय का अभाव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं बन पाता, अतः इन्द्रिय से असम्बद्ध अभाव का ग्रहण मानने पर जैसे एक अभाव के ग्रहण के समय अन्य सभी अभावों के ग्रहण की आपत्ति होगी उसी प्रकार अभाव प्रमाण से भी असम्बद्ध अभाव का ग्रहण मानने पर एक अभाव के ग्रहण के समय अन्य सभी अभावों के ग्रहण की आपत्ति होगी।

इस प्रकार यह दोष जब दोनों पक्षों में समान है तब किसी एक ही पक्ष में इसका उद्भावन नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस दोष का जैसा परिहार एक पक्ष में किया जायगा वैसा ही परिहार दूसरे पक्ष में भी कर दिया जा सकता है, अतः सभी वादी प्रतिवादियों ने यह मान्यता स्वीकार की है कि किसी विषय के ऊपर विचार करते समय जो दोष वादी और प्रतिवादी दोनों के मत में समानरूप से सम्भावित हो उस के परिहार का दोनों पर समान दायित्व होने के कारण उसका उद्भावन किसी को न करना चाहिये।

जिस रीति से अर्थापत्ति और अभाव के पृथक् प्रमाणत्व का निराकरण किया गया है उसी रीति से ऐतिह्य, सम्भव और चेष्टा के भी पृथक् प्रमाणत्व का निराकरण कर लेना चाहिये। जैसे 'इह वृक्षे यक्षः प्रतिवसति—इस वृक्ष पर यक्ष का निवास है' इस उक्ति को ऐतिह्य कहा जाता है। यह उक्ति यदि आप्त पुरुष की हो तो इसका अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में हो सकता है और यदि अनाप्त की हो तो प्रमाण ही नहीं होगी। जिस पात्र में एक मन धान्य आता है उसमें आधा मन धान्य का रखना सम्भव है—इस सम्भावना को सम्भवप्रमाण कहा जाता है। एक मन में आधे मन की व्याप्ति होने से इसका अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में हो सकता है। दो संख्या बताने के लिये दो उँगली के संकेत को चेष्टा प्रमाण कहा जाता है, इसे भी पृथक् प्रमाण मानना उचित नहीं है क्योंकि इससे उपयुक्त शब्द का स्मरणमात्र होता है, प्रमा तो शब्द से ही उत्पन्न होती है। अतः यह निर्विवाद रूप से मान्य है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द यह चार ही प्रमाण हैं।

प्रामाण्यवाद—

अब तक प्रमाण का निरूपण किया गया। यह बताया गया कि पदार्थ का प्रमात्मक ज्ञान किन साधनों से किस प्रकार प्रादुर्भूत होता है। अब आगे यह बताना है कि प्रमाण से उत्पन्न होने वाले पदार्थज्ञान के प्रामाण्य–प्रमात्व का ज्ञान किस प्रकार होता है ? इस विषय में न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसा-वेदान्त इन आस्तिक दर्शनों में ही पर्याप्त मतभेद है। न्याय-वैशेषिक की यह मान्यता है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से अतिरिक्त जितने भी ज्ञान हैं उन सब की दो श्रेणियाँ हो सकती हैं यथार्थज्ञान और अयथार्थज्ञान। यथार्थज्ञान को कभी प्रमा शब्द से और कभी प्रमाण शब्द से तथा अयथार्थज्ञान को कभी अप्रमा शब्द से और कभी अप्रमाण शब्द से व्यवहृत किया जाता है। जब यथार्थज्ञान को प्रमा शब्द से व्यवहृत किया जाता है तब उसके असाधारण धर्म को प्रमात्व कहा जाता है और जब उसे प्रमाण शब्द से व्यवहृत किया जाता है तब उसके असाधारण धर्म को प्रामाण्य कहा जाता है। इसी प्रकार जब अयथार्थज्ञान को अप्रमा शब्द से व्यवहृत किया जाता है तब उसके असाधारण धर्म को अप्रमात्व कहा जाता है और जब उसे अप्रमाण शब्द से व्यवहृत किया जाता है तब उसके असाधारण धर्म को अप्रामाण्य कहा जाता है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों के आश्रयभूत ज्ञान को व्यवसाय कहा जाता है। प्रत्येक व्यवसाय प्रतिकूल परिस्थिति न होने पर अनुव्यवसायनामक मानसप्रत्यक्ष से गृहीत होता है। पर उसका प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य अनुव्यवसाय से गृहीत न होकर अनुमान से गृहीत होता है। जैसे सरोवर आदि स्थान में जल देखकर

प्यासा मनुष्य जब उस स्थान पर पहुँचता है और जल पीकर अपनी प्यास बुझाता है तब जल पाने के लिये किये गये अपने प्रयास की सफलता को देख वह इस प्रकार अनुमान करता है कि उसे जो जलज्ञान हुआ था वह प्रमाणभूत अर्थात् प्रमात्मक था क्योंकि उस ज्ञान के आधार पर जल प्राप्त करने के लिये जो प्रयास किया गया वह सफल हुआ अर्थात् जिसे जल समझा गया वह जल के रूप में प्राप्त भी हुआ। किन्तु जब कोई मनुष्य मरुमरीचिका—निर्जल स्थान में लहराती सूर्य किरणों में जल देखकर जल पीने की इच्छा से वहाँ जाता है किन्तु जल नहीं प्राप्त कर पाता तब वह इस प्रकार अनुमान करता है कि उसे जो जलज्ञान हुआ था वह अप्रमाणभूत अर्थात् अप्रमात्मक था क्योंकि उस ज्ञान के आधार पर जल प्राप्त करने के लिये जो प्रयास किया गया वह विफल रहा, अर्थात् जिसे जल समझा गया वह जल के रूप में नहीं प्राप्त हुआ।

इस प्रकार जल का ज्ञान चाहे प्रमात्मक हो और चाहे अमात्मक, स्वयं तो अनुव्यवसायनामक मानस प्रत्यक्ष से गृहीत होता है पर उसका प्रामाण्य—प्रमात्व अथवा अप्रामाण्य–अप्रमात्व अनुव्यवसाय से नहीं गृहीत होता, किन्तु प्रामाण्य का ग्रहण सफलप्रवृत्तिजनकत्वहेतुक अनुमान से और अप्रामाण्य का ग्रहण विफलप्रवृत्तिजनकत्वहेतुक अनुमान से होता है।

इस लिये न्यायमत के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतोग्राह्य नहीं होते किन्तु परतोग्राह्य होते हैं। अर्थात् जिन कारणों से प्रामाण्य और अप्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान का ज्ञान होता है केवल उन्हीं कारणों से प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ज्ञान नहीं होता अपि तु उनके लिये अन्य कारण की अपेक्षा होती है। जैसे बताया गया कि प्रामाण्यज्ञान के लिये सफलप्रवृत्तिजनकत्वहेतुक अनुमानरूप अन्य कारण की तथा अप्रामाण्यज्ञान के लिए विफलप्रवृत्तिजनकत्वहेतुक अनुमानरूप अन्य कारण की अपेक्षा होती है जबकि प्रामाण्य और अप्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान का ज्ञान करने के लिये उनकी कोई अपेक्षा नहीं होती क्योंकि वह तो अनुव्यवसाय से ही गृहीत हो जाता है।

न्याय की इस मान्यता का सीधा अर्थ यह है कि किसी वस्तु का ग्रहण या त्याग करने के लिए मनुष्य की जो प्रवृत्ति होती है उसके लिये उस वस्तु का ज्ञानमात्र अपेक्षित होता है न कि उस में प्रमात्व अथवा अप्रमात्व का निश्चय भी अपेक्षित होता है।

इस न्यायमत का उल्लेख न्यायमञ्जरी, कन्दली आदि ग्रन्थों में विस्तृत और विस्पष्ट रूप में प्राप्य है।

मीमांसादर्शन की यह मान्यता है कि प्रामाण्य तो स्वतोग्राह्य है किन्तु अप्रामाण्य परतोग्राह्य है। प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है इसका अर्थ यह है कि जिस कारणसामग्री से प्रामाण्य के आश्रयभूत ज्ञान का ज्ञान होता है उसी कारणसामग्री से ज्ञान के प्रामाण्य का भी ज्ञान हो जाता है, उसके लिये किसी अतिरिक्त कारण की अपेक्षा नहीं होती।

ज्ञानग्राहकसामग्री के विषय में मीमांसादर्शन की तीन मान्यतायें प्रसिद्ध हैं— एक प्रभाकर की, दूसरी कुमारिल भट्ट की और तीसरी मुरारिमिश्र की।

प्रभाकर के मतानुसार ज्ञान स्वप्रकाश होता है, ज्ञान अपने जन्मक्षण में भी अज्ञात नहीं रहता, वह ज्ञायमान ही उत्पन्न होता है, और यह बात तभी सम्भव हो सकती है जब ज्ञान की उत्पादक सामग्री को ही ज्ञान का ग्राहक माना जाय, क्यों कि यदि ज्ञान का उत्पादक और ज्ञान का ग्राहक सामग्री भिन्न भिन्न होगी तो यह आवश्यक नहीं होगा कि दोनों सामग्रियों का सन्निधान सर्वदा साथ ही हो, कभी उनके सन्निधान में कालभेद भी हो सकता है, ऐसा भी हो सकता है कि ज्ञानोत्पादक सामग्री का सन्निधान पहले हो जाय और ज्ञानग्राहक सामग्री का सन्निधान बाद में हो और जब ऐसा होगा तब ज्ञान उत्पन्न होकर भी अज्ञात रह सकता है, और उस स्थिति में ज्ञान की स्वप्रकाशता का भङ्ग हो जायगा। अतः ज्ञान के स्वप्रकाशत्व की रक्षा के लिये यह मानना आवश्यक है कि ज्ञानोत्पादक सामग्री और ज्ञानग्राहक सामग्री में कोई भेद नहीं है। इसी लिए इस मत में घटज्ञान की सामग्री का सन्निधान होने पर उत्पन्न होने वाले ज्ञान का 'अयं घटः' यह आकार नहीं होता किन्तु 'घटमहं जानामि' यह आकार होता है, क्योंकि उस ज्ञान में घट, घटज्ञान, और घटज्ञाता मनुष्य इन तीन वस्तुओं का ज्ञान होता है और इसी लिये यह मत ज्ञान को त्रिपुटीविषयक मानने वाला मत कहा जाता है,

इस प्रकार प्रभाकर के मत में ज्ञान का उत्पादक सामग्री ही ज्ञान का ग्राहक सामग्री है और ज्ञानग्राहक सामग्री ही ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्राहक होती है अतः ज्ञान के साथ ही ज्ञान का प्रामाण्य भी ज्ञात हो जाता है। इस लिये ज्ञान जब उत्पन्न होता है तब वह जैसे अपने विषयभूत घट को, अपने आप को तथा अपने आश्रयभूत ज्ञाता को विषय करता है उसी प्रकार अपने प्रामाण्य को भी विषय करता है। फलतः उसका आकार जैसे 'अयं घटः' मात्र नहीं होता उसी प्रकार उसका आकार केवल 'घटमहं जानामि' भी नहीं होता किन्तु 'घटमहं प्रमिणोमि' हो जाता है, क्योंकि उसमें घट, घटज्ञान और घटज्ञ मनुष्य के समान घटज्ञानगत प्रामाण्य का भी भान होता है।

कुमारिल भट्ट के मतानुसार ज्ञान स्वयं अतीन्द्रिय होता है, किन्तु उससे विषय के ऊपर ज्ञाततानामक एक नवीन धर्म उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्षगम्य होता है, उसी

से उसके कारणभूत ज्ञान का अनुमान होता है। इस प्रकार इस मत में ज्ञाततालिङ्गक अनुमान ज्ञान का ग्राहक होता है और उसी से ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान होता है उसके लिये किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं होती। अतः इस मत में भी प्रामाण्य का स्वतोग्राह्यत्व अर्थात् ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यत्व सुरक्षित रहता है।

मुरारिमिश्र का मत न्ययमत के अनुरूप है। न्यायमत के समान ही उनके मत में भी ज्ञान अनुव्यवसाय से ही गृहीत होता है, अन्तर केवल इतना ही है कि न्यायमत में अनुव्यवसाय से केवल ज्ञान का ही ग्रहण होता है, उसके प्रामाण्य का ग्रहण नहीं होता, किन्तु मुरारि मिश्र के मत में अनुव्यवसाय से ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है क्योंकि प्रभाकर और कुमारिल के समान उन्हें भी प्रामाण्य का ज्ञानग्राहक-सामग्रीमात्रग्राह्यत्वरूप स्वतोग्राह्यत्व मान्य है यतः उनके मत में अनुव्यवसाय ही ज्ञान का ग्राहक है अतः उसी से ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान माना जाना उचित है।

इस प्रकार प्रभाकर—गुरु, कुमारिल भट्ट और मुरारिमिश्र इन तीनों प्रसिद्ध मीमांसाचार्यों के मत में ज्ञान का प्रामाण्य स्वतो ग्राह्य है। और स्वतो ग्राह्य का अर्थ है अन्य कारण की अपेक्षा न कर केवल ज्ञानग्राहकसामग्री से ही गृहीत होना। इस लिये इन तीनों मतों में ज्ञान का जो पहला ज्ञान होता है उसी से उसका प्रमात्व अवगत हो जाता है, किन्तु ज्ञान का अप्रामाण्य तीनों ही मतों में परतो ग्राह्य है। अतः उसका ज्ञान केवल ज्ञानग्राहकसामग्री से ही नहीं सम्पन्न होता अपि तु ज्ञानाधीन प्रवृत्ति के वैफल्यज्ञान आदि अन्य कारण का सन्निधान होने पर ही सम्पन्न होता है।

प्रश्न हो सकता है कि जैसे यह माना जाता है कि प्रमाणभूत ज्ञान के प्रथम ज्ञान-काल में ही उसका प्रामाण्य स्वतः ज्ञात हो जाता है उसी प्रकार यह भी क्यों नहीं माना जाता कि अप्रमाणभूत ज्ञान के प्रथमज्ञानकाल में ही उसका अप्रामाण्य भी स्वतः ज्ञात हो जाता है, उसे परतोग्राह्य मानने का क्या कारण है?

उत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक ज्ञान के दो ही मुख्य प्रयोजन होते हैं—ज्ञात अर्थ यदि अनुकूल है तो उसे प्राप्त करने के लिये ज्ञाता की प्रवृत्ति अथवा ज्ञात अर्थ यदि प्रतिकूल है तो उसके परित्याग के लिये ज्ञाता की निवृत्ति, किन्तु ज्ञान से इन दोनों प्रयोजनों का सम्पादन तभी होता है जब उसमें अप्रामाण्य का ज्ञान नहीं होता, परन्तु जब ज्ञान को अप्रमाण समझ लिया जाता है तब उससे प्रवृत्ति या निवृत्ति का उदय नहीं होता।

ज्ञान का एक तीसरा भी प्रयोजन होता है वह है विरोधी ज्ञान का प्रतिबन्ध। जैसे भूतल में घट का ज्ञान होने पर उससे भूतल में घटाभाव के ज्ञान का प्रतिबन्ध होता

है। यह प्रयोजन भी ज्ञानद्वारा तभी सम्पन्न होता है जब उसमें अप्रामाण्य का ज्ञान नहीं होता।

अब यदि अप्रामाण्य को स्वतो ग्राह्य माना जायगा तब अप्रमाणभूत ज्ञान का उदय होते ही उसमें अप्रामाण्य भी गृहीत हो जायगा और उसका परिणाम यह होगा कि अप्रमाणभूत ज्ञान से न कभी प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का उदय हो सकेगा और न कभी उससे विरोधी ज्ञान का प्रतिबन्ध ही हो सकेगा, जब कि अप्रमाणभूत ज्ञान से भी इन प्रयोजनों का सम्पादन सर्वमान्य है।

उक्त प्रश्न के उत्तर में दूसरी बात यह कही जा सकती है कि प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य मानने में युक्ति है और अप्रामाण्य को स्वतो ग्राह्य मानने में कोई युक्ति नहीं है, अत एव प्रामाण्य को स्वतो ग्राह्य और अप्रामाण्य को परतो ग्राह्य माना जाता है; जैसे यह वस्तुस्थिति बतायी जा चुकी है कि किसी भी ज्ञान से प्रवृत्ति आदि का उदय तभी तक होता है जब तक उसमें अप्रामाण्य का ज्ञान नहीं होता, किन्तु जब उसमें अप्रामाण्य का ज्ञान हो जाता है तब उससे प्रवृत्ति आदि का उदय नहीं होता। अतः इस वस्तुस्थिति की रक्षा के लिये यह मानना आवश्यक है कि प्रवृत्ति आदि के लिये उसके कारणभूत ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय आवश्यक है। यह मान लेने पर उक्त वस्तुस्थिति की रक्षा हो जायगी क्योंकि जब किसी ज्ञान में अप्रामाण्य का ज्ञान होगा उस समय उसमें प्रामाण्य का निश्चय न हो सकेगा और उसके न होने पर प्रवृत्ति आदि के उदय की आपत्ति न होगी क्योंकि उसके उक्त निश्चय अपेक्षित है। ऐसी स्थिति में यदि प्रामाण्य को स्वतो ग्राह्य न मान कर परतो ग्राह्य माना जायगा तो जिस 'पर' से प्रामाण्य का ज्ञान सम्पन्न होता है उसका सन्निधान जब तक न होगा तब तक प्रामाण्य का निश्चय न हो सकने के कारण प्रवृत्ति आदि के कारणभूत ज्ञान का उदय होने पर भी उससे प्रवृत्ति आदि का उदय न हो सकेगा और कदाचित् यह भी संकट उपस्थित हो सकेगा कि प्रवृत्ति आदि के कारणभूत ऐसे अनेक ज्ञान हों जिनमें प्रामाण्य के ग्राहक 'पर' का सन्निधान न हो सकने से प्रामाण्य का निश्चय ही न हो और इसी लिये उनसे प्रवृत्ति आदि का उदय न होने के कारण उनका जन्म ही निरर्थक हो जाय, अतः इस संकट के परिहारार्थ प्रामाण्य को स्वतो ग्राह्य मानना उचित है क्योंकि जब वह स्वतोग्राह्य होगा तब प्रवृत्ति आदि के कारणभूत ज्ञान का उदय होने पर उस ज्ञान का ज्ञान होने के साथ ही ज्ञान का प्रामाण्य भी ज्ञात हो जायगा और इस प्रकार प्रवृत्ति आदि के कारणभूत ज्ञान में प्रामाण्यनिश्चय के सुशक होने से प्रवृत्ति आदि के उदय में कोई बाधा न होगी, फलतः उन ज्ञानों की व्यर्थजन्मता की आपत्ति न होगी।

अप्रामाण्य को स्वतोग्राह्य मानने में ऐसी कोई युक्ति नहीं है, प्रत्युत उसे स्वतोग्राह्य

मानने पर प्रवृत्ति आदि के कारणभूत ज्ञान का उदय होने पर उसमें अप्रामाण्य का स्वतः ग्रहण हो जाने से उससे प्रवृत्ति आदि की उत्पत्ति के विलोप का भय है। अतः उसे स्वतो ग्राह्य न मान कर परतो ग्राह्य मानना ही युक्तिसंगत है।

सांख्यमत में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतो ग्राह्य माना गया है। सांख्य की इस मान्यता के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि यदि प्रामाण्य और अप्रामाण्य को स्वतोग्राह्य न मानकर परतोग्राह्य माना जायगा तो उनके ग्रहण के लिये अतिरिक्त कारण की कल्पना करने में गौरव होगा और यदि स्वतोग्राह्य माना जायगा तो ज्ञान के ग्राहकों से ही उसके प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ज्ञान हो जाने से उसके निमित्त अन्य कारण की कल्पना की आवश्यकता न होने से लाघव होगा, अतः उन दोनों का स्वतोग्राह्यत्व पक्ष ही समीचीन है। यदि यह कहा जाय कि प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य मानने में तो कोई आपत्ति नहीं है पर अप्रामाण्यको स्वतोग्राह्य मानने में यह आपत्ति स्पष्ट है कि जब अप्रामाणभूत ज्ञान का उदय होगा तब अप्रामाण्य के स्वतोग्राह्य होने से तत्काल ही उसमें अप्रामाण्य का ज्ञान हो जायगा और वह अप्रामाण्य के ज्ञान से दुर्बल बन जायगा तब उससे प्रवृत्ति आदि का उदय न हो सकेगा। तो ठीक नहीं है, क्यों कि ज्ञानोत्पादक और ज्ञानग्राहक सामग्री में भेद होने से ज्ञानोत्पादक सामग्री के सन्निधानकाल में ज्ञानग्राहक सामग्री का भी सन्निधान आवश्यक नहीं है, अतः अप्रामाण्यज्ञान का उदय होते ही उस का ज्ञान और उसमें अप्रामाण्य का ज्ञान नहीं होगा किन्तु जब ज्ञानग्राहक सामग्री का सन्निधान होगा तभी उसका और उसके अप्रामाण्य का ज्ञान होगा, अतः ज्ञानग्राहक सामग्री का सन्निधान होने के पूर्व अप्रमाण भूत ज्ञान से भी प्रवृत्ति आदि के होने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

श्लोकवर्तिक सूत्र २ श्लोक ४७ में 'केचिदाहुर्द्वयं स्वतः' कह कर इस सांख्यमत का ही संकेत किया गया है।

बौद्धसम्प्रदाय में प्रामाण्य और अप्रामाण्य के स्वतोग्राह्यत्व और परतोग्राह्यत्व के सम्बन्ध में दो प्रकार की मान्यतायें प्रचलित हैं। अनेक बौद्ध विद्वान् अप्रामाण्य को स्वतः और प्रामाण्य को परतः मानते हैं। उनके अनुसार कोई भी ज्ञान तब तक अप्रमाण ही मसझा जाता है जब तक उससे प्रेरित मनुष्य ज्ञात अर्थ को प्राप्त नहीं कर लेता। ज्ञान प्रमाण तभी समझा जाता है जब वह अर्थ का प्रापक हो जाता है। इस मत का संकेत सर्वदर्शनसंग्रह में 'सौगताश्चरमं स्वतः' कह कर किया गया है। शन्तिरक्षित आदि बौद्ध विद्वानों की मान्यता इससे विपरीत है, वे अभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य और

इदमिदानीं निरूप्यते। जलादिज्ञाने जाते तस्य प्रामाण्यमवधार्य कश्चिज्जलादौ प्रवर्तते। कश्चित्तु सन्देहादेव प्रवृत्तः प्रवृत्त्युत्तरकाले जलादिप्रतिलम्भे सति प्रामाण्यमवधारयतीति वस्तुगतिः।

अत्र कश्चिदाह—'प्रागेव प्रवृत्तेः प्रामाण्यमवधार्य पुरुषः प्रवर्त्तते, स्वत एव प्रामाण्यावधारणात्'। अस्यार्थः—येनैव यज् ज्ञानं गृह्यते तेनैव तद्गतं प्रामाण्यमपि, न तु ज्ञानग्राहकादन्यज् ज्ञानधर्मस्य प्रामाण्यस्य ग्राहकम्। तेन ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य। ज्ञानं च प्रवृत्तेः पूर्वमेव गृहीतम्।

अप्रामाण्य दोनों को स्वतः और अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में दोनों को परतः मानते हैं। 'तत्त्वसंग्रह' में इस मत का अनियम पक्ष के रूप में वर्णन किया गया है।

जैनमत में प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों को उत्पत्ति में परतः और ज्ञप्ति में स्वतः माना गया है। उस मत के अनुसार प्रमाणभूत ज्ञान और अप्रमाणभूत ज्ञान दोनों की उत्पत्ति के लिये ज्ञानसामान्य के कारण से अतिरिक्त कारण की अपेक्षा होती है अतः उत्पत्ति में दोनों परतः हैं—परापेक्ष हैं। यदि दोनों ज्ञानों को उत्पत्ति में परापेक्ष न माना जायगा तो दोनों में ज्ञानसामान्य के कारणों की ही अपेक्षा होने से दोनों में प्रामाण्य-अप्रामाण्यकृत वैलक्षण्य न हो सकेगा अतः दोनों उत्पत्ति में परतः हैं। किन्तु उसके ज्ञान में ज्ञानसामान्य के ग्राहक कारणों से अतिरिक्त कारण की अपेक्षा नहीं होती अतः ज्ञप्ति में दोनो स्वतः हैं—परानपेक्ष हैं। इस मत का निर्देश 'परीक्षामुख' में 'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च' कह कर किया गया है।

इस प्रकार प्रामाण्य और अप्रामाण्य के स्वतस्त्व और परतस्त्व के विषय में वैदिक-अवैदिक दोनो दर्शनों में विभिन्न प्रकार की मान्यतायें दृष्टिगत होती हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'तर्कभाषा' में प्रामाण्य के सम्बन्ध मे एक मात्र कुमारिल की ही मान्यता की आलोचना की गई है जिसके उपक्रम की भूमिका 'इदमिदानीं निरूप्यते' इत्यादि मूल ग्रन्थ से इस प्रकार उपन्यस्त की गई है—

अब प्रामाण्य का निरूपण किया जायगा। न्यायमतानुसार वस्तुस्थिति यह है कि कोई मनुष्य तो जल आदि के ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय होने पर उसके ग्रहण या त्याग आदि के लिये प्रयत्नशील होता है और कोई मनुष्य जल आदि के ज्ञान में प्रामाण्य के सन्देह की दशा में भी उसके ग्रहण आदि के निमित्त प्रयत्नशील होता है, उसके ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय तो तब होता है जब जल आदि का लाभ होने पर उस ज्ञान के आधार पर किया गया उसका प्रयत्न सफल हो जाता है।

कथमन्यथा प्रामाण्याप्रामाण्यसन्देहोऽपि स्यात्। अनधिगते धर्मिणि सन्देहानुदयात्। तस्मात् प्रवृत्तेः पूर्वमेव ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञाने गृहीते ज्ञानगतं प्रामाण्यमप्यर्थापत्त्यैव गृह्यते, ततः पुरुषः प्रवर्तते, न तु प्रथमं ज्ञानमात्रं गृह्यते, ततः प्रवृत्त्युत्तरकाले फलदर्शनेन ज्ञानस्य प्रामाण्यमवधार्यते।

इसके विपरीत मीमांसक का कथन यह है कि ज्ञान में प्रामाण्य का अवधारण सदैव प्रवृत्ति के पूर्व ही होता है। इसका आशय यह है कि जिस साधन से जो ज्ञान ज्ञात होता है उसी साधन से उस ज्ञान का प्रामाण्य भी ज्ञात होता है, ज्ञान के प्रामाण्य का ग्राहक ज्ञान के ग्राहक से भिन्न नहीं होता। प्रामाण्य के ज्ञान में ज्ञानग्राहक से अतिरिक्त ज्ञान की अपेक्षा न होना ही प्रामाण्य का स्वतस्त्व—स्वतोग्राह्यत्व है। ज्ञान प्रवृत्ति के पूर्व ही ज्ञात होता है, अन्यथा प्रवृत्ति के पूर्व जो कभी उसमें प्रामाण्य का सन्देह होता है, वह भी कैसे होगा? क्यों कि अज्ञात धर्मी में सन्देह का उदय नहीं होता, इस लिये यही मानना उचित है कि ज्ञातता की अन्यथा अनुपपत्ति से उत्पन्न होने वाली अर्थापत्ति से प्रवृत्ति के पूर्व ही ज्ञान का ज्ञान होता है और उसी समय उस अर्थापत्ति से ही ज्ञान के प्रामाण्य का भी अवधारण हो जाता है। फिर उसके बाद ज्ञाता पुरुष अपने ज्ञान के विषयभूत पदार्थ के ग्रहण अथवा त्याग के लिये प्रवृत्त होता है। मीमांसक के अनुसार ज्ञान गत प्रामाण्य के अवधारण और ज्ञानाधीन पुरुषप्रवृत्ति का सर्वदा यही क्रम है, यह क्रम कभी नहीं है कि पहले पदार्थ का ज्ञानमात्र ही होता है, उसी से ज्ञात अर्थ के विषय में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है और जब ज्ञात अर्थ का लाभरूप कार्य सम्पन्न हो जाता है तब प्रवृत्ति के कारणभूत ज्ञान में प्रामाण्य का अवधारण होता है।

ज्ञातता की अन्यथा अनुपपत्ति से उत्पन्न होने वाली अर्थापत्ति से ज्ञान और उसके प्रामाण्य का ज्ञान होता है—यह मत सभी मीमांसकों का नहीं है किन्तु यह कुमारिल भट्ट और उनके अनुयायी विद्वानों का ही मत है। इसका अभिप्राय यह है कि जब किसी मनुष्य को घट आदि किसी वस्तु का ज्ञान होता है तब उसे सीधे अपने उस ज्ञान के होने का पता नहीं लगता किन्तु पहले घट आदि में उसे ज्ञातता नाम के एक नये धर्म का दर्शन होता है जिसे वह 'मया घटो ज्ञातः—मुझे घट ज्ञात हो गया है' यह कह कर प्रकट करता है। बाद में उसके कारणरूप में ज्ञान का अवगम होता है। इसका क्रम यह है कि जब मनुष्य को ज्ञातता का दर्शन हो जाता है तब वह विचार करता है कि घट आदि में जो ज्ञातता उसे दिख रही है वह किसी आगन्तुक कारण के बिना नहीं उत्पन्न हो सकती, क्योंकि यदि उसे घट आदि का सहज धर्म या अकारणजात धर्म माना जायगा तो घट आदि में उसके सदैव दृष्टिगोचर होने की आपत्ति होगी। यतः

घट आदि में वह सदैव दृष्टिगोचर नहीं होती अतः यही मानना उचित है कि वह घट आदि का सहज या अकारणजात धर्म नहीं है किन्तु किसी आगन्तुक कारण से वह उसमें उत्पन्न हुई है। उक्त रीति से किसी आगन्तुक कारण के विना ज्ञातता की अनुपपत्ति के परिहारार्थ उसके कारणरूप में जिस अर्थ की आपत्ति अर्थात् जिस अर्थ की सिद्धि होती है उसी का नाम है ज्ञान।

संक्षेप में निष्कर्ष यह हुआ कि किसी वस्तु का ज्ञान होने पर उसके सम्बन्ध में सद्यः मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु पहले उस वस्तु में ज्ञातता की प्रतीति होती है, फिर उक्त क्रम से ज्ञातता की अन्यथा अनुपपत्ति से ज्ञान का अर्थापत्तिरूप अथवा अनुमितिरूप ज्ञान होता है। यह ज्ञान ज्ञातता के कारणभूत ज्ञान के प्रामाण्य को भी विषय करता है। इसी ज्ञान से वस्तु के ग्रहण अथवा त्याग के लिये मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार सदैव यह बात होती है कि किसी वस्तु का ज्ञान होने पर उस वस्तु के विषय में प्रवृत्ति होने के पूर्व ही उस वस्तु के ज्ञान में प्रामाण्य का अवधारण हो जाता है।

मीमांसकवर्य कुमारिल की इस मान्यता के विरुद्ध नैयायिक का कथन यह है कि पहले तो उसे यही नहीं मान्य है कि ज्ञान का ज्ञान ज्ञातता की अन्यथाऽनुपपत्ति से होने वाली अर्थापत्ति से होता है, फिर उस अर्थापत्ति से ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान होना तो बहुत दूर की बात है।

इस सन्दर्भ में नैयायिक यह सोचता है कि इस विषय में कुमारिल का अभिमत तो यही हो सकता है न, कि जब किसी मनुष्य को घट आदि विषय का ज्ञान होता है तब उसे 'मया ज्ञातोऽयं घटः—मुझे यह घट ज्ञात हो गया' इस प्रकार घट की ज्ञातता का अनुभव होता है। फिर उस अनुभव के आधार पर उसे यह अनुमान होता है कि घट का ज्ञान होने पर उस ज्ञान से घट के ऊपर ज्ञाततानामक कोई नया धर्म उत्पन्न हुआ है, क्योंकि वह धर्म घटज्ञान का जन्म होने के पूर्व घट में नहीं था किन्तु घटज्ञान का जन्म होने के बाद घट में प्रादुर्भूत हुआ है। घटज्ञान के साथ घटनिष्ठ ज्ञातता के इस अन्वयव्यतिरेक से यह निश्चय होता है कि घट में ज्ञाततानामक नवीन धर्म का जन्म घटज्ञान से ही होता है। क्योंकि कार्य का यह स्वभाव है कि कारण के अभाव में उसका उदय नहीं हुआ करता। अतः ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता का जन्म ज्ञान के विना उपपन्न नहीं हो सकता, इस अर्थापत्ति के द्वारा ज्ञातता से उसके उत्पादक ज्ञान की सिद्धि होती है।

नैयायिक कुमारिल के इस अभिमत को युक्तिसंगत नहीं मानते। उनका कथन यह है कि ज्ञानविषयता से अतिरिक्त ज्ञाततानामक कोई धर्म ही प्रमाणिक नहीं

ननु ज्ञानजनितज्ञाततताधारत्वमेव हि घटादेर्ज्ञानविषयत्वम्। तथाहि न तावत् तादात्म्येन विषयता, विषयविषयिणोर्घटज्ञानयोस्तादात्म्यानभ्युपगमात्। तदुत्पत्त्या तु विषयत्वे इन्द्रियादेरपि विषयत्वापत्तिः, इन्द्रियादेरपि तस्य ज्ञानस्योत्पत्तेः। तेनेदमनुमीयते—ज्ञानेन घटे किञ्चिज्जनितं येन घट एव तस्य ज्ञानस्य विषयो नाऽन्य इत्यतो विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्यैव ज्ञाततासिद्धिः, न तु प्रत्यक्षमात्रेण।

है। अतः उससे अर्थापत्तिद्वारा ज्ञान को सिद्ध करने का मनोरथ नितान्त निराधार है। कहने का तात्पर्य यह है कि घटज्ञान का जन्म होने पर 'मया घटोऽयं ज्ञातः' इस रूप से घट में जो ज्ञातता अवगत होती है वह कोई नूतन धर्म नहीं है अपि तु वह ज्ञानविषयतारूप है। 'मुझे घट ज्ञात हो गया' इस कथन का यही अर्थ है कि घट मेरे ज्ञान का विषय बन गया। फिर जब ज्ञानविषयता से अतिरिक्त ज्ञातता नाम का कोई धर्म ही नहीं है तब उसके कारणरूप ज्ञान की कल्पना कैसे की जा सकती है ? यदि यह कहा जाय कि ज्ञाततानामक अतिरिक्त धर्म यदि नहीं है तो न सही, ज्ञानविषयता तो है फिर उसी के कारणरूप में ज्ञान की कल्पना होगी, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानविषयता ज्ञान के विषयभूत वस्तु से अतिरिक्त नहीं होती और वह वस्तु ज्ञान का जन्म होने के पहले से ही रहती है अतः उसके कारणरूप में ज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती।

ज्ञानविषयता से अतिरिक्त ज्ञाततानामक किसी धर्म का अस्तित्व प्रामाणिक नहीं है, अतः उसकी अन्यथानुपपत्ति से ज्ञान की अर्थापत्ति या अनुमिति का उदय नही माना जा सकता, नैयायिकों के इस कथन पर कुमारिल की ओर से यह कहा जाता है कि यदि ज्ञानद्वारा विषय के ऊपर ज्ञाततानामक धर्म की उत्पत्ति न मानी जायगी तो 'कौन पदार्थ किस ज्ञान का विषय हो' इस बात की व्यवस्था न हो सकेगी। किन्तु जब ज्ञानविषयता से भिन्न ज्ञातता का अस्तित्व माना जायगा तब यह कहा जा सकेगा कि जिस ज्ञान से जिस पदार्थ के ऊपर ज्ञातता का जन्म होता है वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय होता है। इस प्रकार ज्ञातता से ज्ञानविषयता का नियमन शक्य होने के कारण ज्ञानविषयता के नियमनार्थ ज्ञातता की कल्पना में कोई बाधा नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि ज्ञान से भिन्न विषय का अस्तित्व नहीं होता किन्तु ज्ञान और विषय में तादात्म्य होता है, जो ज्ञान जिस पदार्थ के साथ ही ज्ञात होता है उस पदार्थ में उस ज्ञान का तादात्म्य होता है और जिस पदार्थ में जिस ज्ञान का तादात्म्य होता है वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय होता है। घटज्ञान घट के साथ ही ज्ञात होता है, पट

के साथ नहीं ज्ञात होता, अतः घट में ही घटज्ञान का तादात्म्य होता है, पट में नहीं होता और इसीलिये घट ही घटज्ञान का विषय होता है पट नही होता। इस प्रकार ज्ञान के तादात्म्य से ज्ञानविषयता का नियमन हो सकने के कारण ज्ञानविषयता के नियमनार्थ ज्ञाततानामक धर्म की कल्पना असंगत है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि घटादिरूप विषय बाह्य पदार्थ है और उसका ज्ञानरूप विषयी आन्तर पदार्थ है, बाह्य औ आन्तर पदार्थ में तादात्म्य सम्भव नहीं है अतः ज्ञानतादात्म्य के द्वारा ज्ञानविषयता की व्यवस्था नहीं की जा सकती।

यदि यह कह जाय कि ज्ञान की उत्पत्ति से ज्ञानविषयता का नियमन हो सकता है अर्थात् यह नियम माना जा सकता है कि जो ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होता है वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय होता है, घटज्ञान घट से उत्पन्न होता है, पट से नहीं उत्पन्न होता, अतः घट ही घटज्ञान का विषय हो सकता है, पट नहीं हो सकता। इस प्रकार तत्तद् ज्ञान के उत्पादकत्व से तत्तद् ज्ञान के विषयत्व का नियमन हो सकने के कारण ज्ञानविषयता के नियमनार्थ ज्ञातता की कल्पना असगत है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि यह नियम माना जायगा कि जो पदार्थ जिस ज्ञान का उत्पादक होता है वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय होता है तो घट के चक्षुषज्ञान का उत्पादक होने से जैसे घट उस ज्ञान का विषय होता है उसी प्रकार चक्षु और आलोक को भी उस ज्ञान का विषय होना चाहिये क्योंकि चक्षु और आलोक भी उस ज्ञान के उत्पादक हैं, किन्तु चक्षु और आलोक उस ज्ञान के विषय नहीं होते अतः तत्तद् ज्ञान के उत्पादकत्व को तत्तद् ज्ञान के विषयत्व का नियामक नहीं माना जा सकता।

यदि यह कहा जाय कि ज्ञान स्वभावतः निराकार होता है, फिर भी अर्थ के आकार से आकारवान् माना जाता है और इसीलिये वह कभी घटाकार, कभी पटाकार और कभी मठाकार आदि विभिन्न आकारों में अवगत एवं व्यवहृत होता है, इसके आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि जो ज्ञान जिस पदार्थ के आकार से आकारवान् होता है, वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय होता है, घटज्ञान घट के आकार आकारवान् होता है, पट के आकार से आकारवान् नहीं होता अतः घट ही घटज्ञान का विषय होता है, पट घटज्ञान का विषय नहीं होता। इस प्रकार तत्तद् ज्ञान के आकार से तत्तद् ज्ञान के विषयत्व का नियमन हो सकने से ज्ञानविषयता के नियमनार्थ ज्ञातता की कल्पना अनावश्यक है, तो यह भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि तत्तद् ज्ञान में तत्तद् अर्थ विषयकत्व से अतिरिक्त तत्तद् अर्थाकारत्व असिद्ध है, अतः आकार से विषयता का नियमन अशक्य है।

इस स्थिति में कुमारिल का कथन यह है कि ज्ञानविषयता का कोई अन्य नियामक सिद्ध न होने के कारण यह अनुमान किया जाता है कि घट आदि पदार्थों के ज्ञान से

एवं चेदप्रामाण्येऽपि शक्यमिदं वक्तुं केनचिज् ज्ञातताविशेषेणाप्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानाप्रामाण्ये सहैव गृह्येते इत्यप्रामाण्यमपि स्वत एव गृह्यताम्। अथैवमप्यप्रामाण्यं परतस्तर्हि प्रामाण्यमपि परत एव गृह्यताम्। ज्ञानग्राहकादन्यत इत्यर्थः।

के सन्दर्भ में नैयायिकों का एक यह भी कथन है कि ज्ञातता की सिद्धि में ऊपर बताये गये बाधकों के रहते भी कुमारिल के आदरार्थ यदि उसका अस्तित्व मानकर उसे ज्ञान का ग्राहक मान भी लिया जाय तब भी ज्ञानगत प्रामाण्य के स्वतःग्रहण का समर्थन नहीं हो सकता, क्यों कि प्रामाण्य के स्वतःग्रहण का अर्थ है ज्ञानग्राहक सामग्री से ही प्रामाण्य का ग्रहण होना, और यह तभी सम्भव हो सकता है जब प्रामाण्य का ज्ञान केवल उसी साधन से हो जिससे ज्ञान का ज्ञान सम्पन्न होता है। किन्तु ऐसा होता नहीं, होता यह है कि ज्ञान का ज्ञान तो सामान्य ज्ञातता से होता है पर प्रामाण्य का ज्ञान सामान्य ज्ञातता से न होकर विशेष ज्ञातता से होता है। जैसे ज्ञान प्रमाणभूतज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता से भी ज्ञात होता है और अप्रमाणभूत ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता से भी ज्ञात होता है परन्तु प्रामाण्य केवल प्रमाणभूत ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता से ही ज्ञात होता है क्यों कि प्रमाणभूत-ज्ञान की अव्यभिचारिणी होने से वही प्रामाण्यज्ञान का सम्पादन कर सकती है।

इस प्रकार प्रामाण्यग्राहक सामग्री में ज्ञानग्राहक सामग्री का भेद जब इतना स्पष्ट है तब 'ज्ञानग्राहक सामग्री से ही प्रामाण्य का ग्रहण होता है' इस अर्थ में प्रामाण्य के स्वतःग्रहण का समर्थन कैसे हो सकता है?

यदि यह कहा जाय कि अप्रमाणभूत ज्ञान से उत्पन्न होने वाली अप्रमाणभूत ज्ञान की ग्राहक ज्ञातता प्रमाणभूतज्ञान की व्यभिचारिणी होने से प्रामाण्यज्ञान का सम्पादन यदि नहीं कर सकती, तो न करे, पर प्रमाणभूत ज्ञान से उत्पन्न होने वाली प्रमाणभूत ज्ञान की ग्राहक ज्ञातता तो प्रमाणभूत ज्ञान की अव्यभिचारिणी होने से प्रामाण्यज्ञान का सम्पादन कर ही सकती है, अतः 'प्रमाणभूत ज्ञान की ग्राहक सामग्री से ही उस ज्ञान का और उसके प्रामाण्य का साथ ही ग्रहण होता है, उसके प्रामाण्य को ग्रहण करने के लिये अन्य सामग्री की अपेक्षा नहीं होती' इस अर्थ में प्रामाण्य के स्वतःग्रहण का समर्थन किया जा सकता है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस रीति से यदि प्रामाण्य के स्वतःग्रहण का समर्थन किया जायगा तब इस रीति से तो अप्रामाण्य के भी स्वतःग्रहण का समर्थन किया जा सकता है और कहा जा सकता है कि प्रमाणभूत ज्ञान से उत्पन्न होने वाली प्रमाणभूत ज्ञान की ग्राहक ज्ञातता अप्रमाणभूत ज्ञान की व्यभिचारिणी होने से अप्रामाण्यज्ञान का सम्पादन यदि नहीं कर सकती, तो न करे, पर अप्रमाणभूत

ज्ञानं हि मानसप्रत्यक्षेणैव गृह्यते, प्रामाण्यं पुनरनुमानेन, तथाहि—जलज्ञानानन्तरं जलार्थिनः प्रवृत्तिर्द्वेधा फलवती अफला चेति। तत्र या फलवती प्रवृत्तिः सा समर्था, तया तज्ज्ञानस्य याथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यमनुमीयते। प्रयोगश्च विवादाध्यासितं जलज्ञानं प्रमाणं, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वाद्, यन्न प्रमाणं न तत् समर्थ

ज्ञान की ग्राहक ज्ञातता अप्रमाणभूत ज्ञान की अव्यभिचारिणी होने से अप्रामाण्यज्ञान का सम्पादन तो कर ही सकती है, अतः 'अप्रमाणभूत ज्ञान की ग्राहक सामग्री से उस ज्ञान का और उसके अप्रामाण्य का साथ ही ज्ञान होता है, अप्रामाण्य के ज्ञान के लिये अन्य सामग्री की अपेक्षा नहीं होती' इस अर्थ में अप्रामाण्य स्वतोग्राह्य है।

प्रामाण्य के स्वतोग्राह्यत्व की इस प्रतिबन्दी पर यदि यह कहा जाय कि यह ठीक है कि अप्रमाणभूत ज्ञान से उत्पन्न होने वाली विशेष ज्ञातता से अप्रमाणभूत ज्ञान और उसके अप्रामाण्य का एक साथ ज्ञान होना सम्भव है पर स्थिति यह है कि जैसे अप्रमाणभूत ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता ज्ञान का ग्राहक है उसी प्रकार प्रमाणभूत ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता भी तो ज्ञान का ग्राहक है, किन्तु उससे अप्रामाण्य का ज्ञान होना सम्भव नहीं है, अतः ज्ञानसामान्य के ग्राहक सामग्री से अप्रामाण्य का ज्ञान न हो सकने के कारण उसका स्वतःग्रहण न मान कर परतः ग्रहण मानना उचित है, तो यह ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि इस रीति से विचार करने पर तो अप्रामाण्य के समान प्रामाण्य भी स्वतोग्राह्य न होकर परतोग्राह्य हो जायगा क्योंकि अप्रमाणभूत ज्ञान से उत्पन्न होने वाली अप्रमाणभूत ज्ञान की ग्राहक ज्ञातता से उसका भी ज्ञान नहीं होता अतः वह भी ज्ञानसामान्य के ग्राहक सामग्री से ग्राह्य न होकर अन्य सामग्री से ही ग्राह्य होता है।

ऊपर की गई सारी चर्चा की आलोचना करने से निष्कर्ष यह निकलता है कि अप्रामाण्य और प्रामाण्य दोनों में कोई स्वतोग्राह्य नहीं है, किन्तु दोनों ही परतोग्राह्य हैं और यही उचित भी है क्योंकि इनमें यदि कोई भी स्वतोग्राह्य होगा तो ज्ञान का ज्ञान होने के साथ उसका निश्चय अवश्य हो जायगा और उस स्थिति में ज्ञान में प्रामाण्य-अप्रामाण्य का सन्देह कदापि न हो सकेगा जबकि वह सन्देह अनेक बार अनुभवसिद्ध है।

ज्ञान का ज्ञान तो मानस प्रत्यक्ष से ही होता है किन्तु उसके प्रामाण्य का ज्ञान अनुमान से होता है। जिसे इस प्रकार समझा जा सकता है।

जल का ज्ञान होने के बाद जलेच्छु मनुष्य की प्रवृत्ति होती है, वह प्रवृत्ति कभी सफल होती है और कभी विफल होती है, सफल प्रवृत्ति को समर्थ प्रवृत्ति कहा जाता

प्रवृत्तिं जनयति, यथा प्रमाणाभास इति केवलव्यतिरेकी। अत्र च फलवत्प्रवृत्ति-जनकं यज्जलज्ञानं तत् पक्षः, तस्य प्रामाण्यं साध्यं यथार्थत्वमित्यर्थः। न तु प्रमाकरणत्वं, स्मृत्या व्यभिचारापत्तेः। हेतुस्तु समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं फलवत्प्रवृत्ति-जनकत्वमिति यावत्। अनेन तु केवलव्यतिरेक्यनुमानेनाभ्यासदशापन्नस्य ज्ञानस्य प्रामाण्येऽवबोधिते तद्दृष्टान्तेन जलप्रवृत्तेः पूर्वमपि तज्जातीयत्वेन लिङ्गेनान्वयव्यतिरेक्यनुमानेनाऽन्यस्य ज्ञानस्यानभ्यासदशापन्नस्य प्रामाण्यमनुमीयते। तस्मात् परत एव प्रामाण्यं, न ज्ञानग्राहकेणैव गृह्यत इति।

चत्वार्येव प्रमाणानि युक्तिलेशोक्तिपूर्वकम्।
केशवो बालबोधाय यथाशास्त्रमवर्णयत्॥

इति प्रमाणपदार्थः समाप्तः।

है, उस प्रवृत्ति से उसके कारणभूत ज्ञान में याथार्थ्य–प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है, अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है—

विवादाध्यासित जलज्ञान प्रमाण है, क्योंकि वह समर्थ प्रवृत्ति का जनक है, जो प्रमाण नहीं होता वह समर्थ प्रवृत्ति का जनक नहीं होता, जैसे प्रमाणाभास–मरुमरीचि-में जलज्ञान आदि।

यह एक केवलव्यतिरेकी अनुमान है क्योंकि यह समर्थप्रवृत्तिजनकत्वरूप हेतु में प्रामाण्यरूप साध्य की अन्वयव्याप्ति-द्वारा प्रादुर्भूत नहीं होता किन्तु केवल उनकी व्यतिरेकव्याप्ति-द्वारा प्रादुर्भूत होता है। इसमें विवादाध्यासित जलज्ञान का अर्थ है वह जलज्ञान जिसमें प्रामाण्य और अप्रामाण्य का विवाद—संशय हो। प्रमाण का अर्थ है प्रमात्मक। समर्थप्रवृत्तिजनकत्व का अर्थ है सफल प्रवृत्ति का उत्पादकत्व।

जो जलज्ञान सफलप्रवृत्ति का जनक है वही इस अनुमान में पक्ष है। इस अनुमान से जिस प्रामाण्य का साधन करना है वह याथार्थ्यरूप है, प्रमाकरणत्वरूप नहीं है क्यों कि यदि प्रमाकरणत्वरूप प्रामाण्य को साध्य बनाया जायगा तो स्मरण में सफलप्रवृत्तिजनकत्वरूप हेतु उस साध्य का व्यभिचारी हो जायगा और उसके फल-स्वरूप उक्त अनुमान का उदय न हो सकेगा। समर्थप्रवृत्तिजनकत्व इस अनुमान में हेतु है, उसका अर्थ है—सफलप्रवृत्ति का उत्पादक होना।

इस केवलव्यतिरेकी अनुमान से अभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य का अवबोध हो जाने पर उसी दृष्टान्त से तज्जातीयत्वहेतुक अन्वयव्यतिरेकी अनुमान से अन-भ्यासदशापन्न ज्ञान में भी प्रामाण्य का अवगम होता है और वह जल-प्रवृत्ति के पूर्व भी हो जाता है। इस प्रकार प्रामाण्य का अवगम सदैव परतः ही होता है स्वतः

कभी नहीं होता, क्योंकि वह कभी भी केवल ज्ञानग्राहक से ही सम्पन्न नहीं होता किन्तु उसके लिये उक्त प्रकार के अनुमान की अपेक्षा सदैव होती है।

इस प्रसङ्ग में अभी दो प्रकार के ज्ञान की चर्चा की गई, एक अभ्यासदशापन्न ज्ञान और दूसरा अनभ्यासदशापन्न ज्ञान। इनमें पहली श्रेणी में वह ज्ञान आता है जो अपने विषयभूत अर्थ में ज्ञाता की प्रवृत्ति का सम्पादन कर चुका होता है और इसी लिये जिसमें सफलप्रवृत्तिजनकत्वरूप हेतु सुज्ञात हो सकता है। इस ज्ञान को अभ्यासदशापन्न कहने का कारण यह है कि इसके पूर्व ऐसा कोई ज्ञान नहीं उत्पन्न रहता जिसमें सफलप्रवृत्तिजनकत्व के गृहीत हो चुकने के कारण उसके सजातीयत्व का ज्ञान इस ज्ञान में हो सके। अतः यह अभी अपने ढंग का अकेला होने से अभ्यासदशा में रहता है। अनभ्यासदशापन्न उस ज्ञान को कहा जाता है जो अभ्यास-दशा को पार कर चुकता है, जो अपने ढंग के अन्य ज्ञानों के अनन्तर प्रादुर्भूत होता है, जिसके पूर्ववर्ती ज्ञानों में सफलप्रवृत्तिजनकत्व का ज्ञान सम्पन्न हो चुका होता है, और इसीलिये जिसमें पूर्ववर्ती सफलप्रवृत्ति के जनक ज्ञान के सजातीयत्व मात्र से ही प्रामाण्य की अवगति सुशक हो जाती है, उसके लिये प्रवृत्ति के साफल्य-वैफल्यकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती।

इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि जिस ज्ञान के पूर्व उस प्रकार के अन्य किसी ज्ञान से सफल-प्रवृत्ति का होना अवगत नहीं रहता उसमें प्रामाण्य का अवधारण तबतक नहीं हो सकता जब तक उस से प्रवृत्ति का उदय होकर उसकी सफलता नहीं ज्ञात हो जाती, किन्तु जिस ज्ञान के पूर्व उस प्रकार के अन्यज्ञान से सफलप्रवृत्ति का होना विदित रहता है उस ज्ञान में प्रामाण्य का अवधारण करने में विलम्ब नहीं होता क्यों कि उस प्रकार के पूर्ववर्ती ज्ञान में प्रामाण्य के अवधारित रहने से उसके सजातीयत्वमात्र से ही उसके प्रामाण्य का अवधारण हो जाता है। अतः अभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य का अवधारण होने के पूर्व ही उस ज्ञान के विषयभूत अर्थ के सम्बन्ध में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है किन्तु अनभ्यासदशापन्न ज्ञान से प्रामाण्य का अवधारण होंने के बाद प्रवृत्ति होतीं है क्यों कि उसमें प्रामाण्य का अवधारण सुलभ रहता है। पर यह बात स्पष्ट रूप से ध्यान में रखनी है कि न्यायमत में प्रवृत्ति के पूर्व ज्ञान में प्रामाण्य के अवधारण की अनिवार्य अपेक्षा कभी नहीं मानी जाती। प्रवृत्ति तो ज्ञानमात्र से ही, यदि उसमें अप्रामाण्य ज्ञात न हो, सम्पन्न होती है। इसीलिये न्यायमत में प्रामाण्य को स्वतोग्राह्य मानने की बाध्यता नहीं होती।

प्रमाणों का वर्णन किया गया, अब आगे प्रमेयों का वर्णन करना है। प्रमेय का साधारण अर्थ है प्रमा—यथार्थज्ञान का विषय, किन्तु इस प्रकरण में प्रमेय का उतना

प्रमेयप्रकरणम्

प्रमाणान्युक्तानि, अथ प्रमेयाण्युच्यन्ते ।

आत्म-शरीर-इन्द्रिय-अर्थ-बुद्धि-मनः-प्रवृत्ति-दोष-प्रेत्यभाव-फल-दुःख-अपवर्गास्तु प्रमेयम् । (गौ० न्या० १।१।९)

इति सूत्रम्

तत्रात्मत्वसामान्यवान् आत्मा । स च देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तः प्रतिशरीरं भिन्नो नित्यो विभुश्च । स च मानसप्रत्यक्षः । विप्रतिपत्तौ तु बुद्ध्यादिगुणलिङ्गकः । तथा हि, बुद्ध्यादयस्तावद् गुणाः, अनित्यत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वाद् रूपवत्, गुणश्च गुण्याश्रित एव ।

ही अर्थ अभिमत नहीं है, यहां तो प्रमेय का अर्थ उस प्रमा का विषय है जिससे मनुष्य को निःश्रेयस की प्राप्ति में सहायता मिले । प्रमेय शब्द से उन पदार्थों को लेना है जिनके मिथ्याज्ञान से संसार का सागर तरङ्गित होता है और जिनके तत्त्वज्ञान से वह सागर सदा के लिये सूख जाता है । वे प्रमेय न्यायशास्त्र के अनुसार बारह हैं जिनका नाम महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन, प्रथम अध्याय, प्रथम आह्निक के नवें सूत्र में अङ्कित किया है । वे हैं आत्मा (१) शरीर (२) इन्द्रिय (३) अर्थ (४) बुद्धि (५) मन (६) प्रवृत्ति (७) दोष (८) प्रेत्यभाव (९) फल (१०) दुःख (११) और अपवर्ग (१२) ।

आत्मा—

उक्त प्रमेयों में आत्मा ही प्रधान है, वही मिथ्याज्ञान से बद्ध और तत्त्वज्ञान से मुक्त होता है, उसी के कर्मों से यह विशाल संसार खड़ा है और उसी के प्रयत्न से इसका उपरम भी सम्भव है । अतः सबसे पहले उसी का उल्लेख किया गया है । उसका लक्षण है आत्मत्व सामान्य—आत्मत्वनामक जाति । इस जाति का जो आश्रय होता है, उसे आत्मा कहा जाता है । वह देह, इन्द्रिय आदि से विलक्षण है, प्रतिशरीर में भिन्न है, नित्य और व्यापक है, मन से उसका प्रत्यक्ष होता है, प्रत्येक मनुष्य अपने शरीर में अपने आत्मा के अस्तित्व का अपने मन से प्रत्यक्ष अनुभव करता है और उस अनुभव को 'मैं जानता हूँ, मैं चाहता हूँ, मैं करता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, इन शब्दों में प्रकट करता है ।

मैं जानता हूँ, मैं चाहता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, इन रूपों में आत्मा का मानस प्रत्यक्ष तो सभी को होता है, पर बहुत लोग ऐसे हैं जिन्हें इन अनुभवों के सम्बन्ध में यह विप्रतिपत्ति है कि 'मैं' से आत्मा का ग्रहण नहीं होता किन्तु देह आदि

तत्र बुद्ध्यादयो न गुणा भूतानां मानसप्रत्यक्षत्वात् । ये हि भूतानां गुणाः, ते न मनसा गृह्यन्ते यथा रूपादयः । नाऽपि दिक्कालमनसां गुणा विशेषगुणत्वात् । ये हि दिक्कालादिगुणाः, संख्यादयो, न ते विशेषगुणाः, ते हि सर्वद्रव्यसाधारणगुणा एव । बुद्ध्यादयस्तु विशेषगुणा गुणत्वे सत्येकेन्द्रियग्राह्यत्वाद्रूपवत्, अतो न दिगादिगुणाः । तस्मादेभ्योऽष्टभ्यो व्यतिरिक्तो बुद्ध्यादीनां गुणानामाश्रयो वक्तव्यः स एव आत्मा । प्रयोगश्च, बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिताः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात् । यस्तु पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितो न भवति, नासौ पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणोऽपि भवति यथा रूपादिरिति केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकी वा । तथा हि बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिताः; पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात् । यो यदनाश्रितो गुणः स तदतिरिक्ताश्रितो भवति यथा पृथिव्याद्यनाश्रितः शब्दः पृथिव्याद्यतिरिक्ताकाशाश्रय इति । तथा च बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्ताश्रयाः । तदेवं पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तो नवमं द्रव्यम्—आत्मा सिद्धः । स च सर्वत्र, कार्योपलम्भाद् विभुः । परममहत्परिमाणवानित्यर्थः । विभुत्वाच्च नित्योऽसौ व्योमवत् । सुखादीनां वैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः ।
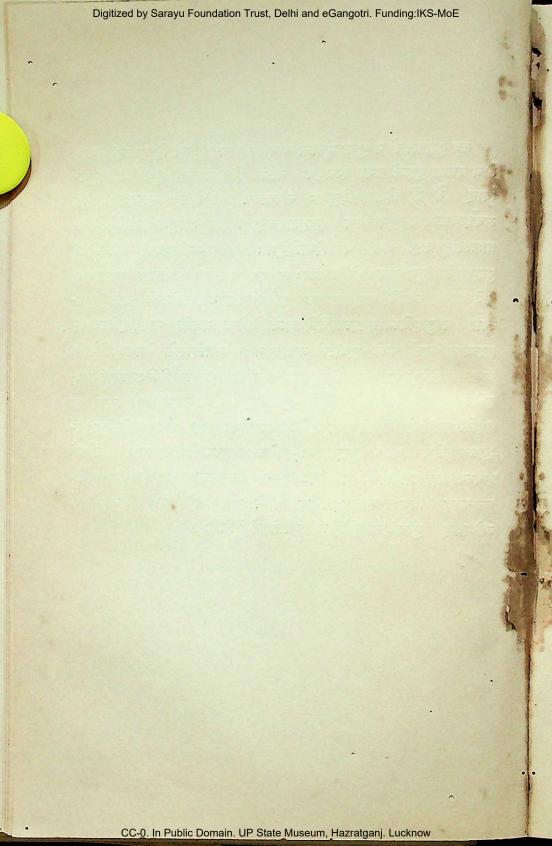
का ही ग्रहण होता है, क्यों कि ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख आदि के साधनभूत विषयों का सीधा सम्बन्ध शरीर आदि के ही साथ होता है अतः शरीर आदि में ही उनका उदय और उनके अनुभव का होना उचित है। ऐसे लोगों के साथ आत्मा के सम्बन्ध में विचारविनिमय का अवसर उपस्थित होने पर आत्मा को प्रत्यक्षगम्य न बता कर अनुमानगम्य बताना चाहिये और यह कहना चाहिये कि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये गुण प्रत्यक्षसिद्ध हैं, इनके अस्तित्व में किसी को कोई विवाद नहीं है, अतः इन गुणरूप लिङ्गों से इनके आश्रयरूप में देह आदि से भिन्न आत्मा का अनुमान हो सकता है।

इस पर यह कहा जा सकता है कि गुण निराश्रय नहीं होता अतः बुद्धि आदि गुणों के आश्रयरूप में आत्मा का अनुमान हो सकता है, किन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब पहले यह सिद्ध हो जाय कि बुद्धि आदि पदार्थ गुण हैं, क्यों कि वे यदि गुण न होकर कुछ और ही होंगे तो वे निराश्रय भी हो सकते हैं। उस स्थिति में उनके आश्रयरूप में आत्मा का अनुमान कैसे हो सकता है? इस लिये बुद्धि आदि से आत्मा का अनुमान करने के पूर्व उनमें गुणत्व का अनुमान करना चाहिये। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होगा।

बुद्धि आदि गुण हैं, (प्रतिज्ञा) क्यों कि वे अनित्य होते हुए एक इन्द्रियमात्र से ग्रहण करने योग्य हैं, (हेतु) जो अनित्य होते हुये एक इन्द्रिय मात्र से ग्रहण करने योग्य होता है वह गुण होता है जैसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द, (उदाहरण) जिस प्रकार रूप आदि अनित्य होते हुये क्रम से चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक्, और श्रोत्र रूप एक इन्द्रियमात्र से ग्राह्य हैं, उसी प्रकार बुद्धि आदि भी अनित्य होते हुये मन रूप एक इन्द्रियमात्र से ग्राह्य हैं, (उपनय) इस लिये जैसे रूप आदि गुण हैं उसी प्रकार बुद्धि आदि भी गुण हैं, (निगमन)।

प्रश्न हो सकता है कि बुद्धि आदि में गुणत्व का अनुमान करने के लिये इतने बड़े हेतु का प्रयोग क्यों किया जाता है? उसमें से कुछ अंश को निकाल कर छोटे हेतु का प्रयोग क्यों नहीं किया जाता? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उक्त हेतु में से किसी अंश का त्याग नहीं किया जा सकता, क्यों कि किसी भी अंश का त्याग करने पर उसके सद्धेतुत्व का भङ्ग हो जायगा। जैसे 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्व' को निकाल कर यदि 'अनित्यत्व' मात्र को हेतु किया जायगा तो वह घट आदि में गुणत्व का व्यभिचारी हो जायगा, क्योंकि घट आदि में अनित्यत्व है पर गुणत्व नहीं है। इसी प्रकार 'अनित्यत्व' को निकाल कर यदि 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्व' को हेतु किया जायगा तो वह आत्मा में गुणत्व का व्यभिचारी हो जायगा क्योंकि आत्मा के प्रत्यक्षगम्यतामत में उसमें मनरूप-एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्व है

पर गुणत्व नहीं है। इसी प्रकार उक्त हेतु में से यदि 'एकेन्द्रियमात्र' को निकाल कर 'अनित्यत्वे सति ग्राह्यत्व' को हेतु किया जायगा तो वह भी घट आदि में गुणत्व का व्यभिचारी हो जायगा। और यदि उक्त हेतु में से 'मात्र' को निकाल कर 'अनित्यत्वे सति एकेन्द्रियग्राह्यत्व' को हेतु किया जायगा तो घट आदि में वह पुनः गुणत्व का व्यभिचारी हो जायगा क्योंकि घट आदि अनित्य होते हुये एकेन्द्रियग्राह्य हैं पर गुण नहीं हैं, 'मात्र' पद देने से यह दोष न होगा क्योंकि वह चक्षु और त्वक् दो इन्द्रियों से ग्राह्य होने के कारण एकेन्द्रियमात्रग्राह्य नहीं है। इसी प्रकार यदि उक्त हेतु में से 'एक' को निकाल कर 'अनित्यत्वे सति इन्द्रियमात्रग्राह्यत्व' को हेतु किया जायगा तो वह बुद्धि आदि पक्ष में स्वरूपासिद्ध हो जायगा क्योंकि वह जैसे इन्द्रिय से ग्राह्य है उसी प्रकार शब्द आदि से भी ग्राह्य है, अतः उसमें इन्द्रियमात्रग्राह्यत्व नहीं है। और यदि उक्तहेतु में से 'इन्द्रिय' को निकाल कर 'अनित्यत्व सति एकमात्रग्राह्यत्वे' को हेतु किया जायगा तो वह अप्रसिद्ध हो जायगा क्योंकि संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो एकमात्र-ग्राह्य हो। इसी प्रकार उक्तहेतु में 'ग्राह्यत्व' का ग्रहणयोग्यत्व अर्थ न कर यदि ग्रहण-विषयत्व अर्थ किया जायगा तब नित्यज्ञान, नित्य इच्छा और नित्य प्रयत्नरूप पक्ष के एकदेश में हेतु के न रहने से भागासिद्धि हो जायगी और यदि भागासिद्धि के परिहारार्थ अनित्य बुद्धि आदि को ही पक्ष बनाया जायगा तब उक्त अनुमान से ईश्वर के ज्ञान आदि में गुणत्व की सिद्धि न हो सकेगी और साथ ही निर्विकल्पक ज्ञान में एकेन्द्रियमात्रजन्यग्रहणविषयत्व के न रहने से पुनः भागासिद्धि होगी।

यदि यह कहा जाय कि यह पूरा हेतु भी तो ठीक नहीं है क्योंकि रूप आदि के चक्षु आदि और मन इन दो इन्द्रियों से ग्राह्य होने के कारण एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्व से घटित उक्त हेतु के उसमें न होने से दृष्टान्तासिद्धि हो जाती है, तो यह ठीक नहीं है, क्यों कि एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्व का बाह्य दो इन्द्रियों से गृहीत न होना, यह अर्थ लेने पर यद्यपि द्व्यणुक और शब्दध्वंस में व्यभिचार होता है तथापि बाह्य दो इन्द्रियों से अग्राह्य जाति का आश्रयत्व अर्थ लेने से कोई दोष नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि बाह्य दो इन्द्रियों से अग्राह्य वायुत्व जाति के आश्रय अनित्य वायु में उक्त हेतु गुणत्व का व्यभिचारी होगा, तो यह ठीक नहीं है, क्यों कि बाह्य दो इन्द्रियों से अग्राह्य और इन्द्रियग्राह्य जाति का आश्रयत्व अर्थ लेने से यह दोष न होगा क्योंकि वायु के अतीन्द्रिय होने से वायुत्व इन्द्रियग्राह्य नहीं है, और यदि वायु को त्वगिन्द्रियवेद्य माना जाय तब उक्त हेतु में एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्व का 'बाह्य दो इन्द्रियों से अग्राह्य और स्पर्शनेतर इन्द्रिय से ग्राह्य जाति का आश्रयत्व' अर्थ कर देना चाहिये और दृष्टान्तों में स्पर्श का परिगणन नहीं करना चाहिये।

इस प्रकार अनित्य होते हुये बाह्य दो इन्द्रियों से अग्राह्य और स्पर्शनेतर इन्द्रिय से ग्राह्य जाति के आश्रयत्वरूप हेतु से बुद्धि आदि में गुणत्व का अनुमान कर उन गुणों के आश्रयरूप में आत्मा का अनुमान किया जा सकता है, क्योंकि यह नियम है कि गुण द्रव्य में अवश्य आश्रित होता है, अतः बुद्धि आदि गुण को भी किसी द्रव्य में आश्रित होना अनिवार्य है, वह पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् और मन इन आठ द्रव्यों में किसी भी द्रव्य में आश्रित नहीं होता अतः उसे आश्रित होने के लिये एक अतिरिक्त नवें द्रव्य को स्वीकार करना अपरिहार्य है। इस प्रकार जो द्रव्य बुद्धि आदि गुणों के आश्रयरूप में स्वीकार्य है उसी का नाम आत्मा है।

प्रश्न होता है कि उक्त रीति से आत्मा नाम के नवें द्रव्य की सिद्धि तभी हो सकती है जब पृथिवी आदि द्रव्यों में बुद्धि आदि गुण आश्रित न होसके किन्तु यदि पृथिवी आदि द्रव्यों को ही उन गुणों का आश्रय मान लिया जाय तो अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती, तो फिर यही क्यों नहीं मान लिया जाता, क्यों उनके लिये अतिरिक्त आश्रय की कल्पना की जाती है? इसका उत्तर यह है कि बुद्धि आदि पृथिवी आदि का गुण नहीं है अतः पृथिवी आदि को उसका आश्रय नहीं माना जा सकता। यदि पूछा जाय कि बुद्धि आदि पृथिवी आदि का गुण नहीं है, इसमें क्या प्रमाण है? तो इस प्रश्न के उत्तर में निम्न अनुमानों को प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसे—

बुद्धि आदि पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन भूतों के गुण नहीं हो सकते क्योंकि उन गुणों का मानस प्रत्यक्ष होता है, और यह नियम है कि जो भूतों के गुण होते हैं उनका मानस प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे रूप आदि गुण।

बुद्धि आदि दिक् काल और मन इन द्रव्यों के भी गुण नहीं हो सकते क्योंकि वे विशेष गुण हैं, और नियम यह है कि जो दिक्, काल और मन इन तीनों में किसी का गुण होता है वह विशेष गुण नहीं होता, जैसे संख्या, परिमाण आदि दिक् काल और मन के गुण हैं अतः वे विशेष गुण न होकर समस्त द्रव्यों के साधारण गुण हैं।

इस प्रकार इन दो अनुमानों से यह निर्बाध सिद्ध हो जाता है कि बुद्धि आदि पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में किसी के भी गुण नहीं हैं।

यदि यह पूछा जाय कि बुद्धि आदि के विशेषगुणत्व में क्या प्रमाण है? तो इसके उत्तर में यह अग्रिम अनुमान प्रस्तुत किया जा सकता है।

बुद्धि आदि विशेष गुण हैं, क्योंकि वे गुण होते हुए एक इन्द्रियमात्र से ग्राह्य हैं जो गुण होते हुए एक इन्द्रियमात्र से ग्राह्य होता है वह विशेषगुण होता है, जैसे रूप आदि।

बुद्धि आदि में विशेषगुणत्व के साधनार्थ प्रयुक्त होने वाले 'गुणत्वे सति एकेन्द्रिय-मात्रग्राह्यत्व' हेतु के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि विशेषगुणत्व के साधनार्थ इतने बड़े हेतु का प्रयोग क्यों किया जाता है, कुछ अंश को निकाल कर क्या हेतु का संकोच नहीं किया जा सकता ? उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि उक्त हेतु में से किसी अंश को निकालना उचित नहीं हो सकता क्योंकि वैसा करने पर हेतु के सद्धेतुत्व का भङ्ग हो जायगा। जैसे उक्त हेतु में से गुणत्व को निकाल कर यदि केवल एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्व को ही हेतु किया जायगा तो आत्मा के प्रत्यक्षगम्यत्वमत में वह आत्मा में विशेषगुणत्व का व्यभिचारी हो जायगा। और यदि एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्व को निकाल कर केवल गुणत्व को हेतु किया जायगा तो वह संख्या आदि सामान्यगुणों में विशेषगुणत्व का व्यभिचारी हो जायगा। इसी प्रकार यदि एक और मात्र पद को हटा कर 'गुणत्वे सति इन्द्रियग्राह्यत्व' को हेतु बनाया जायगा तो वह संख्या आदि सामान्य गुणों में पुनः विशेषगुणत्व का व्यभिचारी हो जायगा। अतः 'गुणत्वे सति एकेन्द्रिय-मात्रग्राह्यत्व' इस बड़े हेतु का प्रयोग करना ही उचित है।

इस प्रकार उक्त अनुमानों द्वारा जब यह सिद्ध हो जाता है कि पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में से कोई भी द्रव्य बुद्धि आदि गुणों का आश्रय नहीं हो सकता, तब इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न जो द्रव्य इन गुणों का आश्रय माना जायगा वही आत्मा है। यह निष्कर्ष जिस अनुमान पर आधारित है उसका प्रयोग इस प्रकार हो सकता है—

बुद्धि आदि पदार्थ पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न किसी द्रव्य में आश्रित हैं, क्योंकि वे पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में आश्रित न होते हुए भी गुण रूप हैं, जो पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित नहीं होता वह पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में आश्रित न होते हुए गुणरूप नहीं हो सकता जैसे रूप आदि गुण अथवा आकाश आदि द्रव्य। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न किसी द्रव्य मे आश्रित न होगा उसकी दो ही स्थिति हो सकती है। एक यह कि यदि वह गुण है तो उसे पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में किसी न किसी द्रव्य में आश्रित होना होगा, जैसे रूप आदि पदार्थ। ये पदार्थ पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित न होते हुये भी गुण हैं अतः पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में ही किसी न किसी द्रव्य में आश्रित होते हैं। दूसरी स्थिति यह कि यदि ऐसा कोई पदार्थ है जो पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में भी आश्रित नहीं है और साथ ही पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में से भी किसी द्रव्य में आश्रित नहीं है तो वह गुणरूप नहीं हो सकता जैसे आकाश आदि द्रव्य। किन्तु बुद्धि आदि की स्थिति इन दोनो स्थितियों से भिन्न है, वह पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में से किसी द्रव्य में आश्रित भी नहीं है

और गुण से भिन्न भी नहीं है। अतः यह अनिवार्य रूप से स्वीकार करना होगा कि बुद्धि आदि पदार्थ पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में आश्रित न होते हुये गुणरूप होने के कारण पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न किसी द्रव्य में अवश्य आश्रित हैं।

यह अनुमान केवलव्यतिरेकी है क्योंकि यह साध्यव्यतिरेक में हेतुव्यतिरेक की व्याप्ति के बल पर अर्थात् जो पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित नहीं होता वह पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में आश्रित न होते हुये गुणस्वरूप नहीं होता, इस व्याप्ति के बल पर प्रवृत्त होता है।

बुद्धि आदि पदार्थ पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित होते हैं, इस निष्कर्ष को जैसे उक्त केवलव्यतिरेकी अनुमान से निष्पन्न किया गया, उसी प्रकार अन्वयव्यतिरेकी अनुमान से भी निष्पन्न किया जा सकता है। अन्वयव्यतिरेकी अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होगा—

बुद्धि आदि पदार्थ पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित हैं क्योंकि वे पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में आश्रित न होते हुये भी गुणरूप हैं, यह नियम है कि जो जिसमें आश्रित न होते हुये गुणरूप होता है वह उससे अतिरिक्त में आश्रित होता है, जैसे पृथिवी आदि द्रव्यों में आश्रित न होते हुये गुणरूप होने के कारण शब्द पृथिवी आदि से अतिरिक्त आकाशनामक नवें द्रव्य में आश्रित होता है। बुद्धि आदि पदार्थ पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में आश्रित न होते हुये भी गुणरूप हैं अतः उनका पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित होना अनिवार्य है।

इस प्रकार उक्त केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी अनुमानों से बुद्धि आदि गुणों के आश्रयरूप में पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न जिस द्रव्य की सिद्धि होती है वही आत्मा नाम का नवां द्रव्य है।

आत्मा का परिमाण—

जब यह सिद्ध हो गया कि आत्मा एक अतिरिक्त द्रव्य है तब इस बात का विचार कर लेना आवश्यक है कि उसका परिमाण क्या है ? क्योंकि कोई भी द्रव्य निष्परिमाण नहीं होता। यह विचार इस लिये भी आवश्यक है कि आत्मा के परिमाण के बारे में विभिन्न मत हैं। जैसे रामानुज आदि कतिपय वेदान्तदर्शनों में आत्मा—जीवात्मा का अणु परिमाण माना गया है, जैनदर्शन में मध्यमपरिमाण—शरीरसमपरिमाण माना गया है और न्यायवैशेषिक दर्शन में उसका परममहत् परिमाण माना गया है, अतः इस सन्दर्भ में इन मतवादों का अभिप्राय समझ लेना, और उनकी किंचित् समीक्षा कर लेना आवश्यक है।

न्यायवैशेषिकमत—

आत्मा के परिमाण के सम्बन्ध में न्यायवैशेषिक का मत यह है कि आत्मा विभु है, व्यापक है। व्यापक होने का अर्थ है संसार के समस्त मूर्त द्रव्यों से संयुक्त होना। इसलिये 'आत्मा व्यापक है' इसका अर्थ है कि आत्मा संसार के समस्त मूर्त द्रव्यों से संयुक्त है। यह बात तीन ही प्रकार से सम्भव हो सकती है, एक यह कि आत्मा कहीं एक स्थान में स्थिर हो और संसार के समस्त मूर्तद्रव्य उसके पास आ जांय। दूसरा यह कि आत्मा स्वयं मूर्तद्रव्यों के निकट यात्रा करे और तीसरा यह कि आत्मा का परिमाण इतना महान् हो कि संसार के सारे मूर्त द्रव्य उसकी परिधि में आ जांय। इनमें पहला प्रकार तो नितान्त अव्यावहारिक और अनुभवबाध्य है, दूसरा प्रकार भी बुद्धिसंगत नहीं है क्योंकि आत्मा का समस्त मूर्त द्रव्यों के पीछे निष्प्रयोजन भटकते रहना उचित नहीं प्रतीत होता, वह क्यों निरर्थक मूर्त द्रव्यों का चक्कर लगाता रहेगा ? और सदैव यदि वह यही करता रहेगा तो संसार के अन्य व्यवहार कब और कैसे करेगा ? और ऐसा करने पर भी तो वह विद्यमान सभी मूर्तद्रव्यों से किसी एक समय संयुक्त न हो सकेगा। फलतः वह इतना घोर परिश्रम करके भी कभी क्षण भर के लिये भी व्यापक होने का गौरव न प्राप्त कर सकेगा। अतः उसकी व्यापकता -- समस्त मूर्तद्रव्यों से उसकी संयुक्तता केवल एक इसी बात पर निर्भर है कि वह परम महान् हो, उसका परिमाण इतना असीम हो कि संसार में जहाँ कहीं भी कोई मूर्त द्रव्य हो वह उसकी परिधि के भीतर ही हो, उससे छू अवश्य जाय।

उक्त रीति से जीवात्मा के परम महान् होने से संसार के समस्त मूर्तद्रव्यों के साथ एक ही समय उसका संयोग हो सकता है और उस संयोग से वह विभु—व्यापक हो सकता है, किन्तु प्रश्न होता है कि आत्मा को इस प्रकार विभु मानने की आवश्यकता क्या है ? जाड़े की ऋतु में शीतलहरी के समय शरीर के पूरे भाग में एक साथ ही ठण्ढी और गर्मी की ऋतु में लू चलते समय एक साथ ही सम्पूर्ण शरीर में तीव्र उष्णता का अनुभव होता है, अतः पूरे शरीर में उसे व्यापक मानने का औचित्य तो प्रतीत होता है पर समूचे संसार में उसे व्यापक मानने का कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता। इस प्रश्न के उत्तर में ग्रन्थकार द्वारा बताये गये 'सर्वत्र कार्योपलम्भ' हेतु को प्रस्तुत किया जा सकता है और कहा जा सकता है कि यतः आत्मा का कार्य संसार में सर्वत्र उपलब्ध होता है अतः सर्वत्र उसका अस्तित्व मानना आवश्यक है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा के कार्य दो प्रकार के होते हैं, एक वे, जिन्हें वह अपने प्रयत्न से उत्पन्न करता है, ऐसे कार्यों को वह उन्हीं स्थानों में उत्पन्न कर सकता है जहाँ वह अपने शरीर के साथ उपस्थित हो सकता है। दूसरे वे, जिन्हे वह अपने प्रयत्न से नहीं किन्तु अपने अदृष्ट से उत्पन्न करता है, ऐसे कार्यों को उत्पन्न

करने के लिये उन कार्यों के जन्मस्थान में उसे अपने शरीर से उपस्थित होने की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु उन स्थानों में उसके अदृष्ट के उपस्थित होने से ही काम बन जाता है, पर यदि आत्मा को देह में ही सीमित माना जायगा तब उसका अदृष्ट संसार के समीप एवं सुदूरवर्ती विभिन्न स्थानों को कैसे पहुँच सकेगा? सर्वत्र जाकर पहुँचना तो सम्भव नहीं है क्योंकि अदृष्ट आत्मा का गुण है जिसे धर्म-अधर्म अथवा पुण्य-पाप शब्दों से व्यवहृत किया जाता है, अतः वह अपने आश्रय का परित्याग नहीं कर सकता और अद्रव्य एवं अमूर्त होने से गतिमान् भी नहीं हो सकता। इस लिये एक ही काल में सुदूरवर्ती अनेक स्थानों में अदृष्ट को सन्निहित करने के लिये आत्मा को व्यापक मानने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है। आत्मा जब व्यापक होगा, एक ही समय संसार में सर्वत्र रहेगा, तब उसका अदृष्ट भी उसके द्वारा सर्वत्र उपस्थित हो सकेगा, अतः एक ही समय संसार के विभिन्न भागों में उसके कार्यों के उत्पन्न होने में कोई बाधा न होगी।

प्रश्न हो सकता है कि संसार के विभिन्न भागों में उत्पन्न होने वाले विभिन्न कार्यों के प्रति अदृष्ट-द्वारा आत्मा को कारण मानने की आवश्यकता क्या है? जो कार्य जहाँ उत्पन्न होता है उसका उत्पादक वहाँ का मनुष्य होगा, दूरवर्ती मनुष्य को अदृष्ट द्वारा उसका उत्पादक मानने की क्या आवश्यकता है? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि संसार की सब वस्तुयें सब मनुष्यों के काम में नहीं आतीं, एक वस्तु किसी के काम में आती है तो दूसरी वस्तु दूसरे के काम में आती है, कोई वस्तु ऐसी भी होती है जो अनेक मनुष्यों के काम में आती है, कोई वस्तु ऐसी भी होती है जिससे एक मनुष्य को सुख और दूसरे को दुःख प्राप्त होता है, यह भी होता है कि मनुष्य के काम में आने वाली वस्तुयें सदा उसके समीप की ही बनी नहीं होतीं किन्तु ऐसे स्थान की भी बनी होती हैं जो स्थान उस वस्तु को काम में लानेवाले मनुष्य से बहुत दूर होता है, जहाँ सम्भवतः वह अपने वर्तमान जीवन में कभी जा भी नहीं सकता। वस्तुवों के साथ मनुष्य के इस विभिन्न और विचित्र नाते की कोई न कोई उपपत्ति अवश्य होनी चाहिये। सोचने पर इसकी उपपत्ति इस मान्यता पर निर्भर प्रतीत होती है कि जो वस्तु जिस मनुष्य के अदृष्ट से उत्पन्न होती है या यों कहा जाय कि जिस वस्तु को जो मनुष्य अपने अदृष्ट-द्वारा उत्पन्न करता है वह वस्तु उस मनुष्य के काम में आती है, इस मान्यता के अनुसार जो वस्तु जिसके धर्म-पुण्यरूप अदृष्ट से उत्पन्न होगी उससे उसे सुख और जो वस्तु जिसके अधर्म-पापरूप अदृष्ट से उत्पन्न होगी उससे उसे दुःख की प्राप्ति होगी, एवं जो वस्तु अनेक मनुष्यों के अदृष्ट से उत्पन्न होगी वह अनेक मनुष्यों के काम में आयेगी। इस प्रकार

मनुष्य के काम में आनेवाली वस्तु उसके अदृष्ट से कभी समीप में भी उत्पन्न हो सकती है और कभी बहुत दूर भी उत्पन्न हो सकती है।

मनुष्य के काम में आनेवाली वस्तुवों के मनुष्य के अदृष्ट से उत्पन्न होने की यह मान्यता मनुष्य की आत्मा को व्यापक मानने पर ही सम्भव हो सकती है। इसीलिए ग्रन्थकार ने 'सर्वत्र कार्योपलम्भ' के आधार पर आत्मा को विभु बताया है।

आत्मा को विभु मानने पर एक प्रश्न यह उठ सकता है कि जब सभी आत्मा व्यापक होंगे तो एक स्थान में अनेक आत्मा का एक साथ अस्तित्व मानना होगा, सो यह कैसे सम्भव हो सकता है? जब छोटे छोटे द्रव्य भी एक स्थान में एक साथ नहीं रह पाते तब परम महान् अनेक आत्मा एक स्थान में कैसे रह सकेंगे? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जो पदार्थ किसी स्थान को घेरता है, जिस स्थान में पहुँचता है उसे निरवकाश कर देता है, वह अपने साथ अन्य पदार्थ को नहीं रहने देता। स्थान का यह घेराव उसी पदार्थ से होता है जिसकी अपनी कोई मूर्ति होती है, जैसे घड़ा, कपड़ा, अन्न, पानी, पुष्प आदि। पर जिन पदार्थों में मूर्ति नहीं होती वे एक दूसरे को अपने साथ बैठने में बाधा नहीं डालते क्योंकि उनसे स्थान का घेराव नहीं होता, उनसे स्थान निरवकाश नहीं होता जैसे किसी एक ही पुष्प में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनेक गुण। आत्मा में भी कोई मूर्ति नहीं होती, वह कोई ठोस पदार्थ नहीं होता, उसकी पहुँच से कोई स्थान निरवकाश नहीं होता, अतः एक स्थान में अनेक आत्मा का एक साथ संयोग होने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती।

आत्मा को विभु मानने पर दूसरा प्रश्न यह उठ सकता है कि जब सभी आत्मा विभु हैं, सभी आत्मा सर्वत्र हैं, तब सभी का अदृष्ट समान रूप से सर्वत्र सन्निहित रहेगा, फलतः सब कार्य सबके अदृष्ट से उत्पन्न होंगे, तो फिर यह बात कैसे कही जा सकेगी कि जो वस्तु जिसके अदृष्ट से उत्पन्न होती है वह उसके काम में आती है और जो वस्तु जिसके अदृष्ट से नहीं उत्पन्न होती वह उसके काम में नहीं आती? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि कोई पदार्थ किसी कार्य के जन्मस्थान में उसकी उत्पत्ति के पूर्व उपस्थित रहने मात्र से उसका उत्पादक नहीं हो जाता, किन्तु उसके उत्पादन में उपयोगी होनेपर, उसके लिये अपेक्षणीय होनेपर ही उत्पादक होता है। जैसे कक्षा में अध्यापक जब किसी एक छात्र से कोई प्रश्न करता है तब उस प्रश्न का उत्तर देने की क्षमता रखने वाले अन्य छात्रों के उपस्थित रहनेपर भी उस प्रश्न का उत्तर वही छात्र देता है जिससे उस प्रश्न का उत्तर अपेक्षित होता है। इसी प्रकार कोई कुम्हार जब किसी घड़े का निर्माण करता है तब

उसके सगे सम्बन्धी अन्य कुम्हारों के उपस्थित रहने पर भी वे उस घड़े का निर्माण नहीं करते किन्तु उसमें लगा कुम्हार ही उसका निर्माण करता है, उसी प्रकार समस्त कार्यों के जन्मस्थान में सभी आत्मा के अदृष्ट के उपस्थित रहने पर भी सभी के अदृष्ट से सब कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु जिस कार्य की उत्पत्ति में जिसका अदृष्ट अपेक्षित होता है, जिस कार्य को जिस आत्मा के उपयोगार्थ उत्पन्न होना होता है उसकी उत्पत्ति उसी आत्मा के अदृष्ट से होती है, अन्य आत्मा के अदृष्ट उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होते हैं।

आत्मा को विभु मानने पर एक दूसरा प्रश्न यह उठ सकता है कि सभी आत्मा जब समान रूप से व्यापक हैं तो उनके अदृष्ट तथा अन्य गुणों में सांकर्य क्यों नहीं होता ? जो गुण जब एक आत्मा में उत्पन्न होता है तब वह दूसरे आत्मा में भी क्यों नहीं उत्पन्न होता ? क्योंकि उस गुण का उदय जिन कारणों से होता है, आत्मा के विभु होने से उन कारणों का सम्बन्ध समान रूप से सभी आत्मावों से रहता है। उत्तर में कहा जा सकता है कि किसी कार्य के कारणों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध हो जाने मात्र से कार्य का जन्म नहीं हो जाता, प्रत्युत किसी कार्य की उत्पत्ति के लिये उसके कारणों का जो सम्बन्ध वाञ्छनीय होता है, वह सम्बन्ध जहाँ होता है वहीं उस कार्य की उत्पत्ति होती है, जैसे वस्त्र के उत्पादक तन्तुओं का वस्त्र बुनने के उपकरणों के साथ सामान्य सम्बन्ध होनेपर भी उन उपकरणों में वस्त्र की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु तन्तुओं में ही वस्त्र की उत्पत्ति होती है क्योंकि वस्त्र की उत्पत्ति के लिये उसके कारणभूत तन्तुओं का तादात्म्य अपेक्षित होता है, वह तादात्म्य वस्त्र बुनने के उपकरणों में नहीं होता किन्तु तन्तुओं में होता है अतः वस्त्र की उत्पत्ति उपकरणों में न होकर तन्तुओं में ही होती है। इसी प्रकार जिस अदृष्ट की उत्पत्ति जिस कर्म से होती है वह कर्म जिस आत्मा से सम्पादित होता है उस कर्म से अदृष्ट का उदय उसी आत्मा में होता है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि सब कर्म आत्मा से सम्पादित क्यों नहीं होते ? जब कि सब कर्मों के समय सभी आत्मा समानरूप से सन्निहित रहते हैं तो इसके उत्तर में इस पूर्वोक्त बात का स्मरण कराया जा सकता है, कि किसी कार्यके सम्पन्न होने के समय पहले से सन्निहित होने मात्र से कोई पदार्थ उस कार्य का सम्पादक या उत्पादक नहीं माना जा सकता, सन्निहित पदार्थों में उत्पादक वही होता है जो उस समय उत्पादनीय कार्य के उत्पादनार्थ व्याप्रियमाण एवं वाञ्छनीय होता है, अन्य सन्निहित पदार्थ उस कार्य के प्रति सक्षम होने पर भी अन्यथासिद्ध होते हैं।

इस प्रकार आत्मा को विभु मानने में कोई बाधक न होने से तथा सुदूरवर्ती विभिन्न स्थानों में विभिन्न कार्यों का एक साथ उत्पादन करने के लिये उसकी

विभुता आवश्यक होने से न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मा का विभुत्व स्वीकृत किया गया है और उसकी उपपत्ति के लिये उसका परममहत् परिमाण माना गया है।

सांख्य आदि दर्शनों में भी उसे विभु माना गया है, पर वह विभुत्व समस्त मूर्तद्रव्यों के साथ संयोगरूप नहीं है किन्तु अपरिच्छिन्नतारूप है, अपरिच्छिन्नता का अर्थ है अपरिमितता—परिमाण से हीन होना, अतः उन दर्शनों की दृष्टि में आत्मा परिमाणहीन है, उसमें अणु, मध्यम और महत् किसी प्रकार का परिमाण नहीं है।

जैनमत

जैन दर्शन में आत्मा का मध्यम परिमाण माना गया है, मध्यमका अर्थ है ऐसा परिमाण जो आवश्यकतानुसार घट-बढ़ सके, इस मान्यता के अनुसार आत्मा जब किसी प्राणी के छोटे या बड़े शरीर में प्रवेश करता है तब उस शरीर के अनुरूप बन जाता है, छोटे शरीर में छोटा हो जाता है और बड़े शरीर में बड़ा हो जाता है, चींटी के शरीर में चींटीके, मनुष्य के शरीर में मनुष्य के, हाथी के शरीर में हाथी के और वृक्ष के शरीर में वृक्ष के आकार में परिणत हो जाता है। उनका आशय यह है कि आत्मा में दो अंश होते हैं, एक अंश अपने निजी नैसर्गिक रूप में सदा एकरूप रहता है, उस अंशको 'द्रव्य' कहा जाता है। दूसरा अंश ऐसा होता है जो प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है, ऐसे अंश को 'पर्याय' कहा जाता है, इस प्रकार आत्मा 'द्रव्य पर्याय' उभयांशक होता है। द्रव्यात्मक अंश का कोई अपना सहज परिमाण नहीं होता और पर्याय अंश का मध्यम परिमाण होता है, उसी अंश के कारण आत्माको मध्यमपरिमाणका आस्पद माना जाता है। अपनी इस मान्यता के कारण यह मत आत्मा के अणुत्व और विभुत्व दोनों पक्षों में सम्भावित त्रुटियों से मुक्त रहता है।

अन्य दार्शनिक इस मत की आलोचना करते हुये कहते हैं कि यह मत ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा के द्रव्य और पर्याय अंशों में यदि परस्पर में भेद होगा तो पर्याय के संकोच विकास का द्रव्य-अंश पर कोई प्रभाव न होने से पूरे आत्मा को मध्यम-परिमाणका आस्पद नहीं कहा जा सकता, और यदि दोनों में परस्पर भेद न माना जायगा तो पर्याय के अनित्य होने से द्रव्य भी अनित्य होगा, फलतः पूरे आत्मा के अनित्य हो जाने से आत्मा के किये अनेक कर्म उसकी मृत्यु के बाद निष्फल हो जायंगे और आत्मा का नूतन जन्म होने पर विना कर्म के ही सुखदुःख का भोग प्राप्त होगा। आत्मा के अनित्यत्वपक्ष में इसी दोष को दर्शनशास्त्रों में कृतहान और अकृताभ्यागम शब्दों से निर्दिष्ट किया गया है। उत्तर में यदि यह कहा जाय कि आत्मा के दोनों अंश द्रव्य और पर्याय न तो सर्वथा परस्पर भिन्न हैं और न सर्वथा अभिन्न हैं, अतः

एकान्त भेद और एकान्त अभेद पक्ष के दोषों का उद्भावन नहीं किया जा सकता, तो आलोचकों की दृष्टि में यह बात उचित नहीं प्रतीत होती, क्योंकि उक्त वक्तव्यका अभिप्राय यही माना जा सकता है कि आत्मा के द्रव्य और पर्याय दोनों अंश एक दूसरे से कथंचिद् भिन्न भी हैं और कथंचिद् अभिन्न भी हैं, अतः आत्मा पर्यायदृष्ट्या अनित्य भी है और द्रव्यदृष्ट्या नित्य भी है, और यह अभिप्राय स्वीकृत नहीं किया जा सकता, क्यों कि आत्मा के दोनों अंशों को एक दूसरे से कथंचिद् भिन्नाभिन्न तभी माना जा सकता है जब दोनों अंशों के दो दो स्वरूप माने जाँय, क्योंकि उसी स्थिति में उन अंशों को एक स्वरूप से दूसरे अंश से भिन्न और दूसरे स्वरूप से दूसरे अंश से अभिन्न माना जा सकेगा, किन्तु प्रत्येक अंश में ऐसे स्वरूपद्वय की मान्यता युक्तिसंगत नहीं हो सकती।

वेदान्तमत

वेदान्तदर्शन में आत्मा के परिमाण के विषय में दो प्रकार के मत प्रचलित हैं। अद्वैत वेदान्त में आत्मा ब्रह्मरूप है, अतः ब्रह्म के निष्परिमाण होने से आत्मा भी निष्परिमाण है, उसकी विभुता परिमाणहीनतारूप है। हाँ, जीवात्मा के अन्तःकरणावच्छिन्न आत्मचैतन्यरूप होने से अन्तःकरण के परिमाण की दृष्टि से उसे मध्यम परिमाण का आश्रय कहा जा सकता है। वैष्णव दर्शनोंमें आत्मा का परिमाण अणु माना गया है। इस मत के अनुसार आत्मा शरीर के एक भाग हृदयमात्र में ही अवस्थित रहता है किन्तु उसकी ज्ञानात्मक प्रभा प्रसरणशील है, वह सारे शरीर में व्याप्त रहती है, अतः एक साथ समूचे शरीर में ठण्ढक अथवा गर्मी का अनुभव होने में कोई बाधा नहीं हो सकती। शरीर की चैतन्यवाहिनी नाड़ियाँ हृदय में अवस्थित अणु आत्मा को शरीर के प्रत्येक भाग में संवेदनशील बनाये रहती हैं। मनुष्य का अदृष्ट उसके शरीर में ही सीमित होते हुये भी अपनी अद्भुत शक्ति से सुदूरवर्ती स्थानों में भी मनुष्य के उपभोग की वस्तुओं का निर्माण करता रहता है। सर्वव्यापी परमात्मा मनुष्य के अदृष्टानुसार उसके भोग्य पदार्थों को प्रादुर्भूत करता रहता है। मनुष्य के योगक्षेम का वहन भगवान् ही करता है। उसके लिए उसे स्वयं भटकने की आवश्यकता नहीं होती, भगवान् अपनी सहज कृपा से ही प्रकृति के भण्डार को भरता रहता है। मनुष्य के कर्मानुसार उस भण्डार से उसे भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति होती रहती है, अतः विभिन्न स्थानों में अपने भोग की वस्तुवों के उत्पादनार्थ उसे व्यापक मानने की कोई आवश्यकता नहीं होती। आत्मा को अणु मानने पर मरने पर एक शरीर को छोड़ अन्यत्र जाने और पैदा होने पर अन्य शरीर से नये शरीर में आने की बात भी ठीक प्रकार से उपपन्न हो जाती है।

आलोचक विद्वान् इस मत को भी यों ही नहीं छोड़ देते, इस मत के सम्बन्ध में उनकी समीक्षा इस प्रकार होती है कि यदि आत्मा अणु होगा और ज्ञान, सुख,

दुःख आदि उसके गुण होंगे तो उनका प्रत्यक्ष अनुभव न हो सकेगा क्योंकि गुण के प्रत्यक्ष में गुणी की महत्ता के कारण होने से अणु आत्मा के गुणों का प्रत्यक्ष युक्ति-संगत न होगा। इस भय से यदि उसे आत्मा का गुण न मान कर बुद्धि का गुण माना जाय और बुद्धि को महत् परिमाण का आश्रय मान कर उसके गुणों की प्रत्यक्षता का उपपादन किया जाय तो आत्मा की जडता के निराकरणार्थ उसे सहज चैतन्यरूप मानना होगा, बुद्धि के गुण ज्ञान को उसी चैतन्य के सम्पर्क से विषय का प्रकाशक मानना होगा, फिर जब वह चैतन्य अणु होगा तो बुद्धि के महत् स्वरूप को अथवा उसके प्रसरणशील ज्ञान को उसके पूरे स्वरुप में किस प्रकार अभिज्वलित कर सकेगा? अतः आत्मा को अणु चैतन्यरूप मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। उपनिषद् के 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' आदि मन्त्रों में जीवात्मा के अणुत्व का जो प्रतिपादन है उसका तात्पर्य अणुपरिमाण बताने में नहीं है किन्तु बाह्य इन्द्रियों से अवेद्य बताने में है।

ईश्वर—

आत्मा के विषय में विचार करते समय ईश्वर के सम्बन्ध में भी थोड़ी चर्चा कर लेना आवश्यक है, क्योंकि न्यायदर्शन में ईश्वर भी आत्मा का ही एक प्रभेद माना गया है, इसीलिये उसे परमात्मा भी कहा गया है। सुप्रसिद्ध नव्यनैयायिक रघुनाथ शिरोमणि ने गङ्गेश के तत्त्वचिन्तामणि के अनुमान खण्ड पर दीधितिनाम की व्याख्या लिखते हुये उसे परमात्मा कहकर नमस्कार किया है। वह पद्य इस प्रकार है—

ओं नमः सर्वभूतानि विष्टभ्य परितिष्ठते।
अखण्डानन्दबोधाय पूर्णाय परमात्मने ॥

अ० दी० १

आत्मत्वजाति और ज्ञानगुण आत्मा के ये दो प्रसिद्ध लक्षण ईश्वर में भी विद्यमान हैं, अतः आत्मा के प्रकरण में ईश्वर को विस्मृत कर देना उचित नहीं है।

न्यायदर्शन में ईश्वर को जगत्कर्ता, वेदनिर्माता तथा जीवों के शुभाशुभ कर्मों का अधिष्ठाता माना गया है

किसी कार्य का कर्ता होने के लिये उस कार्य के कारणों का ज्ञान, उस कार्य को उत्पन्न करने की इच्छा और उस कार्य के लिये प्रयत्नशील होना आवश्यक होता है, अतः ईश्वर को जगत् का कर्ता होने के लिये उसे जगत् के कारणों का ज्ञान, जगत् को उत्पन्न करने की इच्छा और जगत् के उत्पादनार्थ उसमें प्रयत्न का सद्भाव मानना आवश्यक है। जीवात्मा में ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न का उदय शरीर के सम्बन्ध से होता है और शरीर का सम्बन्ध पूर्व कर्मों के फलभोगार्थ होता है। ईश्वर का कोई पूर्वकर्म नहीं होता, जिसके फलभोग के लिये उसका शरीर से सम्बन्ध आवश्यक हो,

अतः शरीर से सम्बन्ध न होने के कारण उसमें ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न का उदय नहीं हो सकता, इसलिये ईश्वर में ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न नित्य माने जाते हैं। यतः ईश्वर सारे जगत् का कर्ता है अतः उसके ये गुण सर्वविषयक होते हैं। वाक्यरचना के लिये वाक्यार्थ का ज्ञान अपेक्षित होता है, ईश्वर समस्त वेदों की रचना करता है अतः उसे सम्पूर्ण वेदों का अर्थज्ञ माना जाता है। वह समस्त जीवोंके शुभाशुभ कर्मों का अधिष्ठाता होता है, अतः उसे समस्त जीवों के सम्पूर्ण कर्मों का ज्ञाता माना जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति में वह मनुष्य का सहायक होता है, उसकी सहायता और उसकी कृपा के विना मनुष्य कुछ नहीं कर सकता, अतः उसकी सहायता और कृपा पाने के लिये वह मनुष्य का उपास्य माना जाता है। न्यायकुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने इसी बात का संकेत करते हुए कहा है कि—

स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरुप्यते ॥
१।२

परमात्मा

पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आत्मा एक अतिरिक्त द्रव्य है, उसकी संख्या अनन्त है, उसका परिमाण परम महान् है, वह विभु और नित्य है। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और बुद्धि इन नव विशेष गुणों का वह आश्रय है। उसका लक्षण है आत्मत्व जाति। यह जाति सुख आदि गुणों की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में तथा 'आत्मन्' शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त के रूप में सिद्ध होती है। इसके मुख्य दो भेद हैं जीवात्मा और परमात्मा। यह दोनों आत्मा प्राणी के शरीर में विद्यमान रहते हैं, इनमें जीवात्मा शरीर के माध्यम से अपने पूर्व कर्म—धर्म और अधर्म के फल सुख-दुःख का भोग तथा अपने भले, बुरे कार्यों द्वारा नये कर्मों का संचय करता है और परमात्मा उसके इन सभी व्यापारों का साक्षी और उसका सहायक होता है। जैसा कि इस अग्रिम मन्त्र में कहा गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
ऋग्वेद १,१६४,२०

एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हुए हैं, वे एक दूसरे के सखा और सहयोगी हैं। उनमें एक उस वृक्ष के स्वादयुक्त फलों का भोग करता है और दूसरा उसके फलों का भोग नहीं करता किन्तु अपने भोक्ता मित्र के साक्षी और सहायक के रूप में केवल विराजमान रहता है।

प्राणी के शरीर में परमात्मा के विद्यमान रहने की बात भगवद्गीता के निम्न श्लोक में इस प्रकार कही गई है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ? तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

भ० गी० १८, ६१

ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में अवस्थित रहता है और शरीरयन्त्र पर बैठे प्राणियों को उनके कर्मों के अनुसार विभिन्न प्रकार के व्यापारों में लगाता रहता है ।

परमात्मा में आठ गुणों का निवास है । ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ये तीन विशेष-गुण तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पाँच सामान्यगुण । परमात्मा संख्या में एक और परिमाण में परम महान् है । उसका ज्ञान, उसकी इच्छा और उसका प्रयत्न नित्य और सर्वविषयक होता है ।

जगत्कर्ता

परमात्मा जगत् का कर्ता है, उसे माने विना जगत् की रचना का समर्थन नहीं किया जा सकता । वह जीवात्मा को उसके पूर्वकर्मों का फलभोग प्रदान करने तथा जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होने के हेतु उद्योग करने का अवसर प्रदान करनेके उद्देश्य से जगत् की रचना करता है । इस कार्य में पृथिवी, जल, तेज और वायु के परमाणु तथा जीवात्मा के पूर्वार्जित कर्म—धर्म और अधर्म उसके उपकरण होते हैं । जीवों का धर्माधर्मरूप संचित कर्म ही न्यायशास्त्र की दृष्टि में परमात्मा की माया है, जैसा कि उदयनाचार्य ने अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि, प्रथमस्तबक के अन्तिम श्लोक के पूर्वार्ध में कहा है—

इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा माया दुरुन्नीतितो
मूलत्वात् प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्येति यस्योदिता ॥

१।२०

जीवों का अदृष्ट ही जगत् की रचना में ईश्वर की सहकारिकारणरूपा शक्ति है । दुरुन्नेय—अनुमानद्वारा कठिनाई से साध्य होने के कारण वही विषमस्वभावा माया है, जगत् का मूलकारण होने से वही प्रकृति है । तत्त्वज्ञान से नाश्य होने के कारण वही अविद्या है ।

'शिवमहिम्नः स्तोत्र' में पुष्पदन्त ने निम्न श्लोकों में ईश्वर के जगत्कर्तृत्व का बड़ा सुन्दर प्रतिपादन किया है । जैसे—

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ?
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं काँश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥

जगत् का निर्माण करने में ईश्वर का अपना स्वार्थ क्या है ? उसके उपयुक्त उसे शरीर कहाँ से प्राप्त होता है ? उसके निमित्त उसके पास साधन क्या है ? वह कौन सा स्थान है ? जहाँ बैठकर वह जगत् की रचना करता है। इस कार्य के लिये उसके पास उपादान कारण क्या हैं ? तर्कातीत ऐश्वर्य से सम्पन्न परमात्मा में इस प्रकार के प्रश्नात्मक कुतर्कों के लिये यद्यपि कोई अवसर नहीं है फिर भी कुछ हतबुद्धि मानव जनता में भ्रम फैलाने के लिये इन प्रश्नों को लेकर कुछ बकवास करते रहते हैं। ऐसे मनुष्यों के विषय में पुष्पदन्त की यह समीक्षा बड़ी उपयुक्त है कि—

अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोऽपि ? जगता-
मधिष्ठातारं वा भवविधिरनादृत्य भवति ?
अनीशो वा कुर्याद् भुवनजनने कः परिकरो ?
यतो मन्दास्त्वां प्रत्यमरवर ? संशेरत इमे ॥

क्या यह स्थूल जगत् विना पैदा हुये ही दृष्टिगत होने लगा है ? क्या जगत् का निर्माण किसी कुशल शिल्पी के विना ही सम्पन्न हो जाया करता है ? अथवा है जगत् का भी कोई कर्ता अवश्य, पर वह ईश्वर नहीं है, तो क्या उस अनीश्वर जगत्कर्ता के विषय में वे सब प्रश्न नहीं उठाये जा सकते ? जो ईश्वर को जगत् का कर्ता मानने पर उठाये जाते हैं। यदि यह कहा जाय कि जगत् का जन्म अवश्य होता है, उसका रचयिता भी कोई अवश्य है, यह दोनों बातें ऐसी हैं जिन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः जगत्कर्ता के विषय में उक्त प्रकार के प्रश्न उठाना बेकार है तो फिर क्या कारण है कि उस जगत्कर्ता को ईश्वर का नाम दे देने पर कुछ मन्दमति मानवों पर उक्त प्रकार के प्रश्न उठाने का भूत सवार हो जाता है ?

ईश्वर के अस्तित्व की प्रामाणिक जानकारी के लिये उदयनाचार्य की न्याय-कुसुमाञ्जलि, पञ्चम स्तबक की अग्रिम कारिका बड़ी उपयुक्त है।

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥

५।१

उदयनाचार्य ने इस कारिका की स्वयं दो प्रकार की व्याख्या कर इसके द्वारा ईश्वर को सिद्ध करने वाले सोलह अनुमान प्रस्तुत किये हैं। जिनकी चर्चा विस्तारभय से नहीं की जा रही है।

सांख्यमत—

सांख्यदर्शन में ईश्वर को मान्यता नहीं दी गई है। प्रकृति और पुरुष-जीव के अनादि संयोग से ही जगत् की रचना मानी गई है। सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण ने जगत् की रचना में प्रकृति की स्वतन्त्र प्रवृत्ति का वर्णन इस प्रकार किया है कि—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥
सा० का० ५७

जिस प्रकार दूध अचेतन होते हुये भी बछड़े के पालन के निमित्त गाय के स्तन से स्वयं प्रवाहित होने लगता है उसी प्रकार पुरुष-जीव के भोग और मोक्ष के निमित्त प्रकृति जगत् की रचना में स्वयं व्यापृत होती रहती है।

थोड़े में यह समझना चाहिये कि सांख्य की दृष्टि में प्रकृति और पुरुष एक दूसरे से नितान्त विविक्त—भिन्न हैं किन्तु उनका यह विवेक—भेद अज्ञात है। इसी से उनमें अज्ञातकाल से एक विचित्र सम्पर्क बना हुआ है, वह सम्पर्क ही जगत् का मूल है। वह मूल जब तक बना रहेगा तब तक प्रकृति के गर्भ से जगत् का प्रसव निरन्तर होता रहेगा। जब कभी प्रकृति के इस बृहद् व्यापार का प्रवाह अन्तर्मुख होगा और उसके फलस्वरूप प्रकृति और पुरुष के भेद का रहस्य खुलेगा तब तत्काल पुरुष प्रकृति के बाहुपाश से विमुक्त हो जायगा और प्रकृति अपने व्यापार को निरर्थक समझ सदा के लिये शान्त हो जायगी। प्रकृति के इस महान् अभिनय को इस रूप में देखने पर उसमें कहीं भी ईश्वर का कोई योगदान आवश्यक नहीं प्रतीत होता, अतः ईश्वर की कल्पना सर्वथा निराधार है।

योगमत—

सृष्टि के सम्बन्ध में योगदर्शन और सांख्यदर्शन की मान्यता एक सी है। प्रकृति और पुरुष के विवेक-भेद का उद्घाटन न होने तक ही प्रकृति का यह जगन्नाटक अभिनीत होता है। यह तथ्य दोनों दर्शनों को समानरूप से मान्य है, पर योगदर्शन ने कुछ आगे बढ़कर थोड़ी और खोज की है और उसने एक ऐसे सर्वज्ञ आदर्श पुरुष को ढूँढ़ निकाला है जिसे प्रकृति अपने बाहुवों में कभी बाँध न सकी। जिसकी चेतनता कभी किंचिन्मात्र भी धूमिल न हुई। जिस पर संसार की किसी भी प्रिय अथवा अप्रिय घटना का कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जो सदैव नितान्त निःस्पृह

रहा। वह आदर्श पुरुष ही ईश्वर है। पुरुष को उसकी समकक्षता प्रदान करना ही प्रकृति का लक्ष्य है। वह सोचती है कि जिन पुरुषों को उसने अपने गुणों में बाँध रखा, जो उसके सम्पर्क में आये, वे उससे दूर रहने वाले विशेष पुरुष—ईश्वर से किसी भी अंश में न्यून न रहें, अपि तु उसके अभिनय में उचित सहयोग देने का उन्हें यह पुरस्कार दिया जाय कि वे ईश्वर की पूर्ण समानता तो प्राप्त करें ही, साथ ही वे इस महिमा से भी मण्डित रहें कि उन्हें प्रकृति का वह मधुमय आलिङ्गन भी प्राप्त हो चुका है जो ईश्वर को कभी नहीं प्राप्त हुआ। इस प्रकार योग की दृष्टि में जगत् की रचना में ईश्वर का कोई उपयोग न होने पर भी आदर्श के रूप में उसकी कल्पना आवश्यक है।

वेदान्तमत—

वेदान्तदर्शन का विकास अनेक शाखाओं में हुआ है, जैसे शङ्कर का अद्वैतवाद, रामानुज और रामानन्द का विशिष्टाद्वैतवाद, मध्व का द्वैतवाद, वल्लभ का शुद्धाद्वैतवाद, निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद और चैतन्यदेव का अचिन्त्य द्वैताद्वैतवाद। वेदान्त की इन सभी शाखाओं में ईश्वर को मान्यता दी गई है। अन्तर केवल इतना ही है कि शङ्कर के अद्वैतवाद का ईश्वर माया की ही एक कल्पना है जब कि अन्य वेदान्तों में उसकी स्वतन्त्र सत्ता है। ईश्वर के सम्बन्ध में यह बात सभी वेदान्तों को मान्य है कि वह जगत् का कर्ता तथा जीव का उपास्य है।

मीमांसा—

मीमांसादर्शन के दो भेद हैं पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। पूर्वमीमांसा का प्रतिपाद्य है कर्म और उत्तरमीमांसा का प्रतिपाद्य है ज्ञान। कर्म और ज्ञान यही दो साधन हैं जिनका अवलम्बन ले मनुष्य अपना भौतिक और आध्यात्मिक अभ्युत्थान कर अपने जीवन को सार्थक बना सकता है। उत्तरमीमांसा का ही नाम है वेदान्त। ईश्वर के सम्बन्ध में उसकी मान्यता का उल्लेख अभी किया जा चुका है। पूर्वमीमांसा का दृष्टिकोण इस विषय में उत्तरमीमांसा के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है। जहाँ तक जगत् की रचना का प्रश्न है, उसके लिये पूर्वमीमांसा की दृष्टि में ईश्वर की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि पूर्वमीमांसा के अनुसार जगत् का प्रवाह अनादि-अनन्त है। जगत् का न कभी आरम्भ हुआ है और न कभी अवसान होगा। जगत् की धारा अनादिकाल से अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती आ रही है और आगे भी अनन्तकाल तक इसी प्रकार प्रवाहित होती रहेगी। मानवसमाज उन्नति और अवनति, जय और पराजय, जन्म और मृत्यु, स्वर्ग और नरक के उच्चावच तरङ्गों में सदैव इसी प्रकार झूलता रहेगा। यह जगत् मानव के लिये सदैव इसी प्रकार क्रीडा की भूमि बना रहेगा। फिर ईश्वर का उसमें क्या स्थान है? जब जगत् का क्रम स्वाभा-

विक और शाश्वत है, मनुष्य अपने कर्मों के लिये स्वतन्त्र और स्वयं उत्तरदायी है, तब ईश्वर इसमें क्या कर सकेगा ? अतः जगत् के निमित्त ईश्वर की कल्पना अनावश्यक है।

हाँ, एक बात के लिये ईश्वर की कल्पना बाद में पूर्वमीमांसा दर्शन में भी की हुई प्रतीत होती है, वह यह कि मनुष्य के कुछ ऐसे भी कार्य होते हैं जिनका फल उसे चिरकाल के बाद उपलब्ध होता है और उस कार्य एवं फल के बीच की इस लम्बी अवधि में ऐसी कोई वस्तु नहीं होती जो उन दोनों के बीच कड़ी का काम कर सके, जैसे मनुष्य स्वर्ग की कामना से यज्ञ का अनुष्ठान करता है, वह अनुष्ठान एक निश्चित अवधि में पूरा हो जाता है। मनुष्य उस अनुष्ठान के बाद भी जगत् के अन्य कार्यों में यथापूर्व लगा रहता है। कालान्तर में एक ऐसा अवसर आता है जब उसे अपने चिरपूर्व किये गये उस यज्ञानुष्ठान के फल—स्वर्ग की प्राप्ति होती है। प्रश्न होता है कि यह बात कैसे बन सकती है ? कौन इस बात का साक्षी है कि अमुक मनुष्य ने अमुक अनुष्ठान अमुक समयमें किया है अतः उसे अमुक फल प्राप्त होना चाहिये। इस प्रश्न का एक मात्र उचित उत्तर यही हो सकता है कि ईश्वर एक ऐसा पुरुष है जो मनुष्य के उन कर्मों का साक्षी होता है, वही उसके उचितकर्मों से प्रीत हो कर उसे उत्तम फल प्रदान करता है और अनुचित कर्मों से रुष्ट होकर अवाञ्छनीय फल प्रदान करता है। इसी बात को पुष्पदन्त ने शिवमहिम्नः स्तोत्र में भगवान् शिव की महिमा का स्तवन करते हुए इन शब्दों में व्यक्त किया है।

> क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
> क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते ?।
> अतस्त्वां सम्प्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानव्यसनिनं
> श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा दृढपरिकरः कर्मसु जनः ॥

मनुष्य जिस यज्ञ आदि कर्म का अनुष्ठान करता है वह तो एक निश्चित समय में सम्पन्न होकर समाप्त हो जाता है। भगवान् शिव ही कालान्तर में उस कर्म को करने वाले मनुष्य को उसका फल प्रदान करते हैं। यदि उस कर्म से भगवान् की आराधना न हो, यदि भगवान् उस कर्म के साक्षी न हों तो चिरपूर्व नष्ट हुआ वह कर्म कालान्तर में फल का सम्पादन कैसे कर सकेगा ? अतः यह निश्चित है कि मनुष्य केवल इसी विश्वास पर वेदवचनों में श्रद्धा रखकर कर्म करता है कि भगवान् शिव उसके कर्म से प्रीत होंगे, वही उसके कर्म के साक्षी होंगे, वह उसे उसके कर्म का फल अवश्य देंगे। यह कार्य कर्मजन्य अपूर्वमात्रसे नहीं हो सकता क्योंकि वह जड़ होता है अतः उसे चेतन के सहयोग की अपेक्षा है।

इस प्रकार मनुष्य के आराध्यरूप में, मनुष्य के कर्मों के साक्षी और फलदाता के रूप में ईश्वर पूर्वमीमांसा को भी मान्य हो सकता है। पश्चाद्वर्ती मीमांसकों की यही सबसे बड़ी उपलब्धि प्रतीत होती है।

जैनमत—

जैनदर्शन को भी जगत्कर्ता के रूप में ईश्वर अमान्य है। उसकी दृष्टि में भी जगत् का प्रवाह अनादि और अनन्त है। इसका कभी प्रारम्भ तथा उपरम नहीं होता। जीवों के चिरसंचित कर्मों के परिपाक और पुद्गलों के संयोग-वियोग से संसार की धारा अनादि काल से प्रवाहित होती आ रही है और ह्रास-विकास के विभिन्न परिवर्तनों के साथ अविच्छिन्न रूप से इसी प्रकार अनन्त काल तक प्रवाहित होती रहेगी। इसलिये इसमें ईश्वर को कुछ करने का कोई अवसर नहीं है। इतना ही नहीं, किन्तु ईश्वर को जगत् का कर्ता मानने पर कुछ ऐसे प्रश्न खड़े होते हैं जिनसे उसका ईश्वरत्व ही संकट में पड़ जाता है। स्याद्वादरत्नाकर में उठाये गये ऐसे अनेक प्रश्नों में से केवल एक प्रश्न की चर्चा यहाँ की जा रही है, जिससे पाठकों का ध्यान उस प्रश्न के सदृश अन्य प्रश्नों की ओर स्वयं आकृष्ट हो जायगा। जैसे ईश्वर को जगत् का कर्ता मानने पर यह प्रश्न उठता है कि वह जगत् का निर्माण अपनी रुचि से करता है? या जीवों के कर्मों के अनुसार उसे जगत् की रचना करनी पड़ती है? अथवा जीवों को जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होने का अवसर देने के लिये कृपाभाव से वह जगत् का निर्माण करता है? इन तीनों पक्षों के विषय में स्याद्वादरत्नाकर की निम्नाङ्कित उक्ति बड़ी मार्मिक है। पहले पक्ष के सम्बन्ध में यह कहना है कि—

> जायेत पौरस्त्य विकल्पनायां कदाचिदन्यादृगपि त्रिलोकी।
> न नाम नैयत्यनिमित्तमस्याः किञ्चिद् विरूपाक्षरुचेः समस्ति॥

आशय यह है कि यदि ईश्वर को अपनी रुचि के अनुसार जगत् का कर्ता माना जायगा, तो उसकी रुचि सदा एक प्रकार की ही हो, इस बात का कोई नियामक न होने से उसकी रुचि विविध प्रकार की भी हो सकती है और फिर उस दशा में जगत् की रचना एक प्रकार की न होकर अन्य प्रकार की भी होने लगेगी, जब कि ईश्वर-वादी को यह मान्य नहीं है, क्योंकि उसकी आस्था तो 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्—विधाता ने जगत् की रचना यथापूर्व की है' इस वैदिक उद्घोष पर टिकी है।

दूसरे पक्ष के सम्बन्ध में यह कहना है कि—

> करोत्ययं तां यदि कर्मतन्त्रः स्वतन्त्रतैतस्य तदा कथं स्यात्?
> सखे? स्वतन्त्रत्वमिदं हि येषां परानपेक्षैव सदा प्रवृत्तिः॥

यदि ईश्वर को जीवों के कर्मानुसार जगत् का कर्ता माना जायगा तो उसकी स्वतन्त्रता का व्याघात होगा, क्योंकि जिसे अपने कार्य में अन्य की अपेक्षा न करनी पड़े वही स्वतन्त्र कहलाता है। तो फिर जब ईश्वर को जगत् की रचना में जीव के कर्मों का अनुसरण करना पड़ा तो फिर उसकी स्वतन्त्रता कहाँ रही ? और जब उसको स्वतन्त्रत न रही तो उसका ईश्वरत्व कहाँ रहा ?

तीसरे पक्षके सम्बन्ध में यह कहना है कि—

> क्षुद्रग्रामे निवासः क्वचिदपि सदने रौद्रदारिद्र्यमुद्रा
> जाया दुर्दर्शकाया कटुरटनपटुः पुत्रिकाणां सवित्री ।
> दुःस्वामिप्रेष्यभावो भवति भवभृतामत्र येषां ततैतान्
> शम्भुर्दुःखैकदग्धान् सृजति यदि तदा स्यात्कृपा कीदृगस्य ? ॥ १ ॥

इस संसार में ऐसे अनेक मनुष्य हैं जिनका किसी छोटे से गाँव में अत्यन्त दरिद्र घर में जन्म हो जाता है, जिन्हें एक कुरूप, कर्कशा, केवल कन्यावों को जन्म देने वाली भार्या मिल जाती है और जिन्हें अपने पेट और परिवार के लिये किसी दुष्ट स्वामी के यहाँ नौकरी करनी पड़ती है। भला बताइये, इस प्रकार दुःखाग्नि की ज्वाला में अनवरत झुलसने वाले इन मनुष्यों की रचना में ईश्वर की क्या कृपालुता है ?

यह तथा इसी ढंग की अन्य ऐसी अनेक बातें हैं जिनके कारण जैनदर्शनको ईश्वर का जगत्कर्तृत्व स्वीकार्य नहीं है।

ईश्वर के विषय में जैनदर्शन का स्पष्ट मत यह है कि ईश्वरत्व कोई नैसर्गिक वस्तु नहीं है किन्तु वह प्रयत्नसाध्य है। कोई भी भव्य मानव सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य की साधना से ईश्वरत्व प्राप्त कर सकता है। जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य में वह अनन्त अनवद्य चेतना विद्यमान है जिसका उन्मेष होने पर वह सर्वज्ञ और ईश्वर बन सकता है, किन्तु उस चेतना पर अनादिकाल से जन्म-जन्मान्तर के कर्मों का जो आवरण पड़ा है, मनुष्य को उसे हटाने का प्रयत्न करना होगा। उसे इस दिशा में अपने पूर्व पुरुषों का, जिन्होंने अपनी तपोमय साधना से इस आवरण को दूर कर सर्वज्ञत्व और ईश्वरत्व प्राप्त कर लिया है, अनुसरण करना होगा। उनके मार्ग पर चलना होगा। उनके अनुभवों का लाभ उठाना होगा। जैनागमों में संचित उनके उपदेशों के अनुसार अपने जीवनको ढालना होगा। श्रद्धा, निष्ठा और तत्परता के साथ इस कार्य में लगने पर वह सुदिन उसके जीवन में निस्सन्देह आ सकता है जब वह अपनी निसर्गसिद्ध निरवधि चेतना के समस्त कर्मावरणों को ध्वस्त कर अपनी सहज सर्वज्ञता और ईश्वरत्व में प्रतिष्ठित हो सकता है।

बौद्धमत—

बौद्धदर्शन में भी ईश्वर को जगत् का कर्ता नहीं माना गया है। उसकी दृष्टि में भी जगत् का प्रवाह किसी चेतन पुरुष के प्रयत्न से प्रवृत्त नहीं है, किन्तु सारा जगत् 'प्रतीत्य समुत्पाद' पर आश्रित है, जिसका अर्थ यह है कि जगत् की प्रत्येक घटना अपने कारणों के स्वभावसुलभ सन्निधान से घटित होती है, उसमें ईश्वर की या किसी अन्य चेतन तत्त्व की कहीं कोई अपेक्षा नहीं है। उसकी दृष्टि में भी सर्वज्ञत्व और ईश्वरत्व प्रयत्नसाध्य है। कोई भी मनुष्य अपनी प्रज्ञा और सदाचार के विकासद्वारा बुद्धत्व प्राप्त कर सर्वज्ञ और ईश्वर बन सकता है।

आधुनिक मत—

ईश्वर के विषय में सबसे नया मत आज के वैज्ञानिकों का है। उनकी धारणा है कि जगत् की जड़ कही जाने वाली वस्तुओं में ही सब कुछ है। मनुष्य को जो कुछ भी प्राप्त करना हो उसे इन वस्तुओं में प्राप्त किया जा सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि मनुष्य भाग्य, पुनर्जन्म, ईश्वर आदि रूढ़िवादी मान्यताओं से ऊपर उठ अपने को विज्ञानोन्मुख बनाये, जगत् के पदार्थों की अपार क्षमता पर विश्वास करे, उसे उद्बुद्ध करने का वैज्ञानिक प्रयास करे। यदि वह ऐसा करेगा तो जो कुछ ईश्वर से प्राप्त करना चाहता है, उससे बहुत अधिक वह जगत् के पदार्थों से ही प्राप्त कर लेगा और अपने भीतर स्वयं ईश्वरत्व का अनुभव करने लगेगा।

बुद्धिसंगत मत—

ईश्वर के विषय में कई मतों की चर्चा की गई। विचार करने पर उन सबों में न्याय-वैशेषिक का मत ही बुद्धिसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि उस मत में ईश्वर की कल्पना जिस आधार पर की गई है, वह सभी बुद्धिमान् मनुष्यों को निर्विवाद रूप से स्वीकार्य है। यह कहना कि इस जगत् की धारा अविच्छिन्न है, यह एकान्त रूप में अनादि है, इसका न तो इदम्प्रथमतया कभी आरम्भ हुआ है और न कभी इसका अवसान होगा, यह सदा इसी प्रकार चलता रहेगा, ठीक नहीं है, क्योंकि मनुष्य देखता है कि उसके समक्ष ऐसे असंख्य दृश्य पदार्थ हैं जिनका एक दिन कोई पता न था, जिनके अस्तित्व का कोई चिह्न न था, मनुष्य उन्हें जहाँ आज देखता है कभी वहाँ कुछ न था, केवल शून्य था, कोई सीमा न थी, कोई परिधि न थी, कोई मूर्ति न थी, कोई अभिव्यक्ति न थी, पर एक दिन वहाँ उन पदार्थों की विशाल मूर्ति खड़ी हो जाती है, उनका उपयोग, उनका व्यवहार होने लगता है, उनके लिये लड़ाई-झगड़े और रक्तपात होने लगते हैं। वह देखता है बड़ी बड़ी नदियों, समुद्र के बड़े बड़े भागों को स्थल में परिवर्तित होते, बड़े बड़े जंगलों को ग्राम और नगर में बदलते, बड़े बड़े नगरों-उपनगरों को उजाड़ जंगल में उतरते, गम्भीर महागर्तों में ऊँचे ऊँचे पहाड़ खड़े होते और बड़े बड़े पहाड़ों

को कण कण में चूर्ण विचूर्ण होते। यह घटनायें उसकी आँखें खोल देती हैं, उसे यह स्वीकार करनेको बाध्य करती हैं कि प्रत्येक स्थूल पदार्थ अभावपूर्वक होता है, प्रत्येक दृश्य वस्तु की व्यक्तावस्था अव्यक्तावस्थापूर्वक होती है। इसी प्रकार प्रत्येक अभाव भावपूर्वक तथा प्रत्येक अव्यक्तावस्था व्यक्तावस्थापूर्वक होती है। फिर यह अव्यभिचरित नियम इस तथ्य को स्थापित करता है कि कोई ऐसा भी समय अवश्य रहा होगा जब यह जगत् अस्तित्वशून्य अथवा अव्यक्त रहा होगा। इस वस्तुस्थिति में यह निर्विवाद है कि यदि जगत् की उस शून्यावस्था में कोई भावात्मक तत्त्व न माना जायगा तो यह विपुल विश्व कैसे खड़ा हो सकेगा? केवल शून्य से, असत् से, अभाव से इस विचित्र जगच्चित्र का चित्रण कैसे हो सकेगा? किसी भी चित्र क खींचने, किसी भी मूर्ति को खड़ी करने, किसी भी ठोस वस्तु को बनाने में कुशल शिल्पी और आवश्यक उपकरणों तथा उपादानतत्त्वों का होना अनिवार्य होता है, अतः जगत् की उस शून्य अवस्था में उसके उपादान तत्त्व, कुशल रचयिता और आवश्यंक उपकरणों का अस्तित्व मानना ही होगा। न्यायवैशेषिक दर्शन ने उस उपादान को परमाणु, कर्ता को ईश्वर और जीव के पुरातनकर्मों को उपकरण के रूप में वर्णित किया है। इस प्रकार ईश्वर की कल्पना का न्यायवैशेषिकसम्मत आधार सर्वसाधारण के अनुभव पर आधारित होने से अन्य मतों की अपेक्षा अधिक बुद्धिसंगत है।

ईश्वर का अवतार—

जब यह बात बुद्धि में उतर जाती है कि जगत् की रचना ईश्वरद्वारा होती है और उसकी रचना का उद्देश्य है जीवों को जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होने का अवसर प्रदान करना, तब यह भी मानना आवश्यक हो जाता है कि जब कभी जगत् की व्यवस्था विशृङ्खल होती है, सामाजिक संगठन ढीला पड़ता है, अविद्या, अनैतिकता और भ्रष्टाचार का बोलबाला होने लगता है, मानवसमाज भोग-विलास में फँस कर अध्यात्म-विमुख हो जाता है, शासन इन बुराइयों को दूर करने की भावना और क्षमता से हीन हो स्वयं उनका शिकार बन जाता है, धर्म की हानि और अधर्म की बाढ़ सीमा पार करने लगती है, तब राष्ट्र को, समाज को उचित मार्ग पर प्रतिष्ठित कर जगत् की सुरक्षा और सुव्यवस्था के निमित्त ईश्वर को अवतार भी लेना पड़ता है। जैसा कि भगवद्गीता में स्पष्ट कहा गया है।

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ?
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे ॥
> ४।७, ८

तस्य भोगायतनमन्त्यावयवि शरीरम्। सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः भोगः, स च यदवच्छिन्न आत्मनि जायते तद् भोगायतनं, तदेव शरीरम्। चेष्टाश्रयो वा शरीरम्। चेष्टा तु हिताहितप्राप्तिपरिहारार्था क्रिया, न तु स्पन्दनमात्रम्।

शरीर—

जो आत्मा के भोग का आयतन—आश्रय और अन्त्य अवयवी होता है उसे शरीर कहा जाता है। भोग का अर्थ है सुख अथवा दुःख का साक्षात्कार–प्रत्यक्ष अनुभव। यह भोग जिससे अवच्छिन्न आत्मा में उत्पन्न होता है उसे आत्मा के भोग का आयतन कहा जाता है। भोग का जो आयतन अन्त्य अवयवी होता है उसी को शरीर शब्द से व्यवहृत किया जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा तो विभु है, उसका संयोग सभी मूर्तद्रव्यों के साथ होता है, अतः वह सभी मूर्तद्रव्यों से अवच्छिन्न होता है, परन्तु जिस किसी भी मूर्तद्रव्य से अवच्छिन्न आत्मा में सुख, दुःख आदि विशेष गुणों का उदय अथवा सुख, दुःख का अनुभव नहीं होता, किन्तु शरीर तथा उसके कर-चरण आदि अवयवों से अवच्छिन्न आत्मा में ही होता है, इस लिये शरीर और उसके अवयव ही भोग के आयतन होते हैं। उनमें कर-चरण आदि शरीर का अवयव होने से अन्तिम अवयवी नहीं होते किन्तु शरीर ही अन्तिम अवयवी होता है क्योंकि वह किसी अन्य द्रव्य का आरम्भक––समवायिकारण न होने से किसी का अवयव नहीं होता, अतः वही 'भोग का आयतन अन्त्य अवयवी' इस लक्षण से लक्षित होता है, उसके अवयव कर-चरण आदि नहीं लक्षित होते।

अभी यह कहा गया है कि आत्मा शरीर आदि सभी मूर्तद्रव्यों से अवच्छिन्न होता है। प्रश्न होता है कि मूर्तद्रव्यों से आत्मा के अवच्छिन्न होने का क्या अर्थ है? यदि यह उत्तर दिया जाय कि अवच्छिन्न होने का अर्थ है परिसीमित होना, तो यह उचित नहीं है, क्यों कि आत्मा निसर्गतः निस्सीम है, निरंश है, और निस्सीम का, निरंश का सीमन कथमपि संगत नहीं हो सकता। अतः न्यायवैशेषिक की दृष्टि से इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जा सकता है कि मूर्तद्रव्यों के साथ आत्मा का जैसे संयोग सम्बन्ध होता है उसी प्रकार उनके साथ उसका अवच्छेदकता नाम का एक और भी सम्बन्ध होता है। यह अवच्छेदकता कोई अन्य पदार्थ नहीं होता किन्तु मूर्तद्रव्यस्वरूप ही होता है। इसी लिए इसे स्वरूपसम्बन्धविशेष भी कहा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मूर्तद्रव्य और आत्मा के बीच जैसे संयोग सम्बन्ध है उसी प्रकार उनके बीच स्वरूपसम्बन्ध भी

है । इस प्रकार मूर्तद्रव्य और आत्मा के बीच मूर्तद्रव्य का जो स्वरूपात्मक सम्बन्ध है उसी का नाम है अवच्छेदकता, और मूर्तद्रव्यों से आत्मा के अवच्छिन्न होने का अर्थ है अवच्छेदकतात्मक स्वरूपसम्बन्ध से मूर्तद्रव्यों से सम्बद्ध होना ।

प्रश्न हो सकता है कि सभी मूर्तद्रव्यों के साथ आत्मा के संयोग सम्बन्ध की कल्पना तो इस लिए की जाती है कि उसके बिना उसकी व्यापकता नहीं बन पाती, पर सभी मूर्तद्रव्यों के साथ उसके अवच्छेदकतानामक सम्बन्ध की कल्पना का क्या आधार है ? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि 'शरीर से अवच्छिन्न आत्मा में सुख, दुःख का अनुभव होता है, घट आदि से अवच्छिन्न आत्मामें नहीं होता' यह एक सर्वमान्य व्यवहार है । इस व्यवहार की उपपत्ति के लिए शरीर आदि को आत्मा का अवच्छेदक तथा आत्मा को उनसे अवच्छेद्य मानना आवश्यक है । यह बात उन दोनों के परस्परसंयोगमात्रसे सम्भव नहीं है, क्योंकि जिन द्रव्यों में संयोग सम्बन्ध होता है उन सभी में अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव नहीं होता । अतः आत्मा और मूर्तद्रव्तों में अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव के उपपादनार्थ मूर्तद्रव्यों के साथ आत्मा के अवच्छेदकतानामक सम्बन्ध की कल्पना की जाती है और उसे कोई अतिरिक्त पदार्थ न मान कर मूर्तद्रव्यात्मक ही माना जाता है ।

अभी शरीर का लक्षण बताया गया है 'भोग का आयतन अन्त्य अवयवी'। इस सन्दर्भ में यह समझ लेना आवश्यक है कि इस लक्षण को ज्यों का त्यों रखना होगा, इसमें कोई कमी नहीं की जा सकती, क्यों कि इसमें से यदि 'भोगायतन' अंश को निकाल कर 'अन्त्य अवयवी' मात्र को शरीर का लक्षण माना जायगा तो घट, पट आदि में अतिव्याप्ति होगी क्यों कि किसी अन्य द्रव्य का आरम्भक न होने से वे भी अन्त्य अवयवी हैं, पर 'भोगायतन' अंश को लक्षण का अङ्ग बना देने पर यह दोष नहीं हो सकता, क्यों कि वह आत्मा के भोग का आयतन नहीं होता । इसी प्रकार 'अन्त्य अवयवी' अंश को निकाल कर यदि 'भोगायतन' मात्र को शरीर का लक्षण माना जायगा तो शरीर के अवयव कर-चरण आदि में शरीरलक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि ग्रीष्मऋतु में चन्दन आदि शीत पदार्थ का लेप होने पर तथा किसी कठोर वस्तु से आहत होने पर कर-चरण आदि भी सुख, दुःख के भोग का आयतन होते हैं, पर 'अन्त्य अवयवी' अंश को लक्षण का अङ्ग मानने पर यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि कर-चरण आदि शरीर का आरम्भक होने से अन्त्य अवयवी नहीं होता । इसी प्रकार ' अन्त्य ' अंश को निकाल कर यदि 'भोगायतन अवयवी' मात्र को शरीर का लक्षण माना जायगा तो कर-चरण आदि में प्रायः अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वह उक्त रीति से भोग का आयतन और अङ्गुलि आदि अपने अवयवों की दृष्टि से अवयवी है।

किन्तु जब 'अन्त्य' अंशको लक्षण का अङ्ग माना जायगा तब यह दोष न होगा, क्योंकि अन्त्य अवयवी का अर्थ होता है किसी का अवयव न होकर केवल अवयवी होना, और कर-चरण आदि अङ्गुलि आदि की दृष्टि से अवयवी तो हैं पर शरीर का आरम्भक—अवयव होने से अन्त्य अवयवी नहीं हैं।

प्रसिद्ध शरीरों को लक्ष्य रखने पर 'भोगायतनम् अन्त्यावयवि शरीरम्' शरीर का यह लक्षण यद्यपि उचित है, पर सूक्ष्म विचार करने पर यह लक्षण निर्दोष नहीं सिद्ध हो पाता, क्योंकि पुराणों में यह बात बहुत्र उपलब्ध होती है कि ईश्वर ने अपने शरीर से भूमि आदि स्थूल पदार्थों को उत्पन्न किया। पुराणों के इस कथन के अनुसार उदयनाचार्य आदि प्राचीन नैयायिकों ने पृथिवी आदि के परमाणुवों को ईश्वर का शरीर माना है, अतः शरीर का जो लक्षण बने उसका समन्वय परमाणुवों में होना आवश्यक है। शरीर के उक्त लक्षण का समन्वय परमाणुवों में नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर में भोग की सम्भावना न होने से परमाणु ईश्वर के भोगायतन नहीं हो सकते। शरीर के उक्त लक्षण में यह त्रुटि देखकर उसका दूसरा लक्षण किया गया 'चेष्टाश्रयो वा शरीरम्'—जो चेष्टा का आश्रय हो वह शरीर है। चेष्टा का अर्थ केवल स्पन्दन—गतिमात्र नहीं है किन्तु उसका अर्थ है हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के लिए की जाने वाली क्रिया। ईश्वर का अपना कोई हित अथवा अहित नहीं होता। जीवों का हित ही उसका हित और जीवों का अहित ही उसका अहित होता है। ईश्वर जीवों के हित की सिद्धि और अहित के परिहार के लिए ही जगत् के निर्माणार्थ परमाणुवों में क्रिया उत्पन्न करता है, इस लिए ईश्वर के प्रयत्न से उत्पन्न होने वाली चेष्टा का आश्रय होने से परमाणु को ईश्वर का शरीर माना जाता है।

इस सन्दर्भ में प्रसङ्गतः यह बात और समझ लेनी चाहिये कि मनुष्य का शरीर पाञ्चभौतिक—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच भूतों से निर्मित अथवा त्रैभौतिक–पृथ्वी, जल और तेज इन तीन भूतों से निर्मित न होकर केवल ऐकभौतिक–पार्थिव–एकभूत पृथ्वीमात्र से निर्मित होता है। मनुष्य शरीर को पार्थिव कहने का यह अर्थ नहीं है कि उसके निर्माण में जल आदि की आवश्यकता ही नहीं होती अथवा उसमें जल आदि का कोई अंश नहीं होता किन्तु उसे पार्थिव कहने का केवल इतना ही आशय होता है कि उसका उपादानकारण—समवायिकारण केवल पृथिवी होती है, अन्य भूत उसके निमित्तमात्र होते हैं। निमित्त भी ऐसे होते हैं जो शरीर के जीवनकाल तक उसमें अनुविद्ध रहते हैं, कुछ दार्शनिकों ने उसे पाञ्चभौतिक या त्रैभौतिक भी माना है, पर नैयायिकों को यह बात स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि एकजातीय द्रव्यों में ही उपादान-उपादेयभाव युक्तिसंगत होता है, शरीर को यदि पृथिवी, जल

शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियम्। 'अतीन्द्रियमिन्द्रियम्' इत्युच्यमाने कालादेरपीन्द्रियत्वप्रसङ्गोऽत उक्तं ज्ञानकरणमिति। तथापि इन्द्रियार्थसंनिकर्षेऽतिप्रसङ्गोऽत उक्तं शरीरसंयुक्तमिति। 'शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमिन्द्रियम्' इत्युच्यमाने आलोकादेरिन्द्रियत्वप्रसङ्गोऽत उक्तमतीन्द्रियमिति। तानि चेन्द्रियाणि षट्—घ्राण, रसन, चक्षुः, त्वक्, श्रोत्र, मनांसि।

आदि कई विजातीय द्रव्यों का उपादेय माना जायगा तो उसमें पृथिवीत्व, जलत्व आदि का सांकर्य होगा और उस स्थिति में पृथिवी, जल आदि द्रव्यों में विजातीयत्व का लोप हो जाने से पृथिवी, जल आदि के रूप में द्रव्य का नव श्रेणियों में वर्गीकरण असंगत हो जायगा। इस प्रकार द्रव्य के सम्बन्ध में न्यायवैशेषिकदर्शन की मूलमान्यता का ही भङ्ग हो जायगा।

शरीर को पाञ्चभौतिक या त्रैभौतिक मानने में एक और बाधा है, वह यह कि शरीर यदि पाञ्चभौतिक या त्रैभौतिक होगा तो पृथिवी के विशेणगुण गन्ध का उसके जलीय आदि भागों में, एवं जल के विशेष गुण शीतस्पर्श आदि का पार्थिव आदि भागों में तथा तेज के विशेषगुण उष्णस्पर्श का जलीय आदि भागों में उदय न होगा, क्योंकि गन्ध के प्रति पृथिवी ही समवायिकारण है, जल आदि नहीं एवं शीतस्पर्श के प्रति जल ही समवायिकारण है पृथिवी आदि नहीं, तथा उष्णस्पर्श के प्रति तेज ही समवायिकारण है जल आदि नहीं, इसका परिणाम यह होगा कि शरीर का एक भाग सगन्ध और अन्य भाग निर्गन्ध, एवं एक भाग शीत अन्य भाग अशीत तथा एक भाग उष्ण अन्य भाग अनुष्ण होगा, जब कि यह सब अनुभवविरुद्ध है। अतः शरीर के सम्पूर्ण भाग में पृथिवी के विशेषगुण गन्धकी उपलब्धि होने से मनुष्य आदि के शरीर को पार्थिव मानना ही उचित है।

इन्द्रिय—

इन्द्रिय शब्द 'इन्द्र' शब्द और 'घ' प्रत्यय के योग से बना है। 'इन्द्र का अर्थ है आत्मा और 'घ' का अर्थ है सम्बन्धी। इसलिये इन्द्रिय शब्द का अर्थ होता है आत्म-सम्बन्धी। किन्तु इन्द्रिय शब्द के इस योगलभ्य अर्थ को इन्द्रिय का लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसे इन्द्रिय का लक्षण मानने पर आत्मसम्बन्धी शरीर आदि में उसकी अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः उसका लक्षण किया गया है 'शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणम् अतीन्द्रियम्'—जो शरीर से संयुक्त हो, ज्ञान का करण हो तथा अतीन्द्रिय हो उसे इन्द्रिय कहा जाता है। घ्राण आदि शरीर से संयुक्त होते हैं, गन्ध आदि के ज्ञान के करण होते हैं और स्वयम् अतीन्द्रिय होते हैं अतः उन्हें इन्द्रिय कहा जाता है।

उक्त लक्षण से 'ज्ञानकरणम्' इस अंश को निकालकर यदि 'शरीरसंयुक्तम् अतीन्द्रियम्' मात्र को इन्द्रिय का लक्षण माना जायगा तो काल आदि में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वह भी शरीर से संयुक्त और अतीन्द्रिय होता है, और जब 'ज्ञानकरणम्' अंश को लक्षण का अङ्ग माना जायगा तब यह दोष नहीं होगा, क्योंकि काल आदि ज्ञान का करण नहीं होता। 'ज्ञानकरणम्' के बदले 'ज्ञानकारणम्' कहने पर भी इस दोष का परिहार नहीं होगा, क्योंकि काल कार्यमात्र का साधारण कारण होने से ज्ञान का भी कारण होता है। किन्तु 'ज्ञानकरणम्' को लक्षण का अङ्ग मानने पर यह दोष नहीं होता, क्योंकि 'ज्ञानकरण' का अर्थ होता है व्यापारद्वारा ज्ञान का असाधारण कारण' और काल कार्यमात्र का साक्षात् कारण होने से व्यापारद्वारा ज्ञान का असाधारण कारण नहीं होता।

उक्त लक्षण से 'शरीरसंयुक्तम्' अंश को निकाल कर यदि 'ज्ञानकरणम् अतीन्द्रियम्' मात्र को इन्द्रिय का लक्षण माना जायगा तो विषय के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि वह निर्विकल्पकज्ञानरूप व्यापार के द्वारा सविकल्पक ज्ञान का करण और अतीन्द्रिय होता है किन्तु 'शरीरसंयुक्तम्' को लक्षण का अङ्ग मानने पर यह दोष न होगा क्योंकि इन्द्रिय का सन्निकर्ष द्रव्यस्वरूप न होने से शरीरसंयुक्त नहीं हो सकता।

उक्त लक्षण से 'अतीन्द्रियम्' अंश को निकाल कर यदि 'शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणम्' मात्र को इन्द्रिय का लक्षण माना जायगा तो प्रकाश में अतिव्याप्ति हो जायगी क्योंकि प्रकाश शरीर से संयुक्त होता है और शरीर के चाक्षुष-प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का करण होता है, किन्तु जब 'अतीन्द्रियम्' अंश को लक्षण का अङ्ग माना जायगा तब यह दोष न होगा क्योंकि प्रकाश इन्द्रियवेद्य होने से अतीन्द्रिय नहीं होता।

'अतीन्द्रियम्' का भी अर्थ इन्द्रियातीत या इन्द्रिय से अग्राह्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह अर्थ करने पर इन्द्रिय के लक्षण में इन्द्रिय का प्रवेश हो जाने से आत्माश्रय दोष हो जायगा, अतः अतीन्द्रिय का अर्थ है अप्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष ज्ञान का अविषय, और प्रत्यक्षज्ञान का अर्थ है ज्ञानाकरणक ज्ञान, वह ज्ञान जिसका करण कोई ज्ञान—सविकल्पक ज्ञान न हो। अतीन्द्रिय शब्द के इस अर्थ में इन्द्रिय का प्रवेश न होने से आत्माश्रय दोष नहीं होता।

इन्द्रियभेद—

इन्द्रिय के छः भेद होते हैं -घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र और मन। इनमें पहले की पाँच इन्द्रियां वाह्य इन्द्रिय कही जाती हैं। इनसे शरीर के भीतर आत्मा या आत्मा के

गुणों एवं उनकी जाति का प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु बाह्य पदार्थों का ही प्रत्यक्ष होता है। छठीं इन्द्रिय है मन, इसे आन्तर इन्द्रिय कहा जाता है, इससे बाह्य वस्तुवों का प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु शरीर की भीतरी वस्तु आत्मा, उसके गुण तथा उनकी जाति का प्रत्यक्ष होता है।

इन्द्रिय के विषय में एक यह बात समझ लेना आवश्यक है कि सांख्य, वेदान्त आदि अन्य दर्शनों में इन्द्रियों के दो भेद माने गये हैं, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। जिन इन्द्रियों से ज्ञान का उदय होता है उन्हें ज्ञानेन्द्रिय कहा जाता है और जिन इन्द्रियों से कर्म किए जाते हैं उन्हें कर्मेन्द्रिय कहा जाता है। ज्ञानेन्द्रियां प्रायः वही हैं जो ऊपर बतायी जा चुकी हैं। कर्मेन्द्रियों के नाम हैं वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। इनमें वाक् से बोलने का काम, पाणि से किसी वस्तु को लेने या देने का काम, पाद से चलने का काम, पायु से मलत्याग का काम और उपस्थ से मूत्रत्याग का काम लिया जाता है। न्यायवैशेषिक दर्शन में कर्मेन्द्रिय नाम से किसी इन्द्रिय को मान्यता नहीं दी गई है। वाक्, पाणि आदि तो हैं, उनसे वह काम भी लिया जाता है पर वे शरीर के अवयव हैं, इन्द्रिय नहीं हैं। यदि आत्मा के किसी प्रयोजन का साधन होने मात्र से उन्हें इन्द्रिय माना जायगा तो पेट, पीठ आदि को भी इन्द्रिय कहना पड़ेगा क्योंकि उनसे भी तो आत्मा के किन्हीं प्रयोजनों का साधन होता ही है।

अन्य दर्शनों में इन इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवों की भी चर्चा की गई है पर न्यायवैशेषिकदर्शन में उस प्रकार की कोई चर्चा नहीं है और न वैसा मानने की कोई आवश्यकता ही है। वह मान्यता केवल श्रद्धा पर आधारित है किसी तर्क पर आधारित नहीं है और जो बात तर्क पर आधारित न हो वह न्यायवैशेषिकदर्शन को मान्य नहीं हो सकती।

ज्ञानेन्द्रियों की संख्या छः बतायी गयी है। संख्या के इस विशेष निर्देश से ज्ञान के द्वीन्द्रियवाद का निराकरण सूचित किया गया है। द्विज्ञानेन्द्रियवाद सांख्य का एकदेशीय मत है। उसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानेन्द्रियां दो ही हैं त्वक् और मन। मन सुख, दुःख आदि आन्तर पदार्थों का ग्राहक है और त्वक् बाह्य पदार्थों का ग्राहक है। बाह्य पदार्थों के ग्रहण के लिए चक्षु आदि अतिरिक्त इन्द्रियों की कल्पना अनावश्यक है क्योंकि त्वक पूरे शरीर में व्याप्त होने से चक्षु आदि इन्द्रियों के स्थान में भी विद्यमान है अतः उन स्थानों से वही रूप आदि के ग्रहण का भी सम्पादन कर लेगी, इस लिए किसी अन्य बाह्य ज्ञानेन्द्रिय को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस मत की अयुक्तता के ज्ञापनार्थ ज्ञानेन्द्रियों की छः संख्या का उल्लेख किया गया है। इस मत की अयुक्तता इस लिए है कि त्वक् को रूप आदि सभी बाह्य विशेषगुणों

तत्र गन्धोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं घ्राणम् नासाग्रवर्ति। तच्च पार्थिवं गन्धवत्त्वाद् घटवत्, गन्धवत्त्वं च गन्धग्राहकत्वात्। यदिन्द्रियं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये यं गुणं गृह्णाति तदिन्द्रियं तद्गुणसंयुक्तं यथा चक्षू रूपग्राहकं रूपवत्।

का ग्राहक मानने पर उसमें इन सभी गुणों का अस्तित्व मानना पड़ेगा क्यों कि इन गुणों से हीन होने पर भी यदि वह इन गुणों के सजातीय गुण का ग्राहक होगी तो उसकी अन्तरिन्द्रिय मन से कोई विलक्षणता नहीं रह जायगी क्योंकि जैसे मन सुख आदि से हीन होते हुए भी सुख आदि का ग्राहक है वही स्थिति त्वक् की भी हो जायगी। इस स्थिति के परिहारार्थ यदि उसमें रूप आदि सभी गुणों का अस्तित्व माना जाय तो यह सम्भव नहीं है क्योंकि वैसा मानने पर उसे वायुप्रकृतिक न मानकर पृथिवीप्रकृतिक मानना होगा और उस दशा में पूरे शरीर में उसकी व्यापकता न हो सकेगी क्योंकि पूरे शरीर में किसी अतीन्द्रिय पार्थिव अंश का सद्भाव प्रामाणिक नहीं है।

घ्राण—

उक्त छः इन्द्रियों में जो इन्द्रिय गन्ध की उपलब्धि—प्रत्यक्ष का साधन होती है उसे घ्राण कहा जाता है। घ्राण का यह लक्षण 'येन जिघ्रति तद् घ्राणम्' घ्राण शब्द की इस व्युत्पत्ति से ही लब्ध हो जाता है। क्योंकि घ्राण शब्द घ्रा धातु से करण में ल्युट् प्रत्यय करने से बना है। 'घ्रा गन्धोपादाने' इस धातुपाठ के अनुसार घ्रा धातु का अर्थ है गन्ध की उपलब्धि और ल्युट् प्रत्यय का अर्थ है करण। इसलिये घ्राण शब्द का अर्थ होता है गन्ध की उपलब्धि का करण। इसमें 'इन्द्रिय' अंश और जोड़ देने से घ्राण का यह लक्षण बन जाता है कि 'गन्ध की उपलब्धि का करण-भूत इन्द्रिय घ्राण है'। इस लक्षण में से गन्धको निकाल देने पर 'उपलब्धि का करणभूत इन्द्रिय' इतना ही लक्षण का स्वरूप होगा और तब चक्षु आदि में उसकी अतिव्याप्ति हो जायगी क्योंकि चक्षु आदि भी रूप आदि की उपलब्धि के करणभूत इन्द्रिय हैं। उक्त लक्षण में से उपलब्धि को निकाल कर यदि उसके स्थान में ज्ञान का सन्निवेश किया जायगा तो मन में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि वह भी गन्ध के स्मरणरूप ज्ञान का करण है और इन्द्रिय है। उपलब्धि का सन्निवेश करने पर यह दोष नहीं होगा क्योंकि उपलब्धि का अर्थ है प्रत्यक्ष और मन गन्ध के प्रत्यक्ष का करण नहीं होता, क्योंकि मन को यदि गन्ध के प्रत्यक्ष का करण माना जायगा तो जिस मनुष्य की घ्राण इन्द्रिय रोगवश नष्ट हो जाती है उसे भी गन्ध का प्रत्यक्ष होने लगेगा। यदि यह कहा जाय कि मन तो प्रत्यक्षमात्र एवं ज्ञानमात्र का कारण होता है क्योंकि इन्द्रिय और मन के परस्परसंयोग के विना किसी प्रत्यक्ष का तथा आत्मा और मन के परस्पर

संयोग के बिना किसी ज्ञान का उदय नहीं होता, अतः मन गन्ध की उपलब्धि का भी कारण है, इस लिए लक्षण में उपलब्धि का सन्निवेश करने पर भी मन में उसकी अति-व्याप्ति का वारण नहीं हो सकता, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि घ्राण के उक्त लक्षण में उपलब्धिकारण का निवेश न करके उपलब्धिकरण का निवेश किया गया है, और करण का अर्थ होता है व्यापारवत् असाधारण कारण। इस लिए उक्त लक्षण का स्वरूप यह निष्पन्न होता है कि 'जो इन्द्रिय गन्ध की उपलब्धि का व्यापारद्वारा असाधारण कारण हो वह घ्राण है'। मन में अब इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती क्योंकि मन तो प्रत्यक्षमात्र या ज्ञानमात्र अथवा आत्मा के विशेषगुणमात्र का सामान्य कारण होने से गन्ध की उपलब्धि का असाधारण कारण नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि तब तो उपलब्धि के स्थान में ज्ञान को रखने पर भी अतिव्याप्ति न होगी क्योंकि मन गन्ध के स्मरणरूप ज्ञान का भी तो साधारण ही कारण होगा, असाधारण कारण तो होगा नहीं, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'स्मरण इन्द्रियजन्य है—इन्द्रियरूप असाधारण कारण से जन्य है क्योंकि वह जन्य ज्ञान है, सभी जन्य ज्ञान इन्द्रियजन्य—इन्द्रियरूप असाधारण कारण से जन्य होता है जैसे जन्य प्रत्यक्ष'। इस अनुमान से स्मरण के असाधारण कारणरूप में इन्द्रिय की सिद्धि होती है। यह इन्द्रिय मन से भिन्न और कुछ नहीं है, अतः मन जैसे मानस प्रत्यक्ष का असाधारण कारण होता है उसी प्रकार स्मरण का भी असाधारण कारण होता है, अतः उपलब्धि के स्थान में ज्ञान को रखने पर मन में अतिव्याप्ति का होना सम्भव है।

उक्त लक्षण में से'इन्द्रिय' अंश को निकालकर यदि गन्ध की उपलब्धि के साधन मात्र को घ्राण कहा जायगा तो गन्ध के आश्रयभूत पुष्प आदि में भी अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि गन्ध के साथ घ्राण के सन्निकर्ष का माध्यम होनेसे गन्ध का आश्रय पुष्प आदि भी उसकी उपलब्धि का साधन होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि घ्राण से गन्ध का प्रत्यक्ष तब होगा जब गन्ध से उसका सन्निकर्ष हो, यह सन्निकर्ष सीधे न होकर गन्ध के आश्रय पुष्प आदि के द्वारा ही होगा। जैसे घ्राण का संयोग होगा पुष्प के साथ और पुष्प का समवाय है गन्ध के साथ, इस प्रकार घ्राणसंयुक्तसमवाय गन्ध के प्रत्यक्ष का कारण होगा, इस सन्निकर्ष का घटक होने से पुष्प आदि भी गन्ध की उपलब्धि का कारण होगा, इस लिये लक्षण में इन्द्रिय का सन्निवेश न करने पर गन्ध के आश्रय पुष्प आदि में तथा उक्त सन्निकर्ष में भी घ्राण के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, अतः इस अतिव्याप्ति के परिहारार्थ लक्षण में इन्द्रिय अंश का सन्निवेश आवश्यक है।

घ्राण नासिका के अग्रभाग में अवस्थित होता है, जब किसी सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध युक्त द्रव्य का कोई अंश वायु आदि द्वारा नासिका के अग्रभाग तक पहुँचता है तब वहाँ स्थित घ्राण का उस गन्धयुक्त अंश के साथ संयोग हो जाता है और उस संयोग

रसोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं रसनं जिह्वाग्रवर्ति। तच्चाप्यं रसवत्त्वाद्, रसवत्त्वं च रूपादिषु पञ्चसु मध्ये रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् लालावत्।

रूपोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं चक्षुः, कृष्णताराग्रवर्ति। तच्च तैजस रूपादिषु पञ्चसु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्।

के फलस्वरूप गन्ध के साथ घ्राण का संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष बन जाता है, उस सन्निकर्ष-द्वारा घ्राण से गन्ध की उपलब्धि सम्पन्न होती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि घ्राण स्वयं गन्धयुक्त द्रव्य के समीप नहीं जाता किन्तु उस द्रव्य का ही कोई अंश वायु आदि के द्वारा घ्राण के पास आता है और घ्राण उक्त रीति से सन्निकृष्ट हुये गन्ध के प्रत्यक्ष का उत्पादन करता है।

घ्राण पृथिवी के परमाणवों से निर्मित एक पार्थिव द्रव्य है, अतः पृथिवी के सभी विशेषगुण उसमें उत्पन्न होते हैं, किन्तु वे सब गुण अदृष्टवश अनुद्भूत होते हैं अतः उसमें उन गुणों की अथवा उन गुणों द्वारा उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती। प्रश्न होता है कि जब उसमें पृथिवी के गुणों की उपलब्धि नहीं होती तो यह कैसे माना जाय कि वह पृथिवी के परमाणवों से निर्मित एक पार्थिव द्रव्य है? इसका उत्तर यह है कि घ्राण में गन्ध का यद्यपि प्रत्यक्ष नहीं होता फिर भी उसमें उसका अनुमान होता है, जैसे 'घ्राण गन्ध का आश्रय है क्योंकि वह गन्ध की ग्राहक वाह्य इन्द्रिय है, जो जिस गुण का ग्राहक वाह्य इन्द्रिय होती है वह उस गुण के सजातीय गुण का आश्रय होती है जैसे रूप का ग्राहक वाह्य इन्द्रिय चक्षु रूप का आश्रय होता है। इस अनुमान से घ्राण में गन्ध का साधन कर गन्ध से उसमें पार्थिवत्व का अनुमान किया जा सकता है। अनुमान का आकार इस प्रकार होगा 'घ्राण पार्थिव है, क्योंकि वह गन्ध का आश्रय है, जो गन्ध का आश्रय होता है वह पार्थिव होता है जैसे घट या पुष्प आदि' इस प्रकार घ्राण में गन्धग्राहकत्व से गन्ध का अनुमान और गन्ध से पार्थिवत्व का अनुमान कर घ्राण को पार्थिव माना जाता है।

रसन—

'रस्यतेऽनेन इति रसनम्—जिससे रस का आस्वाद लिया जाय' रसनशब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार रसन इन्द्रिय का यह लक्षण लब्ध होता है कि 'जो इन्द्रिय रस की उपलब्धि—प्रत्यक्ष का साधन हो' उसे रसन कहा जाता है। रूप आदि की उपलब्धि के साधन चक्षु आदि इन्द्रिय में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये लक्षण में रस का सन्निवेश किया गया है। रसस्मृति के साधन मन में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये ज्ञान का सन्निवेश न कर उपलब्धि का सन्निवेश किया गया है। मन में ही अतिव्याप्ति के वारणार्थ साधक—कारण का निवेश न कर साधन—करण का निवेश किया

गया है। रसके साथ इन्द्रिय के संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष में तथा उस सन्निकर्ष के घटक रसाश्रय द्रव्य में अतिव्याप्ति के वारणार्थ लक्षण में इन्द्रिय का सन्निवेश किया गया है।

रसनेन्द्रिय जिह्वा के अग्रभाग में अवस्थित रहती है, जब कोई रसयुक्त द्रव्य जिह्वा से संयुक्त होता है तब उसके अग्रभाग में अवस्थित रसनेन्द्रिय का उस द्रव्य के साथ संयोग हो जाता है और उसके फलस्वरूप उस द्रव्य में विद्यमान रस के साथ रसनेन्द्रिय का संयुक्तसमवायसन्निकर्ष सम्पन्न हो जाता है। उस सन्निकर्ष के द्वारा रसनेन्द्रिय से जिह्वास्थित द्रव्य के रस की उपलब्धि होती है।

रसन एक जलीय द्रव्य है। यह बात अनुमान से सिद्ध होती है। अनुमान का आकार इस प्रकार है—

रसनेन्द्रिय जलीय द्रव्य है, क्योंकि वह रस का आश्रय है, जो रस का आश्रय होता है वह जल या जलीय होता है जैसे सन्तरा, नारियल आदि के भीतर का जल। रसनेन्द्रिय यतः जल के परमाणुवों से निर्मित एक जलीय द्रव्य है अतः उसमें जल के सभी विशेष गुण उत्पन्न होते हैं किन्तु वे अदृष्टवश अनुद्भूत होते हैं, अतः उन गुणों का तथा उनके द्वारा स्वयं उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। शङ्का होती है कि रस से जलत्व या जलीयत्व का अनुमान नहीं हो सकता क्योंकि वह द्राक्षा, शर्करा आदि पार्थिव द्रव्य में जलत्व का व्यभिचारी है। इसका उत्तर यह है कि उक्त अनुमान में सामान्य रस हेतु नहीं है किन्तु विजातीय रस हेतु है। विजातीय रस का अर्थ है वह रस जो पार्थिव द्रव्य में उत्पन्न न होकर केवल जलीय द्रव्य में ही उत्पन्न होता है जिसे अपाकज रस कहा जाता है। पार्थिव द्रव्य का रस पाकज होता है, तेज के विलक्षण संयोग से परिवर्तित होता रहता है, परन्तु जल का रस सदा एकरूप रहता है, वह पाक—तेज के संयोग से परिवर्तित नहीं होता। उस अपाकज रस से ही जलत्व या जलीयत्व का अनुमान अभीष्ट है, अतः उसमें साध्य का व्यभिचार न होने से उक्त अनुमान में कोई बाधा नहीं हो सकती।

प्रश्न होता है कि रसनेन्द्रिय में रस की उपलब्धि तो होती नहीं तो फिर उसके रसाश्रय होने में क्या प्रमाण? उत्तर है कि रसनेन्द्रिय में रस की सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है। अनुमान का आकार इस प्रकार होता है—

रसनेन्द्रिय रस का आश्रय है, क्योंकि वह रूप, रस, स्पर्श, आदि विशेष गुणों में केवल रस का ही ग्राहक है, जो इन गुणों में केवल रस का ही ग्राहक होता है वह रस का आश्रय होता है जैसे मनुष्य के मुख से निकलने वाला लार। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य के मुख में जब तक लार नहीं आता तब तक किसी रस का स्वाद नहीं मिलता अतः लार को रसानुभूति का साधन माना जाता है किन्तु वह मुख में पड़े रसवद् द्रव्य के रूप

आदि का ग्राहक न होकर उसके रसमात्र का ही ग्राहक होता है। तो जैसे लार रसवद् द्रव्य के रूप आदि गुणों में अन्य किसी गुण का ग्राहक न होकर रसमात्र का ही ग्राहक होने से रस का आश्रय होता है, उसी प्रकार रसनेन्द्रिय भी रसवद् द्रव्य के रूप आदि गुणों में रसमात्र का ही ग्राहक होती है अतः उसे भी रस का आश्रय मानना उचित है।

चक्षु—

'चष्टेऽनेन इति चक्षुः —जिससे रूप देखा जाता है' चक्षु शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार चक्षु का यह लक्षण निष्पन्न होता है कि 'जो इन्द्रिय रूप की उपलब्धि–प्रत्यक्ष का साधन हो' उसे चक्षु कहा जाता है। नेत्र, नयन, लोचन आदि उसी के पर्याय हैं। गन्ध की उपलब्धि के साधन घ्राण आदि में अतिव्याप्ति के वारणार्थ लक्षण में रूप का सन्निवेश किया गया है। रूप की स्मृति के साधन मन में अतिव्याप्ति के वारणार्थ ज्ञान का सन्निवेश न कर उपलब्धि का सन्निवेश किया गया है। उसी में पुनः अतिव्याप्ति के वारणार्थ साधक का निवेश न कर साधन का निवेश किया गया है। साधन का अर्थ होता है करण, अतः उसका सन्निवेश करने से ज्ञानसामान्य का साधारण कारण होने से रूप की उपलब्धि के कारण मन में होने वाली अतिव्याप्ति का निरास हो जाता है, क्योंकि मन रूप की उपलब्धि का असाधारण कारण न होने से उसका करण नहीं होता। रूप के साथ चक्षु के संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष तथा उस सन्निकर्ष के घटक घट आदि द्रव्य में अतिव्याप्ति के वारणार्थ लक्षण में इन्द्रिय का सन्निवेश किया गया है।

चक्षु इन्द्रिय आँख की काली पुतली के अगले भाग में अवस्थित होती है, इस इन्द्रिय में किरण होती है, आँख खुलने पर इस की किरण बाहर निकल कर सम्मुख विद्यमान द्रव्य के निकट पहुँच जाती है। उस किरण द्वारा द्रव्य के साथ चक्षु का संयोग सन्निकर्ष तथा द्रव्यगत रूप के साथ चक्षु का संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष हो जाता है। उनमें पहले सन्निकर्ष-द्वारा द्रव्य की तथा दूसरे सन्निकर्ष-द्वारा द्रव्यगत रूप की उपलब्धि होती है, इस उपलब्धि का साधन होने से चक्षु को इन्द्रिय कहा जाता है।

चक्षु इन्द्रिय तेज के परमाणुवों से निर्मित एक तैजस द्रव्य है, उसमें तेज के सभी विशेष गुण उत्पन्न होते हैं किन्तु वे सब अदृष्टवश अनुद्भूत होते हैं, अतः उन गुणों का तथा चक्षु का प्रत्यक्ष नहीं होता। चक्षु में तैजसत्व की सिद्धि अनुमान से होती है। अनुमान का आकार इस प्रकार होता है—

चक्षु तैजस है, क्योंकि वह अपने से संयुक्त द्रव्य के रूप आदि विशेष गुणों में केवल रूप का ही ग्राहक होता है, जो अपने से संयुक्त द्रव्य के रूप आदि गुणों में केवल रूप का ही ग्राहक होता है वह तैजस होता है जैसे प्रदीप।

स्पर्शोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं त्वक, सर्वशरीरव्यापि। तत्तु वायवीयं, रूपादिषु पञ्चसु मध्ये स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वाद्, अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनवातवत्।

शब्दोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं श्रोत्रम्। तच्च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमाकाशमेव, न द्रव्यान्तरं शब्दगुणत्वात्, तदपि शब्दगुणकं शब्दग्राहकत्वात्। यदिन्द्रियं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये यद्गुणव्यञ्जकं तत् तद्गुणसंयुक्तं यथा चक्षुरादि रूपादियुक्तम्। शब्दग्राहकं च श्रोत्रम्, अतः शब्दगुणकम्।

त्वक्—

त्वक् का दूसरा नाम है स्पर्शन, इसका लक्षण है—स्पर्श की उपलब्धि का साधनभूत इन्द्रिय। इस लक्षण में स्पर्श का सन्निवेश रूप आदि के ग्राहक चक्षु आदि में अतिव्याप्ति के वारणार्थ किया गया है। लक्षण में ज्ञानसाधक का सन्निवेश न कर उपलब्धिसाधन का सन्निवेश करके मन में अतिव्याप्ति का परिहार किया गया है। स्पर्श के साथ त्वक् के संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष तथा उस सन्निकर्ष के घटक द्रव्य में अतिव्याप्ति के वारणार्थ लक्षण में इन्द्रिय का सन्निवेश किया गया है।

त्वक् इन्द्रिय शरीर के समूचे भाग में रहती है। यह इन्द्रिय वायु के परमाणुओं से उत्पन्न एक वायवीय द्रव्य है। इसमें वायवीयत्व की सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है। अनुमान का आकार इस प्रकार होता है—

त्वक् वायवीय है, क्योंकि वह रूप आदि गुणों में केवल स्पर्श का ही ग्राहक है, जो रूप आदि गुणों में केवल स्पर्श का ही ग्राहक होता है वह वायवीय होता है जैसे शरीर में अवस्थित जलीयभाग के शैत्य की अनुभूति करानेवाली पंखे की हवा।

श्रोत्र—

'श्रूयतेऽनेन इति श्रोत्रम्—जिससे सुना जाय' श्रोत्र शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार श्रोत्र का यह लक्षण फलित होता है कि 'जो इन्द्रिय शब्द की उपलब्धि का साधन हो' उसे श्रोत्र कहा जाता है। कर्ण, श्रवण आदि उसी के नामान्तर हैं। रूप आदि की उपलब्धि के साधन चक्षु आदि में अतिव्याप्ति के वारणार्थ लक्षण में शब्द का सन्निवेश किया गया है। ज्ञानसाधक का प्रवेश न कर उपलब्धिसाधन का प्रवेश कर मन में अतिव्याप्ति का वारण किया गया है। शब्द के साथ श्रोत्र के समवाय सन्निकर्ष में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में इन्द्रिय का सन्निवेश किया गया है।

श्रोत्र कोई अन्य द्रव्य नहीं है किन्तु कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाश—कान के पर्दे के भीतर का आकाश ही श्रोत्र है।

सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः, तच्चाणुपरिमाणं हृदयान्तर्वर्ति।

ननु चक्षुरादीन्द्रियसद्भावे किं प्रमाणम्? उच्यते—अनुमानमेव। तथाहि रूपाद्युपलब्धयः करणसाध्याः, क्रियात्वाच्छिदिक्रियावत्।

प्रश्न होता है कि श्रोत्र को आकाशात्मक मानने में क्या प्रमाण है? उत्तर है कि अनुमान प्रमाण। अनुमान का आकार इस प्रकार है—

श्रोत्र आकाशात्मक है, क्योंकि वह शब्द का आश्रय है, जो शब्द का आश्रय होता है वह आकाशात्मक होता है जैसे प्रसिद्ध आकाश। यदि पूँछा जाय कि श्रोत्र को शब्द का आश्रय मानने में क्या प्रमाण है? तो इसका उत्तर यह है कि अनुमान प्रमाण। अनुमान का आकार इस प्रकार है—

श्रोत्र शब्द का आश्रय है, क्योंकि वह शब्द का ग्राहक है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन गुणों में जो जिस गुण का ग्राहक होता है वह उस गुण के सजातीय गुण का आश्रय होता है। जैसे चक्षु आदि इन्द्रियाँ। तात्पर्य यह है कि जैसे चक्षु आदि इन्द्रियां रूप आदि का ग्राहक होने से रूप आदि का आश्रय होती हैं उसी प्रकार शब्द का ग्राहक होने से श्रोत्र को भी शब्द का आश्रय मानना उचित है।

मन—

'मनस्यति अनेन इति मनः—जिससे मनन किया जाय, बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण न किये जाने वाले गुणों का ग्रहण किया जाय' मनस् शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार मन का यह लक्षण निष्पन्न होता है कि 'जो इन्द्रिय आत्मा के सुख आदि विशेषगुणों की उपलब्धि का साधन हो' उसे मन कहा जाता है। रूप आदि की उपलब्धि के साधन चक्षु आदि में अतिव्याप्ति के वारणार्थ लक्षण में सुखादिका सन्निवेश किया गया है। लक्षण में उपलब्धिका सन्निवेश न कर 'सुखादिज्ञानसाधनम् इन्द्रियं मनः' मन का यदि यह लक्षण किया जायगा तो त्वक् में मन के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि न्यायमत में सुषुप्ति के समय ज्ञान की उत्पत्ति नहीं मानी जाती अतः उस समय ज्ञान की उत्पत्ति के परिहारार्थ जन्यज्ञानमात्र के प्रति त्वक् के साथ मन के संयोग को कारण माना जाता है। इस कारण को स्वीकार कर लेने पर सुषुप्ति के समय ज्ञान की उत्पत्ति का भय नहीं रह जाता क्यों कि उस समय त्वक् को छोड़कर मन पुरीतति नाड़ी में चला जाता है अतः उस समय त्वक् के साथ मन का संयोग नहीं रह जाता। त्वक् के साथ मन के संयोग को ज्ञानसामान्य का कारण मान लेने से त्वक् भी ज्ञानसामान्य का कारण हो जाता है और इस प्रकार वह सुखादि के ज्ञान का भी कारण हो जाता है, अतः

उसमें 'सुखादिज्ञानसाधनम् इन्द्रियं मनः' मन के इस लक्षण की अतिव्याप्ति प्रसक्त होती है। इस अतिव्याप्ति के वारणार्थ लक्षण में उपलब्धि का सन्निवेश आवश्यक है।

प्रश्न हो सकता है कि उक्त रीति से त्वक् जब ज्ञानसामान्य का कारण होता है तब वह सुखादि की उपलब्धिका भी कारण होगा, अतः उपलब्धि का सन्निवेश करने पर भी त्वक् में अतिव्याप्ति का वारण कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि उपलब्धि में उपशब्द का अर्थ है समीप और लब्धि का अर्थ है ज्ञान। अतः लक्षण में उपलब्धि का सन्निवेश करने पर लक्षण का स्वरूप यह निष्पन्न होता है कि 'जो इन्द्रिय समीप से—अपने सन्निकर्ष से सुखादि के ज्ञान का साधन हो वह मन है'। लक्षण का यह स्वरूप बन जाने पर त्वक् में उसकी अतिव्याप्ति नहीं हो सकती क्योंकि वह समीप से—अपने सन्निकर्ष से सुखादि के ज्ञान का साधन नहीं होता।

सुखादि के साथ मन के संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष का घटक होने से सुखादिका आश्रय आत्मा भी सुखादि की उपलब्धि का साधन होता है अतः उसमें अतिव्याप्ति के वारणार्थ लक्षण में इन्द्रिय का सन्निवेश किया गया है।

मन नित्य तथा परिमाण में अणु होता है। हृदय के भीतर वह अवस्थित रहता है, वहीं से आवश्यकतानुसार शरीर के विभिन्न भागों में जाता है।

घ्राण, चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर भी उन सभी इन्द्रियों से एक काल में उनके विषयों का प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु क्रम से होता है, इस क्रम की उपपत्ति के लिए ही मन को अणु माना जाता है। मन को अणु मानने पर तत्तत् इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष के प्रति तत्तत् इन्द्रिय के साथ मन के संयोग को कारण मान लेने से ज्ञानक्रम की उपपत्ति हो जाती है, क्यों कि अणु मन का विभिन्न स्थानों में स्थित इन्द्रियों के साथ एक काल में संयोग नहीं हो पाता।

चक्षु आदि इन्द्रियों के सम्बन्ध में प्रश्न यह होता है कि इन इन्द्रियों का प्रत्यक्ष तो होता नहीं, तो फिर इनके अस्तित्व में क्या प्रमाण है ? और जब इनका अस्तित्व ही अप्रामाणिक है तब इनके लक्षण आदि बनाने का प्रयास व्यर्थ है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि चक्षु आदि इन्द्रियों का अस्तित्व अप्रामाणिक नहीं है किन्तु अनुमान प्रमाण से सिद्ध है। अनुमान का आकार इस प्रकार है—

रूप आदि गुणों की उपलब्धियां करणजन्य हैं, क्योंकि वे क्रिया हैं, जो क्रिया होती है वह करणजन्य होती है जैसे लकड़ी का काटना एक क्रिया है और वह कुठार—फरसा-रूप करण से जन्य है।

तात्पर्य यह है कि चक्षु आदि इन्द्रियां स्वयं तो अप्रत्यक्ष अवश्य हैं पर उनसे होने वाली रूप आदि की उपलब्धिरूपा क्रिया प्रत्यक्ष है क्योंकि रूप आदि की उपलब्धि

अर्थाः षट् पदार्थाः। ते च द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाः। प्रमाणादयो यद्यप्यत्रैवान्तर्भवन्ति, तथापि प्रयोजनवशाद् भेदेन कीर्तनम्।

होने पर उसका प्रत्यक्ष अनुभव सभी को होता है, क्योंकि यदि उसका प्रत्यक्ष न होता तो 'मुझे रूप की उपलब्धि हुई, मैंने रूप को देखा' इस प्रकार मनुष्य उस उपलब्धि को कैसे प्रकट करता ? क्यों कि शब्द से उसी बात को प्रगट किया जाता है जो बात ज्ञात होती है, अतः रूप आदि की उपलब्धि का जो प्रकटीकरण होता है उसके अनुरोध से यह मानना होगा कि रूप आदि की उपलब्धि होने पर मनुष्य को उसका ज्ञान अवश्य होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष को छोड़कर अन्य नहीं हो सकता क्योंकि अनुमिति, शाब्दबोध आदि अन्य ज्ञान की सामग्री उस समय सन्निहित नहीं रहती। उस ज्ञान को प्रत्यक्षरूप मानने पर उसके होने में कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष के लिए विषय तथा उसके साथ इन्द्रियसन्निकर्ष की ही अपेक्षा होती है और उस समय रूपादि की उपलब्धिरूप विषय तथा उसके साथ मन का संयुक्तसमवायरूप सन्निकर्ष दोनों विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार रूप आदि की उपलब्धिरूप क्रिया जब प्रत्यक्षसिद्ध है तब उस क्रिया से उसके करण का अनुमान करने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

इस प्रकार रूप आदि की उपलब्धि से उसके करणरूप में जिसका अनुमान होता है उसी को चक्षु आदि इन्द्रिय कहा जाता है। चक्षु आदि इन्द्रियों का अस्तित्व जब इस प्रकार प्रमाणसिद्ध है तब उसके लक्षण आदि बताने का जो प्रयास किया गया है वह उचित ही है।

अर्थ—

अर्थ शब्द से अभिमत हैं वैशेषिक दर्शन में वर्णित छः भाव पदार्थ, और वे हैं द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय।

अर्थ शब्द की यह व्याख्या तर्कभाषाकार की अपनी स्वतन्त्र व्याख्या है। न्याय तथा वैशेषिक दर्शन में अर्थ शब्द की जो व्याख्या की गई है, उससे इस व्याख्या का स्पष्ट मेल नहीं जान पड़ता।

न्यायदर्शन में अर्थ शब्द से इन्द्रियार्थ को ग्रहण किया गया है, जैसे

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः।
न्या. सू. १, १. १५।

इस सूत्र में 'तदर्थाः' का अर्थ है 'इन्द्रियार्थाः'। इसके अनुसार आत्मा, शरीर आदि बारह प्रमेयों में अर्थ शब्द से जिस प्रमेय का प्रतिपादन किया गया है वह इन्द्रियार्थ-

रूप है। इन्द्रियार्थ पाँच हैं, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द। ये क्रम से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच मूलद्रव्यों के विशेषगुण हैं। इस प्रकार न्यायदर्शन के अनुसार अर्थ शब्द का अर्थ है गन्ध आदि गुण।

वैशेषिक दर्शन में अर्थ शब्द का संकेत द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थों में किया गया है। अतः उस दर्शन के अनुसार अर्थशब्द का अर्थ है द्रव्य, गुण और कर्म।

तर्कभाषाकार ने अर्थशब्द के इन दोनों अर्थों का परित्याग कर उसका अर्थ किया है वैशेषिक सूत्र में वर्णित द्रव्य आदि छः भावात्मक पदार्थ। आक्षेप होता है कि तर्कभाषाकार की यह व्याख्या उचित नहीं है क्यों कि जब न्यायदर्शन के बारह प्रमेयों की व्याख्या की जा रही है तब अर्थशब्द से उन्ही प्रमेयों को ग्रहण करना उचित है जो इस शब्द से न्यायसूत्रकार को अभीष्ट हैं। इसके उत्तर में केवल एक यही बात कही जा सकती है कि 'तर्कभाषा' न्याय और वैशेषिक दर्शनों का 'प्रकरणग्रन्थ' है। इस लिये इसमें दोनों दर्शनों में स्वीकृत पदार्थों का वर्णन आवश्यक है, अतः न्यायदर्शन के प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के वर्णन के साथ वैशेषिक के द्रव्य आदि छः पदार्थों का भी वर्णन करने के हेतु ग्रन्थकार ने अर्थशब्द के गर्भ में उनका भी सन्निवेश कर लिया है। इस प्रकार अर्थशब्द से द्रव्य आदि छः पदार्थों को ग्रहण करने से अर्थशब्द-द्वारा वैशेषिकदर्शन में अर्थशब्द से अभिमत द्रव्य, गुण और कर्म का स्वतन्त्र रूप से तथा न्यायदर्शन में अर्थशब्द से विवक्षित गन्ध आदि इन्द्रियार्थों का गुण के मध्य में संग्रह हो जाने से इस व्याख्या का न्याय और वैशेषिक दर्शन में की गयी अर्थशब्द की उपर्युक्त दोनों व्याख्यावों से सामञ्जस्य बैठ जाता है।

न्यायभाष्यकार—

वात्स्यायन ने प्रमेयविभाजक सूत्र (न्या. द. १, १, ९) के भाष्य में वैशेषिक-दर्शन के द्रव्य आदि छः पदार्थों को भी प्रमेय के रूप में स्वीकृत किया है किन्तु आत्मा आदि बारह प्रमेयों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष और उनके मिथ्याज्ञान से संसार का उदय होने के कारण उनके ही प्रतिपादन के औचित्य का समर्थन किया है। वहाँ का भाष्य इस प्रकार है—

'अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम्, तद्भेदेन चापरिसंख्येयम्। अस्य तु तत्त्वज्ञानादपवर्गो मिथ्याज्ञानात् संसार इत्यत एतदुपदिष्टं विशेषेणेति'।

आत्मा आदि बारह प्रमेयों से भिन्न भी प्रमेय हैं जैसे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय। यदि उनके अवान्तरभेद पर दृष्टि डाली जाय तो उनकी कोई निश्चित संख्या हो ही नहीं सकती, तो फिर इस प्रकार अनन्त प्रमेय के होते हुये

भी न्यायसूत्रकार ने आत्मा आदि केवल बारह प्रमेयों का ही जो विशेष रूप से प्रतिपादन किया है वह इसलिए कि उन प्रमेयों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की सिद्धि एवं उनके मिथ्याज्ञान से संसार की अनुवृत्ति होती है और न्यायसूत्र की रचना ऐसे ही पदार्थों का, जिनके तत्त्वज्ञान से मोक्ष और मिथ्याज्ञान से संसार होता है, प्रतिपादन करने के लिये हुई है, न कि जो कुछ प्रमाणसिद्ध है उस सब का प्रतिपादन करने के लिये हुई है।

प्रश्न होता है कि जब अर्थशब्द की व्याख्या के सन्दर्भ में द्रव्य आदि छः पदार्थों का प्रतिपादन करना ही है तो उन्हीं पदार्थों में न्यायदर्शन के प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का भी अन्तर्भाव होने के कारण उनके पृथक् प्रतिपादन की क्या आवश्यकता है ? उत्तर यह है कि प्रमाण आदि पदार्थों के ज्ञान का कुछ विशेष प्रयोजन है अतः उन पदार्थों का विशेष परिचय देने के हेतु उनका पृथक् प्रतिपादन आवश्यक है।

न्यायदर्शन के प्रथमसूत्र के अवतरणभाष्य में भी इस आशयका प्रश्न उठा कर उसका समाधान प्रस्तुत किया गया है जो इस प्रकार है—

'संशयादीनां पृथग् वचनमनर्थकम्, संशयादयो यथासम्भवं प्रमाणेषु प्रमेयेषु चान्तर्भवन्तो न व्यतिरिच्यन्त इति। सत्यमेतत्, इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक्प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते। यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या। तस्याः पृथक्-प्रस्थानाः संशयादयः पदार्थाः। तेषां पृथग्वचनमन्तरेणाध्यात्मविद्यामात्रमियं स्याद् यथोपनिषदः। तस्मात् संशयादिभिः पदार्थैः पृथक् प्रस्थाप्यते'

इस भाष्यग्रन्थ का आशय यह है कि न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदि जिन सोलह पदार्थों का निर्देश किया गया है उनमें संशय आदि पदार्थों का समावेश यथासम्भव प्रमाण या प्रमेय में हो जाता है अतः आपाततः यह प्रतीत होता है कि प्रमाण और प्रमेय के अन्तर्गत ही उन पदार्थों का प्रतिपादन करना उचित है। स्वतन्त्र रूप से उनका प्रतिपादन निरर्थक है। फिर भी विचार करने पर उनके स्वतन्त्र प्रतिपादन का औचित्य और सार्थक्य सिद्ध होता है। जैसे नीतिशास्त्र में चार विद्यावों का वर्णन किया गया है—

आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।

आन्वीक्षिकी का अर्थ है अनुमानविद्या—न्यायविद्या। इस विद्या के अध्ययन से पदार्थ की परीक्षा करने की प्रणाली का परिज्ञान होता है। मनुष्य प्रत्यक्ष अथवा शब्द से जिस वस्तु की जानकारी प्राप्त करता है, न्यायविद्या के सहारे वह उस वस्तु के याथातथ्य की परीक्षा कर उसके सम्बन्ध में एक निश्चित धारणा बना सकता है और तदनुसार उसे व्यवहारक्षेत्र में उपस्थित कर सकता है।

त्रयी का अर्थ है वेदत्रयी—ऋग्, यजुः और साम। यह समस्त ज्ञान-विज्ञान का भाण्डागार है। प्रेय और श्रेय—भोग और मोक्ष के जिन साधनों का ज्ञान किसी अन्य प्रमाण से नहीं होता उनका ज्ञान इस त्रयी से ही सम्पन्न होता है।

वार्ता का अर्थ है अर्थशास्त्र। इसमें कृषि, शिल्प, वाणिज्य, भैषज्य आदि जीविकोपार्जन के सभी स्रोतों का विशद वर्णन होता है। सुखी और समृद्ध जीवन व्यतीत करने के लिये इस विद्या का अध्ययन आवश्यक होता है।

दण्डनीति का अर्थ है राजनीति। इसमें राज्य—शासन के सभी अङ्गों का वर्णन होता है, राष्ट्र और समाज की सुव्यवस्था एवं सुनियोजित प्रगति के लिये इसका अध्ययन आवश्यक होता है।

इस प्रकार यह चारों विद्यायें संसार की सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याणार्थ अध्ययन-अध्यापन में परिगृहीत हैं।

यह निर्विवाद है कि विद्या का भेद प्रस्थान भेद—प्रतिपाद्य विषय के भेद पर निर्भर है। प्रतिपाद्य विषयों में यदि भेद न हो तो विद्यावों में भेद नहीं हो सकता। अतः आन्वीक्षिकी विद्या भी एक स्वतन्त्र विद्या तभी हो सकती है जब उसमें कुछ ऐसे विषयों का प्रतिपादन हो जिनका प्रतिपादन अन्य विद्यावों में न किया गया हो, और यदि किया भी गया हो तो उनमें उनकी प्रधानता न हो। न्यायदर्शन में प्रमाण अथवा प्रमेय में अन्तर्भाव होते हुए भी संशय आदि पदार्थों का पृथक् उल्लेख कर यही बात सूचित की गयी है कि संशय आदि पदार्थ न्यायविद्या के प्रधान प्रतिपाद्य हैं। उनका विशेष रूप से प्रतिपादन करने के कारण ही यह एक स्वतन्त्र विद्या है। यदि यह विद्या इन पदार्थों का प्रतिपादन न कर आत्मा आदि प्रमेयों के प्रतिपादन में ही व्यापृत होगी तो उपनिषदों के समान यह केवल अध्यात्मविद्या हो जायगी, और उस स्थिति में उसका अन्तर्भाव त्रयी में हो जायगा, वह एक चौथी स्वतन्त्र विद्या न हो सकेगी।

तर्कभाषाकार का यह कथन कि प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का अन्तर्भाव यद्यपि वैशेषिक के द्रव्य आदि छः पदार्थों में ही हो जाता है फिर भी एक विशेष प्रयोजन से उनका पृथक् प्रतिपादन किया गया है, उक्त भाष्य से ही प्रेरित जान पड़ता है। उक्त भाष्य के अनुसार इस कथन का भी यही तात्पर्य प्रतीत होता है कि द्रव्य आदि छः पदार्थों में अन्तर्भाव होने के कारण प्रमाण आदि पदार्थों का प्रतिपादन यदि उन्हीं के अन्तर्गत किया जायगा तो न्यायदर्शन वैशेषिकदर्शन से भिन्न एक स्वतन्त्र दर्शन न हो सकेगा। अतः उसके स्वतन्त्रदर्शनत्व के रक्षार्थ उसमें प्रमाण आदि पदार्थों का पृथक् प्रतिपादन किया गया।

तत्र समवायिकारणं द्रव्यम्, गुणाश्रयो वा। तानि च द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव।

उक्त छः पदार्थों में द्रव्य का लक्षण है समवायिकारणत्व। जो किसी कार्य का समवायिकारण होता है उसे द्रव्य कहा जाता है। इस लक्षण में से यदि समवायि पद को हटा दिया जाय तो कारणत्वमात्र ही शेष बचेगा और यदि उतने को ही द्रव्य का लक्षण माना जायगा तो गुण, कर्म आदि में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि वे भी असमवायिकरण तथा निमित्तकारण होते हैं, जैसे तन्तु का रूप पटरूप का तथा कर्म संयोग-विभाग का असमवायिकरण और अपने प्रत्यक्ष का निमित्तकारण होता है। इसी प्रकार उक्त लक्षण में से कारणत्व को हटा कर यदि समवायित्वमात्र को द्रव्य का लक्षण माना जायगा तो उसकी भी गुण आदि में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि उसमें भी जाति का समवायित्व रहता है।

इस लक्षण में कारणत्व का प्रवेश होने से गौरव होता है अतः दूसरा लघु लक्षण बताया गया गुणाश्रयत्व। जो समवाय सम्बन्ध से गुण का आश्रय हो वह द्रव्य है। यह दूसरा लक्षण अनित्य द्रव्यों में उनकी उत्पत्ति के समय अव्याप्त हो जाता है क्योंकि वे द्रव्य अपने गुणों का कारण होते हैं और कारण को अपने कार्य की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान होना आवश्यक होता है। अनित्य द्रव्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान नहीं होते अतः उनकी उत्पत्ति के समय उनमें गुण की उत्पत्ति न हो सकने से उस समय वे निर्गुण होते हैं। इस लिए गुणाश्रयत्व का अर्थ करना होगा प्रतियोगिव्यधिकरणगुणाभावशून्यत्व। उसका अर्थ है जिसमें गुणाभाव अपने प्रतियोगी गुण का व्यधिकरण होकर न रहे वह द्रव्य है। अब अनित्य द्रव्यों में उनकी उत्पत्ति के समय भी इस लक्षण की अव्याप्ति न होगी क्यों कि उस समय उनमें यद्यपि गुणाभाव रहता है पर प्रतियोगिव्यधिकरण होकर नहीं रहता क्यों कि उन्हीं द्रव्यों में दूसरे तीसरे क्षण गुण भी रहता है। हाँ, यदि कोई ऐसा भी द्रव्य हो जो कारणवश अपनी उत्पत्ति के दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाय तो उसमें गुण का उदय न हो सकने के कारण उसमें प्रतियोगिव्यधिकरण गुणाभाव रह जायगा अतः उसमें प्रतियोगिव्यधिकरणगुणाभावशून्यत्व के अर्थ में भी गुणाश्रयत्व अव्याप्त हो जायगा। इस लिए द्रव्य का लक्षण होगा द्रव्यत्व जाति, जिसमें द्रव्यत्व रहे वह द्रव्य है। इस तीसरे लक्षण को संकेतित करने के लिए ही ऊपर के दोनों लक्षणों का उल्लेख किया गया है क्यों कि द्रव्यत्व जाति की सिद्धि समवायिकारणता के अवच्छेदक रूप में करनी होती है और वह सम्पूर्ण द्रव्यों में गुणात्मक कार्य की दृष्टि से ही सम्भावित है, अतः द्रव्य को समवायिकरण और गुणाश्रय कहने से उसमें संयोग आदि गुणों की समवायिकारणता का, और उसके अवच्छेदकरूप में द्रव्यत्व जाति का ध्यान

आ जाता है। इस प्रकार उन दोनों लक्षणों से इस तीसरे लक्षण का संकेत हो जाने से इस तीसरे लक्षण के प्रतिपादन में ही ग्रन्थकार का अभिप्राय प्रतीत होता है।

द्रव्यभेद—

द्रव्य के कुल नव भेद हैं—पृथिवी जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। ग्रन्थकार ने 'द्रव्याणि नवैव' कह कर दो बातों की ओर संकेत किया है। नव शब्द के द्वारा यह संकेत किया गया प्रतीत होता है कि मूल द्रव्यों की संख्या नव अवश्य है, इसलिये इन शङ्कावों के लिये कोई अवसर नहीं रह जाता कि शब्द वायु का ही गुण है आकाश नाम का उसका कोई अतिरिक्त आश्रय नहीं है। जन्य पदार्थ ही काल हैं, उनसे भिन्न काल नाम का कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। मूर्त द्रव्य ही दिक् हैं, उनसे भिन्न दिक् नाम का कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। देह आदि ही ज्ञान आदि गुणों के आश्रय हैं, आत्मा नाम का कोई अतिरिक्त द्रव्य नहीं हैं। वायु के परमाणु ही मन हैं, मन नाम का कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है।

एव शब्द से यह संकेत किया गया जान पड़ता है कि द्रव्य पृथिवी आदि के रूप में नव ही हैं। इन नवों से पृथक् तम आदि के रूप में किसी अतिरिक्त द्रव्य की सत्ता नहीं है।

तम के विषय में मीमांसकमत—

मीमांसादर्शन में तम—अन्धकार को एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है और उस मान्यता के समर्थन में यह युक्ति दी गई है कि तम नील और गतिशील दिखाई देता है। नील दिखने से उसे पृथिवी में समाविष्ट नहीं किया जा सकता क्योंकि पृथिवी में गन्ध होता है और तम निर्गन्ध होता है। निर्गन्ध होते हुये गतिशील होने के कारण उसे तेज, वायु अथवा मन में समाविष्ट नहीं किया जा सकता क्योंकि ये द्रव्य नील नहीं दिखते और तम नील दिखाई देता है। नील दिखने से उसे नील दिखने वाले आकाश में नहीं समाविष्ट किया जा सकता क्योंकि आकाश कभी गतिशील नहीं दिखाई देता है और तम तो गतिशील दिखाई देता है। काल, दिक् और आत्मा में भी उसे समाविष्ट नहीं किया जा सकता क्योंकि ये द्रव्य कभी नील या गतिशील नहीं दिखाई देते किन्तु तम तो नील और गतिशील दिखाई देता है। इस प्रकार नील और गतिशील दिखाई देने से यह सिद्ध होता है कि तम एक दशवां द्रव्य है। मीमांसकों की इस मान्यता का प्रतिपादन करने वाला यह श्लोक दर्शन के अध्येतावों में अत्यन्त प्रसिद्ध है—

तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत्।
प्रसिद्धद्रव्यवैधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति॥

तम में गति होती है, नील रूप होता है। तम की उत्पत्ति क्रम से होती है, दूर तथा समीप के स्थानों में होती है। अतः उसमें कालकृत तथा दिक्कृत परत्व और अपरत्व रहता है। तम एक स्थान से विभक्त होकर दूसरे स्थान से संयुक्त होता दिखाई देता है अतः उसमें संयोग और विभाग भी होता है। छोटे, बड़े स्थानों में तम छोटा और बड़ा दिखाई देता है अतः उसमें कई प्रकार का परिमाण भी होता है। भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न दिखाई पड़ने से उसमें विभिन्न संख्यायें भी होती हैं। एक स्थान का तम दूसरे स्थान के तम से पृथक् दिखाई देता है अतः उसमें पृथक्त्व भी है। इस प्रकार जाति और गुणों का आश्रय होने और उक्त रीति से पृथिवी आदि प्रसिद्ध नव द्रव्यों से विलक्षण होने से वह एक विजातीय स्वतन्त्र द्रव्य है।

नैयायिकमत—

तम के विषय में न्यायदर्शन का अभिमत यह है कि नील और गतिशील दिखाई देने से तम को द्रव्य नहीं माना जा सकता क्योंकि जो द्रव्य नहीं होता वह भी कभी कभी नील और गतिशील दिखाई देता है, जैसे कबूतर के उड़ते समय उसके गले का रङ्ग। यदि यह कहा जाय कि नील और गतिशील दिखाई देने से तम में द्रव्यत्व का अनुमान अभीष्ट नहीं है किन्तु नील रूप और गति से द्रव्यत्व का अनुमान अभीष्ट है और इस अनुमान में कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि नीलरूप और गति में कहीं भी द्रव्यत्व का व्यभिचार नहीं है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि तम में नीलरूप और गति का होना सिद्ध नहीं है। यदि यह कहा जाय कि तम में नीलरूप और गति का प्रत्यक्ष दर्शन होता है और उसके अनन्तर 'तम अनील और निश्चल होता है' इस प्रकार की बाधक प्रतीति का उदय कदापि न होने से वह प्रमा है, अतः उस प्रमात्मक दर्शन से तम में नीलरूप और गति की सिद्धि होने से नीलरूप और गति से तम में द्रव्यत्व का अनुमान निष्पन्न हो सकता है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि बाधक प्रतीति के अनुदयमात्र से किसी प्रतीति को प्रमात्मक नहीं माना जा सकता, कारण कि यदि ऐसा माना जायगा तो 'आकाश नील है' इस प्रतीति के अनन्तर 'आकाश नील नहीं है' इस बाधक प्रतीति का उदय न होने से आकाश में नीलत्व की प्रतीति भी प्रमा हो जायगी और फिर उसके बल से आकाश में भी नीलत्व की सिद्धि हो जायगी, अतः किसी धर्मी में किसी धर्म की प्रतीति को प्रमात्मक तभी माना जा सकता है जब उस धर्मी में उस धर्म का अस्तित्व किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध हो। तम में नीलरूप और गति किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध नहीं है अतः उसमें नीलरूप और गति के दर्शन का प्रमात्व सिद्ध नहीं है, तो फिर उक्त दर्शन में प्रमात्व और अप्रमात्व जब सन्दिग्ध है तब उसके बल से तम में नीलरूप और गति की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है? और जब उसमें नीलरूप और गति का होना सिद्ध नहीं है तब उसके आधार पर

[अर्थेषु निरूपणीयेषु प्रथमस्य द्रव्यपदार्थस्य प्रसङ्गप्राप्तस्य नवविधस्य भेदान्निरूपयितुमिच्छन् क्रमप्राप्तां पृथिवीं लक्षयति ।]

तत्र पृथिवीत्वसामान्यवती पृथिवी। काठिन्यकोमलत्वाद्यवयवसंयोग-विशेषेण युक्ता, घ्राण-शरीर-मृत्पिण्ड-पाषाण-वृक्षादिरूपा, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-संस्कारवती। सा च द्विविधा नित्याऽनित्या च। नित्या परमाणुरूपा अनित्या च कार्यरूपा। द्विविधायाः पृथिव्या रूप-रस-गन्ध-स्पर्शा-अनित्याः पाकजाश्च। पाकस्तु तेजःसयोगः, तेन पृथिव्याः पूर्वरूपादयो नश्यन्त्यन्ये जन्यन्त इति पाकजाः।

तम में द्रव्यत्व का अनुमान किस प्रकार हो सकता है ? अतः तम के विषय में न्याय-दर्शन की सुनिश्चित मान्यता यह है कि तम कोई द्रव्य नहीं है किन्तु तेज का अभाव ही तम है, क्योंकि जिस स्थान में जिस समय तेज नहीं होता उसी समय उस स्थान में तम की प्रतीति होती है। यदि यह शङ्का हो कि यही क्यों न माना जाय कि तम ही द्रव्य है और उसका अभाव ही तेज है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उष्ण स्पर्श के आश्रयरूप में तेज को द्रव्य मानना अनिवार्य है किन्तु तम को द्रव्य मानने में ऐसी कोई प्रबल युक्ति नहीं है अतः उसे तेज का अभाव मानने में कोई बाधा नहीं है। इसके अतिरिक्त तम को द्रव्य मानने में गौरव भी है, क्योंकि तेज का सन्निधान होने पर उसकी निवृत्ति होने के कारण उसे नित्य द्रव्य न मान कर जन्य द्रव्य ही मानना होगा, और उस स्थिति में उसके प्रागभाव, ध्वंस तथा अनन्त अवयवों की कल्पना आवश्यक हो जाने के कारण गौरव का होना अनिवार्य है। इस प्रकार जब यह सिद्ध हो जाता है कि तेज का अभाव ही तम है तब यह निर्विवाद रूप से स्वीकार्य है कि उसमें नीलरूप और गति का होना सम्भव नहीं है अतः उसमें नीलरूप और गति का दर्शन भ्रमात्मक है।

इस विषय की प्रामाणिक जानकारी के लिये न्यायदर्शन, वात्स्यायनभाष्य १, २, ४६, तथा वैशेषिकदर्शन ५, २, १९-२० का अवलोकन उपयोगी हो सकता है।

कुछ लोगों ने शब्द और सुवर्ण को द्रव्य मान कर 'द्रव्याणि नवैव' का निराकरण करना चाहा है, पर न्यायमत में शब्द को आकाश का विशेषगुण तथा सुवर्ण को तेज का प्रभेद मान कर 'द्रव्याणि नवैव' सिद्धान्त की रक्षा की गई है, विस्तार के भय से इस विषय की विशेष चर्चा यहाँ नहीं की जा सकती।

पृथिवी—

उपर्युक्त नव द्रव्यों में पृथिवी का लक्षण है पृथिवीत्व जाति। यह जाति जिसमें रहती है उसे पृथिवी कहा जाता है। इस जाति की सिद्धि गन्ध की समवायिकारणता

के अवच्छेदकरूप में अनुमान प्रमाण से सम्पन्न होती है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है--

गन्धसमवायिकारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात्, या या कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना तन्तुनिष्ठपटकारणतावत्-गन्ध की समवायिकारणता किसी धर्म से अवच्छिन्न—नियन्त्रित है, क्योंकि वह कारणता है, जो जो कारणता होती है वह सब किसी धर्म से अवच्छिन्न होती है जैसे तन्तु में पट की कारणता तन्तुत्व से अवच्छिन्न होती है। इस अनुमान से गन्ध की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में पृथिवीत्व की सिद्धि होती है। आशय यह है कि गन्ध की उत्पत्ति पृथिवी में होती है, पृथिवी से भिन्न में नहीं होती, अतः समवाय सम्बन्ध से गन्ध के प्रति पृथिवी को तादात्म्य सम्बन्ध से कारण माना जाता है इस प्रकार गन्ध की समवायिकारणता सम्पूर्ण पृथिवी में रहती है और पृथिवी से भिन्न में नहीं रहती, अतः वह कारणता जिस धर्म से अवच्छिन्न-नियन्त्रित होगी वह धर्म भी सम्पूर्ण पृथिवी में रहेगा और पृथिवी से भिन्न में न रहेगा। उक्त अनुमानद्वारा गन्ध की समवायिकारणता ऐसे जिस धर्म से अवच्छिन्न सिद्ध होती है उसका नाम है पृथिवीत्व। उस धर्म को जातिस्वरूप मानने में कोई बाधक न होने से उसे जाति माना जाता है। यह पृथिवीत्व जाति ही पृथिवी का लक्षण है।

पृथिवी के कठिन कोमल आदि कई भेद होते हैं। जिस पृथिवी के अवयवों का संयोग दृढ़ होता है वह कठिन होती है और जिस पृथिवी के अवयवों का संयोग शिथिल होता है वह कोमल होती है।

पृथिवी के अनेक स्वरूप होते हैं—घ्राण, शरीर, मृत्पिण्ड, पाषाण, वृक्ष आदि। न्याय के अन्य ग्रन्थों में पृथिवी के इन सभी रूपों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है—शरीर, इन्द्रिय और विषय। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वनस्पति आदि का समावेश शरीरवर्ग में, घ्राण का समावेश इन्द्रियवर्ग में, मृत्पिण्ड, पाषाण आदि का समावेश विषयवर्ग में किया जाता है।

पृथिवी में चौदह गुण होते हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार (वेग तथा स्थितिस्थापक)।

पृथिवी के मुख्य भेद दो हैं, नित्य पृथिवी और अनित्य पृथिवी। जो पृथिवी परमाणुरूप होती है वह नित्य होती है और जो परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होती है वह अनित्य होती है। अनित्य पृथिवी के भी दो भेद होते हैं अणु और महत्। जो पृथिवी दो परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होती है जिसे द्व्यणुक कहा जाता है वह अणु होती है। तीन द्व्यणुकों के संयोग से जो पृथिवी उत्पन्न होती है जिसे त्रुटि या त्रसरेणु कहा जाता है वह तथा उससे बड़ी समस्त पृथिवी महत् होती है।

नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की पृथिवी में रहने वाले रूप, रस, गन्ध और स्पर्श अनित्य तथा पाकज होते हैं। पाकज का अर्थ है पाक से उत्पन्न होने वाला, और पाक का अर्थ है तेज का विलक्षण संयोग। इस विलक्षण तेजःसंयोगरूप पाक से पृथिवी के पूर्ववर्ती रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का नाश हो जाता है और उनके बदले नये रूप, रस, गन्ध और स्पर्श की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार जो रूप आदि गुण पाक से उत्पन्न होते हैं उन्हें पाकज कहा जाता है।

आम का कच्चा फल जिसका रूप हरा, रस खट्टा, गन्ध—अव्यक्त सुरभि और स्पर्श कठोर होता है, वही सूर्य के आतप का चिरसम्पर्क पाकर जब पक जाता है तब उसके हरे रूप का नाश होकर उसके बदले लाल या पीले रूप की उत्पत्ति होती है, खट्टे रस का नाश होकर उसके बदले मधुर रस की उत्पत्ति होती है, अव्यक्त सुरभि गन्ध का नाश होकर उसके बदले व्यक्त सुरभि गन्ध की उत्पत्ति होती है। पके आम के ये रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सूर्यातपसम्पर्करूप पाक से जनित होने के कारण पाकज कहे जाते हैं।

गाय हरी घास, सूखा भूसा आदि खाती है, पेट में पहुँचने पर उसकी जठराग्नि के सम्पर्क से ये वस्तुयें टूट कर परमाणुरूप में परिवर्तित हो जाती हैं, फिर उन्हीं परमाणुवों से गोबर, रक्त, मांस, दुग्ध आदि की उत्पत्ति होती है। इन वस्तुओं के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श घास-भूसे आदि के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से अत्यन्त विसदृश होते हैं, इन गुणों का यह अद्भुत परिवर्तन गाय की जठराग्नि के सम्पर्करूप पाक से ही सम्पन्न होता है।

मिट्टी का कच्चा घड़ा आंवे में पड़कर अग्नि के तीव्र संयोग से जब पक जाता है तब उसके पहले के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पूर्णरूपेण परिवर्तित हो जाते हैं।

धान, गेहूँ आदि के बीज जब खेत की मिट्टी में बो दिये जाते हैं तब मिट्टी के भीतर की गर्मी पाकर टूट जाते हैं, टूटे बीज के परमाणुवों के बीजावस्था के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नष्ट हो जाते हैं, उसके स्थान में नये रूप, रस, गन्ध और स्पर्श की उत्पत्ति हो जाती है, इन नये गुणों से युक्त बीजावयवों से अङ्कुर का उदय होता है। बीजावयवों के गुणों का यह विचित्र परिवर्तन मिट्टी के भीतर की गर्मी की देन है, मिट्टी के अन्तःस्थित तेज के सम्पर्क का फल है, सच्चे अर्थ में पाकज है।

इस प्रकार संसार के सम्पूर्ण पार्थिवद्रव्य पर पाक का प्रभाव सुव्यक्त है।

पीलुपाक और पिठरपाक—

पाक के विषय में वैशेषिकदर्शन और न्यायदर्शन की मान्यताओं में भेद है।

वैशेषिकदर्शन पीलुपाक का समर्थक है और न्यायदर्शन पिठरपाक का। पीलुपाक का अर्थ है परमाणुपाक और पिठरपाक का अर्थ है पिण्ड—अवयवी द्रव्य का पाक।

वैशेषिकदर्शन की दृष्टि यह है कि कुम्हार जब कच्चे घड़े को आंवे में डाल देता है, तब आंवे की धधकती आग के सम्पर्क से घड़ा टूट जाता है, उसके समस्त परमाणु विभक्त हो जाते हैं फिर अग्निसंयोग से उन परमाणुवों के पूर्ववर्ती रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का नाश होकर उनके बदले उन में नये रूप, रस, गन्ध और स्पर्श की उत्पत्ति होती है, फिर इन नये गुणों से युक्त परमाणुवों का परस्पर संयोग होकर द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि के क्रम से नये पके घड़े की उत्पत्ति होती है। आंवे के भीतर अग्नि-संयोगात्मक पाक से जो विलक्षणता सम्पन्न होती है वह रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन गुणों तक ही सीमित रहती है, क्योंकि कच्चे घड़े और पके घड़े में जो अन्तर होता है वह इन गुणों में ही लक्षित होता है, शेष सब बातें दोनों में समान होती हैं।

प्रश्न होता है कि आंवे में अग्नि के ताप से जब घड़ा टूट जाता है, उसके परमाणु विभक्त हो जाते हैं तो फिर कुम्हार आदि की सहायता के विना घड़े का यथापूर्व निर्माण कैसे हो जाता है? उत्तर यह है कि यह सब जीव के अदृष्ट और ईश्वर के प्रयत्न से सम्पन्न होता है, पके घड़े से जिन प्राणियों को भोग होना है उनके अदृष्ट के सहयोग से ईश्वर टूटे घड़े के पके परमाणुवों से पुराने घड़े के आकार-प्रकार में ही नये घड़े का निर्माण कर देता है।

प्रश्न होता है कि जब आँवे में कच्चे घड़े के टूटने पर उनके परमाणुवों में पाक होता है और फिर उन पके परमाणुवों से नये घड़े का जन्म होता है तब यह सारी घटना देखने में क्यों नहीं आती? उत्तर यह है कि कच्चे घड़े के टूटने और उसके स्थान में नये पके घड़े के पैदा होने का कार्य ऐसे चमत्कारपूर्ण ढंग से और इतनी द्रुतगति से निष्पन्न होता है कि इस सारी प्रक्रिया को कोई देख नहीं सकता।

दूसरी बात यह भी है कि परमाणुवों का परस्पर अलगाव भी उतना ही होता है जितने में उनके साथ अग्नि का संयोग होकर उनका परिपाक हो सके। इस प्रक्रिया में परमाणुवों का अलगाव इतना कम होता है कि कार्यकारण की स्वीकृत मर्यादा के अनुसार घड़े का नाश तो हो जाता है, पर दर्शक की अक्षमता के कारण उसका ढाँचा ऊपर से ज्यों का त्यों दिखाई देता है।

पूछा जा सकता है कि आंवें में कच्चे घड़े के परमाणुवों का अलगाव होकर उसके टूटने और उसके स्थान में नये घड़े के पैदा होने की विचित्र घटना मानने की आवश्यकता ही क्या है? कच्चे घड़े का नाश न मानकर उसी का पाक मान लेने में हानि क्या है? उत्तर में कहा जा सकता है कि आंवें से पक कर निकला घड़ा केवल ऊपर से ही पका

नहीं होता, किन्तु उसे तोड़ने पर उसके भीतर का भाग भी पूरा पका हुआ मिलता है। घड़े के भीतरी भाग का परिपाक उसके भीतर अग्नि का प्रवेश हुए बिना नहीं हो सकता, और अग्नि का प्रवेश घड़े का नाश हुए बिना नहीं हो सकता, क्योंकि उसके सम्पूर्ण अवयव एक दूसरे से इतने निविड़ रूप में संयुक्त होते हैं कि उनके भीतर अग्निकणों का प्रवेश कथमपि सम्भव नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि ऐसा देखा जाता है कि आंवें में डाले गये सब घड़े ठीक नहीं निकलते। बहुत से घड़े अग्नि के तीव्रतर ताप से गलकर झाँवा बन जाते हैं, इससे यह कल्पना अनायास की जा सकती है कि आंवे के सभी घड़े अपने भीतरी भागों के परिपाकार्थ टूटते अवश्य हैं, पर उनमें जो अग्नि के तीव्रतर ताप में पड़ जाते हैं, वे पुनः निर्मित नहीं हो पाते। यह स्थिति भी जीवों के अदृष्ट वैचित्र्य से ही उपपन्न होती है।

पाक के सम्बन्ध में न्यायदर्शन की दृष्टि यह है कि पाक के लिए आंवें में डाले गये घड़े का नाश मानना उचित नहीं है, क्योंकि आवें के भीतर घड़े के टूटने और फिर यथापूर्व नये घड़े का निर्माण होने में न तो कोई प्रमाण है और न ऐसा मानने की कोई आवश्यकता ही है। भीतरी भाग के पाक के लिए घड़े के भीतर अग्नि के प्रवेश की उपपत्ति के लिए घड़े के परमाणुवों के अलगाव की जो आवश्यकता बतायी गयी है, वह ठीक नहीं जान पड़ती, क्योंकि घड़े के भीतर तेल, घी आदि डालनेपर उसके बाहर भी चिकनाहट आ जाती है, केवल चिकनाहट ही आती है इतना ही नहीं होता, अपितु बहुधा बाहर से तेल, घी आदि के बूँद भी टपकने लगते हैं। इससे यह बात बरबस स्वीकार करनी पड़ती है कि घड़े के भीतर अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र होते हैं, जिनके मार्ग से भीतर डाला गया तेल आदि पदार्थ बाहर निकल आता है। फिर जब घड़े में ऐसे सूक्ष्म छिद्रों का होना सिद्ध है, तब उन्हीं मार्गों से अग्नि के सूक्ष्म सूक्ष्म कणों का प्रवेश भी उसमें सम्भव है और उन अग्नि-कणों के ताप से घड़े के भीतरी भाग का परिपाक भी सम्भव है, तो इस प्रकार घड़े के ज्यों का त्यों बने रहनेपर भी जब उसके भीतर-बाहर परिपाक हो सकता है तब पाक के लिए उसका विनाश मानना अत्यन्त असंगत है।

तर्कभाषाकार का मत—

वैशेषिक के पीलुपाक और न्याय के पिठरपाक इन दोनों मतों में तर्कभाषाकार को न्याय का मत ही अभिमत प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की पृथिवी को पाकज गुणों का आश्रय बताया है, उनका यह कथन न्यायमत में ही संगत हो सकता है, क्योंकि उस मत में परमाणु और अवयवी दोनों में पाक माना गया है, वैशेषिक मत में अनित्य पृथिवी को पाकज गुणों का आश्रय बताना संगत नहीं हो सकता क्योंकि उस मत में अवयवी का द्व्यणुकान्त नाश हो जाने पर उसके परमाणुवों

अप्त्वसामान्ययुक्ता आपः। रसनेन्द्रिय-शरीर-सरित्-समुद्र-हिम-करकादि-रूपाः, गन्धवर्जस्नेहयुक्तपूर्वोक्तगुणवत्यः, नित्या अनित्याश्च। नित्यानां रूपादयो नित्या एव, अनित्यानां रूपादयोऽनित्या एव।

में ही पाक माना गया है, परमाणुवों के पक जाने के बाद जब नये अवयवी की उत्पत्ति होती है, तब उसमें कारणगत गुणों से ही नये रूप आदि का जन्म होता है, अतः उस मत के अनुसार परमाणुरूप नित्य पृथिवी ही पाकज गुणों का आश्रय हो सकती है, अनित्य पृथिवी पाकज गुणों का आश्रय नहीं हो सकती।

हाँ, यदि पाकज शब्द का 'पाकजन्य' अर्थ न ले 'पाकप्रयोज्य' अर्थ लिया जाय तब अनित्य पृथिवी को भी पाकज गुणों का आश्रय कहा जा सकता है क्योंकि परमाणुगत पाकज गुणों द्वारा परम्परया प्रादुर्भूत होने के कारण अवयवी के रूप आदि गुण भी पाकप्रयोज्य होते हैं किन्तु इसके लिये पाकज शब्द को लाक्षणिक मानना अनिवार्य होगा।

अप्—जल

अप् का अर्थ है जल, अप्त्व का अर्थ है जलत्व, यह सम्पूर्ण जल में रहने वाली और जल से भिन्न में न रहने वाली एक जाति है, यह जलत्व जाति ही जल का लक्षण है। इसकी सिद्धि दो अनुमानों द्वारा की जाती है, पहले अनुमान से जन्यस्नेह की समवायिकारणता के अवच्छेदक—नियामक रूप में जन्यजलत्व जाति की सिद्धि होती है और दूसरे अनुमान से जन्यजल की समवायिकारणता के अवच्छेदक—नियामक रूप में जलत्व जाति की सिद्धि होती है।

आशय यह है कि स्नेह जल का एक विशेषगुण है, उसके दो भेद हैं नित्य और अनित्य। परमाणु रूप जल का स्नेह नित्य होता है, उसका जन्म और नाश नहीं होता। परमाणु से भिन्न सम्पूर्ण जल अनित्य होता है, उसमें रहने वाला स्नेह अनित्य होता है, उसका जन्म और नाश होता है, अनित्य स्नेह को जन्यस्नेह भी कहा जाता है, उसकी उत्पत्ति अनित्य जल–जन्य जल में होती है, परमाणुरूप नित्य जल में या जल से भिन्न पदार्थ में नहीं होती। इस वस्तुस्थिति के अनुरोध से यह कार्यकारणभाव माना जाता है कि समवाय सम्बन्ध से जन्यस्नेह के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से जन्यजल कारण होता है, जन्यजल में जन्यस्नेह की यह कारणता ही जन्यस्नेह की समवायिकारणता है इसे पक्ष बनाकर इस प्रकार का अनुमान किया जाता है—

'जन्यस्नेह की समवायिकारणता किसी धर्म से अवच्छिन्न—नियन्त्रित है, क्योंकि वह कारणता है, जो जो कारणता होती है वह सभी किसी धर्म से अवच्छिन्न होती है जैसे

कपाल में रहने वाली घटकी कारणता कपालत्व से अवच्छिन्न होती है' इस अनुमान से जन्यस्नेह की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में जो धर्म सिद्ध होता है, वह सम्पूर्ण जन्यजल में रहता है नित्य जल तथा जलसे भिन्न पदार्थ में नहीं रहता, उस धर्म का नाम है जन्यजलत्व, उसे जातिरूप मानने में कोई बाधक न होने से जातिबाधकाभावसहकृत उक्त अनुमान से ही उस धर्म में जातित्व की भी सिद्धि हो जाती है।

इसी प्रकार जन्यजल की उत्पत्ति नित्य-अनित्य दोनों प्रकार के सम्पूर्ण जल में होती है और जल से भिन्न पदार्थ में नहीं होती, इस वस्तुस्थिति के आधार पर इस प्रकार के कार्यकारणभाव की कल्पना की जाती है कि समवाय सम्बन्ध से जन्यजल के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से जल कारण होता है। जल में रहने वाली जन्यजल की यह कारणता ही जन्य-जल की समवायिकरणता है, इस कारणता को पक्ष बनाकर इस प्रकार अनुमान किया जाता है—

'जन्यजल की समवायिकारणता किसी धर्म से अवच्छिन्न है, क्योंकि वह कारणता है, जो जो कारणता होती है वह सभी किसी धर्म से अवच्छिन्न होती है जैसे दण्ड में रहने वाली घटकारणता दण्डत्व से अवच्छिन्न होती है' इस अनुमान से जन्यजल की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में जिस धर्म की सिद्धि होती है, वह नित्य-अनित्य दोनों प्रकार के सम्पूर्ण जल में रहता है और जल से भिन्न पदार्थ में नहीं रहता, उसी का नाम है जलत्व, उसे जातिरूप मानने में कोई बाधक न होने से जातिबाधकाभावसहकृत उक्त अनुमान से ही उसमें जातित्व की सिद्धि होती है

उपर्युक्त रीति से जलत्वजाति की सिद्धि होती है, वही जल का लक्षण है।

जल के अनेक रूप हैं—जैसे रसनेन्द्रिय, शरीर, सरित्-नदी, हिम-बर्फ, करका-ओला आदि। जल के इन सभी प्रभेदों में गन्ध को छोड़कर पृथिवी के शेष सभी गुण रहते हैं। गन्ध के बदले जल में स्नेहनाम का एक नवीन गुण रहता है। इस प्रकार जल में रूप, रस, स्नेह, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार ये चौदह गुण रहते हैं। इन चौदह गुणों में जल का रूप अभास्वरशुक्ल होता है। अभास्वर का अर्थ है पर का अप्रकाशक। रस केवल मधुर होता है। नीबू के जल आदि में जो खटास होती है वह नीबू के पार्थिव कलेवर की होती है, जल का रस तो मधुर ही होता है जो नीबू के पार्थिव भाग के उत्कट खट्टे रस से अभिभूत रहता है। हर्रा आदि खाकर जल पीने से जल की स्वाभाविक मिठास का अनुभव होता है। जल का स्पर्श शीत होता है; गर्मी की ऋतु में या आग पर गरम करने पर जल में जो उष्णता प्रतीत होती है वह जल में प्रविष्ट सूर्य के किरणों तथा अग्निकणों की होती है, उस उष्णता से अभिभूत होने के नाते

तेजस्त्वसामान्यवत् तेजः। चक्षुः-शरीर-सवितृ-सुवर्ण-वह्नि-विद्युदादिप्रभेदम्, दिव्यं भौममुदर्यमाकरजश्चेति। रूप-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-द्रवत्व-संस्कारवत्। नित्यमनित्यं च पूर्ववत्। तच्चतुर्विधम्। [१] ऊद्भूतरूपस्पर्शम् [२] अनुद्भूतरूपस्पर्शम् [३] अनुद्भूतरूपोद्भूतस्पर्शम् [४] उद्भूतरूपानुद्भूतस्पर्शं च इति। तत्र [१] उद्भूतरूपस्पर्शम् यथा सौरादितेजः, पिण्डीभूतं तेजो वह्न्यादिकम्। सुवर्णं तु उद्भूताभिभूतरूपस्पर्शं नानुद्भूतरूपस्पर्शं, तदनुद्भूतरूपत्वेऽचाक्षुषं स्याद्, अनुद्भूतस्पर्शत्वे त्वचा न गृह्येत। अभिभवस्तु बलवत्सजातीयेन पार्थिवरूपेण स्पर्शेन च कृतः। [२] अनुद्भूतरूपस्पर्शं तेजो यथा चक्षुरिन्द्रियम् [३] अनुद्भूतरूपोद्भूतस्पर्शं यथा तप्तवारिस्थं तेजः। [४] उद्भूतरूपानुद्भूतस्पर्शं यथा प्रदीपप्रभामण्डलम्।

उस समय जल का अपना स्पर्श अनुभव में नहीं आता। जल का द्रवत्व सांसिद्धिक-स्वाभाविक होता है। हिम, ओला आदि में अदृष्टवश उसका उदय नहीं होने पाता। जल का संस्कार वेगात्मक होता है, कुछ लोग उसमें स्थितिस्थापक नाम का भी संस्कार मानते हैं।

जल के दो भेद हैं नित्य और अनित्य, परमाणुरूप जल नित्य होता है और परमाणुवों के संयोग से उत्पन्न होने वाला द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि समस्त जल अनित्य होता है। नित्य जल के रूप, रस, स्नेह, स्पर्श, एकत्वसंख्या, परिमाण, एकपृथक्त्व, गुरुत्व और द्रवत्व नित्य होते हैं और अन्य गुण अनित्य होते हैं, अनित्य जल के सभी गुण अनित्य होते हैं, नित्य जल में केवल दैशिक परत्व-अपरत्व रहते हैं कालिक परत्व-अपरत्व नहीं रहते। अनित्य जल में दैशिक और कालिक दोनों प्रकार के परत्व अपरत्व रहते हैं। न्याय के अन्य कई ग्रन्थों में अनित्य जल के तीन वर्ग बताये गये हैं—इन्द्रिय, शरीर और विषय। जलीय इन्द्रिय है रसन। जलीय शरीर वरुणलोक में होता है, उस शरीर की रचना जल के परमाणुवों से होती है, उस शरीर में भी पृथिवी का उतना अंश सम्मिलित रहता है जितने से कर-चरणादि की रचना होने से वह उपयोगक्षम बन सके। इन्द्रिय और शरीर से भिन्न जितना भी जल है वह सब भोग का साधन होने से विषयरूप है।

तेज—

तेज का लक्षण है तेजस्त्वजाति, यह जाति जिसमें रहती है उसे तेज कहा जाता है। इसकी सिद्धि दो अनुमानों से होती है, जैसे जन्य उष्णस्पर्श की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में जन्यतेजस्त्व जाति की सिद्धि होती है और जन्यतेज की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में तेजस्त्व जाति की सिद्धि होती है। कहने का आशय यह

है कि उष्णस्पर्श के दो भेद होते हैं नित्य और अनित्य, नित्य उष्णस्पर्श नित्यतेज-परमाणु में रहता है और अनित्य उष्णस्पर्श अनित्य तेज में रहता है। अनित्य उष्णस्पर्श को जन्य उष्णस्पर्श और अनित्य तेज को जन्यतेज कहा जाता है। जन्य उष्णस्पर्श की उत्पत्ति केवल जन्यतेज में ही होती है, नित्य तेज या तेज से भिन्न पदार्थ में नहीं होती। इस वस्तुस्थिति के आधार पर यह कार्यकारणभाव माना जाता है कि समवाय सम्बन्ध से जन्य उष्णस्पर्श के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से जन्यतेज कारण होता है, जन्यतेज में रहने वाली जन्य उष्णस्पर्श की यह कारणता ही जन्य उष्णस्पर्श की समवायिकारणता कही जाती है, इस कारणता को पक्ष बनाकर इस प्रकार का अनुमान किया जाता है—

'जन्य उष्णस्पर्श की समवायिकारणता किसी धर्म से अवच्छिन्न–नियन्त्रित है, क्योंकि वह कारणता है, जो जो कारणता होती है वह सभी किसी धर्म से अवच्छिन्न होती है जैसे कपाल में रहने वाली घटकारणता कपालत्व से अवच्छिन्न होती है, इस अनुमान से जन्य उष्णस्पर्श की समवायिकारणता के अवच्छेदरूप में जिस धर्म की सिद्धि होती है उसी का नाम है जन्यतेजस्त्व, उस धर्म को जातिरूप मानने में कोई बाधक न होने से जातिबाधकाभावसहकृत उक्त अनुमान से ही उसमें जातित्व की भी सिद्धि हो जाती है।

इसी प्रकार जन्यतेज की उत्पत्ति नित्य-अनित्य दोनों प्रकार के तेजों में होती है और तेज से भिन्न पदार्थ में नहीं होती, इस वस्तुस्थति के आधार पर इस कार्यकारणभाव की कल्पना की जाती है कि समवाय सम्बन्ध से जन्यतेज के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से तेज कारण है, तेज में रहने वाली जन्यतेज की यह कारणता ही जन्यतेज की समवायिकारणता कही जाती है। इसे पक्ष बनाकर इस प्रकार अनुमान किया जाता है—

जन्यतेज की समवायिकारणता किसी धर्म से अवच्छिन्न—नियन्त्रित है, क्योंकि वह कारणता है, जो जो कारणता होती है वह सभी किसी धर्म से अवच्छिन्न होती है जैसे दण्ड में रहने वाली घटकारणता दण्डत्व से अवच्छिन्न होती है।

इस अनुमान से जन्यतेज की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में जिस धर्म की सिद्धि होती है, उसी का नाम है। तेजस्त्व, उसे जातिरूप मानने में कोई बाधक न होने से जातिबाधकाभावसहकृत उक्त अनुमान से ही उसमें जातित्वकी भी सिद्धि हो जाती है।

उपर्युक्त रीति से सिद्ध होने वाली तेजस्त्व जाति को तेज का लक्षण माना जाता है।

तेज के कई रूप हैं— जैसे चक्षु, शरीर, सूर्य, सुवर्ण, अग्नि, विद्युत् आदि। तेज में रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व और संस्कार ये तेरह गुण रहते हैं।

तेज के मुख्य दो भेद हैं नित्य और अनित्य। परमाणुरूप तेज नित्य होता है, उससे भिन्न सम्पूर्ण तेज अनित्य होता है। अनित्य तेज की तीन श्रेणियां होती हैं इन्द्रिय, शरीर और विषय। तैजस इन्द्रिय है चक्षु, तैजस शरीर सूर्यलोक में होता है, उसका निर्माण तेज के परमाणुवों से होता है, किन्तु उसमें भी पृथिवी का उतना अंश सम्मिलित रहता है जितने से कर-चरणादि की रचना हो सकने से वह उपयोगक्षम बन सके। इन्द्रिय और शरीर से भिन्न समस्त अनित्य तेज भोग का साधन होने से विषय-रूप तेज कहा जाता है।

नित्य तेज—परमाणु के रूप, स्पर्श, एकत्वसंख्या, परिमाण और एकपृथक्त्व इतने गुण नित्य होते हैं, शेष सभी गुण अनित्य होते हैं। अनित्य तेज के सम्पूर्ण गुण अनित्य होते हैं। तेज का रूप भास्वर शुक्ल होता है। भास्वर का अर्थ है परप्रकाशक। तेज का स्पर्श उष्ण होता है, परमाणुरूप नित्य तेज में केवल दैशिकपरत्व-अपरत्व रहते हैं कालिक परत्व-अपरत्व नहीं रहते। अनित्य तेज में दैशिक और कालिक दोनों प्रकार के परत्व-अपरत्व रहते हैं। तेज का द्रवत्व नैमित्तिक होता है, अग्निसंयोगरूप निमित्त को पाकर उत्पन्न होता है जैसे सुवर्ण आदि का द्रवत्व। तेज का संस्कार वेगात्मक होता है, कुछ लोग उसमें स्थितिस्थापक संस्कार भी मानते हैं।

अनित्य तेज के चार प्रकार हैं [१] उद्भूतरूपस्पर्श—ऐसा तेज जिसका रूप और स्पर्श दोनों उद्भूत—प्रत्यक्षग्राह्य हो [२] अनुद्भूतरूपस्पर्श—ऐसा तेज जिसका रूप और स्पर्श दोनों अनुद्भूत–प्रत्यक्ष–अग्राह्य हो। [३] अनुद्भूतरूप-उद्भूतस्पर्श—ऐसा तेज जिसका रूप अनुद्भूत हो और स्पर्श उद्भूत हो। [४] उद्भूतरूप-अनुद्भूत-स्पर्श—ऐसा तेज जिसका रूप उद्भूत हो और स्पर्श अनुद्भूत हो।

पहले प्रकार में सूर्य आदि तेज का और अग्नि आदि पिण्डीभूत तेज का समावेश होता है क्योंकि इनका रूप भी उद्भूत होता है और स्पर्श भी उद्भूत होता है। इनके रूप का चाक्षुष प्रत्यक्ष तथा स्पर्श का स्पार्शन प्रत्यक्ष सर्वसम्मत है।

सुवर्ण का सन्निवेश भी इस पहले प्रकार के तेज में ही होता है क्योंकि उसका भी रूप और स्पर्श दोनों उद्भूत होते हैं। यदि पूँछा जाय कि सुवर्णात्मक तेज में भास्वरशुक्ल रूप का तथा उष्णस्पर्श का प्रत्यक्ष तो नहीं होता फिर उसके रूप और स्पर्श के उद्भूत होने में क्या युक्ति है? तो इसका उत्तर यह है कि यदि सुवर्ण के रूप को उद्भूत नहीं माना जायगा तो सुवर्ण का चाक्षुष प्रत्यक्ष न हो सकेगा क्योंकि उद्भूत रूप के सम्बन्ध से ही द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, इसी प्रकार यदि उसके स्पर्श को उद्भूत न माना जायगा तो उसका स्पार्शन प्रत्यक्ष न हो सकेगा क्योंकि उद्भूत स्पर्श के सम्बन्ध से ही द्रव्य का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है। सुवर्ण का चाक्षुष और स्पार्शन दोनों

प्रकार का प्रत्यक्ष होता है अतः उसमें उद्भूत रूप और उद्भूत स्पर्श का अस्तित्व मानना आवश्यक है।

प्रश्न होता है कि जब सुवर्ण में उद्भूत भास्वर शुक्ल रूप तथा उद्भूत उष्णस्पर्श रहता है तो उसमें उन दोनों का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? उत्तर यह है कि सुवर्ण का अपना निजी तैजस रूप तथा तैजस स्पर्श दोनों ही यद्यपि उद्भूत हैं तथापि उनका प्रत्यक्ष इसलिये नहीं होता कि वे दोनों सुवर्ण में मिले पार्थिव अंश के पीत रूप तथा अनुष्णाशीत स्पर्श से अभिभूत हैं। अभिभूत का अर्थ है प्रतिबद्धप्रत्यक्षक अर्थात् जिसका प्रत्यक्ष जिसके सजातीय के प्रत्यक्ष की सामग्री से रोक दिया गया हो। कहने का आशय यह है कि जब कोई सुवर्ण आँख के सामने पड़ता है तब जैसे उसके रूप और स्पर्श के साथ चक्षु और त्वक् का संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष होता है उसी प्रकार उसमें मिले पार्थिव अंश के रूप और स्पर्श के साथ भी उक्त सन्निकर्ष होता है। इस प्रकार एक ही समय सुवर्ण के अपने निजी रूप और स्पर्श तथा उसमें मिले पार्थिव अंश के रूप और स्पर्श के प्रत्यक्ष की सामग्री का सन्निधान एक काल में हो जाता है, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि सुवर्ण के रूप और स्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु उसमें मिले पार्थिव अंश के रूप और स्पर्श का ही प्रत्यक्ष होता है, वह भी तेजोभाग और पार्थिव भाग के विलक्षण सम्मिश्रणवश अलग से पार्थिव भाग में न होकर अविविक्त रूप से दोनों में ही प्रादुर्भूत होता है। इस वस्तुस्थिति के अनुरोध से यह कल्पना की जाती है कि सुवर्ण के रूप और स्पर्श का सजातीय रूप–स्पर्श जो सुवर्ण में मिले पार्थिवभाग में है उसके प्रत्यक्ष की सामग्री सुवर्ण के अपने रूप और स्पर्श के प्रत्यक्ष का प्रतिबन्धक हो जाती है। इस प्रकार सुवर्ण में मिले पार्थिवभाग के रूप और स्पर्श से अभिभूत होने के कारण सुवर्ण का अपना रूप और स्पर्श उद्भूत होते हुए भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो पाता।

तेज के दूसरे प्रकार में चक्षु इन्द्रिय की गणना की जाती है क्योंकि उसका रूप और स्पर्श दोनों अनुद्भूत होते हैं, यह इसलिये माना जाता है कि न तो चक्षु के रूप और स्पर्श का ही प्रत्यक्ष होता है और न उसके सम्बन्ध से चक्षु का ही प्रत्यक्ष होता है।

तेज के तीसरे प्रकार में गर्म जल में प्रविष्ट हुये तेजःकणों की गणना की जाती है क्योंकि वह तेज या उसका रूप आँख से देखने में नहीं आता, अतः उसके रूप को अनुद्भूत माना जाता है, पर उसके उष्ण स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है अतः उसके स्पर्श को उद्भूत माना जाता है।

चौथे प्रकार के तेज में प्रदीप की प्रभा का उल्लेख किया जाता है, क्योंकि उसका तथा उसके स्पर्श का स्पार्शन प्रत्यक्ष न होने से उसके स्पर्श को अनुद्भूत माना जाता है पर उस

प्रभा का तथा उसके भास्वर शुक्ल रूप का चाक्षुष प्रत्यक्ष होने से उसके रूप को उद्भूत माना जाता है।

न्याय के अन्य ग्रन्थों में विषयभूत अनित्य तेज के चार भेद बताये गये हैं–भौम, दिव्य, उदर्य और आकरज। इनका उल्लेख इस ग्रन्थ में भी है। भौम का अर्थ है भूमि में रहने वाला या भौम इन्धनों से दीप्त होने वाला, जैसे रसोईघर, जंगल आदि का अग्नि। दिव्य का अर्थ है अन्तरिक्ष में होने वाला, जैसे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि। उदर्य का अर्थ है उदर में होने वाला, जैसे पेट के भीतर का वह अग्नि, जिसके द्वारा खाये पिये पदार्थों का परिपाक होता है। आकरज का अर्थ है आकर–खान से निकलने वाला, जैसे सुवर्ण आदि।

सुवर्ण का तेजस्त्व—

मीमांसादर्शन में सुवर्ण को एक अतिरिक्त द्रव्य माना गया है पर न्यायवैशेषिक दर्शन में उसका अन्तर्भाव तेज में किया गया है। सुवर्ण में तेजस्त्व को सिद्ध करने वाले दो अनुमान विश्वनाथ न्यायपञ्चानन ने अपनी न्यायमुक्तावली के तेजःप्रकरण में प्रदर्शित किये हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१)'सुवर्णं तैजसम् असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानलसंयोगे सत्यपि अनुच्छिद्यमान-जन्यद्रवत्वाद्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा घटः।

तथा—

(२) अत्यन्ताग्निसंयोगी पीतिमगुरुत्वाश्रयः विजातीयरूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्यसंयुक्तः अत्यन्ताग्निसंयोगे सत्यपि पूर्वरूपविजातीयरूपानधिकरणत्वात्, जलमध्यस्थपीतपटवत्।

पहले अनुमान का आशय यह है—

सुवर्ण तैजस द्रव्य है, क्यों कि अग्नि के संयोग से वह द्रुत होता है, किन्तु पर्याप्त अग्नि के बीच पर्याप्त समय तक पड़े रहने पर भी तथा द्रवत्व के उच्छेद का कोई प्रतिबन्धक न रहने पर भी उसके द्रवत्व का उच्छेद नहीं होता, और वस्तुस्थिति यह है कि जो तैजस द्रव्य नहीं होता वह अग्नि के संयोग से यदि द्रुत होता है तो पर्याप्त अग्नि के बीच पर्याप्त समय तक रहने पर तथा द्रवत्व के उच्छेद का कोई प्रतिबन्धक न रहने पर उसके द्रवत्व का उच्छेद अवश्य हो जाता है, जैसे मिट्टी का घड़ा, घी, लाह आदि। ये वस्तुयें अग्नि के संयोग से जब द्रुत होती हैं और पर्याप्त अग्नि में पर्याप्त समय तक पड़ी रह जाती हैं तथा उनके द्रवत्व के उच्छेद का कोई प्रतिबन्धक नहीं रहता तब इन वस्तुओं के द्रवत्व का उच्छेद अवश्य हो जाता है। यही कारण है कि मिट्टी के अनेक घड़े आंवे की आग के तीव्रतर ताप से पिघल कर झांवा हो जाते हैं। घी यदि पानी आदि प्रतिबन्धक द्रव्य में नहीं रहता तो अग्नि के साथ चिर

सम्पर्क होने पर उसके द्रवत्व का नाश हो जाता है। लाह आदि की भी यही गति होती है। पर यह स्पष्ट है कि सुवर्ण की स्थिति इन सब वस्तुवों की स्थिति से भिन्न है अतः उसे तैजस द्रव्य मानना आवश्यक है।

इस सन्दर्भ में यह प्रश्न हो सकता है कि अग्नि का अत्यन्त संयोग होने पर तो कभी-कभी सुवर्ण के भी द्रवत्व का उच्छेद हो जाता है, क्यों कि यदि ऐसा न होता तो वैद्य लोग सुवर्ण का भस्म कैसे तयार कर पाते ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जब सुवर्ण का भस्म बनाना होता है तब प्रतिबन्धक द्रव्य के द्वारा सुवर्ण में द्रवत्व का प्रतिरोध कर दिया जाता है, इस लिए जब वह द्रुत ही नहीं होने पाता तब उसके द्रवत्व के उच्छेद की बात ही कैसे उठ सकती है ?

दूसरे अनुमान का आशय यह है—

सुवर्ण में जो पीला और गुरु भाग होता है, निश्चय ही वह पार्थिव अंश है, किन्तु अग्नि का अत्यन्त संयोग होने पर भी उसके रूप का परिवर्तन नहीं होता, इस लिए यह अनुमान होता है कि 'सुवर्ण के पीत, गुरु भाग में किसी ऐसे द्रवद्रव्य का संयोग अवश्य है जिसके कारण उस भाग में रूप का परिवर्तन नहीं होने पाता, क्यों कि पार्थिव द्रव्य में अग्नि का संयोग होने पर रूप की अपरिवर्तनीयता तभी होती है जब उसमें रूपपरिवर्तन के प्रतिबन्धक द्रवद्रव्य का संयोग होता है, जैसे किसी पात्र में पानी भर कर उसमें पीला वस्त्र डाल कर जब उस पात्र को आग पर चढ़ाया जाता है तब उस वस्त्र में द्रवद्रव्य जल का संयोग होने के कारण ही उसके रूप का परिवर्तन नहीं होता। अतः यह स्पष्ट है कि सुवर्ण में दो अंश हैं—एक पीला पार्थिव अंश और दूसरा द्रवत्वशाली अपार्थित अंश, जिसके संयोग के कारण अग्निसंयोग होने पर भी पार्थिव अंश के रूप का परिवर्तन नहीं हो पाता।यह दूसरा अंश तेज को छोड़ और कुछ नहीं हो सकता; क्योंकि यदि वह पार्थिव होता तो उसके संयोग से रूपपरिवर्तन का प्रतिबन्ध नहीं होता और यदि वह जलीय होता तो उसमें सांसिद्धिक द्रवत्व होता, और यदि वह पार्थिव, जलीय या तैजस न होकर कुछ और ही होता तो न तो उसके संयोग से रूपपरिवर्तन का प्रतिबन्ध ही होता और न उसमें द्रवत्व ही होता, क्योंकि वायु आदि के संयोग से न तो रूप के परिवर्तन का प्रतिबन्ध ही होता है और न उनमें द्रवत्व ही होता है। अतः सुवर्ण में अवस्थित अपीत एवं अगुरु अंश को तैजस माने विना अन्य कोई गति नहीं है। उस अंश के कारण ही उस पूरे पिण्ड को सुवर्ण कहा जाता है। इस प्रकार सुवर्ण कोई अतिरिक्त द्रव्य न होकर तेज में ही अन्तर्भूत है।

वायुत्वाभिसंबन्धवान् वायुः। त्वग् इन्द्रिय-प्राण-वातादिप्रभेदः। स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-वेगवान्। स च स्पर्शाद्यनुमेयः। तथाहि योऽयं वायौ वाति अनुष्ण-अशीतस्पर्श उपलभ्यते स गुणत्वाद् गुणिनमन्तरेणानुपपद्यमानो गुणिनमनुमापयति। गुणी च वायुरेव। पृथिव्याद्यनुपलब्धेः। वायुपृथिवीव्यतिरेकेण अनुष्णाशीतस्पर्शाभावात्। स च द्विविधो नित्यानित्यभेदात्। नित्यः परमाणुरूपो वायुः, अनित्यः कार्यरूप एव।

वायु—

वायुत्व जाति के अभिसम्बन्ध का जो आश्रय होता है उसे वायु कहा जाता है। वायु के इस लक्षण में यदि 'अभि' का सन्निवेश न कर 'वायुत्व के सम्बन्धमात्र' को वायु का लक्षण माना जायगा तो काल में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वायुत्व का कालिक सम्बन्ध उसमें रहता है, अतः वायुत्व के सम्बन्धमात्र को वायु का लक्षण न मानकर 'वायुत्व के अभिसम्बन्ध' को वायु का लक्षण माना गया है। अभिसम्बन्ध का अर्थ है अभिमत सम्बन्ध, अभिमत सम्बन्ध वही हो सकता है जिसका ग्रहण करने पर कोई दोष न हो, प्रकृत में वह सम्बन्ध है समवाय, वायुत्व का समवाय वायु में ही रहता है, अन्यत्र नहीं रहता, अतः 'वायुत्व के अभिमत सम्बन्ध–समवाय' को वायु का लक्षण मानने में कोई दोष न होगा।

अभि-शब्द से एक बात की और सूचना मिलती है, वह यह कि 'वायुत्व के समवाय-मात्र' को वायु का लक्षण न मानकर 'वायुत्वप्रतियोगिकत्वविशिष्ट समवाय' को वायु का लक्षण मानना चाहिये, क्योंकि 'वायुत्व के समवायमात्र' को यदि वायु का लक्षण माना जायगा तो अन्य द्रव्य, गुण, तथा कर्म में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि सभी समवेत पदार्थों का एक ही समवाय होता है, अतः वायुत्व और सत्ता का समवाय भी एक है, इसलिये समवाय रूप के सभी आश्रय वायुत्वसमवाय के भी आश्रय होंगे, फलतः वायु का 'वायुत्व-समवाय' लक्षण वायु से भिन्न सभी द्रव्य, गुण और कर्म में अतिव्याप्त हो जायगा। किन्तु जब वायुत्वप्रतियोगिकत्वविशिष्टसमवाय को वायु का लक्षण माना जायगा तब उक्त अति-व्याप्ति न होगी क्योंकि वायुत्वप्रतियोगिकत्वविशिष्टसमवाय की आश्रयता वायु में ही होती है, अन्यत्र नहीं होती। यदि यह कहा जाय कि वायुत्वप्रतियोगिकत्वविशिष्टसमवाय और समवाय में कोई भेद न होने से उक्त विशिष्टसमवाय भी समवाय के सभी आश्रयों में रहेगा, अतः उक्त विशिष्टसमवाय को वायु का लक्षण मानने पर भी उक्त अतिव्याप्ति का परिहार नहीं हो सकता, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्तविशिष्टसमवाय और समवाय में ऐक्य होने पर भी उक्त विशिष्टसमवायत्व रूप से उसकी आश्रयता केवल वायु में ही रहेगी, अन्यत्र नहीं रहेगी, क्यों कि यह नियम है कि जो धर्म तथा उसका जो सम्बन्ध दोनों जहाँ रहते हैं, वहीं उस धर्म के उस सम्बन्ध की तद्धर्मप्रतियोगिकत्वविशिष्टतत्स-

म्बन्धत्वरूप से आश्रयता मानी जाती है। यही कारण है, जिससे घटभूतलसंयोग के घट और भूतल दोनों में रहने पर भी उस सम्बन्ध से भूतल ही घट का आश्रय होता है, स्वयं घट नहीं होता, क्योंकि घट की आश्रयता केवल घटसंयोग से नहीं होती किन्तु घटप्रतियोगिकत्वविशिष्ट संयोग से होती है और उक्त संयो॰ केवल संयोगत्व रूप से घट में रहता है, घटप्रतियोगिकत्वविशिष्टसंयोगत्वरूप से नहीं रहता, और उक्त विशिष्टसंयोगत्व-रूप से ही उक्त संयोग घट की आश्रयता का नियामक होता है। इस वस्तुस्थिति में वायु से भिन्न पदार्थ वायुत्वप्रतियोगिकत्वविशिष्ट समवाय के आश्रय नहीं हो सकते, क्योंकि वायुभिन्न द्रव्य, गुण और कर्म में केवल समवाय ही रहता है, वायुत्व नहीं रहता, अतः वायुत्वप्रतियोगिकत्वविशिष्टसमवाय वायुभिन्न द्रव्य, गुण और कर्म में न रह कर वायु में ही रहता है। इस लिए वायुत्वप्रतियोगिकत्वविशिष्टसमवाय की अतिव्याप्ति वायुभिन्न में नहीं हो सकती।

इन्हीं सब तथ्यों के सूचनार्थ वायुत्व के सम्बन्धमात्र को वायु का लक्षण न कह कर वायुत्वाभिसम्बन्ध को वायु का लक्षण कहा गया है। पर उसका वास्तव तात्पर्य यथाश्रुत अर्थ में न होकर इस अर्थ में है कि वायु का लक्षण है वायुत्व जाति और उसके लक्षणत्व का नियामक सम्बन्ध है समवाय। कहने का निष्कष यह है कि समवाय सम्बन्ध से वायुत्व जाति जिसमें रहती है उसे वायु कहा जाता है।

वायुत्व जाति की सिद्धि दो अनुमानों से होती है, जैसे जन्य अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में जन्यवायुत्व की सिद्धि होती है और जन्यवायु की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में वायुत्व जाति की सिद्धि होती है, यह जाति अपने साधक अनुमान से वायुमात्र में आश्रित होकर सिद्ध होती है, अतः उसे वायु का लक्षण मानने पर अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष का भय नहीं रहता।

वायु के त्वग् इन्द्रिय, प्राण, वात आदि अनेक भेद हैं। स्पर्श, संखया, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और वेग इन नव गुणों का वह आश्रय होता है। नीरूप होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, स्पर्श, शब्द, धृति और कम्प इन चार कार्यों से उसका अनुमान होता है।

स्पर्श से वायु का अनुमान—

मनुष्य वसन्त आदि ऋतुओं में प्रातः और सायं भ्रमण करने के लिये जब घर से बाहर निकलता है तब उसे एक ऐसे स्पर्श का अनुभव होता है जिसे शीत या उष्ण न कह कर अनुष्णाशीत कहा जा सकता है इस स्पर्श के विषय में प्रायः सभी का यह समान मत है कि जिन की त्वचा दूषित नहीं होती ऐसे सभी प्राणियों को उस स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है। किन्तु उस स्पर्श के आश्रय का प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः उस स्पर्श से उसके आश्रय का अनुमान किया जाता है, जो इस प्रकार है—

वसन्त आदि ऋतुओं में प्रातः सायं भ्रमण करते समय अनुभव में आने वाला विलक्षण अनुष्णाशीत स्पर्श किसी द्रव्य में आश्रित है, क्योंकि वह गुण है, और यह नियम है कि कोई भी गुण द्रव्य में अनाश्रित नहीं होता, अतः वह स्पर्श यदि किसी द्रव्य में आश्रित न होगा तो वह गुण ही न हो सकेगा।

यदि यह पूछा जाय कि उक्त अनुमान के अनुसार यह तो ठीक है कि उस स्पर्श को किसी द्रव्य में आश्रित होना चाहिये, पर उससे यह कैसे सिद्ध होगा कि वह वायुनामक अतिरिक्त द्रव्य में आश्रित होता है? तो इसका उत्तर यह है कि यतः वह स्पर्श पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में किसी द्रव्य में आश्रित नहीं हो सकता अतः उसे अतिरिक्त द्रव्य में आश्रित मानना आवश्यक है, जैसे–यदि उसे पृथिवी में आश्रित माना जायगा तो उसके स्पार्शन प्रत्यक्ष के समय उसके आश्रयभूत पार्थिव द्रव्य का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये क्योंकि उस समय उस स्पर्श का आश्रयभूत वह पार्थिव द्रव्य भी सन्निहित रहता है, किन्तु उसके आश्रय का प्रत्यक्ष नहीं होता, इस लिये उसे पृथिवी में आश्रित नहीं माना जा सकता। जल या तेज में भी आश्रित मानने पर उसके प्रत्यक्ष के समय उसके आश्रयभूत जल या तेज के भी प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी, साथ ही यह भी आपत्ति होगी कि यदि वह जल या तेज में आश्रित होगा तो उसका प्रत्यक्ष शीत या उष्ण रूप में होना चाहिये क्योंकि जल का स्पर्श शीत तथा तेज का स्पर्श उष्ण होता है। इसी प्रकार उसे आकाश, काल, दिक् और आत्मा में भी आश्रित नहीं माना जा सकता क्योंकि इनमें से किसी एक में आश्रित तथा अन्य में अनाश्रित मानने में कोई युक्ति नहीं है अतः उसे उन सबमें आश्रित मानना होगा, और यह उचित नहीं हो सकता, क्योंकि जब वे स्पर्शवान् होंगे तो उनके परस्पर मिलन से नये द्रव्य के जन्म की आपत्ति होगी, क्योंकि जो भी स्पर्शवान् नित्य द्रव्य होता है वह किसी द्रव्य का उत्पादक अवश्य होता है, अतः इन द्रव्यों में उसे आश्रित नहीं माना जा सकता। उसे मन में भी आश्रित नहीं माना जा सकता क्योंकि मन में आश्रित होने पर मन के परम अणु होने से उसमें आश्रित स्पर्श का प्रत्यक्ष न हो सकेगा। इस प्रकार जब यह सिद्ध हो जाता है कि यह विलक्षण स्पर्श पृथिवी आदि में आश्रित नहीं हो सकता तब जिस अनुमान से उस स्पर्श में द्रव्याश्रितत्व की सिद्धि होती है उसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि वह स्पर्श पृथिवी आदि से अन्य किसी नूतन द्रव्य में आश्रित है। ऐसे जिस द्रव्य में वह आश्रित है उसी का नाम है वायु।

वायु के मुख्य दो भेद हैं—नित्य और अनित्य। परमाणुरूप वायु नित्य है और द्व्यणुक से लेकर महावायुपर्यन्त सारा वायु अनित्य है।

अनित्य वायु के तीन भेद बताये गये हैं—शरीर, इन्द्रिय और विषय। वायु के परमाणुओं से निर्मित वायवीय शरीर वायुलोक में प्रसिद्ध है। त्वक् वायवीय इन्द्रिय

कार्यद्रव्याणामुत्पत्तिविनाशक्रमः

तत्र पृथिव्यादीनां चतुर्णां कार्यद्रव्याणामुत्पत्तिविनाशक्रमः कथ्यते। द्वयोः परमाण्वोः क्रियया संयोगे सति द्व्यणुकम् उत्पद्यते। तस्य परमाणू समवायिकारणम्। तत्संयोगोऽसमवायिकारणम्। अदृष्टादि निमित्तकारणम्। ततो द्व्यणुकानां त्रयाणां क्रियया संयोगे सति त्र्यणुकम् उत्पद्यते। तस्य द्व्यणुकानि समवायिकारणम्। शेषं पूर्ववत्। एवं त्र्यणुकैश्चतुर्भिः चतुरणुकम्। चतुरणुकैरपरं स्थूलतरं, स्थूलतरैरपरं स्थूलतमम्। एवं क्रमेण महापृथिवी, महत्य आपो, महत्तेजो, महांश्च वायुरुत्पद्यते। कार्यगता रूपादयः स्वाश्रयसमवायिकारणगतेभ्यो रूपादिभ्यो जायन्ते। 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' इति न्यायात्।

है। शरीर और त्वक् से भिन्न जितना भी अनित्य वायु है वह सब साक्षात् अथवा परम्परया भोग का साधन होने से विषय है।

त्वक् इन्द्रिय वायवीय—वायूपादानक है, यह बात अनुमान से सिद्ध होती है। अनुमान का आकार इस प्रकार है।

त्वक् वायवीय—वायु के परमाणुओं से निर्मित है, क्योंकि उससे सन्निकृष्ट द्रव्य के रूप आदि चार विशेष गुणों में से केवल स्पर्श का ही प्रत्यक्ष होता है, अतः जैसे शरीर में स्थित जल के रूप आदि का प्रत्यक्ष न करा कर उसके शैत्यमात्र के प्रत्यक्ष का साधन होने से पंखे की हवा वायवीय होती है उसी प्रकार त्वक् को भी सन्निहित द्रव्य के रूप आदि का ग्राहक न होकर उसके स्पर्शमात्र का ग्राहक होने से वायवीय मानना सर्वथा युक्तिसंगत है।

उक्त नव द्रव्यों में जो चार कार्य द्रव्य हैं पृथिवी, जल, तेज और वायु, अब उनकी उत्पत्ति तथा उनके विनाश का क्रम बताया जायगा।

द्रव्य का उत्पत्तिक्रम—

सृष्टि का क्रम अनादि है, किसी सृष्टि को प्रथम नहीं कहा जा सकता। वर्तमान सृष्टि पूर्व सृष्टि के प्रलय के बाद हुई है। इसके पहले की सृष्टि अपने पूर्व की सृष्टि के प्रलय के बाद हुई थी, यही दशा उस सृष्टि की एवं उसके पूर्व की सभी सृष्टियों की है, इस प्रकार सृष्टि के क्रम का कोई आदि नहीं है।

जब पूर्व सृष्टि का प्रलय होने को होता है तब उस सृष्टि के सम्पूर्ण कार्य द्रव्यों का द्व्यणुकान्त विनाश हो जाता है। समस्त परमाणु विभक्त हो जाते हैं और वे तब तक विभक्त रहते हैं जब तक नई सृष्टि के प्रादुर्भाव का उपक्रम नहीं होता।

पूर्व सृष्टि के प्रलय की लम्बी अवधि पूरी होने पर जब नई सृष्टि का प्रादुर्भाव होने को होता है तब सबसे पहले पृथिवी आदि चार द्रव्यों की उत्पत्ति होती है क्योंकि सृष्टि का अगला सारा विस्तार इन्हीं चार द्रव्यों पर निर्भर होता है। द्रव्यों की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है। पहले दो दो परमाणुवों में जीव के अदृष्ट और ईश्वर के प्रयत्न से क्रिया होती है, उस क्रिया से उन दोदो परमाणुवों का संयोग होकर अनन्त द्व्यणुकों की उत्पत्ति होती है। जिन दो परमाणुवों से जिस द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है वे दो परमाणु उस द्व्यणुक के समवायिकारण होते हैं, उन दोनों परमाणुवों का परस्पर संयोग उस द्व्यणुक का असमवायिकारण होता है, उस द्व्यणुक से परम्परया जिन जीवों को भविष्य में सुख या दुःख होने को है उन जीवों का अदृष्ट—पुण्य या पाप [१] उस द्व्यणुक का प्रागभाव [२] उस द्व्यणुक का रचयिता ईश्वर [३] उसके परमाणुवों को विषय करने वाला ईश्वर का ज्ञान [४] उसे उत्पन्न करने की ईश्वरकी इच्छा [५] उसके निर्माण को सम्पन्न करने वाला ईश्वर का प्रयत्न [६] उसके निर्माण के अनुकूल काल [७] और देश-दिशा [८] ये आठ उसके निमित्त कारण होते हैं। इन समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारणों के सहसन्निधान से द्व्यणुकों की उत्पत्ति होती है। द्व्यणुकों का जन्म हो जाने के बाद फिर जीवों के अदृष्ट और ईश्वर के प्रयत्न से उन द्व्यणुकों में क्रिया उत्पन्न होती है। उस क्रिया से तीन तीन द्व्यणुकों का संयोग होकर अनन्त त्र्यणुकों की उत्पत्ति होती है। इन त्र्यणुकों को त्रुटि और त्रसरेणु भी कहा जाता है। एक एक त्र्यणुक में छः छः परमाणु होते हैं। एक एक त्र्यणुक के तीन तीन द्व्यणुक समवायिकारण होते हैं और उन द्व्यणुकों का संयोग असमवायिकारण होता है, निमित्तकारण द्व्यणुक के समान ही होते हैं। त्र्यणुकों का जन्म हो जाने के बाद उक्त रीति से उनमें भी क्रिया होती है, फिर उनकी क्रिया से चार चार त्र्यणुकों का संयोग होकर अनन्त चतुरणुकों की उत्पत्ति होती है। एक एक चतुरणुक के चार चार त्र्यणुक समवायिकारण होते हैं, चार चार त्र्यणुकों का परस्पर संयोग एक एक चतुरणुक का असमवायिकारण होता है। इसी प्रकार चतुरणुकों के संयोग से उनसे स्थूलतर द्रव्यों की और स्थूलतम द्रव्यों के संयोग से स्थूलतर द्रव्यों की उत्पत्ति होकर क्रम से महती पृथ्वी, महान् जल, महान् तेज और महान् वायु की उत्पत्ति होती है।

कार्यद्रव्य के रूप आदि गुण अपने आश्रयभूत द्रव्य के समवायिकारण में रहने वाले रूप आदि गुणों से उत्पन्न होते हैं क्योंकि 'कारण-समवायिकारण के गुण, कार्य-समवेत कार्य में अपने सजातीय गुण को उत्पन्न करते हैं' यह न्याय है। जैसे पटके समवायिकारण होते हैं तन्तु और उनका समवेत कार्य होता है पट, अतः तन्तु में नील, पीत आदि जैसा रूप रहता है, उससे पट में वैसे ही नील, पीत आदि रूप की उत्पत्ति होती है। अपने आश्रय द्रव्य के समवायिकारण में रहने वाले गुणों से उत्पन्न होने वाले गुण आठ

इत्थमुत्पन्नस्य रूपादिमतः कार्यद्रव्यस्य घटादेरवयवेषु कपालादिषु नोदनादभिघाताद्वा क्रिया जायते। तया विभागस्तेनावयव्यारम्भकस्यासमवायिकारणीभूतस्य संयोगस्य नाशः क्रियते, ततः कार्यद्रव्यस्य घटादेरवयविनो नाशः। एतेनावयव्यारम्भकासमवायिकारणनाशे द्रव्यनाशो दर्शितः।

क्वचित् समवायिकारणनाशे द्रव्यनाशः, यथा पूर्वोक्तस्यैव पृथिव्यादेः संहारे संजिहीर्षोर्महेश्वरस्य संजिहीर्षा जायते, ततो द्व्यणुकारम्भकेषु परमाणुषु क्रिया, तया विभागः, ततस्तयोः संयोगनाशे सति द्व्यणुकेषु नष्टेषु स्वाश्रयनाशात् त्र्यणुकादिनाशः। एवं क्रमेण पृथिव्यादिनाशः। यथा वा तन्तूनां नाशे पटनाशः। तद्गतानां रूपादीनां स्वाश्रयनाशेनैव नाशः, अन्यत्र तु सत्येवाश्रये विरोधिगुणप्रादुर्भावेण विनाशः। यथा पाकेन घटादौ रूपादिनाश इति।

हैं—अपाकज रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, गुरुत्व, एकत्वसंख्या, त्र्यणुक से स्थूल द्रव्यों के प्रायः सम्पूर्ण परिमाण, एकपृथक्त्व एवं संस्कार (स्थितिस्थापक)।

कार्यद्रव्यों का विनाशक्रम—

कार्य द्रव्यों का नाश दो प्रकार से होता है असमवायिकारण के नाश से और समवायिकारण के नाश से। सम्बद्ध मूल ग्रन्थ में 'इत्थमुत्पन्नस्य' से लेकर 'दर्शितः' तक के ग्रन्थ से पहले प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। जिसका आशय यह है—

द्व्यणुक आदि के क्रम से उत्पन्न, रूप आदि गुणों के आश्रय घट आदि कार्य द्रव्य का नाश जब पहले प्रकार से होने को होता है तब उसके कपाल आदि अवयवों में कभी नोदन—मृदु संयोग का, जिस के होने से किसी प्रकार का शब्द नहीं होता किन्तु उनका परस्पर विभाग हो सकता है, और कभी अभिघात संयोग–कठोर संयोग का, जिसके होने से शब्द होता है, उदय होने से क्रिया उत्पन्न होती है। उस क्रिया से एक अवयव का दूसरे अवयव से विभाग—अलगाव होता है। फिर उस विभाग से अवयवी द्रव्य को उत्पन्न करने वाले अवयवों के परस्परसंयोगरूप असमवायिकारण का नाश होता है और उसके बाद घट आदि अवयवी द्रव्य का नाश होता है। इस उदाहरण से अवयवी द्रव्य को उत्पन्न करने वाले असमवायिकारण के नाश से कार्य द्रव्य के नाश का होना प्रदर्शित होता है।

कार्य द्रव्य का नाश कभी दूसरे प्रकार से भी होता है। जैसे जब पृथ्वी आदि महाभूतों के संहार का समय सन्निहित होता है तब तदर्थ महेश्वर को सृष्टि का सहार करने की इच्छा होती है, उस इच्छा से द्व्यणुक के उत्पादक परमाणुवों में क्रिया होती है, उस क्रिया से परमाणुवों के संयोग का परस्पर विभाग होता है, उसके बाद परमाणुवों के संयोग का नाश होने से द्व्यणुक का नाश होता है। द्व्यणुक का नाश हो जाने पर

अपने आश्रय के नाश से द्व्यणुक आदि का नाश होता है। इस क्रम से महापृथिवी आदि समस्त महाभूतों का नाश हो जाने पर सृष्टि का संहार सम्पन्न होता है। सृष्टि की दशा में भी कभी कभी आश्रय के नाश से कार्यद्रव्य का नाश होता है, जैसे आग में तन्तुओं के दग्ध हो जाने पर उनसे बने पट का नाश होता है। जिनका पाक नहीं हो सकता ऐसे पट आदि पार्थिव द्रव्य, जल और तेज के रूप आदि गुणों का नाश आश्रयनाश से ही उत्पन्न होता है, किन्तु अन्यत्र—उक्त द्रव्यों से भिन्न द्रव्यों में, आश्रय के विद्यमान रहते ही विरोधी गुण का उदय होने से रूप आदि गुणों का नाश होता है। जैसे घट आदि पार्थिव द्रव्यों में रूप आदि का नाश पाक से होता है। आशय यह है कि पाक विलक्षण तेजःसंयोगस्वरूप होने से गुण है और घट आदि के सहज रूप आदि गुणों का विरोधी है, इस विरोधी गुण का प्रादुर्भाव होने पर घट आदि आश्रय के रहते उनके रूप आदि पूर्व गुणों का नाश होता है।

प्रश्न होता है कि यह तो पृथिवी आदि चार कार्य द्रव्यों की उत्पत्ति और विनाश का क्रम बताने का प्रकरण है, फिर इस प्रकरण में उनके रूप आदि गुणों के विनाश की चर्चा का क्या औचित्य है ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि द्रव्यविनाश के दो कारण बताये गये हैं—असमवायिकारण का नाश तथा समवायिकारण का नाश। इनमें द्रव्यनाश के दूसरे कारण के विषय में यह आक्षेप उठ सकता है कि जब समवायिकारण का नाश होगा तब उन कारणों के परस्परसंयोगरूप असमवायिकारण का भी नाश अवश्य होगा, अतः उस स्थल में भी असमवायिकारणनाश से ही कार्यद्रव्य का नाश सम्भव होने से समवायिकारण के नाश जैसे नये कारण को कार्य का नाशक मानना व्यर्थ है, इस आक्षेप का निराकरण करने के लिये ही आश्रयनाश से होने वाले रूप आदि गुणों के नाश की चर्चा की गई है, इस चर्चा से उक्त आक्षेप का परिहार हो जाता है क्योंकि इस चर्चा से यह सिद्ध होता है कि द्रव्यनाश के अनुरोध से ही समवायिकारणनाश को कार्य का नाशक नहीं माना जा रहा है किन्तु गुणनाश के अनुरोध से समवायिकारणनाश की कार्यनाशकता पहले से ही सिद्ध है, अतः समवायिकारण के नाश को द्रव्य का नाशक मानने में कोई अपूर्व कल्पना नहीं करनी पड़ती। यदि यह प्रश्न किया जाय कि विशेष स्थानों में समवायिकारण के नाश को गुण का नाशक भले माना जाय पर उसे द्रव्य का नाशक मानना व्यर्थ है क्योंकि समवायिकारण के नाशस्थल में असमवायिकारणनाश के सन्निहित रहने से वहाँ भी उसी से द्रव्य का नाश हो सकता है, तो इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि समवायिकारण के नाशस्थल में असमवायिकारण के नाश का सन्निधान होता है अवश्य, पर वह एक क्षण बाद होता है, अर्थात् पहले समवायिकारण का नाश होता है बाद में उसी से असमवायिकारण का नाश होता है। अब उस स्थल में भी यदि असमवायिकारण के नाश को

किं पुनः परमाणुसद्भावे प्रमाणम्? उच्यते। यदिदं जाले सूर्यमरीचिस्थं सर्वतः सूक्ष्मतमं रज उपलभ्यते, तत् स्वल्पपरिमाणद्रव्यारब्धं कार्यद्रव्यत्वाद् घटवत्। तच्च द्रव्यं कार्यमेव महद्द्रव्यारम्भकस्य कार्यत्वनियमात्। तदेवं द्व्यणुकाख्यं द्रव्यं सिद्धम्। तदपि स्वल्पपरिमाणसमवायिकारणारब्धं कार्यद्रव्यत्वाद् घटवत्। यस्तु द्व्यणुकारम्भकः स एव परमाणुः, स चाऽनारब्ध एव।

ननु कार्यद्रव्यारम्भकस्य कार्यद्रव्यत्वाव्यभिचारात् तस्य कथमनारब्धत्वम्? उच्यते, अनन्तकार्यपरम्परादोषप्रसङ्गात्, तथा च सति, अनन्तद्रव्यारब्धत्वाविशेषेण मेरुसर्षपयोरपि तुल्यपरिमाणत्वप्रसङ्गः। तस्मादनारब्ध एवा परमाणुः।

ही द्रव्य का नाशक माना जायगा तो कार्यद्रव्य की सत्ता दो क्षण तक विना आश्रय के माननी होगी, अतः समवायिकारण के नाश से असमवायिकारणनाश की उत्पत्ति के समय ही द्रव्य का नाश मानना उचित है।

उक्त प्रयोजनवश आश्रयनाश से रूप आदि गुणों के नाश का उल्लेख करने पर किसी को कदाचित् यह भ्रम हो सकता है कि कार्य द्रव्य के रूप आदि गुणों का नाश सर्वत्र आश्रयनाश से ही होता है अतः इस भ्रम के निवारणार्थ प्रसङ्गतः यह बात भी स्पष्ट कर दी गई कि गुण का नाश सर्वत्र आश्रयनाश से ही नहीं होता किन्तु अनेकत्र विरोधी गुण के प्रादुर्भाव से भी होता है।

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि तर्कभाषाकार के लेखानुसार पृथिवी, जल, तेज और वायु इस क्रम से महाभूतों की उत्पत्ति प्रतीत होती है, और उनका विनाश भी इसी क्रम से प्रतीत होता है, किन्तु वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में वायु, तेज, जल और पृथिवी इस क्रम से उनकी उत्पत्ति और उनका विनाश होने की बात बताई गई है।

परमाणु—

परमाणुवों के संयोग से द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि के क्रम से पृथिवी आदि चार महाभूतों की उत्पत्ति बतायी गयी, किन्तु उत्पत्ति का उक्त क्रम तो तब मान्य हो सकता है जब परमाणुवों का अस्तित्व प्रमाणसिद्ध हो, अतः पहले यह बताना आवश्यक है कि उनकी सत्ता में प्रमाण क्या है? उत्तर में कहा जा सकता है कि परमाणुवों के अस्तित्व में अनुमान प्रमाण है जिसके दो प्रयोग से परमाणु की सिद्धि होती है। प्रयोग इस प्रकार होता है—

खुले जंगले में सूर्य की किरणों में जो अत्यन्त सूक्ष्म धूलिकण दीख पड़ते हैं उनमें प्रत्येक कण (पक्ष) अपने परिमाण से अल्प परिमाणवाले द्रव्यों से उत्पन्न होता है (साध्य), क्योंकि वह कार्य द्रव्य है 'हेतु', जो जो कार्य द्रव्य होता है वह अपने

परिमाण से अल्प परिमाणवाले द्रव्य से उत्पन्न होता है, जैसे घट (उदाहरण), उक्त धूलिकण इसी प्रकार का कार्यद्रव्य है 'उपनय', इसलिये वह भी घट के समान ही अपने परिमाण से अल्प परिमाण वाले द्रव्य से उत्पन्न होता है 'निगमन'।

यदि यह प्रश्न हो कि उक्त धूलिकणों के कार्य द्रव्य होने में क्या प्रमाण है? तो इसका भी उत्तर यही है कि उक्त धूलिकणों के कार्यद्रव्यत्व में भी अनुमान ही प्रमाण है, और वह इस प्रकार है—

उक्त धूलिकण कार्यद्रव्य हैं, क्योंकि वे चतुरणुक आदि महान् द्रव्य के आरम्भक-समवायिकारण हैं, जो द्रव्य महान् द्रव्य का आरम्भक होता है वह कार्यद्रव्य होता है जैसे घट आदि महान् द्रव्य के आरम्भक कपाल आदि कार्यद्रव्य हैं।

इस प्रकार महद् द्रव्य के आरम्भकत्व हेतु से उक्त धूलिकणों में कार्यद्रव्यत्व का अनुमान तथा कार्यद्रव्यत्व हेतु से उक्त धूलिकणों में अल्पपरिमाणवान् द्रव्यों से उत्पन्नत्व का अनुमान होने से यह सिद्ध होता है कि उक्तधूलि कणों को उत्पन्न करनेवाले कुछ द्रव्य हैं जो परिमाण में उनसे छोटे हैं, ऐसे जो द्रव्य हैं उन्हीं का नाम है द्व्यणुक—दो परमाणुवों से उत्पन्न होने वाला द्रव्य।

इस द्व्यणुक द्रव्य को पक्ष बनाकर दूसरे अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है—

द्व्यणुक अपने से अल्प परिमाण वाले द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वे कार्य द्रव्य हैं, सभी कार्य द्रव्य अपने से अल्प परिमाणवाले द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं, जैसे घट।

इस दूसरे अनुमान से द्व्यणुकों के उत्पादक द्रव्य के रूप में जो द्रव्य सिद्ध होता है, वही परमाणु है, वह किसी से उत्पन्न नहीं होता।

इस पर प्रश्न होता है कि परमाणु जब कार्यद्रव्य द्व्यणुक का आरम्भक है तब तो उसे अनुत्पन्न नहीं माना जा सकता, क्यों कि कार्य द्रव्य के सभी आरम्भक स्वयं भी कार्यद्रव्य होते हैं यह एक अव्यभिचरित नियम है अतः परमाणुवों को भी कार्य द्रव्य का आरम्भक होने से कार्य द्रव्य मानना अनिवार्य है और जब वह कार्यद्रव्य होगा तब अनुत्पन्न कैसे होगा?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कार्य द्रव्य के आरम्भक कार्यद्रव्य ही होते हैं, यह नियम नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह नियम मानने पर अनन्त कार्यों की परम्परारूप अनवस्था दोष की आपत्ति होगी।

यदि यह कहें कि इस अनवस्था को अगत्या शिरोधार्य करना होगा क्योंकि जितने भी कार्यद्रव्य के आरम्भक उपलब्ध हैं उन सब के कार्यद्रव्यात्मक होने से इस व्याप्ति को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं होती कि जो कार्यद्रव्य का आरम्भक होता है वह सब स्वयं भी कार्यद्रव्य होता है, और जब यह व्याप्ति निर्विवाद है तब अनन्त कार्यों

द्व्यणुकं तु द्वाभ्यामेव परमाणुभ्यामारभ्यत एकस्यानारम्भकत्वात् त्र्यादिकल्पनायां प्रमाणाभावात्। त्र्यणुकं तु त्रिभिरेव द्व्यणुकैरारभ्यत एकस्यानारम्भ-

की कल्पनारूप अनवस्था के सामने नतमस्तक होना उचित ही है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि कार्यद्रव्यों की परम्परा की कोई अवधि न मानने पर यह मानना होगा कि सुमेरु जैसा महान् पर्वत और सरसो जैसा लघु द्रव्य, यह दोनों अनन्त द्रव्यों से उत्पन्न हैं, क्योंकि न सुमेरु के ही अवयवों की कोई सीमा है और न सरसो के ही अवयवों की कोई सीमा है, और जब इन दोनों द्रव्यों के आरम्भक द्रव्यों में कोई न्यूनाधिक्य न होगा तो इन द्रव्यों के परिमाण में भी समानता होगी, एक बड़ा और एक छोटा न हो सकेगा।

जब द्व्यणुक के आरम्भक परमाणु को अनुत्पन्न माना जायगा तब सुमेरु और सरसों की समपरिमाणता की आपत्ति न होगी क्योंकि तब तो सुमेरु और सरसो के आरम्भक परमाणुवों में संख्याकृत वैषम्य हो जायगा फिर सरसो के आरम्भक परमाणुवों से अत्यधिक परमाणुवों से उत्पन्न होने के कारण सुमेरु की महत्ता और सुमेरु के आरम्भक परमाणुवों से अत्यल्प परमाणुवों से उत्पन्न होने के कारण सरसो की लघुता युक्तिसंगत हो सकेगी।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि द्व्यणुकान्त द्रव्यों की ही उत्पत्ति होती है, द्व्यणुक को उत्पन्न करने वाले परमाणु की उत्पत्ति नहीं होती, वह जंगले के बीच सूर्य की किरणों में उड़ने वाले सूक्ष्मतम रजःकण का छठां भाग होता है, इस आशय की यह कारिका दर्शन के अध्येतावों में अत्यन्त प्रसिद्ध है—

जालान्तर्गते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः प्रकीर्तितः ॥

परमाणु का यह परिचय एक दिङ्निर्देशमात्र है, इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि किसी स्थूल द्रव्य का वह भाग, जिसमें किसी प्रकार के अंशद्रव्य की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती, परमाणु है। अतः यह बात विना किसी हिचक के कही जा सकती है कि आजकल पाश्चात्य विज्ञान की प्रक्रिया से जिन सूक्ष्मतम द्रव्यकणों को तोड़ दिया जाता है, वे न्याय-वैशेषिक दर्शन के परमाणु नहीं हैं, उनके परमाणु तो वे द्रव्यकण हैं जिनमें भौतिक विज्ञान की रासायनिक प्रक्रिया से अवयव निकालने की बात तो दूर रही किन्तु जिनमें अवयवों की बौद्धिक कल्पना भी नहीं की जा सकती।

उक्त प्रकार से परमाणु के सिद्ध हो जाने पर महाभूतों के उक्त उत्पत्तिक्रम के विषय में यह दूसरा प्रश्न खड़ा होता है कि दो परमाणुवों से द्व्यणुक, तीन द्व्यणुकों से

कत्वात्। द्वाभ्यामारम्भे कार्यगुणमहत्त्वानुपपत्तिप्रसङ्गात्। कार्ये हि महत्त्वं कारणमहत्त्वाद्वा कारणबहुत्वाद्वा। तत्र प्रथमस्यासंभवाच्चरममेषितव्यम्। न च चतुरादिकल्पनायां प्रमाणमस्ति त्रिभिरेव महत्त्वारम्भोपपत्तेरिति।

त्र्यणुक, चार त्र्यणुकों से चतुरणुक, इस क्रम से महाभूतों की उत्पत्ति क्यों मानी जाती है परमाणुवों से सीधे महाभूतों की उत्पत्ति क्यों नहीं मानी जाती ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यदि स्थूल द्रव्यों की उत्पत्ति सीधे परमाणुवों से होगी तो परमाणु और स्थूल द्रव्य के बीच कोई और खण्डद्रव्य न होने से जब स्थूल द्रव्यों का भङ्ग होगा तब उसके समस्त परमाणु बिखर जायंगे, फलतः स्थूलद्रव्यों के टूटने पर जो उनके टुकड़ों की उपलब्धि होती है वह न हो सकेगी, अतः इन टुकणों की उपलब्धि से यह मानना आवश्यक है कि स्थूलद्रव्यों की उत्पत्ति सीधे परमाणुवों से न होकर अवान्तर खण्डद्रव्यों के द्वारा होती है।

इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि बीच में उपलब्ध होने वाले टुकड़ों के कारण त्र्यणुक से बड़े स्थूल द्रव्यों की उत्पत्ति तो उसी प्रकार मानी जाय पर त्र्यणुक की उत्पत्ति द्व्यणुक से न मानकर सीधे परमाणुवों से क्यों नहीं मानी जाती, क्योंकि त्र्यणुक के टूटने पर उसके टुकड़े द्व्यणुक की उपलब्धि तो होती नहीं ?

इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि त्र्यणुक की उत्पत्ति यदि सीधे परमाणुवों से होगी तो त्र्यणुक में महत्परिमाण की उत्पत्ति न हो सकेगी क्यों कि त्र्यणुक के समवायिकरणों में महत्परिमाण न होने से उसके महत्परिमाण की उत्पत्ति उसके अवयवों की बहुत्व संख्या से ही माननी होगी, किन्तु यदि उसके अवयव सीधे परमाणु होंगे तो परमाणुवों की बहुत्व संख्या से उसके महत्परिमाण की उत्पत्ति न हो सकेगी, क्योंकि कार्यद्रव्यात्मक अवयवों की बहुत्व संख्या से ही उनसे उत्पन्न होने वाले अवयवी द्रव्य में महत्परिमाण की उत्पत्ति होती है। यदि अकार्यद्रव्य परमाणुवों की बहुत्व सख्या से भी महत्परिमाण की उत्पत्ति मानी जायगी तब जैसे छः परमाणुवों से महान् द्रव्य त्र्यणुक की उत्पत्ति होगी उसी प्रकार त्र्यणुक से बड़े द्रव्यों की भी उत्पत्ति सीधे परमाणुओं से हो सकेगी और उस स्थिति में उक्त द्रव्यों के टूटने पर उनके टुकड़ों की उपलब्धि न हो सकेगी अतः यह मानना आवश्यक है कि परमाणुगत बहुत्व से महत्परिमाण की उत्पत्ति नहीं होती, फलतः त्र्यणुक की भी उत्पत्ति सीधे परमाणुवों से नहीं मानी जा सकती।

इस पर कोई प्रश्न हो सकता है कि त्र्यणुक में महत्परिमाण की उत्पत्ति के अनुरोध से नित्य परमाणुवों से सीधे त्र्यणुक की उत्पत्ति न हो, पर यह मानने में क्या आपत्ति है ?

कि नित्य परमाणुवों से अनित्य परमाणुवों की उत्पत्ति होती है और छः अनित्य परमाणुवों से त्र्यणुक की तथा उनकी बहुत्व संख्या से उसके महत्परिमाण की उत्पत्ति होती है क्यों कि कार्यद्रव्यात्मक अवयवों की बहुत्व संख्या से महत्परिमाण की उत्पत्ति सिद्धान्त रूप में स्वीकृत है।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि केवल एक परमाणु से अनित्य परमाणु की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती क्यों कि यदि एक परमाणु से अन्य परमाणु की उत्पत्ति होगी तो उत्पन्न होने वाले परमाणु का नाश न हो सकेगा क्यों कि कार्यद्रव्य का नाश दो ही प्रकार से होता है अवयवों के नाश से तथा उनके आरम्भक संयोग के नाश से। यदि एक परमाणु से दूसरे परमाणु की उत्पत्ति होगी तो अवयवभूत परमाणु के नित्य होने से तथा अवयव के एकव्यक्तिमात्रात्मक होने से उसमें आरम्भक संयोग न होने से न तो अवयव का ही नाश सम्भव है और न आरम्भक संयोग का ही नाश सम्भव है, फलतः उत्पन्न होने वाले परमाणु का नाश असम्भव हो जायगा और पैदा होने वाले परमाणु को अनश्वर नहीं माना जा सकता क्यों कि कार्य द्रव्य नियमेन नश्वर होते हैं।

उक्त रीति से विचार करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचना अनिवार्य हो जाता है कि उत्पन्न होने वाला प्रथम द्रव्य द्व्यणुक ही है जो दो परमाणुवों के संयोग से प्रादुर्भूत होता है।

प्रश्न हो सकता है कि उत्पन्न होने वाले प्रथम द्रव्य की उत्पत्ति दो ही परमाणुवों से क्यों मानी जाती है तीन या चार परमाणुवों से उसकी उत्पत्ति मानने में क्या हानि है ? इसका उत्तर यह है कि तीन या चार परमाणुवों से जो द्रव्य उत्पन्न होगा वह महान् तो होगा नहीं, होगा अणु ही, महान् द्रव्य की उत्पत्ति तो उन प्रथमोत्पन्न द्रव्यों से ही माननी होगी, तो फिर जब दो परमाणुवों से द्रव्य की पहली उत्पत्ति मान कर उनके द्वारा स्थूल द्रव्यों की उत्पत्ति बन सकती है तब तीन चार परमाणुवों से द्रव्य की प्रथम उत्पत्ति की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं रह जाता। अतः द्रव्य की प्रथम उत्पत्ति दो परमाणुवों से ही युक्तिसंगत प्रतीत होती है, एक परमाणु से अथवा दो से अधिक परमाणुवों से युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती।

त्र्यणुक की भी उत्पत्ति तीन द्व्यणुकों से ही होती है, एक द्व्यणुक या दो द्व्यणुक से नहीं हो सकती, क्योंकि एक द्व्यणुक से यदि त्र्यणुक की उत्पत्ति मानी जायगी तो उसमें महत्परिमाण की उत्पत्ति न हो सकेगी क्योंकि उसके अवयव एकमात्र द्व्यणुक में न तो महत्परिमाण है और न बहुत्व संख्या ही है और न उसमें प्रचयनामक शिथिल संयोग ही है जिससे धुनी रूई में महत्परिमाण की उत्पत्ति होती है, और इन

तीन कारणों से भिन्न महत्परिमाणका कोई चौथा कारण होता नहीं जिससे एक द्व्यणुक से उत्पन्न होने पर त्र्यणुक में महत्परिमाण की उत्पत्ति मानी जासके।

दो द्व्यणुकों से त्र्यणुक की उत्पत्ति मानने में भी यही बाधा है क्योंकि दो द्व्यणुकों में भी न महत्परिमाण है और न बहुत्व संख्या है। अतः यदि दो द्व्यणुकों से त्र्यणुक की उत्पत्ति होगी तो उसमें महत्परिमाण की उत्पत्ति न हो सकेगी। कहने का आशय यह है कि कार्यद्रव्य में महत्परिमाण की उत्पत्ति मुख्य रूप से दो ही कारणों से होती है, अवयव का महत्परिमाण और अवयवों की बहुत्वसंख्या। क्वचित् इन दोनों कारणों से भिन्न कारणों से भी महत्परिमाण की उत्पत्ति होती है जैसे रूई के छोटे पिण्ड को धुन देने पर धुनी हुई रूई फैल कर बड़ी हो जाती है, धुनी रूई का यह महत्परिमाण उसके अवयवों के शिथिल संयोग से उत्पन्न होता है, इस शिथिल संयोग को प्रचय कहा जाता है। इस प्रकार कार्यद्रव्य में महत्परिमाण के तीन उत्पादक होते हैं, अवयवगत महत्परिमाण, अवयवगत बहुत्वसंख्या और अवयवगत शिथिलसंयोग। दो द्व्यणुकों में न तो महत्परिमाण होता, न उनमें बहुत्वसंख्या ही हो सकती, क्योंकि बहुत्व के लिये कमसे कम तीन द्रव्यों का होना आवश्यक होता है और न उसमें शिथिलसंयोग ही होता, अतः त्र्युणुक की उत्पत्ति यदि दो द्व्यणुकों से होगी तो उसमें महत्परिमाणात्मक गुण का उदय न हो सकेगा, फलतः न तो उसका प्रत्यक्ष ही होगा और न उसके द्वारा महद् द्रव्यों का विस्तार ही हो सकेगा। अतः तीन द्व्यणुकों से ही त्र्यणुक की उत्पत्ति मानना उचित है, क्योंकि तीन द्व्यणुकों से उत्पत्ति मानने पर उनकी बहुत्वसंख्या से उनसे उत्पन्न होनेवाले त्र्यणुक में महत्परिमाण की उत्पत्ति मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

प्रश्न होता है कि त्र्यणुक में महत्परिमाण की उत्पत्ति के अनुरोध से एक या दो द्व्यणुक से उसकी उत्पत्ति न हो, पर चार, पांच द्व्यणुकों से किसी महद् द्रव्य की उत्पत्ति मानने में क्या बाधा है?

इसका उत्तर यह है कि बाधा और कुछ नहीं है, बाधा केवल इतनी ही है कि ऐसे द्रव्य की उत्पत्ति मानने में कोई युक्ति नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि महाभूतों की उत्पत्ति के लिए द्व्यणुकों की उत्पत्ति के बाद महद् द्रव्यों की उत्पत्ति का प्रारम्भ मानना आवश्यक है। पहला महद् द्रव्य एक द्व्यणुक या दो द्व्यणुकों से नहीं उत्पन्न हो सकता, हाँ, दो से अधिक द्व्यणुकों से हो सकता है, तो फिर तीन द्व्यणुकों से महद् द्रव्य की उत्पत्ति का आरम्भ होकर जब बड़े-बड़े द्रव्यों की उत्पत्ति का क्रम स्थापित हो सकता है तब चार, पांच द्व्यणुकों से पहले महद् द्रव्य की उत्पत्ति की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं रह जाता।

इस प्रकार उपर्युक्त विचार से यह निष्कर्ष निकलता है कि महद् द्रव्यों की उत्पत्ति का प्रारम्भ त्र्यणुक से ही होता है और वह तीन द्व्यणुकों से ही उत्पन्न होता है।

शब्दगुणमाकाशम्। शब्द-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागवत्। एकं, विभु नित्यं च। शब्दलिङ्गकं च।

शब्दलिङ्गत्वमस्य कथम्?

परिशेषात्। 'प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गात् परिशिष्यमाणे संप्रत्ययः परिशेषः।' तथाहि शब्दस्तावद् विशेषगुणः, सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वाद् रूपादिवत्। गुणश्च गुण्याश्रित एव। न चास्य पृथिव्यादिचतुष्टयमात्मा च गुणी भवितुमर्हति श्रोत्रग्राह्यत्वाच्छब्दस्य। ये हि पृथिव्यादीनां गुणा न ते श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यन्ते, यथा रूपादयः, शब्दस्तु श्रोत्रेण गृह्यते। न दिक्कालमनसां गुणः विशेषगुणत्वात्। अत एभ्योऽष्टभ्योऽतिरिक्तः शब्दगुणी एषितव्यः। स एवाकाश इति। स चैको भेदे प्रमाणाभावात्, एकत्वेनैवोपपत्तेः। एकत्वाच्चाकाशत्वं नाम सामान्यमाकाशे न विद्यते, सामान्यस्यानेकवृत्तित्वात्। विभु चाकाशम्। परममहत्परिमाणमित्यर्थः। सर्वत्र तत्कार्योपलब्धेः। अत एव विभुत्वान्नित्यमिति।

आकाश—

जो शब्दगुण का आश्रय है वह आकाश है। इस प्रकार आकाश का लक्षण है—शब्दगुण। इस लक्षण में से 'शब्द' अंश को निकाल कर यदि 'गुण' मात्र को आकाश का लक्षण माना जायगा तो अन्य सभी द्रव्यों में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि अन्य सभी द्रव्यों में कोई न कोई गुण अवश्य रहता है इसी प्रकार उक्त लक्षण में से 'गुण' अंश को निकाल कर यदि 'शब्द' मात्र को लक्षण माना जायगा तो काल और दिक् में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि शब्द कालिक सम्बन्ध से काल में और दैशिक सम्बन्ध से दिक् में आश्रित होता है। लक्षण में गुण का सन्निवेश करने पर यह भाव सूचित होता है कि शब्द जिसका गुण होने से जिसमें आश्रित हो वह आकाश है। शब्द काल और दिक् का गुण होने के कारण उनमें आश्रित नहीं होता किन्तु काल और दिक् में सभी वस्तुएँ आश्रित होती हैं अतः शब्द भी वस्तु होने के नाते उनमें आश्रित होता है, न कि उनका गुण होने से उनमें आश्रित होता है। यही कारण है जिससे शब्द उनमें समवाय सम्बन्ध से आश्रित न होकर कालिक तथा दैशिक सम्बन्ध से आश्रित होता है। अतः शब्द समवाय सम्बन्ध से आकाश का लक्षण है इसी बात के सूचनार्थ लक्षण में गुण शब्द का उपादान किया गया है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि शब्द भी आकाश का सार्वदिक लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि महाप्रलय होने पर आकाश में शब्द की उत्पत्ति न होगी और नित्य शब्द कोई होता नहीं, अतः उस काल में शब्द लक्षण आकाश में अव्याप्त हो जायगा। अतः शब्द का अर्थ करना होगा प्रतियोगिव्यधिकरणशब्दाभावशून्यत्व, इसका

अर्थ हैं कि जिसमें शब्दाभाव अपने प्रतियोगी शब्द का व्यधिकरण होकर न रहे वह आकाश है, आकाश में किसी काल और किसी भाग में शब्द के रहने से शब्दाभाव इसमें कभी प्रतियोगी का व्यधिकरण होकर नहीं रह सकता, अतः आकाश में प्रतियोगि-व्यधिकरण शब्दाभाव का अभाव सर्वदा रहने के कारण इस रूप में शब्द को आकाश का लक्षण मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि शब्द को आकाश का गुण कहने से यह सूचना मिलती है कि न्यायवैशेषिक के मतानुसार शब्द आकाश का जन्य गुण है, आकाश उसका समवायिकारण है, आकाश में उसकी समवायिकारणता है। उस कारणता का अवच्छेदक धर्म है आकाशगत विशेष पदार्थ। वह आकाश में सभी समय रहता है, वही आकाश का लक्षण है, अतः किसी भी समय आकाश में इस लक्षण की अव्याप्ति नहीं हो सकती।

शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये छः गुण आकाश में रहते हैं। इनमें शब्द विशेष गुण है और अन्य पांच सामान्य गुण हैं। इनमें एकत्व-संख्या, परिमाण और एकपृथक्त्व ये तीन नित्य हैं और शेष सभी अनित्य हैं।

आकाश एक है, विभु-व्यापक—समस्त मूर्त द्रव्यों से संयुक्त है और नित्य है। उसका जन्म और नाश नहीं होता।

आकाश शब्दलिङ्गक है। शब्दलिङ्गसे आकाश का अनुमान होता है। इस अनुमान को परिशेष अनुमान कहा जाता है। परिशेष का अर्थ है—प्राप्त होने वाले सभी पदार्थों का निषेध हो जाने पर तथा प्राप्त निषिद्ध पदार्थों से अन्य पदार्थों की प्राप्ति न होने पर बच ाने वाले पदार्थ को स्वीकार कर लेना। यह स्वीकार जिस अनुमान पर निर्भर होता है उसे ही परिशेषानुमान कहा जाता है।

जैसे शब्द श्रोत्र इन्द्रिय से गृहीत होने वाला एक प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थ है। अनुमान प्रमाण से यह भी सिद्ध है कि वह विशेष गुण है। उसमें विशेषगुणत्व का साधक अनुमान इस प्रकार हैं—

शब्द विशेषगुण है, क्योंकि वह सामान्य-जाति का आश्रय होते हुये हमारे जैसे साधारण मनुष्यों को बाह्य इन्द्रिय से गृहीत होने योग्य है। जो पदार्थ सामान्य का आश्रय-होते हुए हम जैसे साधारण मनुष्यों को बाह्य इन्द्रिय से गृहीत होने योग्य होता है वह विशेष गुण होता है, जैसे रूपत्व आदि सामान्य का आश्रय तथा हमारे जैसे साधारण मनुष्यों को बहिरिन्द्रिय चक्षु आदि से गृहीत होने योग्य रूप आदि गुण।

इस अनुमान में शब्द पक्ष है, विशेषगुणत्व साध्य है, सामान्य का आश्रय होते

हुये हम जैसे साधारण जनों को बहिरिन्द्रिय से गृहीत होने योग्य होना हेतु है, रूप आदि दृष्टान्त है।

प्रस्तुत हेतु के विषय में यह बातें ज्ञातव्य हैं कि यदि इस हेतु में से 'सामान्यवत्त्व-सामान्य का आश्रय होना' इस अंश को निकाल दिया जायगा तो शेष हेतु रूपत्व आदि सामान्य में विशेषगुणत्व का व्यभिचारी हो जायगा, और यदि 'हम जैसे साधारण मनुष्यों को बाह्य इन्द्रिय से गृहीत होने योग्य होना' इस अंश को निकाल दिया जायगा तो बचा हुआ हेतु 'सामान्यवत्त्व' आत्मा में विशेषगुणत्व का व्यभिचारी हो जायगा। बहिरिन्द्रिय अंश को हेतु के शरीर से पृथक् कर देने पर गुरुत्व आदि सामान्य गुणों में हेतु विशेषगुणत्व का व्यभिचारी हो जायगा। बहिःपदमात्र को निकाल देने पर आत्मा में हेतु साध्य का व्यभिचारी हो जायगा। अस्मदादि अंश को हेतु से पृथक् कर देने पर योगियों को बाह्य इन्द्रिय से गृहीत होने वाले पृथिवी आदि के परमाणुओं में हेतु साध्य का व्यभिचारी हो जायगा। उक्त पूरा हेतु भी घट आदि द्रव्यों में विशेषगुणत्व का व्यभिचारी हो जाता है अतः बहिरिन्द्रियग्राह्यत्व का अर्थ करना होगा एक-बहिरिन्द्रियमात्रग्राह्यत्व। घट आदि द्रव्य चक्षु और त्वक् दो बाह्य इन्द्रियों से ग्राह्य होते हैं अतः उनमें व्यभिचार नहीं हो सकता। उक्त हेतु में ग्राह्यत्व का अर्थ है ग्रहण योग्य होना, इसमें ग्रहण में सामान्यलक्षणा तथा ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति से अजन्य होना यह विशेषण देना होगा। अन्यथा द्रव्यत्वरूप से घट का चाक्षुष होने पर द्रव्यत्वस्वरूप सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से होने वाले यावद् द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष में तथा 'ममानुकूलोऽयं घटः—यह घट मेरे अनुकूल है' इस चाक्षुष प्रत्यक्ष में ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति से आत्मा का भान होने से उक्त हेतु आत्मा में साध्य का व्यभिचारी हो जायगा। इसी प्रकार उक्त हेतु में ग्राह्यत्व का अर्थ यदि 'ग्रहणयोग्य होना' न कर 'ग्रहण का विषय होना' किया जायगा तो एक शब्द की धारा का अन्तिम शब्द जो पूर्व शब्द से नाश्य होने से क्षणिक होने के कारण अतीन्द्रिय होने से बहिरिन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का विषय नहीं होता उसमें उक्त हेतु भागासिद्ध हो जायगा क्योंकि उक्त अनुमान में सम्पूर्ण शब्दों के पक्ष होने से उक्त अन्तिम शब्द भी पक्ष का एक भाग होगा और उसमें उक्त हेतु असिद्ध है।

उक्त रीति से हेतु के समस्त घटकों के प्रयोजन का आकलन करने पर उसका जो स्वरूप निष्पन्न होता है उसे 'एक बहिरिन्द्रियमात्र से लौकिक सन्निकर्षद्वारा ग्रहण होने योग्य सामान्य का आश्रय होना' इस शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है।

अस्तु, उक्त अनुमान से यह सिद्ध है कि शब्द विशेषगुण है। न्यायवैशेषिकदर्शन को यह नियम भी निरपवादरूप से मान्य है कि जो गुण होता है वह गुणी में

समवाय सम्बन्ध से अवश्य आश्रित होता है, अतः इस नियम के बल यह बात भी अनुमानसिद्ध है कि शब्द समवाय सम्बन्ध से किसी गुणी में अवश्य आश्रित है। इस प्रकार ये तीन बातें निर्विवाद रूप से सिद्ध हैं—शब्द है (१), वह विशेषगुण है (२), वह समवाय सम्बन्ध से आश्रित है (३) किन्तु यह नहीं सिद्ध है कि वह समवाय सम्बन्ध से किस पदार्थ में आश्रित है। अतः शब्द अमुक पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से आश्रित है इस रूप में उसके आश्रय को सिद्ध करने का प्रयत्न आवश्यक है।

शब्द के आश्रय की खोज करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन पदार्थों में ही किसी पदाथ को शब्द का आश्रय मानना होगा क्यों कि इन पदार्थों से भिन्न किसी पदार्थ का अस्तित्व न्यायवैशेषिक दर्शन को मान्य नही है। इन पदार्थों में पृथिवी, जल, तेज, वायु, दिक्, काल, आत्मा और मन. ये आठ द्रव्य ही शब्द के आश्रय रूप में प्राप्त होते हैं किन्तु उन सभी का निषेध हो जाता है। जैसे पृथिवी, जल, तेज, वायु और आत्मा, इनमें किसी को शब्द का आश्रय नहीं माना जा सकता क्योंकि शब्द का श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण होता है और उन द्रव्यों में आश्रित हाने वाला कोई गुण श्रोत्र से ग्राह्य नहीं होता। इस प्रकार दिक्, काल, और मन, इनमें भी किसी को शब्द का आश्रय नहीं माना जा सकका क्यों कि शब्द विशेष गुण है और उक्त द्रव्य विशेष गुण का आश्रय नहीं होते। इस प्रकार जितने द्रव्य शब्द का आश्रय होनेके लिये प्राप्त होते हैं उन सभी का निषेध हो जाता है और गुण, कर्म आदि अन्य छः पदार्थ शब्द का आश्रय होने के लिए प्राप्त ही नहीं हो सकते क्योंकि वे किसी भी गुण का आश्रय नहीं होते, गुण का आश्रय तो कोई द्रव्य ही होता है। इस प्रकार प्राप्त होने वाले पृथ्वी आदि आठ द्रव्यों का निषेध हो जाने और उनसे अन्य गुण आदि छः पदार्थों की प्राप्ति न होने से शेष रह जाता है पृथ्वी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न कोई द्रव्य, ऐसे जिस द्रव्य को शब्द के आश्रय रूप मे स्वीकार किया जाता है उसी का नाम है आकाश। यह स्वीकार जिस अनुमान पर निर्भर है वह है परिशेषानुमान और वह इस प्रकार है–

शब्द पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न किसी द्रव्य में आश्रित है, क्योंकि वह पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में आश्रित न होने वाला गुण है। कहने का तात्पर्य यह है कि जा पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न किसी द्रव्य में आश्रित नहीं होता उसकी दो ही स्थिति हो सकती है, या तो वह पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में ही किसी द्रव्य में आश्रित हो जैसे रूप आदि गुण, या वह सर्वथा अनाश्रित हो जैसे काल आदि द्रव्य। शब्द न तो पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में से किसी द्रव्य में आश्रित है और न सर्वथा अनाश्रित ही है; क्योंकि यदि वह पृथिवी, जल, तेज, वायु और आत्मा इनमें से

किसी में आश्रित होगा तो श्रोत्र से ग्राह्य नहीं होगा, और यदि काल, दिक् तथा मन इनमें से किसी में आश्रित होगा तो विशेष गुण न हो सकेगा क्योंकि इनमें कोई विशेषगुण आश्रित नहीं होता, और वह यदि कहीं भी आश्रित न होगा तो गुण ही न हो सकेगा क्योंकि कोई गुण सर्वथा अनाश्रित नहीं होता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि शब्द का जो आश्रय है वह पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न कोई द्रव्य है और ऐसा जो द्रव्य है वही आकाश है।

आकाश एक ही है क्योंकि उसे अनेक मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु उसे एक मानना ही उचित है, क्योंकि उसी स्थिति में एक स्थान में उत्पन्न होने वाले शब्द के दूसरे स्थान में श्रवण की उपपत्ति हो सकेगी, अन्यथा आकाश यदि अनेक होगा तो एक स्थान के आकाश में उत्पन्न शब्द दूसरे स्थान के आकाश में न पहुँच सकेगा, फलतः एक स्थान में उत्पन्न शब्द का अन्य स्थान में श्रवण न हो सकेगा। किन्तु जब आकाश एक होगा तो किसी एक स्थान में शब्द उत्पन्न होने पर उससे अन्य स्थानों में भी उसके समान शब्दों की उत्पत्ति में कोई बाधा न होगी, क्योंकि स्थानभेद होने पर भी उन विभिन्न स्थानों के आकाश में भेद नहीं होता। परन्तु जब भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न आकाश माने जायगे तब एक स्थान के आकाश में उत्पन्न शब्द से अन्य स्थान के आकाश में शब्द की उत्पत्ति न हो सकेगी क्योंकि कोई भी कारण अपने आश्रय में ही कार्य को उत्पन्न करता है यह नियम है। अतः एक स्थान के आकाश में उत्पन्न शब्द अन्य स्थान के आकाश में अपने समान शब्द का उत्पादन न कर सकेगा, जिसका स्पष्ट दुष्परिणाम यह होगा कि एक स्थान में उत्पन्न शब्द का अन्य स्थान में श्रवण न हो सकेगा।

आकाश के एक होने से आकाशत्व को आकाश में रहने वाला सामान्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि जो सामान्य होता है वह अनेकवृत्ति होता है, यह नियम है। किन्तु आकाश के एक होने से आकाशत्व अनेकवृत्ति नहीं होता अतः वह सामान्य नहीं हो सकता।

आकाश विभु है, विभु होने का अर्थ है व्यापक होना और व्यापक होने का अर्थ है वर्तमान सभी मूर्तद्रव्यों से एक साथ संयुक्त होना, और यह तभी सम्भव हो सकता है जब वह परम महान् हो, अतः आकाश को विभु कहने का यह आशय होता है कि आकाश परममहत्परिमाण का आश्रय है। प्रश्न हो सकता है कि आकाश को परम महान् मान कर व्यापक मानने की क्या आवश्यकता है? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यतः सुदूरवर्ती स्थानों में एक ही समय आकाश के कार्य की उपलब्धि होती है अतः उसे व्यापक मानना आवश्यक है। कहने का आशय यह है कि सुदूरवर्ती स्थानों में विद्यमान मनुष्यों को अपने अपने स्थान में एक ही समय शब्द की

कालोऽपि दिग्विपरीतपरत्वापरत्वानुमेयः । संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागवान् । एको नित्यो विभुश्च ।

कथमस्य दिग्विपरीतपरत्वापरत्वानुमेयत्वम् ? उच्यते । सन्निहिते वृद्धे सन्निधानादपरत्वार्हे तद्विपरीतं परत्वं प्रतीयते । व्यवहिते यूनि व्यवधानात् परत्वार्हे तद्विपरीतमपरत्वम् । तदिदं तत्तद्विपरीतं परत्वमपरत्वं च कार्यं तत्कारणस्य दिगादेरसंभवात् कालमेव कारणमनुमापयति । स चैकोऽपि वर्तमानातीत-भविष्यत्क्रियोपाधिवशाद् वर्तमानादिव्यपदेशं लभते, पुरुष इव पच्यादिक्रियो-पाधिवशात् पाचक-पाठकादिव्यपदेशम् । नित्यत्वविभुत्वे चाऽस्य पूर्ववत् ।

उपलब्धि होती है, अतः मानना होगा कि उन सभी स्थानों में एक ही समय शब्द की उत्पत्ति होती है और इस प्रकार की उत्पत्ति तभी सम्भव हो सकती है जब उन सभी स्थानों में आकाश एक समय में विद्यमान हो और आकाश की यह विद्यमानता भी तभी सम्भव हो सकती है जब उसे व्यापक माना जाय, अन्यथा आकाश यदि अव्यापक होगा तो सुदूरवर्ती विभिन्न स्थानों में एक समय में विद्यमान न हो सकेगा और उस स्थिति में उन दूरवर्ती विभिन्न स्थानों में एक समय शब्द की उत्पत्ति न हो सकेगी क्यों कि शब्द का समवायिकारण आकाश एक ही है और अव्यापक होने के नाते वह दूरवर्ती विभिन्न स्थानों में एक समय में विद्यमान नहीं है । अतः एक समय में सुदूरवर्ती विभिन्न स्थानों में शब्द की उत्पत्ति को सम्भव बनाने के लिये आकाश का विभु मानना आवश्यक है ।

विभु—परम महान् होने के कारण ही वह नित्य है, क्यों कि यदि वह अनित्य होगा तो उसकी दो ही गति हो सकती है—जैसे या तो वह द्व्यणुक के समान अणु हो अथवा त्र्यणुक आदि के समान मध्यमपरिमाण हो, क्यों कि अणु और मध्यम परिमाण से अन्य परिमाण का कोई अनित्य द्रव्य प्रमाणसिद्ध नहीं है, किन्तु आकाश परममहत्परिमाण का आश्रय है अतः उसकी नित्यता अनिवार्य है ।

इस प्रकार उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि आकाश शब्द गुण का आश्रयभूत एक अतिरिक्त द्रव्य है, जो एक, विभु तथा नित्य है ।

काल—

काल एक स्वतन्त्र द्रव्य है, दिग्विपरीत परत्व और अपरत्व से उसका अनुमान होता है । दिग्विपरीत का अर्थ है । जो दिङ्मूलक न हो, जो एक ही दिक् में अवस्थित द्रव्यों में भी हो सके । जैसे एक ही दिक्–एक ही देश में क्रम से उत्पन्न होने वाले दो

द्रव्यों में एक पर-ज्येष्ठ होता है और दूसरा अपर-कनिष्ठ होता है। जो पहले उत्पन्न होता है वह ज्येष्ठ तथा जो पीछे उत्पन्न होता है वह कनिष्ठ माना जाता है। इस परत्व-अपरत्व—ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व के भेद का मूल दिक् नहीं हो सकता, क्योंकि इसका मूल यदि दिक् होगा तो दिक् का भेद न होने से एक दिक् में उत्पन्न होने वाले द्रव्यों में परत्व-अपरत्व का यह भेद कैसे हो सकेगा ? अतः जो परत्व-अपत्व दिङ्मूलक नहीं हैं उनके मूलरूप में काल का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार अनुमित होने वाला काल सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग इन पांच गुणों का आश्रय, एक, नित्य तथा विभु है।

दिग्विपरीत परत्व और अपरत्व से काल का अनुमान किस प्रकार होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाता है—

समीपवर्ती बूढ़ा व्यक्ति दूरवर्ती युवा की अपेक्षा समीपस्थ होने के नाते दिशा की दृष्टि से यद्यपि अपरत्व का पात्र होता है किन्तु फिर भी उसमें युवा की अपेक्षा परत्व की प्रतीति होती है। इसी प्रकार दूरवर्ती युवा समीपवर्ती वृद्ध की अपेक्षा दूरस्थ होने के नाते दिशा की दृष्टि से परत्व का पात्र होता है किन्तु वृद्ध की अपेक्षा उसमें अपरत्व की प्रतीति होती है। समीपस्थ वृद्ध और दूरस्थ युवा में प्रतीत होने वाला यह परत्व और अपरत्वरूप कार्य दिग्विपरीत है। इसका कारण दिशा नहीं हो सकती, क्यों कि इसका कारण यदि दिशा होती तो समीपस्थ वृद्ध दूरस्थ युवा की अपेक्षा पर और दूरस्थ युवा समीपस्थ वृद्ध की अपेक्षा अपर न प्रतीत होता। अतः इस परत्व और अपरत्वरूप कार्य का दिशा से भिन्न ही कोई कारण मानना होगा। इस प्रकार का जो भी कारण मान्य होगा वही काल है।

काल दिग्विपरीत परत्व-अपरत्व का दो प्रकार से कारण होता है। एक प्रकार है उनके असमवायिकारण का सम्पादन करना और दूसरा प्रकार है उनके निमित्तकारण का सम्पादन करना। जैसे दिग्विपरीत परत्व-अपरत्व भावात्मक कार्य हैं। भावात्मक कार्यों की उत्पत्ति के लिये समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण, इन तीन कारणों की अपेक्षा होती है। उक्त परत्व-अपरत्व का समवायिकारण होता है वह वृद्ध और युवा व्यक्ति जिनमें उनकी प्रतीति होती है। असमवायिकारण होता है वृद्ध और युवा के साथ काल का संयोग और निमित्त कारण होता है वृद्ध तथा युवा व्यक्ति में बहुतर तथा अल्पतर सूर्यक्रियावों के सम्बन्ध का ज्ञान। स्वतन्त्र काल द्रव्य को स्वीकार न करने पर न तो उक्त असमवायिकारण ही बन सकता और न उक्त निमित्तकारण ही बन सकता, क्यों कि वृद्ध और युवा के साथ सूर्यक्रियावों का साक्षात् सम्बन्ध न होकर

स्वाश्रय (सूर्य) संयुक्त (काल) संयोगरूप परम्परासम्बन्ध ही होता है, जो काल के अभाव में कथमपि सम्भाव्य नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि वृद्ध और युवा के साथ दिक्, आकाश अथवा आत्मा के संयोग को असमवायिकारण तथा सूर्यक्रियाओं के स्वाश्रय (सूर्य) संयुक्त (दिक्, आकाश अथवा आत्मा) संयोग सम्बन्ध के ज्ञान को निमित्तकारण मान लेने से भी उक्त परत्व-अपरत्व की उत्पत्ति हो सकती है अतः उनके असमवायिकारण और निमित्त-कारण के सम्पादनार्थ काल की कल्पना अनावश्यक है, तो यह ठीक नहीं है, क्यों कि दिक् को उक्त कारणों का सम्पादक मानने पर उनसे उत्पन्न होने वाला परत्व-अपरत्व दिग्विपरीत न हो सकेगा। आकाश और आत्मा को भी उन कारणों का सम्पादक नहीं माना जा सकता क्यों कि आकाश और आत्मा से उन कारणों का सम्पादन मानने पर दिङ्मूलक परत्व और अपरत्व के भी असमवायिकारण और निमित्त कारणों का सम्पादन उन्हीं से माने जाने का प्रश्न खड़ा होगा और उस स्थिति में दिङ्मूलक परत्व-अपरत्व और दिग्विपरीत परत्व-अपरत्व में भेद न हो सकेगा। अतः दिग्विपरीत परत्व-अपरत्व के उक्त कारणों के सम्पादनार्थ काल की कल्पना अनिवार्य है।

काल एक है क्यों कि उसे अनेक मानने में कोई युक्ति नहीं है प्रत्युत निष्प्रयोजन अनेक मानने में गौरव है।

काल विभु है क्यों कि दूरवर्ती विभिन्न द्रव्यों में एक ही साथ कालमूलक परत्व-अपरत्वरूप कार्यों की उत्पत्ति होती है।

विभु होने के नाते काल परम महान् है और परम महान् होने के नाते ही नित्य है, क्यों कि अनित्य द्रव्य द्व्यणुक के समान अणु अथवा घट आदि के समान मध्यमपरिमाण ही हो सकता है।

प्रश्न होता है कि काल यदि एक ही है तो वर्तमान, अतीत और भविष्यत् रूप में काल की त्रिविध प्रतीति किस प्रकार होगी ? इसका उत्तर यह है कि काल अपने निजी स्वरूप में वर्तमान, अतीत अथवा भविष्यत् नहीं होता किन्तु उसमें उत्पन्न होने वाली क्रियायें वर्तमान, अतीत और भविष्यत् होती हैं, उनके द्वारा ही उनके आश्रयभूत काल को वर्तमान, अतीत और भविष्यत् रूप में व्यवहृत किया जाता है। जैसे एक ही पुरुष पकाने की क्रिया करने के कारण पाचक और पढ़ने-पढ़ाने की क्रिया करने के कारण पाठक कहा जाता है, ठीक उसी प्रकार वर्तमान आदि क्रिया के सम्बन्ध से एक ही काल वर्तमान आदि विभिन्न रूपों में व्यवहृत होता है।

आकाश के समान ही काल में भी नित्यत्व और विभुत्व की सिद्धि होती है जिसका संकेत संक्षिप्त रूप से ऊपर कर दिया गया है।

कालविपरीतपरत्वापरत्वानुमेया दिक्। एका नित्या विभ्वी च। संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-गुणवती। पूर्वादिप्रत्ययैरनुमेया। तेषामन्य-निमित्तासंभवात्। पूर्वस्मिन् पश्चिमे वा देशे स्थितस्य वस्तुनस्तादवस्थ्यात्। सा चैकाऽपि सवितुस्तत्तद्देशसंयोगोपाधिवशात् प्राच्यादिसंज्ञां लभते।

दिक्—

दिक् का अर्थ है दिशा। यह एक स्वतन्त्र द्रव्य है, काल वपरीत–काल से निष्पादन किये जाने के अयोग्य परत्व और अपरत्व से इसका अनुमान होता है। अनुमान के उदय का प्रकार यह है—

काशी की अपेक्षा प्रयाग पटना से पर–दूर है, एवं प्रयाग की अपेक्षा काशी पटना से अपर–समीप है, यह एक सर्वमान्य व्यवहार है। इस व्यवहार से यह सिद्ध है कि काशी की अपेक्षा प्रयाग में पटना से परत्व–दूरी है और प्रयाग की अपेक्षा काशी में पटना से अपरत्व–सामीप्य है। प्रश्न होता है कि प्रयाग और काशी में व्यवहृत होने वाले इस परत्व तथा अपरत्व का प्रथम ज्ञान किस प्रकार होता है? उत्तर यह है कि कोई मनुष्य पटना से जब काशी और प्रयाग की ओर चलता है तब काशी उसे पहले मिलती है और प्रयाग बाद में मिलता है, इसलिए यह निश्चय होता है कि पटना से काशी समीप है और प्रयाग दूर है, क्यों कि मनुष्य की यह मान्यता है कि जो स्थान पहले प्राप्त हो उसे समीप माना जाय और जो बाद में प्राप्त हो उसे दूर माना जाय।

इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि पहले प्राप्त होने वाले स्थान में अपरत्व–सामीप्य मान कर उसे समीप कहा जाय और बाद में प्राप्त होने वाले स्थान में परत्व–दूरी मान कर उसे दूर कहा जाय, यह तो किसी को समीप या दूर कहने का एक संकेत हुआ किन्तु इस बात का तो कारण बताना ही होगा कि क्यों कोई स्थान पहले प्राप्त होता है और क्यों कोई स्थान बाद में प्राप्त होता है? उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जो स्थान जहाँ से समीप होता है वहाँ से चलने पर वह स्थान पहले प्राप्त होता है और जो स्थान दूर होता है वह बाद में प्राप्त होता है। इस प्रकार स्थान के पहले प्राप्त होने का कारण हुआ स्थान का सामीप्य और बाद में प्राप्त होने का कारण हुआ स्थान का दूरत्व। इस सामीप्य और दूरत्व को ही न्याय–वैशेषिक दर्शन में अपरत्व और परत्व कहा जाता है।

इस सम्बन्ध में अब तक जो कुछ कहा गया उससे यह बात समझ में आती है कि जब कोई मनुष्य पटना से काशी–प्रयाग की ओर प्रस्थान करता है तब काशी पहुँचने पर काशी में उसे अपरत्व–सामीप्य का प्रत्यक्ष होता है और प्रयाग पहुँचने पर उसे प्रयाग में परत्व–दूरी का प्रत्यक्ष होता है। बाद में काशीगत अपरत्व–सामीप्य में प्रयागापेक्षत्व

तथा पटनावधिकत्व और प्रयागगत परत्व में काश्यपेक्षत्व तथा पटनावधिकत्व का मानस-ज्ञान होता है और तब वह इस प्रकार का व्यवहार करने में समर्थ होता है कि काशी पटना से प्रयाग की अपेक्षा अपर-समीप है और प्रयाग पटना से काशी की अपेक्षा पर-दूर है।

अब प्रश्न यह होता है कि प्रयाग और काशी में प्रतीत एवं व्यवहृत होने वाला यह परत्व और अपरत्व द्रव्य आदि सात पदार्थों में कौन सा पदार्थ है ? इस प्रश्न के उत्तर की खोज में इस प्रकार के विचार बुद्धि में आते हैं—

परत्व और अपरत्व को द्रव्य नहीं माना जा सकता क्यों कि इनका प्रत्यक्ष चक्षु से होता है पर इनमें किसी प्रकार के रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता, और नियम यह है कि चक्षु से दीख पड़ने वाले द्रव्य में किसी रूप का प्रत्यक्ष अवश्य होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परत्व और अपरत्व यदि नीरूप द्रव्य हों तो उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये और यदि रूपवान् द्रव्य हों तो उनमें किसी रूप का प्रत्यक्ष अवश्य होना चाहिये। पर स्थिति यह है कि परत्व और अपरत्व का चाक्षुष प्रत्यक्ष तो होता है पर उनमें किसी रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः यह निश्चित है कि परत्व और अपरत्व द्रव्यरूप नहीं हैं।

परत्व और अपरत्व को कर्म भी नहीं माना जा माना जा सकता क्यों कि उनसे संयोग-विभाग का उदय नहीं होता। उन्हें सामान्य भी नहीं माना जा सकता क्यों कि सामान्य सापेक्ष और सावधिक नहीं होता। उन्हें विशेष भी नहीं माना जा सकता, क्यों कि वे विशेष के समान न तो नित्यद्रव्यमात्र में ही नियत हैं और न अतीन्द्रिय ही हैं। उन्हें समवाय भी नहीं माना जा सकता क्यों कि उनसे सम्बन्ध का कार्य नहीं होता। उन्हें अभाव भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अभाव बोधक शब्दों से उनका उल्लेख नहीं होता।

अतः परिशेषात् यह सिद्ध होता है कि परत्व और अपरत्व गुण हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि परत्व और अपरत्व को नित्य गुण तो नहीं माना जा सकता क्यों कि वे अनित्य द्रव्य में भी रहते हैं और नित्य गुण कोई भी अनित्य द्रव्य में नहीं रहता, अतः उन्हें जन्य गुण ही मानना होगा, और जब वे जन्यगुण हैं तो उनके समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण बताना होगा।

कारणों के सम्बन्ध में विचार करने पर यह निष्कर्ष सामने आता है कि जिस द्रव्य में परत्व-अपरत्व की प्रतीति होती है वह द्रव्य उनका समवायिकारण है और उस द्रव्य के साथ किसी द्रव्य का संयोग असमवायिकारण है, एवं उस द्रव्य में बहुतरमूर्त-द्रव्यसंयोग तथा अल्पतरमूर्तद्रव्यसंयोग का ज्ञान निमित्तकारण है।

निमित्तकारण का स्पष्टीकरण इस प्रकार हो सकता है कि जब कोई मनुष्य पटना से काशी जाता है तब उसे पटना और काशी के बीच रास्ते पर पड़ने वाले सभी स्थानों–मूर्तद्रव्यों को पार करना होता है, फलतः उन स्थानों–मूर्तद्रव्यों से संयुक्त होने के बाद मनुष्य का उस भूमिखण्ड के साथ संयोग होता है जिसे काशी कहा जाता है। काशी पहुँचने पर उसे यह ज्ञान होता है कि इतने स्थानों-मूर्तद्रव्यों को पार करने के बाद–इतने मूर्तद्रव्यों के साथ संयोग होने के बाद काशी प्राप्त हुई है। इस ज्ञान को ही काशी में पटना-काशी के बीच के मूर्तद्रव्यों के संयोग का ज्ञान कहा जाता है। यह ज्ञान ही काशी में उत्पन्न होने वाले पटनावधिक प्रयागापेक्ष अपरत्व का निमित्तकारण है।

काशी पहुँचने के बाद वही मनुष्य जब और आगे बढ़ता है और चलते-चलते प्रयाग पहुँचता है तब उसे यह ज्ञान होता है कि पटना से काशी होते हुए प्रयाग पहुँचने के लिए उसे पटना और काशी के बीच तथा काशी और प्रयाग के बीच के रास्ते पर पड़ने वाले सभी स्थानों—मूर्तद्रव्यों को पार करना होता है अर्थात् पटना, काशी तथा काशी और प्रयाग के बीच मार्गस्थित सभी स्थानों—मूर्तद्रव्यों के साथ संयोग होने के बाद उस भूमिखण्ड के साथ संयोग होता है जिसे प्रयाग कहा जाता है। इस ज्ञान को ही प्रयाग में पटना-प्रयाग के बीच के मूर्तद्रव्यों के संयोग का ज्ञान कहा जाता है।

स्पष्ट है कि पटना-काशी के बीच के मूर्तद्रव्य पटना-प्रयाग के बीच के मूर्तद्रव्यों से अल्प हैं और पटना-प्रयाग के बीच के मूर्तद्रव्य पटना-काशी के बीच के मूर्तद्रव्यों से अधिक हैं। अतः पटना से काशी अल्पतर मूर्तद्रव्यों से व्यवहित है और प्रयाग पटना से बहुतर-मूर्तद्रव्यों से व्यवहित है। पटना से काशी जितने मूर्तद्रव्यों से व्यवहित है काशी में उतने मूर्तद्रव्यों के संयोग का ज्ञान काशी में प्रतीत होने वाले अपरत्व–सामीप्य का निमित्त कारण है और प्रयाग पटना से जितने मूर्तद्रव्यों से व्यवहित है, प्रयाग में उतने मूर्तद्रव्यों के संयोग का ज्ञान प्रयाग में प्रतीत होने वाले परत्व–दूरत्व का निमित्त कारण है।

निमित्तकारणभूत इन ज्ञानों के सम्बन्ध में प्रश्न यह उठता है कि पटना और काशी के बीच तथा पटना और प्रयाग के बीच के मार्ग में स्थित मूर्तद्रव्यों का संयोग तो पटना से काशी तथा प्रयाग जाने वाले मनुष्य के साथ होता है, अतः उस मनुष्य में उन मूर्तद्रव्यों के संयोगों का ज्ञान होना तो ठीक है पर काशी या प्रयाग में उन मूतद्रव्यों के संयोगों का ज्ञान कैसे हो सकता है, क्योंकि उन संयोगों का उदय काशी और प्रयाग में तो होता नहीं? उत्तर यह है कि यह बात तो ठीक है कि उन संयोगों का काशी और प्रयाग के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है, पर उक्त प्रकार से उनका ज्ञान तो उनमें होता ही है, अतः यह मानना होगा कि काशी-प्रयाग में उन संयोगों का ज्ञान साक्षात् सम्बन्ध से नहीं होता किन्तु परम्परासम्बन्ध से होता है। वह परम्परासम्बन्ध इस प्रकार हो सकता है कि कोई एक ऐसा द्रव्य हो जिसके साथ उन सभी संयोगों का कोई साक्षात् सम्बन्ध हो

और उस द्रव्य का काशी और प्रयाग के साथ सीधा सम्बन्ध हो। ऐसे सम्बन्ध को 'स्वाश्रयसंयोग' नाम से अभिहित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में स्व का अर्थ होगा मूर्तद्रव्यसंयोग, उसका आश्रय होगा कोई द्रव्य और उसका संयोग होगा काशी और प्रयाग में। इस प्रकार पटना-काशी के बीच तथा पटना-प्रयाग के बीच मार्गस्थित मूर्तद्रव्यों के साथ पटना से काशी तथा प्रयाग जाने वाले मनुष्य के संयोगों को काशी और प्रयाग के साथ जोड़ने वाले सम्बन्ध के निर्वाहार्थ जो द्रव्य स्वीकार्य होगा, वह पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, आत्मा और मन से भिन्न होगा, क्यों कि इनमें आकाश, काल और आत्मा से भिन्न जो द्रव्य हैं वे स्वयं परिच्छिन्न होने के कारण उन सभी संयोगों से साक्षात् सम्बद्ध नहीं हो सकते। आकाश और आत्मा के साथ भी मनुष्य के साथ होने वाले मूर्तद्रव्यों के संयोग का कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता। हाँ, काल के साथ उन सभी संयोगों का साक्षात् सम्बन्ध–कालिक हो सकता है। अतः कालद्वारा उन सभी संयोगों का काशी और प्रयाग के साथ स्वाश्रयसंयोग सम्बन्ध बन सकता है, पर काल को मनुष्यगत मूर्तद्रव्यसयोग को काशी और प्रयाग जैसे स्थानान्तर के साथ जोड़ने की कड़ी नहीं माना जा सकता, क्यों कि वह तो उक्त परम्परा-सम्बन्ध से एकमात्र एक की क्रिया को ही अन्य के साथ जोड़ने की कड़ी के रूप में माना गया है, किन्तु अब यदि उसे एक के किसी अन्य भी गुणधर्म को अन्य के साथ जोड़ने वाला कड़ी के रूप में स्वीकार किया जायगा तो काशी में पड़े हुये जपाकुसुम की अरुणिमा उसके द्वारा प्रयाग में स्थित स्फटिक मणि में पहुँच जायगी और इस पहुँच के परिणामस्वरूप काशीस्थित जपाकुसुम से प्रयागस्थित स्फटिक मणि अरुण दिखाई देने लगेगी। अतः जैसे एक की क्रियामात्र को ही अन्य के साथ जोड़ने की कड़ी के रूप में काल नाम का एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है उसी प्रकार एकनिष्ठ मूर्त-द्रव्यसंयोगमात्र को अन्य के साथ जोड़ने की कड़ी के रूप में एक दूसरे स्वतन्त्र द्रव्य को मान्यता प्रदान करना उचित है। इस कार्य के निमित्त ऐसा जो द्रव्य स्वीकार्य है उसी का नाम है दिक्। वही पटना से काशी और प्रयाग जाने वाले मनुष्य के साथ होने वाले पटना-काशी तथा पटना-प्रयाग के बीच में स्थित मूर्तद्रव्यों के संयोग का दैशिक—दिक्कृतविशेषणता–नामक साक्षात् सम्बन्ध से आश्रय होता है, वह द्रव्य विभु है अतः उसका संयोग काशी और प्रयाग के साथ हो सकता है। इस प्रकार स्वाश्रयसंयोग सम्बन्ध से पटना-काशी के बीच होने वाले मनुष्य और मूर्तद्रव्य के संयोग का ज्ञान काशी में और पटना-प्रयाग के बीच होने वाले मनुष्य और मूर्तद्रव्य के संयोग का ज्ञान प्रयाग में सम्पन्न हो सकता है। यह ज्ञान ही क्रम से काशी में पटनावधिक अपरत्व और प्रयाग में पटनावधिक परत्व का निमित्त कारण होता है।

उक्त प्रकार से निमित्तकारण के निर्वाहार्थ कल्पित होने वाले इस द्रव्य का

काशी और पटना के साथ जो संयोग होता है वही काशी में उत्पन्न होने वाले अपरत्व का और प्रयाग में उत्पन्न होने वाले परत्व का असमवायिकारण होता है।

प्रारम्भ में कालविपरीत परत्व और अपरत्व से दिक् का अनुमान होने की बात बता कर उसके उदय का प्रकार बताने का जो उपक्रम किया गया था उसका उपसंहार इस प्रकार किया जा सकता है—

पटना से काशी में प्रयाग की अपेक्षा प्रतीत होने वाला अपरत्व और पटना से प्रयाग में काशी की अपेक्षा प्रतीत होने वाला परत्व, ये दोनों अपने आश्रय में होने वाले अपने निमित्तकारण के निर्वाहक द्रव्य के संयोग से जन्य हैं क्यों कि वे अपरत्व और परत्व शब्द के मुख्य अर्थ हैं, जो अपरत्व और परत्व शब्द के मुख्य अर्थ होते हैं वे अपने आश्रय में होने वाले निमित्तकारण के निर्वाहक द्रव्य के संयोग से जन्य होते हैं जैसे कनिष्ठत्व-ज्येष्ठत्व रूप कालकृत अपरत्व और परत्व अपने आश्रय युवा और वृद्ध शरीर में होने वाले अपने निमित्तकारण अल्पतर रवि क्रियासंयोगज्ञान और बहुतर रविक्रियासंयोगज्ञान के निर्वाहक कालनामक द्रव्य के संयोग से जन्य होते हैं। काशी और प्रयाग में प्रतीत होने वाले अपरत्व और परत्व कालकृत अपरत्व और परत्व से विपरीत हैं, उनका निमित्तकारण है पटना से काशी के बीच और पटना से प्रयाग के बीच अवस्थित स्थानों—मूर्तद्रव्यों का पटना से काशी तथा प्रयाग जाने वाले मनुष्य के साथ होने वाले संयोग का काशी और प्रयाग में ज्ञान, उस ज्ञान का सम्पादक है स्वाश्रयसंयोगनामक परम्परासम्बन्ध। उस सम्बन्ध में स्वाश्रयरूप से घटक होने से कालविपरीत परत्व-अपरत्व के निमित्तकारण का निर्वाहक है दिक्। काशी और प्रयाग में उस दिग्द्रव्य का संयोग उनमें प्रतीत होने वाले अपरत्व और परत्व का असमवायिकारण है और वे (अपरत्व एवं परत्व) उससे जन्य हैं।

दिक् एक, नित्य और विभु–परम महान्–व्यापक है। एक इसलिये है कि उसे अनेक मानने में कोई युक्ति नहीं है प्रत्युत गौरव है। नित्य भी वह इसलिये है कि उसे अनित्य मानने में पर्याप्त गौरव है। जैसे अनित्य मानने पर उसे अनेक मानना होगा, उसके कारणों की कल्पना करनी होगी तथा उसके प्रागभाव एवं ध्वंस की कल्पना करनी होगी। विभु–परम महान् इसलिये है कि उसमें अन्य प्रकार के परिमाण की कल्पना युक्तिसंगत नहीं हो सकती। जैसे यदि उसमें परम महत् परिमाण न मान कर कोई अन्य परिमाण माना जायगा, तो वह दो ही प्रकार का हो सकता है—अणु परिमाण या मध्यम परिमाण। किन्तु ये दोनों ही परिमाण मान्य नहीं हो सकते क्यों कि इन दोनों परिमाणों में कोई भी परिमाण मानने पर उसकी व्यापकता नहीं सिद्ध हो सकती। फलतः एक समय विभिन्न स्थानों—मूर्त द्रव्यों में दैशिक अपरत्व—सामीप्य

एवं दैशिक परत्व–दूरत्व की उत्पत्ति न हो सकेगी, क्यों कि उनके साथ अणु परिमाण या मध्यम परिमाण वाले दिक् का संयोग एक समय सम्भव न हो सकेगा। किन्तु जब उसका परम महत् परिमाण माना जायगा तब किसी भी स्थान—मूर्त द्रव्य के उसकी परिधि के बाहर न होने से एक साथ सभी मूर्त द्रव्यों के साथ उसका संयोग सम्भव होने से एक समय अनेक स्थानों में दैशिक अपरत्व और परत्व की उत्पत्ति में कोई बाधा न होगी।

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये उसके पांच सामान्य गुण हैं। इनसे अतिरिक्त कोई गुण उसमें नहीं रहता। इन गुणों में उसमें रहने वाली एकत्व संख्या, उसका परिमाण और उसमें रहने वाला एकपृथक्त्व, इतने गुण नित्य हैं और अन्य समस्त गुण अनित्य हैं।

दिक् का अनुमान केवल कालविपरीत अपरत्व और परत्वमात्र से ही नहीं होता अपि तु पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि प्रतीतियों से भी होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि लोक में मनुष्य को इस प्रकार की प्रतीतियों का होना अनुभवसिद्ध है कि जिस स्थान में मैं इस समय स्थित हूँ उस स्थान से यह स्थान पूरब है, यह स्थान पश्चिम है, यह स्थान उत्तर है. और यह स्थान दक्षिण है। इन प्रतीतियों में तीन विषयों का भान स्पष्ट रूप से होता है, एक वह स्थान जहाँ इन प्रतीतियों का कर्ता अवस्थित है, दूसरा वह स्थान जिसे वह अपने स्थान से पूरब या पश्चिम अवस्थित समझता है और तीसरा वह जिसका वह पूरब, पश्चिम आदि शब्दों से उल्लेख करता है। इन तीनों विषयों में दो तो अत्यन्त स्पष्ट हैं, पर तीसरा, जिसका पूरब, पश्चिम आदि शब्दों से उल्लेख किया जाता है, वह अस्पष्ट है, उसे समझना है। विचार करने पर उसके सम्बन्ध में यही बात समझ में आती है कि उक्त प्रतीतियों का वह विषय जिसका उल्लेख पूरब, पश्चिम आदि शब्दों से होता है, दिक् से भिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्व या पश्चिम दिशा में स्थित वस्तु ही पूर्व या पश्चिम होती है, अर्थात् वस्तु में पूर्व या पश्चिम होने की प्रतीति दिशा के द्वारा ही होती है।

प्रश्न हो सकता है कि दिक् तो एक ही है तो फिर परस्परविपरीत अर्थ को बताने वाले पूरब, पश्चिम आदि शब्दों से उसका उल्लेख किस प्रकार युक्तिसंगत हो सकता है? उत्तर यह है कि, यह ठीक है कि दिक् एक है, उसमें नानात्व नहीं है, अतः शुद्ध रूप में उसे परस्परविपरीत अर्थ को बताने वाले शब्दों से व्यवहृत नहीं किया जा सकता। क़िन्तु बात यह है कि जब पूरब, पश्चिम आदि शब्दों से दिक् का उल्लेख किया जाता है तब शुद्ध रूप में उसका उल्लेख अभीष्ट नहीं होता किन्तु ऐसे अर्थों के सम्पर्क में अभीष्ट होता है जो परस्परविपरीत होते हैं। जैसे उक्त प्रतीतियों का कर्ता जब उदीयमान सूर्य को देखता है तब वह एक ही दिक् को सूर्य और अपने बीच में आने

आत्मत्वाभिसम्बन्धवान् आत्मा। सुखदुःखादिवैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः। स चोक्त एव। तस्य सामान्यगुणाः संख्यादयः पञ्च। बुद्ध्यादयो नव विशेषगुणाः। नित्यत्वविभुत्वे पूर्ववत्।

वाले स्थानों के सम्पर्क में पूरब कहता है, अपने पीछे पड़ने वाले स्थानों के सम्पर्क में पश्चिम कहता है, अपने दाहिने हाथ की ओर पड़ने वाले स्थानों के सम्पर्क में दक्षिण कहता है और अपने बायें हाथ की ओर पड़ने वाले स्थानों के सम्पर्क में उत्तर कहता है। इस प्रकार एक ही दिक् को परस्पर विपरीत अर्थों के सम्पर्क में परस्पर विपरीत अर्थ को बताने वाले पूरब, पश्चिम आदि शब्दों से व्यवहृत होने में कोई बाधा नहीं होती।

आत्मा—

आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है, उसका लक्षण है 'आत्मत्व का अभिसम्बन्ध'। आत्मत्व एक जाति है उसका अभिमत सम्बन्ध है समवाय, उस सम्बन्ध से आत्मत्व जाति जिसमें रहती है उसे आत्मा कहा जाता है। यह जाति पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् और मन में नहीं रहती, क्योंकि इसकी सिद्धि सुख, दुःख आदि की समवायिकारणता के अवच्छेदकरूप में होती है अतः यह उसी द्रव्य में रह सकती है जिसमें सुख, दुःख आदि की समवायिकारणता हो, वह कारणता पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में नहीं मानी जा सकती क्योंकि उनमें सुख, दुःख आदि का उदय नहीं होता। जिस द्रव्य में सुख, दुःख आदि का उदय होता है उसी में उनकी समवायिकारणता मान्य हो सकती है और जिसमें वह कारणता होगी उसी में उसका अवच्छेदक आत्मत्व मान्य हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि आत्मत्व का आश्रय पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न कोई नवां द्रव्य है।

इस आत्मा को ही जीव कहा जाता है, वह प्रति शरीर में भिन्न होता है, क्योंकि प्रति शरीर में सुख, दुःख आदि का वैचित्र्य होता है। कहने का आशय यह है कि किसी शरीर में आत्मा सुखी होती है और किसी शरीर में दुःखी होता है, किसी में बहुज्ञ होता है और किसी में अल्पज्ञ होता है। सुख, दुःख, ज्ञान आदि की यह विचित्रता आत्मा के एक होने पर केवल शरीरभेद के कारण नहीं हो सकती, क्योंकि सुखी या दुःखी मनुष्य चाहे जितने स्थानों में जाय, सर्वत्र वह सुखी या दुःखी ही रहता है। स्थानभेद से उसके सुख, दुःख आदि में परिवर्तन नहीं होता। किन्तु आत्मा के विषय में यह देखा जाता है कि वह विभिन्न शरीरों में एक ही समय कहीं सुखी और कहीं दुखी होता है, अतः उसे एक मानने में युक्ति की संगति न होने से प्रतिशरीर में उसे भिन्न माना जाता है। उसके विषय में अपेक्षित चर्चा पहले पर्याप्त हो चुकी है। संख्या, परिमाण,

मनस्त्वाभिसम्बन्धवन् मनः। अणु, आत्मसंयोगि, अन्तरिन्द्रियम्। सुखाद्युपलब्धिकरणं, नित्यं च संख्याद्यष्टगुणवत्। तत्संयोगेन बाह्येन्द्रियमर्थग्राहकम्। अत एव सर्वोपलब्धिसाधनम्। तच्च न प्रत्यक्षम्, अपि त्वनुमानगम्यम्। तथाहि सुखाद्युपलब्धयश्चक्षुराद्यतिरिक्तकरणसाध्याः, असत्स्वपि चक्षुरादिषु जायमानत्वात्। यद्वस्तु यद्विनैवोत्पद्यते, तत्तदतिरिक्तकरणसाध्यं, यथा कुठारं विनोत्पद्यमाना पचनक्रिया तदतिरिक्तवह्न्यादिकरणसाध्या। यच्च करणं तन्मनः। तच्च चक्षुराद्यतिरिक्तम्। तच्चाणुपरिमाणम्। इति द्रव्याण्युक्तानि।

पृथक्त्व, संयोग और विभाग, ये उसके पांच सामान्य गुण हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावनात्मक संस्कार, ये नव उसके विशेष गुण हैं। आत्मा पूर्ववत्—पूर्वोक्त, अकाश, काल, और दिक् के समान नित्य और विभु है।

मन--

मन एक अतिरिक्त द्रव्य है, इसका लक्षण है 'मनस्त्व जाति का अभिसम्बन्ध'। उसके अनुसार समवाय सम्बन्ध से मनस्त्व जाति जिसमें रहे वह मन है। मन अणु परिमाण का आश्रय, आत्मा से संयुक्त, आन्तर इन्द्रिय, सुख आदि के प्रत्यक्ष का करण और नित्य है। उसमें संखया, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व (दैशिक) और वेगनामक सस्कार ये आठ गुण रहते हैं। बाह्य इन्द्रियां मन के सहयोग से ही अपने विषय को ग्रहण करती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि चक्षु, त्वक् आदि पांचों बाह्य इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सन्निकर्ष होने पर भी उन इन्द्रियों से उनके विषयों का प्रत्यक्ष एक साथ नहीं होता किन्तु क्रम से होता है। इस वस्तुस्थिति के अनुरोध से यह कार्यकारण-भाव माना जाता है कि उन उन इन्द्रियों से होने वाले प्रत्यक्ष में उन उन इन्द्रियों के साथ मन का संयोग कारण होता है। मन यतः एक शरीर में एक और अणु होता है और इन्द्रियां शरीर के भिन्न भिन्न भागों में अवस्थित होती हैं अतः उन सबके साथ एक साथ उसका संयोग न हो सकने से एक साथ सब इन्द्रियों से प्रत्यक्ष का उदय नहीं होता। मन उक्त रीति से यतः सभी इन्द्रियों का सहायक है अतः वह सभी विषयों की उपलब्धि का साधन माना जाता है।

मन अतीन्द्रिय है, उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु अनुमान प्रमाण से उसकी सिद्धि होती है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है—

सुख आदि का प्रत्यक्षज्ञान चक्षु आदि से भिन्न करण से उत्पन्न होता है, क्यों कि चक्षु आदि के न होने पर भी वह उत्पन्न होता है, जो वस्तु जिसके बिना उत्पन्न होती है वह उससे भिन्न करण से उत्पन्न होती है, जैसे कुठार के बिना उत्पन्न होने वाली

गुणाः ।

७. अथ गुणा उच्यन्ते । सामान्यवान्, असमवायिकारणम्, अस्पन्दात्मा गुणः । स च द्रव्याश्रित एव । रूप-रस गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व स्नेह-शब्द-बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-अधर्म-संस्कार-भेदाच् चतुर्विंशतिधा ।

पाकक्रिया कुठार से भिन्न अग्निरूप करण से उत्पन्न होती है । सुखादि के प्रत्यक्षज्ञान का ऐसा जो करण है उसी का नाम है मन । वह चक्षु आदि से अतिरिक्त है । उसका परिमाण अणु है ।

इस प्रकार द्रव्यों का निरूपण समाप्त हुआ ।

अब गुणों का वर्णन किया जायगा ।

गुण—

गुण द्रव्य, कर्म आदि छः पदार्थों से भिन्न एक स्वतन्त्र पदार्थ है । इसका लक्षण है—सामान्यवत्त्वे सति, समवायिकारणभिन्नत्वे सति कर्मभिन्नत्व । इसका अर्थ है—सामान्य का आश्रय होते हुये समवायिकरण और कर्म से भिन्न होना । इसके अनुसार जो पदार्थ किसी कार्य का समवायिकरण नहीं होता, कर्म से भिन्न होता है तथा सामान्य का आश्रय होता है उसे गुण कहा जाता है । रूप, रस आदि पदार्थ किसी कार्य के समवायिकारण नहीं होते, कर्म से भिन्न होते हैं तथा सत्ता, गुणत्व आदि सामान्य—जाति के आश्रय होते हैं अतः वे गुण हैं ।

गुण के उक्त लक्षण में से यदि 'सामान्यवत्त्व' को निकाल दिया जाय तो शेष अंश के सामान्य आदि पदार्थों में रहने से उनमें गुणलक्षण की अतिव्याप्ति होगी । उक्त लक्षण में से 'समवायकारणभिन्नत्व' को निकाल देने पर शेष भाग के द्रव्य में रहने से द्रव्य में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । इसी प्रकार 'कर्मभिन्नत्व' को लक्षण से निकाल देने पर बचे हुये भाग के कर्म में रहने से कर्म में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । अतः उक्त लक्षण से किसी अंश को पृथक् नहीं किया जा सकता ।

उक्त लक्षण में प्रविष्ट 'समवायिकारणभिन्नत्व' की व्याख्या 'द्रव्यभिन्नत्व' के रूप में करना आवश्यक है । अन्यथा जो द्रव्य आशु विनाशी होगा, उसमें किसी कार्य की उत्पत्ति न होने से समवायिकारणभिन्नत्व के रह जाने से गुण लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, किन्तु 'समवायिकारणभिन्नत्व' के स्थान में 'द्रव्यभिन्नत्व' का प्रवेश करने पर यह दोष न होगा क्योंकि किसी भी द्रव्य में द्रव्यभिन्नत्व कदापि नहीं रह सकता ।

गुण के विषय में एक बात यह कही गई है कि वह द्रव्य में आश्रित ही होता है । इस कथन से गुण और द्रव्य के परस्परतादात्म्य, जो अन्य कई दर्शनों को अभीष्ट है, का निषेध सूचित किया गया है ।

१. तत्र रूपं चक्षुर्मात्रग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिव्यादित्रयवृत्ति। तच्च शुक्लाद्यनेकप्रकारकम्। पाकजं च पृथिव्याम्। तच्चानित्यं पृथिवीमात्रे। आप्य-तैजसपरमाण्वोर्नित्यम्। आप्यतैजसकार्येष्वनित्यम्। शुक्लभास्वरमपाकजं तेजसि। तदेवाभास्वरमप्सु।

रूप (१) रस (२) गन्ध (३) स्पर्श (४) संख्या (५) परिमाण (६) पृथक्त्व (७) संयोग (८) विभाग (९) परत्व (१०) अपरत्व (११) गुरुत्व (१२) द्रवत्व (१३) स्नेह (१४) शब्द (१५) बुद्धि (१६) सुख (१७) दुःख (१८) इच्छा (१९) द्वेष (२०) प्रयत्न (२१) धर्म (२२) अधर्म (२३) और संस्कार (२४) के भेद से गुण चौबीस प्रकार के होते हैं।

१ रूप—

उक्त गुणों में रूप का लक्षण है—चक्षुर्मात्रग्राह्यविशेषगुणत्व। इसके अनुसार चक्षुमात्र से प्रत्यक्ष किये जाने योग्य विशेष गुण का नाम है रूप। इस लक्षण में 'ग्राह्य' का अर्थ यदि 'प्रत्यक्ष विषय' किया जायगा तब परमाणु के रूप में अव्याप्ति होगी क्यों कि परमाणु में महत्त्व के न होने से उसमें आश्रित रूप प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता, अतः 'ग्राह्य' का अर्थ किया जाता है 'प्रत्यक्षयोग्यत्व'। परमाणु का रूप प्रत्यक्ष का विषय न होने पर भी प्रत्यक्षयोग्य है क्यों कि यदि उसके आश्रय में महत्त्व होता तो वह भी घट आदि के रूप के समान अवश्य प्रत्यक्ष का विषय होता।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'ग्राह्य' का प्रत्यक्षयोग्य अर्थ करने पर भी चक्षु के रूप में अव्याप्ति होगी, क्यों कि चक्षु का रूप अनुद्भूत होने से प्रत्यक्ष-योग्य नहीं होता, अतः 'ग्राह्य' का अर्थ करना होगा, 'प्रत्यक्षयोग्य जाति का आश्रय होना'। यह अर्थ करने से चक्षु के रूप में अव्याप्ति नहीं हो सकती क्यों कि चक्षुमात्र से प्रत्यक्षयोग्य जाति है रूपत्व, वह चक्षु के रूप में भी विद्यमान है।

उक्त लक्षण में 'मात्र' पद का सन्निवेश करके चक्षु से भिन्न केवल बहिरिन्द्रिय की व्यावृत्ति की गई है न कि चक्षु से भिन्न समस्त करण की, क्यों कि चक्षु से भिन्न समस्त करण की व्यावृत्ति करने पर लक्षण में असम्भव दोष हो जायगा क्यों कि रूप चक्षु से भिन्न मन से भी ग्राह्य होने के कारण चक्षुमात्र से ग्राह्य नहीं कहा जा सकता। हाँ, चक्षु से भिन्न किसी बहिरिन्द्रिय से ग्राह्य न होने के कारण 'चक्षु से भिन्न बहिरिन्द्रिय से अग्राह्य तथा चक्षु से 'ग्राह्य' इस अर्थ में उसे चक्षुमात्र से ग्राह्य कहने में कोई बाधा नहीं है। अतः 'चक्षुर्मात्रग्राह्य' का यही अर्थ करना उचित है।

प्रश्न हो सकता है कि जब उक्त कारणवश 'चक्षुर्मात्रग्राह्य' का 'चक्षु से भिन्न बहिरिन्द्रिय से अग्राह्य और चक्षु से ग्राह्य जाति का आश्रय' यह अर्थ करना आवश्यक

है तब इतने से ही संयोग आदि सामान्य गुणों में अतिव्याप्ति का निराकरण हो जाने से लक्षण में 'विशेषगुणत्व' के प्रवेश की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि चक्षुमात्र से ग्राह्य रूपत्वजाति का आश्रय सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से सामान्य आदि पदार्थ भी हो सकते हैं। अतः लक्षण में विशेषगुणत्व का सन्निवेश न करने पर सामान्य आदि में उसकी अतिव्याप्ति होगी इस अतिव्याप्ति का निराकरण यद्यपि गुणत्व मात्र के सन्निवेश से भी हो सकता है, पर गुणत्वमात्र के सन्निवेश से संयोग आदि सामान्य गुणों में अतिव्याप्ति होगी क्यों कि वे भी चक्षुमात्र से ग्राह्य रूपत्व जाति के कालिक सम्बन्ध से आश्रयभूत गुण हैं। यदि यह कहा जाय कि उक्त लक्षण की 'चक्षु-मात्र से ग्राह्य जाति का जो समवाय सम्बन्ध से आश्रय हो, वह रूप है' यह व्याख्या कर देने पर यह दोष नहीं होगा, क्यों कि चक्षुमात्र से ग्राह्य रूपत्वजाति सामान्य आदि पदार्थों में तथा संयोग आदि सामान्य गुणों में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहती, अतः लक्षण में गुणत्व अथवा विशेषगुणत्व का प्रवेश निरर्थक ही है, तो यह ठीक नहीं है, क्यों कि समवाय के एक होने से, संयोग आदि सामान्य गुणों में विद्यमान जाति के समवाय से उनमें रूपत्व जाति की भी आश्रयता सम्भावित होने से उनमें उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है, अतः 'विशेषगुणवृत्तित्वविशिष्ट समवाय सम्बन्ध से चक्षुमात्र से ग्राह्य जाति की आश्रयता' को ही गुण का लक्षण मानना उचित होगा, क्यों कि इस प्रकार का लक्षण करने पर समवाय के एक होने पर भी विशेष-गुणवृत्तित्वविशिष्ट समवाय के विशेष गुण में ही आश्रित होने से उक्त सम्बन्ध से चक्षुमात्र से ग्राह्य जाति के संयोग आदि सामान्य गुणों में न रहने से उनमें गुणलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार लक्षण के इस स्वरूप के सूचनार्थ ही मूलोक्त लक्षण में 'विशेषगुण' का प्रवेश किया गया है, यह बात असन्दिग्ध रूप में कही जा सकती है।

साधारण रूप से विचार करने पर तो इतना ही कहा जा सकता है कि रूप के मूलोक्त लक्षण में से 'मात्र' और 'विशेष' दोनों पदों को निकाल देने पर संयोग आदि सामान्य गुणों में उसकी अतिव्याप्ति होगी अतः इस दोष के परिहारार्थ लक्षण में उक्त पदों का सन्निवेश आवश्यक है। किन्तु ज्ञातव्य यह है कि उन पदों का सन्नि-वेश सर्वथा ऐच्छिक है क्योंकि उन पदों में से किसी एकमात्र का सन्निवेश करने से भी उक्त दोष का परिहार हो जाता है अतः दोनों के सहसन्निवेश की कोई आव-श्यकता नहीं है।

रूप पृथिवी, जल और तेज इन तीन द्रव्यों में रहता है। वह शुक्ल आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है। उसके सात भेद होते हैं—शुक्ल, नील, रक्त, पीत, हरित, कपिश और चित्र।

२. रसो रसनेन्द्रियग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिवीजलवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां मधुरादिषट्प्रकारो मधुर-अम्ल-लवण-कटु-कषाय-तिक्त-भेदात् पाकजश्च। अप्सु मधुरोऽपाकजो नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुभूतास्वप्सु। कार्यभूतास्वनित्यः।

पृथिवी का रूप पाकज होता है। पृथिवीपरमाणु के भी रूप का जन्म और नाश पाक से ही होता है। अतः वह सम्पूर्ण पृथिवी में अनित्य ही होता है। जन्य-जल और जन्य तेज का भी रूप अनित्य होता है किन्तु जल और तेज के परमाणुवों का रूप नित्य होता है। तेज का रूप शुक्ल, भास्वर—परप्रकाशक और अपाकज होता है। जल का रूप भी शुक्ल और अपाकज होता है किन्तु वह अभास्वर—पर का अप्रकाशक होता है।

२. रस—

रसनेन्द्रिय से प्रत्यक्ष किये जाने योग्य विशेष गुण को रस कहा जाता है। इसका लक्षण है 'रसनेन्द्रियग्राह्यविशेषगुणत्व'। इस लक्षण में से 'रसन' को निकाल देने पर बचेगा 'इन्द्रियग्राह्यविशेषगुणत्व' उतने मात्र को रस का लक्षण मानने पर रूप आदि गुणों में उसकी अतिव्याप्ति होगी। लक्षण में 'इन्द्रिय' पद का सन्निवेश केवल इस बात के सूचनार्थ किया गया है कि 'रसन इन्द्रिय होने के नाते रस का ग्राहक है लक्षण में इन्द्रियत्वरूप से उसके प्रवेश की कोई आवश्यकता नहीं है'। लक्षण में प्रविष्ट ग्राह्य शब्द का अर्थ है प्रत्यक्षयोग्य, न कि प्रत्यक्षविषय, क्यों कि प्रत्यक्षविषय अर्थ करने पर परमाणुगत रस के अतीन्द्रिय होने से उसमें अव्याप्ति होगी। प्रत्यक्षयोग्य अर्थ करने पर यह दोष न होगा क्यों कि परमाणुगत रस भी प्रत्यक्षयोग्य तो होता ही है प्रत्यक्षविषय तो केवल महदाश्रित न होने के नाते नहीं हो पाता।

इस लक्षण में भी यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'ग्राह्य' का 'प्रत्यक्षयोग्य' अर्थ करने पर 'रसनेन्द्रिय' के रस में लक्षण की अव्याप्ति होगी क्यों कि वह अनुद्भूत होने से प्रत्यक्षयोग्य नहीं होता, अतः 'रसनेन्द्रिय ग्राह्य' का अर्थ करना होगा 'रसनेन्द्रियग्राह्य जाति का आश्रय'। यह अर्थ करने पर रसनेन्द्रिय के रस में अव्याप्ति नहीं हो सकती क्यों कि वह भी रसनेन्द्रिय से ग्राह्य रसत्व जाति का आश्रय है।

इस पर प्रश्न यह हो सकता है कि 'रसनेन्द्रियग्राह्यत्व' का सामान्य अर्थ करने पर रसत्व आदि जाति तथा रसाभाव में भी उसके रहने से उनमें रसलक्षण की अतिव्याप्ति होगी, अतः उसके वारणार्थ लक्षण में गुणत्व या विशेषगुणत्व के सन्निवेश की सार्थकता हो सकती थी किन्तु जब उसका 'रसनेन्द्रियग्राह्य जाति का आश्रयत्व' अर्थ करना आवश्यक हो गया तब रसत्व आदि जाति तथा रसाभाव में अतिव्याप्ति की प्रसक्ति न होने से लक्षण में 'विशेषगुणत्व' के सन्निवेश की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है

३. गन्धः घ्राणग्राह्यो विशेषगुणः, पृथिवीमात्रवृत्तिः। अनित्य एव। स द्विविधः सुरभिः असुरभिश्च। जलादौ गन्धप्रतिभानं तु संयुक्तसमवायेन द्रष्टव्यम्।

४. स्पर्शः त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो विशेषगुणः पृथिव्यादिचतुष्टयवृत्तिः। स च त्रिविधः शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात्। शीतः पयसि। उष्णः तेजसि।

कि रसनेन्द्रिय से ग्राह्य जाति जैसे रसत्व तथा उसकी अवान्तर मधुरत्व आदि जातियां हैं उसी प्रकार गुणत्व और सत्ता जाति भी है और उनमें गुणत्व सभी गुणों में तथा सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में रहती है, अतः रस से भिन्न सभी गुणों एवं द्रव्य तथा कर्म में अतिव्याप्ति होगी, उसके वारणार्थ रसके लक्षण में विशेषगुणत्व का सन्निवेश आवश्यक है, यदि यह कहा जाय कि विशेषगुणत्व का सन्निवेश करने पर भी रसनेन्द्रियग्राह्य गुणत्व और सत्ता जाति को लेकर शब्द, बुद्धि आदि विशेष गुणों में फिर भी अतिव्याप्ति होगी, तो यह ठीक नहीं है, क्यों कि रसनेन्द्रियग्राह्य जाति में 'विशेषगुण से भिन्न में अवृत्तित्व' विशेषण देने से गुणत्व और सत्ता की व्यावृत्त हो जाने से उन्हें लेकर अतिव्याप्ति होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि रस के मूलोक्त लक्षण में 'विशेष गुण' का उल्लेख करके यह सूचना दी गई है कि 'विशेष गुण से भिन्न में न रहने वाली रसनेन्द्रिय से ग्राह्य जाति ही' रस का लक्षण है। वह जाति है रसत्व, वह सम्पूर्ण रसों में रहती है और रस से भिन्न में नहीं रहती, अतः उसे रस का लक्षण मानने में कोई दोष नहीं है।

रस पृथिवी और जल में रहता है। पृथिवी का रस मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त के भेद से छः प्रकार का होता है और पाकज होता है। जल में केवल मधुर रस रहता है और वह अपाकज होता है तथा नित्य-अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है। जल के परमाणु का रस नित्य और परमाणु से भिन्न समस्त जन्य जल का रस अनित्य होता है।

३. गन्ध—

घ्राण से ग्राह्य विशेष गुण का नाम है गन्ध। इसका लक्षण है 'घ्राणग्राह्यविशेषगुणत्व'। इसका अर्थ है 'विशेषगुण से भिन्न में न रहने वाली घ्राण से प्रत्यक्ष होने योग्य जाति'। ऐसी जाति है गन्धत्व। वह समस्त गन्ध में रहने और गन्ध से भिन्न में न रहने से गन्ध का लक्षण है। गन्ध केवल पृथिवी में ही रहता है और अनित्य ही होता है। उसके दो भेद होते हैं सुरभि—सुगन्ध तथा असुरभि—दुर्गन्ध। जल आदि में कभी कभी गन्ध का अनुभव होता है किन्तु वह जल का अपना गन्ध नहीं होता, क्यों कि जल निसर्गतः निर्गन्ध होता है, अपितु वह जल से संयुक्त पार्थिव भाग का होता है।

अनुष्णाशीतः पृथिवीवाय्वोः। पृथिवीमात्रे ह्यनित्यः। आप्य-तैजस-वायवीय-परमाणुषु नित्यः। आप्यादिकार्येष्वनित्यः। एते च रूपादयश्चत्वारो महत्त्वैकार्थ-समवेतत्वे सत्युद्भूता एव प्रत्यक्षाः।

४. स्पर्श—

त्वक्-स्पर्शन से ग्राह्य विशेष गुण का नाम है स्पर्श। इसका लक्षण है— त्वगिन्द्रिय-ग्राह्यविशेषगुणत्व। किन्तु इस यथाश्रुत को स्पर्श का लक्षण नहीं माना जा सकता, क्यों कि इसमें 'ग्राह्य' शब्द का 'प्रत्यक्षविषय' अर्थ करने पर परमाणुगत अतीन्द्रिय स्पर्श में अव्याप्ति होगी और 'प्रत्यक्षयोग्य' अर्थ करने पर त्वक् के अनुद्भूत स्पर्श में अव्याप्ति होगी। अतः 'त्वगिन्द्रियग्राह्य' का अर्थ करना होगा 'त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने योग्य जाति का आश्रय'। ऐसी जाति है स्पर्शत्व। वह परमाणु और त्वक् दोनों के स्पर्श में रहती है। अतः उक्त अर्थ करने पर उनमें अव्याप्ति नहीं हो सकती। किन्तु फिर भी यह लक्षण निर्दोष नहीं हो सकता क्यों कि त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य गुणत्व और सत्ता जाति को लेकर स्पर्श से भिन्न सभी गुणों में तथा द्रव्य एवं कर्म में अतिव्याप्ति हो जायगी, अतः उक्त जाति में 'विशेषगुणभिन्नावृत्तित्व' का निवेश कर 'विशेष गुण से भिन्न में न रहने वाली त्वगिन्द्रिय ग्राह्य जाति' को स्पर्श का लक्षण मानना आवश्यक है। इस लक्षण के लाभार्थ ही मूलोक्त स्पर्शलक्षण में विशेष गुण का सन्निवेश किया गया है।

स्पर्श पृथिवी, जल, तेज, और वायु इन चार द्रव्यों में रहता है। वह शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत के भेद से तीन प्रकार का होता है। शीत स्पर्श जल में, उष्ण स्पर्श तेज में और अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवी तथा वायु में रहता है। सम्पूर्ण पृथिवी का स्पर्श पाकज और अनित्य होता है। जल, तेज और वायु के परमाणुवों का स्पर्श नित्य तथा कार्यभूत जल, तेज और वायु का स्पर्श अनित्य होता है।

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, इन चारों में जो महत्त्व के साथ एक पदार्थ में समवेत होते हैं अर्थात् जो महान् आश्रय में विद्यमान होते हैं तथा उद्भूत होते हैं उन्हीं का प्रत्यक्ष होता है। परमाणु और द्व्यणुक के रूप आदि गुण महदाश्रित न होने से प्रत्यक्ष नहीं होते। इन्द्रियगत रूप आदि गुण महदाश्रित होने पर भी उद्भूत न होने से प्रत्यक्ष नहीं होते।

प्रश्न होता है कि 'उद्भूत' का अर्थ क्या है? उत्तर यह है कि शुक्लत्व आदि जातियों की व्याप्य अनेक अनुद्भूतत्व जातियां हैं, यह जातियां जिन रूप आदि गुणों में रहती हैं वे गुण अतीन्द्रिय होते हैं और जिन रूप आदि गुणों में इन सम्पूर्ण जातियों का अभाव होता है वे गुण उद्भूत कहे जाते हैं, वे रूप इन्द्रियग्राह्य होते हैं।

५. संख्या एकत्वादिव्यवहारहेतुः सामान्यगुणः। एकत्वादिपरार्धपर्यन्ता। तत्रैकत्वं द्विविधं नित्यानित्यभेदात्। नित्यगतं नित्यम्। अनित्यगतमनित्यं स्वाश्रयसमवायिकारणगतैकत्वजन्यं च। द्वित्वं चाऽनित्यमेव। तच्च द्वयोः पिण्डयोः 'इदमेकम्, इदमेकम्' इत्यपेक्षाबुद्धया जन्यते। तत्र द्वौ पिण्डौ समवायिकारणे। पिण्डयोरेकत्वे असमवायिकारणे। अपेक्षाबुद्धिः निमित्तकारणम्। अपेक्षाबुद्धिनाशादेव द्वित्वविनाशः। एवं त्रित्वाद्युत्पत्तिर्विज्ञेया।

५. संख्या—

एक, दो, तीन आदि के व्यवहार का हेतुभूत जो सामान्यगुण है उसे संख्या कहा जाता है। बात यह है कि जिसमें एकत्व संखया होती है उसे 'एक' शब्द से, जिसमें द्वित्व संखया होती है उसे 'दो' शब्द से, जिसमें त्रित्व संखया होती है उसे 'तीन' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। इसी प्रकार ऊपर की अन्य संखयावों के विषय में भी समझना चाहिये। तो उक्त रीति से 'यह एक है', 'ये दो हैं', 'ये तीन हैं, इस प्रकार के व्यवहार का हेतु है एकत्व, द्वित्व और त्रित्व। और वह द्रव्य, कर्म आदि में अन्तर्भूत न होकर गुण है, गुण में भी किसी द्रव्य का विशेष गुण न होकर सभी द्रव्यों का सामान्य गुण हैं। अतः संखया के उक्त लक्षणानुसार वे सब संखयानामक सामान्य गुण हैं।

संखया के इस प्रस्तुत लक्षण में से 'एकत्वादिव्यवहार' अंश को निकाल कर केवल 'हेतुः सामान्यगुणः' मात्र को, अथवा एकत्वादि को निकाल कर 'व्यवहारहेतुः सामान्यगुणः' मात्र को संखया का लक्षण मानने पर संयोग, विभाग आदि अन्य सामान्य गुणों में भी अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वे भी 'संयुक्त, विभक्त' आदि व्यवहार के हेतुभूत सामान्यगुण हैं। अतः लक्षण में 'एकत्वादिव्यवहार' अंश का सन्निवेश आवश्यक है। यदि उक्त लक्षण में से 'सामान्यगुणः' अंश को निकाल दिया जायगा तो एकत्वादिव्यवहार के हेतु काल आदि में तथा एकत्वादिव्यवहार के हेतु एकत्वादिज्ञान में अतिव्याप्ति होगी, अतः उसके परिहारार्थ लक्षण में उस अंश का भी सन्निवेश आवश्यक है।

संखया एकत्व से लेकर परार्द्ध पर्यन्त होती है। सबसे छोटी संखया का नाम है एकत्व और सबसे बड़ी संखया का नाम है परार्ध। इन दोनों के बीच अनेक संखयायें हैं जैसे दो, तीन, चार आदि तथा शत, सहस्र, लक्ष, कोटि आदि। उन सभी संखयावों में एकत्व संखया नित्य–अनित्यभेद से दो प्रकार की होती है, नित्यद्रव्य में रहने वाली एकत्व संखया नित्य होती है तथा अनित्य द्रव्य में रहने वाली एकत्वसंखया अनित्य होती है। अनित्य एकत्व की उत्पत्ति उसके आश्रय के समवायिकारण में रहने वाली एकत्व संखया से होती है, जैसे घटगत एकत्व अपने आश्रय घट के समवायिकारण कपाल में

विद्यमान एकत्व से उत्पन्न होता है। कहने का आशय यह है कि कपालद्वय में रहने वाला एकत्वद्वय कपालद्वय से उत्पन्न होने वाले घट के एकत्व का असमवायिकारण होता है, इसी प्रकार अन्य सभी अनित्य एकत्वों के विषय में समझना चाहिये।

द्वित्व आदि सभी संख्यायें अनित्य ही होती हैं। द्वित्व संख्या की उत्पत्ति 'दो' द्रव्यों में 'इदमेकम्, इदमेकम्—यह एक है, यह एक है' इस अपेक्षा बुद्धि से होती है। (दो) द्रव्य द्वित्व के समवायिकारण होते हैं, (दो) द्रव्यों के दो एकत्व उसके असमवायिकारण होते हैं और दो एकत्व की अपेक्षाबुद्धि उसका निमित्तकारण होती है। अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश होता है। इसी प्रकार त्रित्व आदि संख्यावों की उत्पत्ति के विषय में भी समझना चाहिये।

यहाँ द्वित्व के जन्म और विनाश के सम्बन्ध में संक्षिप्त चर्चा की गई है किन्तु इस विषय में कुछ थोड़ी-सी और जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है, क्यों कि द्वित्व वैशेषिक दर्शन के मुख्य प्रतिपाद्य विषयों में से एक है, और उसका ज्ञान वैशेषिक शास्त्र के पाण्डित्य की एक कसौटी है, जैसा कि सर्वदर्शनसंग्रह, १, २ में कहा गया है—

> द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
> यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः॥

द्वित्व, पाकज गुण और विभागज विभाग के विषय में जिसकी बुद्धि का स्खलन नहीं होता, जो इन तीनों विषयों को ठीक ढंग से जानता है, विद्वज्जन उसे ही वैशेषिक दर्शन का ज्ञाता मानते हैं।

द्वित्व का जन्म, प्रत्यक्ष और विनाश--

जिन द्रव्यों में द्वित्व का जन्म होने को होता है, सर्वप्रथम उन द्रव्यों तथा उन द्रव्यों में विद्यमान एकत्व संख्या एवं उस संख्या में वर्तमान एकत्वत्व सामान्य के साथ मनुष्य के चक्षु अथवा त्वक् का सन्निकर्ष होता है। द्रव्य के साथ संयोग, एकत्व के साथ संयुक्तसमवाय और एकत्वत्व के साथ संयुक्तसमवेतसमवाय; यह तीनों सन्निकर्ष एक ही क्षण में उत्पन्न होते हैं। प्रथम क्षण की इस घटना को 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' शब्द से अभिहित किया जाता है।

दूसरे क्षण में द्रव्य, एकत्व और एकत्वत्व इन तीनों का निर्विकल्पक ज्ञान होता है, इस ज्ञान का उल्लेख संक्षेप से 'एकत्वसामान्यज्ञान' शब्द से किया जाता है।

तीसरे क्षण में उन द्रव्यों में एकत्व के सविकल्पक ज्ञान का उदय होता है जिसे 'इदमेकं द्रव्यम्, इदमेकं द्रव्यम्' इस रूप में व्यवहृत किया जाता है। एकत्व अपने आश्रय द्रव्य में द्वित्व को उत्पन्न करने के लिये इस ज्ञान की अपेक्षा करता है। इस

लिये 'द्वित्व के उत्पादनार्थ अपेक्षणीय ज्ञान' इस अर्थ में इस ज्ञान को अपेक्षाज्ञान अथवा अपेक्षाबुद्धि कहा जाता है। यह ज्ञान अपने विशेष्यभूत द्रव्य में द्वित्व के जन्म का निमित्त होता है। इस क्षण में द्वित्व के जन्म की पूरी सामग्री सन्निहित हो जाती है क्यों कि द्वित्व के समवायिकरणभूत द्रव्य और असमवायिकरणभूत द्रव्यगत एकत्व-द्वय, यह तो पहले से ही सन्निहित रहते हैं। तीसरा निमित्तकारण है अपेक्षाज्ञान अर्थात् उन द्रव्यों में एकत्वद्वय का ज्ञान। सो वह भी उक्त रीति से इस क्षण में सन्निहित हो जाता है। इस प्रकार द्वित्व के समवायिकारण (दो) द्रव्य, असमवायिकरण (दो) एकत्व और निमित्तकारण अपेक्षाज्ञान—(दो) द्रव्यों में (दो) एकत्वों का ज्ञान, इन तीनों का सन्निधान हो जाने से द्वित्व को उत्पन्न करने वाली पूरी सामग्री का सन्निधान इस क्षण में सम्पन्न हो जाता है।

चौथे क्षण में द्वित्व का जन्म, (दूसरे क्षण में उत्पन्न हुये) एकत्वसामान्यज्ञान का नाश तथा द्वित्वसामान्यज्ञान की उत्पद्यमानता—द्वित्व और द्वित्वत्व के निर्विकल्पक ज्ञान के उत्पादक 'द्वित्व और द्वित्वत्व के साथ इन्द्रियसन्निकर्षरूप' सामग्री का सन्निधान, यह तीन बातें एक साथ घटित होती हैं।

पांचवें क्षण में द्वित्वसामान्यज्ञान—द्वित्व और द्वित्वत्व का निर्विकल्पक ज्ञान, (तीसरे क्षण में उत्पन्न हुए) अपेक्षाज्ञान के विनाशसामग्री का सन्निधान तथा द्वित्व के सविकल्पक ज्ञान की सामग्री का सन्निधान, यह तीन बातें घटित होती हैं।

छठें क्षण में द्वित्व के सविकल्पकज्ञान का जन्म, (तीसरे क्षण में उत्पन्न) अपेक्षाबुद्धि का नाश, तथा 'इमे द्वे–द्रव्य में द्वित्वज्ञान' को उत्पन्न करने वाली सामग्री का सन्निधान, यह तीन बातें एक साथ घटित होती हैं।

सातवें क्षण में 'इमे द्वे–द्रव्य में द्वित्वज्ञान' का जन्म, द्वित्व का नाश, द्वित्व के सविकल्पकज्ञान के नाशक सामग्री का सन्निधान, यह तीन बातें एक साथ घटित होती हैं।

आठवें क्षण में 'इमे द्वे' इस ज्ञान से संस्कार का जन्म, द्वित्व के सविकल्पक ज्ञान का नाश तथा 'इमे द्वे' इस ज्ञान के विनाशक सामग्री का सन्निधान, यह तीन बातें एक साथ घटित होती हैं।

नवें क्षण में उक्त संस्कार से 'इमे द्वे' इस ज्ञान का विनाश होता है।

इस प्रकार द्वित्व का जन्म, द्वित्व का नाश, द्रव्य में द्वित्व का प्रत्यक्ष और उसका नाश यह चार मुख्य बातें ९ क्षणों में सम्पन्न होती हैं।

इस सन्दर्भ में निम्न बातें विशेष रूप से ज्ञातव्य हैं ।

उत्पाद्य	उत्पादक
एकत्वसामान्यज्ञान (एकत्व और एकत्वत्व का निर्विकल्पक)	इन्द्रियसन्निकर्ष (एकत्व और एकत्वत्व के साथ)
'इदमेकम्, इदमेकम्' इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि	एकत्वसामान्यज्ञान
द्वित्व	अपेक्षाबुद्धि
द्वित्वसामान्यज्ञान (द्वित्व और द्वित्वत्व का निर्विकल्पक)	इन्द्रियसन्निकर्ष (द्वित्व और द्वित्वत्व के साथ)
द्वित्व का सविकल्पक प्रत्यक्ष	द्वित्व का सामान्यज्ञान
द्रव्य में द्वित्व का 'इमे द्वे' इत्याकारक प्रत्यक्ष	द्वित्व का सविकल्पक प्रत्यक्ष
संस्कार	द्रव्य में द्वित्व का 'इमे द्वे' इत्याकारक प्रत्यक्ष

नाश्य	नाशक
एकत्वसामान्यज्ञान	अपेक्षाबुद्धि
अपेक्षाबुद्धि	द्वित्वसामान्यज्ञान
द्वित्वसामान्यज्ञान	द्वित्व का सविकल्पक प्रत्यक्ष
द्वित्व	अपेक्षाबुद्धि का नाश
द्वित्व का सविकल्पक प्रत्यक्ष	द्रव्य में द्वित्व का प्रत्यक्ष
द्रव्य में द्वित्व का प्रत्यक्ष	संस्कार (द्रव्य में द्वित्व के प्रत्यक्ष से उत्पन्न)

आश्रयनाश से द्वित्व का नाश—

अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश होता है, यह बात अभी बताई गई है, पर कभी कभी द्वित्व का नाश अपेक्षाबुद्धि के नाश से न होकर द्वित्व के आश्रयभूत द्रव्य के नाश से होता है। जैसे—

पहले क्षण में एकत्वसामान्यज्ञान और एकत्व के आश्रयभूत घट के अवयव कपाल में कर्म –इन दोनों का जन्म। दूसरे क्षण में अपेक्षाबुद्धि और घट के एक अवयव का उसके दूसरे अवयव के साथ विभाग–इन दोनों का जन्म। तीसरे क्षण में द्वित्व और घटोत्पादक अवयवसंयोग का नाश–इन दोनों का जन्म। चौथे क्षण में द्वित्वसामान्यज्ञान और घटात्मक आश्रय का नाश—इन दोनों का जन्म। पाँचवे क्षण में अपेक्षाबुद्धि का नाश और द्वित्व का नाश–इन दोनों का जन्म।

इस प्रक्रिया में पाँचवे क्षण में अपेक्षाबुद्धिनाश और द्वित्वनाश–इन दोनों का एक साथ जन्म होने से द्वित्वनाश को अपेक्षाबुद्धिनाश का कार्य नहीं माना जा सकता। अतः

इस प्रक्रिया से जो द्वित्वनाश होता है वह द्वित्व के आश्रयभूत घट के नाश का ही कार्य हो सकता है।

अपेक्षाबुद्धि और आश्रय दोनों के नाश से द्वित्व का नाश—

कभी कभी द्वित्व का नाश न केवल अपेक्षाबुद्धि के नाश से उत्पन्न होता है और न केवल आश्रय के नाश से उत्पन्न होता है अपि तु दोनों के नाश से उत्पन्न होता है। जैसे—

जब अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति के समय एकत्वाश्रय घट के अवयव कपाल में कर्म की उत्पत्ति होती है तब उसके दूसरे क्षण में द्वित्व और घट के अवयवों का परस्पर विभाग—इन दोनों का एक साथ जन्म होता है। उसके तीसरे क्षण में द्वित्वसामान्यज्ञान, द्वित्व गुण का प्रत्यक्ष और घटारम्भक अवयवसंयोग का नाश—इन तीनों का जन्म एक साथ होता है। उसके बाद चौथे क्षण में अपेक्षाबुद्धि का नाश, घट का नाश और 'इमे द्वे' इत्याकारक द्रव्य में द्वित्व का प्रत्यक्षात्मकज्ञान—इन तीनों का जन्म एक साथ होता है। इस क्षण में द्वित्व के उत्पादक अपेक्षाबुद्धि का नाश और द्वित्व के आश्रय घट का नाश–यह दोनों एक साथ सन्निहित होते हैं। इन दोनों में यह विनिगमना—एकतरपक्षपातिनी युक्ति नहीं है कि इनमें कौन द्वित्वका नाशक हो और कौन न हो, अतः अगत्या दोनों को ही द्वित्व का नाशक मानना पड़ता है, अतः इस क्षण के अग्रिमक्षण में—अपेक्षाबुद्धिजन्म के पाँचवे क्षण में जो द्वित्वनाश उत्पन्न होता है वह अपेक्षाबुद्धिनाश और आश्रयनाश दोनों से जन्य होता है।

नाश्य और नाशक में द्विविध विरोध—

नाश्य और नाशक में दो प्रकार के विरोध माने जाते हैं—एक सहानवस्थान दूसरा वध्यघातकभाव। सहानवस्थान का अर्थ है—एक साथ अवस्थित न होना। नाश्य और नाशक में इस प्रकार का विरोध स्वीकार करने पर नाश्य और नाशक दोनों को किसी एक क्षण में अवस्थित नहीं माना जा सकता। अतः इस मत में नाशक के सन्निधानक्षण में ही नाश्य पदार्थ का नाश हो जाता है। वध्यघातकभाव का अर्थ है—घातक से वध्य का नाश होना। नाश्य और नाशक के बीच इस प्रकार का विरोध मानने पर पहले क्षण में घातक का सन्निघान होता है और दूसरे क्षण में वध्य का नाश होता है। इस मत में घातक के सन्निधानक्षण में नाश्य और नाशक दोनों का सह अवस्थान होता है अतः घातक के दूसरे क्षण में घातक द्वारा नाश्य पदार्थ के नाश की उत्पत्ति होती है। किन्तु पहले प्रकार के विरोध में घातक को वध्य की प्राप्ति न होने से घातकद्वारा नाश्य पदार्थ के नाश की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। ये दोनों

प्रकार के विरोध जिन में सम्भव नहीं होते उनमें नाश्य-नाशकभाव नहीं माना जा सकता ।

प्रस्तुत विषय में प्रश्न यह उठता है कि अपेक्षाबुद्धि और द्वित्वसामान्यज्ञान में जो नाश्यनाशकभाव स्वीकार्य है वह उन दोनों में सहानवस्थानरूप विरोध को मान कर या वध्यघातकभावरूप विरोध को मानकर ? विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों विरोधों में कोई भी विरोध उन दोनों में मान्य नहीं हो सकता, क्यों कि यदि दोनों में सहानवस्थान माना जायगा तब द्वित्वसामान्यज्ञान की उत्पत्ति के समय ही अपेक्षाबुद्धि का नाश हो जायगा और उसके अगले क्षण में द्वित्व का नाश हो जायगा। इसका परिणाम यह होगा कि उस क्षण में द्वित्व का सविकल्पक प्रत्यक्ष न हो सकेगा, क्योंकि लौकिक प्रत्यक्ष में विषय कार्यसहभावेन कारण होता है । अतः लौकिक प्रत्यक्षरूप कार्य की उत्पत्ति के समय विषयरूप कारण का अस्तित्व अपेक्षित होता है किन्तु प्रकृत में द्वित्वसामान्यज्ञान के अगले क्षण में, जब द्वित्व का प्रत्यक्ष होता है, द्वित्वरूप विषय नहीं रहता । और जब द्वित्व का सविकल्पक प्रत्यक्ष न होगा तब 'इमे द्वे' इत्याकारक द्रव्य में द्वित्व का प्रत्यक्ष न हो सकेगा । इस प्रकार द्रव्य में द्वित्व के सर्वजन-सिद्ध प्रत्यक्षानुभव का लोप हो जायगा ।

इसी प्रकार इन दोनों में वध्यघातकभावरूप विरोध भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह विरोध तभी सम्भव है जब घातक को वध्य की प्राप्ति हो, घातक के सन्निधानलक्षण में वध्य का अस्तित्व हो, किन्तु प्रकृत में द्वित्वसामान्यज्ञान-रूप घातक को अपेक्षाबुद्धिरूप वध्य प्राप्य नहीं है, क्योंकि अपेक्षाबुद्धि के द्वितीयक्षण में उससे द्वित्व तथा अनेक-एकत्व-विषयक संस्कार-इन दोनों का एक साथ जन्म होता है और उसके अगले क्षण में जब द्वित्वसामान्यज्ञान की उत्पत्ति होती है उसी समय संस्कार से अपेक्षा-बुद्धि का नाश भी उत्पन्न हो जाता है । इस प्रकार द्वित्वसामान्यज्ञान की उत्पत्ति के समय ही अपेक्षाबुद्धि का नाश हो जाने से द्वित्वसामान्यज्ञान को अपेक्षाबुद्धि की प्राप्ति न होने से द्वित्वसामान्यज्ञान को घातक और अपेक्षाबुद्धि को वध्य नहीं माना जा सकता ।

यदि यह कहा जाय कि अपेक्षाबुद्धि और द्वित्वसामान्यज्ञान में यदि वध्यघातकभाव नहीं बनता तो उन दोनों में वध्यघातकभाव न माना जाय किन्तु अपेक्षाबुद्धि और तज्जन्य संस्कार में तो वध्यघातकभाव बन सकता है । फिर इन्हीं दोनों में वध्यघातक-भाव माना जाय, क्या हानि है ? तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अपेक्षाबुद्धि और तज्जन्य संस्कार में वध्यघातकभाव मानने पर द्वित्वसामान्यज्ञान की उत्पत्ति के समय ही अपेक्षाबुद्धि का नाश हो जाने से अगले क्षणों में द्वित्व का अभाव होने से द्वित्वप्रत्यक्ष तथा द्रव्य में द्वित्व के प्रत्यक्षात्मक अनुभव की उत्पत्ति न हो सकेगी ।

इस प्रकार अपेक्षाबुद्धि और द्वित्वसामान्यज्ञान में यदि सहानवस्थानरूप-विरोध-मूलक नाश्यनाशकभाव माना जाय अथवा अपेक्षाबुद्धि और तज्जन्य संस्कार में वध्यघातकभावरूप–विरोध–मूलक नाश्यनाशकभाव माना जाय, दोनों ही स्थिति में द्वित्व के सविकल्पक प्रत्यक्ष और द्रव्य में द्वित्व के प्रत्यक्षात्मक अनुभव की उपपत्ति नहीं हो सकती।

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि अपेक्षाबुद्धि और द्वित्वसामान्यज्ञान के बीच सहानवस्थान तथा वध्यघातकभाव दोनों प्रकार के विरोध के आधार पर नाश्यनाशकभाव माना जा सकता है। सहानवस्थानरूप विरोध मानने पर द्वित्वसामान्यज्ञान की उत्पत्ति के समय ही अपेक्षाबुद्धि का नाश हो जाने से अग्रिमक्षण में द्वित्व का नाश हो जाने के कारण द्वित्वप्रत्यक्ष तथा द्रव्य में द्वित्व के प्रत्यक्षात्मक अनुभव की जो अनुपपत्ति बताई गई है वह नहीं हो सकती, क्योंकि द्वित्व, द्वित्वसामान्यज्ञान, द्वित्व-प्रत्यक्ष तथा द्रव्य में द्वित्व का प्रत्यक्षात्मक अनुभव इन चारों की आशु–अविलम्ब उत्पत्ति होने से उक्त अनुपपत्ति की प्रसक्ति नहीं हो सकती। कहने का आशय यह है कि जैसे—शब्द, शब्दसामान्यज्ञान, शब्द का सविकल्पक प्रत्यक्ष तथा आकाश द्रव्य में शब्द का 'शब्दवद् आकाशम्' इस प्रकार का अनुभव इन चारों की अविलम्ब उत्पत्ति होने से शब्द के क्षणिक होने पर—तीसरे क्षण नष्ट होने पर भी 'शब्दवद् आकाशम्' इस अनुभव के होने में कोई बाधा नहीं होती, उसी प्रकार तीसरे क्षण द्वित्व का नाश होने पर भी द्रव्य में 'इमे द्वे' इस प्रकार द्वित्व का अनुभव होने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

यदि यह कहा जाय कि 'शब्दवद् आकाशम्' इस दृष्टान्तभूत अनुभव के सम्बन्ध में भी यही आपत्ति है कि शब्द जब तीसरे क्षण नष्ट हो जाता है तब उस क्षण उसका प्रत्यक्ष तथा उसके अगले क्षण 'शब्दवद् आकाशम्' यह अनुभव नहीं हो सकता, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि लौकिक प्रत्यक्ष में विषय को यदि कार्यसहभावेन कारण न मानकर कार्यपूर्ववृत्तितया कारण मान लिया जाय तब प्रत्यक्ष की उत्पत्ति के समय विषय का अस्तित्व अपेक्षित न होगा किन्तु प्रत्यक्ष के पूर्व क्षण में ही उसका अस्तित्व अपेक्षित होगा, फलतः शब्द के दो क्षण तक स्थिर होने से तीसरे क्षण उसका प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा न होगी और जब तीसरे क्षण वह प्रत्यक्ष का विषय बन जायगा तब चौथे क्षण 'शब्दवद् आकाशम्' इस रूप में आकाश में जो उसका अनुभव होता है, उसे अलौकिकप्रत्यक्षरूप मान लेने पर उसकी भी उपपत्ति हो जायगी। हाँ, यदि उक्त चारों की अविलम्ब उत्पत्ति न होती तो 'शब्दवद् आकाशम्' यह दृष्टान्तभूत अनुभव भी अवश्य अनुपपत्तिग्रस्त हो जाता, क्योंकि उस स्थिति में पूर्वक्षण में शब्द का अस्तित्व न होने पर शब्द का प्रत्यक्ष न होता और यदि शब्द का प्रत्यक्ष न होता तो अपेक्षणीय हेतु के अभाव में 'शब्दवद् आकाशम्' इस अलौकिक प्रत्यक्ष का भी जन्म न होता।

उक्तरीति से 'शब्दवद् आकाशम्' इस अनुभव के समान 'इमे द्वे' इत्याकारक द्रव्य में द्वित्व के प्रत्यक्षात्मक अनुभव की उपपत्ति में भी कोई बाधा नहीं हो सकती, क्यों कि प्रथमक्षण में द्वित्व की उत्पत्ति, द्वितीयक्षण में द्वित्वसामान्यज्ञान की उत्पत्ति और उस क्षण में द्वित्वात्मक विषय के रहने से तीसरे क्षण में द्वित्व के सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति तथा उस क्षण में सम्पन्न द्वित्वप्रत्यक्षात्मक ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से चौथे क्षण में द्रव्य में द्वित्व के अलौकिक प्रत्यक्षात्मक अनुभव की उत्पत्ति में कोई अड़चन दृष्टिगत नहीं होता।

उक्तरीति से अपेक्षाबुद्धि और द्वित्वसामान्यज्ञान में सहानवस्थानरूप विरोध को मानकर जिस प्रकार नाश्यनाशकभाव तथा द्वित्वप्रत्यक्ष एवं द्रव्य में द्वित्वानुभव की उपपत्ति की जाती है उसी प्रकार उन दोनों में वध्यघातकभावरूप विरोध को भी मान कर उनमें नाश्यनाशकभाव, द्वित्वप्रत्यक्ष तथा द्रव्य में द्वित्वानुभव का समर्थन किया जा सकता है। अपेक्षाबुद्धि और द्वित्वसामान्यज्ञान, इन दोनों के बीच वध्यघातकभाव मानने में जो यह बाधा बताई गई थी कि अपेक्षाबुद्धिजन्य संस्कार से द्वित्वसामान्यज्ञान की उत्पत्ति के समय ही अपेक्षाबुद्धि का नाश हो जाने से द्वित्वसामान्यज्ञान को अपेक्षाबुद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती, वह ठीक नहीं है, क्यों कि समूहज्ञान—स्मरणप्रयोजक ज्ञान से ही संस्कार का जन्म युक्तिसम्मत है और अपेक्षाबुद्धि से स्मरणका होना प्रामाणिक नहीं है, अतः उससे संस्कार की उत्पत्ति होने में तथा उसके और द्वित्वसामान्यज्ञान के बीच के समय उसके आश्रयभूत आत्मा में किसी अन्य भी विरोधी गुण का जन्म होने में कोई प्रमाण न होने से द्वित्वसामान्यज्ञान की उत्पत्ति के समय अपेक्षाबुद्धि का नाश नहीं माना जा सकता, अतः द्वित्वसामान्यज्ञान की उत्पत्ति के समय तक अपेक्षाबुद्धि के स्थिर रहने से द्वित्वसामान्यज्ञान को घातक और अपेक्षाबुद्धि को उसका वध्य मानने में कोई अड़चन नहीं है।

पूरे सन्दर्भ का निष्कर्ष यह है कि अपेक्षाबुद्धि और द्वित्वसामान्यज्ञान में यदि सहानवस्थानरूप विरोध मान्य होगा तब लौकिक प्रत्यक्ष में विषय को यदि कार्यसहभावेन कारण माना जायगा तब द्वित्वप्रत्यक्ष और द्रव्य में द्वित्वानुभव दोनों अलौकिक होंगे।

यदि उक्त दोनों में वध्यघातकभावरूप विरोध माना जायगा तब अपेक्षाबुद्धि का नाश द्वित्वसामान्यज्ञान के अगले क्षण में होगा और द्वित्व का नाश उससे भी आगे होगा। अतः लौकिक प्रत्यक्ष में विषय को कार्यसहभावेन कारण मानने पर भी द्वित्व के प्रत्यक्ष के समय द्वित्व के विद्यमान रहने से द्वित्व का प्रत्यक्ष लौकिक तथा द्रव्य में द्वित्व का प्रत्यक्ष अलौकिक होगा और यदि लौकिक प्रत्यक्ष में विषयको कार्यसहभावेन कारण न मान कर कार्यपूर्ववर्तितया कारण माना जायगा तब द्रव्य में द्वित्व का प्रत्यक्ष भी लौकिक होगा।

६. परिमाणं मानव्यवहारासाधारणं कारणम्। तच्चतुर्विधम्। अणु, महद्, दीर्घं ह्रस्वं चेति। तत्र कार्यगतं परिमाणं संख्यापरिमाणप्रचययोनि। तद्यथा द्व्यणुकपरिमाणमीश्वरापेक्षाबुद्धिजन्यपरमाणुद्वित्वजनितत्वात् संख्यायोनि, संख्याकारणकमित्यर्थः। त्र्यणुकपरिमाणं च स्वाश्रयसमवायिकारणगतबहुत्व-संख्यायोनि। चतुरणुकादिपरिमाणं तु स्वाश्रयसमवायिकारणपरिमाणजन्यम्। तूलपिण्डपरिमाणं तु स्वाश्रयसमवायिकारणावयवानां प्रशिथिलसंयोगजन्यम्। परमाणुपरिमाणं, परममहत्परिमाणं चाकाशादिगतं नित्यमेव।

६. परिमाण—परिमीयतेऽनेनेति परिमाणम्। परिमाणशब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार कोई द्रव्य जिससे नापा जाय वह परिमाण है। इसी तथ्य पर परिमाण का यह लक्षण किया जाता है कि 'यह छोटा है, यह लम्बा है, यह चौड़ा है' द्रव्य में इस प्रकार के माप का व्यवहार जिस असाधारण कारण से सम्पन्न होता है उसे परिमाण कहा जाता है। उसके चार भेद हैं—अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व। कार्य द्रव्य में रहने वाले ये चारों परिमाण तीन प्रकार के होते हैं—संख्यायोनि, परिमाणयोनि और प्रचययोनि।

संख्यायोनि का अर्थ है—संख्याकारणक, जो संख्या से उत्पन्न हो। जैसे—द्व्यणुक का अणु परिमाण परमाणु में रहने वाली उस द्वित्वसंख्या से उत्पन्न होता है जो (दो) परमाणुवों में (दो) एकत्व को ग्रहण करने वाली ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार त्र्यणुक का महत् परिमाण ईश्वरकी अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होने वाली द्व्यणुक की बहुत्वसंख्या से उत्पन्न होता है।

परिमाणयोनि का अर्थ है—परिमाणकारणक, जो परिमाण से उत्पन्न हो। जैसे चतुरणुक आदि का महत् परिमाण अपने आश्रय चतुरणुक आदि के समवायिकारण त्र्यणुक आदि के महत् परिमाण से उत्पन्न होता है।

प्रचययोनि का अर्थ है—प्रचयकारणक, जो प्रचय—अवयवों के शिथिल संयोग से उत्पन्न हो। जैसे—धुनी हुई रुई का महत् परिमाण अपने आश्रय धुनी रुई के अवयवों के शिथिलसंयोग से उत्पन्न होता है।

परमाणुवों का अणुपरिमाण और आकाश आदि विभुद्रव्यों का महत् परिमाण नित्य होता है, न उसकी उत्पत्ति होती है और न उसका नाश होता है।

परमाणुवों के अणुपरिमाण को परम अणु तथा आकाश आदि के महत् परिमाण को परम महत् कहा जाता है।

द्व्यणुक के अणुपरिमाण और त्र्यणुक के महत् परिमाण के विषय में यह प्रश्न होता है कि इन्हें क्रम से परमाणु और द्व्यणुक के परिमाण से उत्पन्न न मान कर संख्या से उत्पन्न क्यों माना जाता है?

उत्तर यह है कि यह नियम है कि जो परिमाण किसी परिमाण का कारण होता है वह अपने सजातीय और अपने से उत्कृष्ट परिमाण को उत्पन्न करता है। जैसे तन्तु का परिमाण तन्तु के कार्य पट में अपने सजातीय और अपने से उत्कृष्ट परिमाण को उत्पन्न करता है। स्पष्ट है कि पट का परिमाण महान् होने तथा तन्तु के परिमाण से बड़ा होने के कारण तन्तु के परिमाण का सजातीय तथा तन्तु के परिमाण से उत्कृष्ट है। द्व्यणुक का अणु परिमाण परमाणु के अणु परिमाण का सजातीय है किन्तु उससे उत्कृष्ट नहीं है, और त्र्यणुक का परिमाण द्व्यणुक के अणु परिमाण से उत्कृष्ट है किन्तु उसका सजातीय नहीं है। अतः परमाणु के परिमाण को द्व्यणुक के परिमाण का तथा द्व्यणुक के परिमाण को त्र्यणुक के परिमाण का उत्पादक नहीं माना जा सकता। अन्यथा उक्त नियम के अनुसार द्व्यणुक के परिमाण को परमाणु के परिमाण से उत्कृष्ट तथा त्र्यणुक के परिमाण को द्व्यणुक के परिमाण का सजातीय होने से महद् द्रव्य की उत्पत्ति असम्भव हो जायगी। इस आपत्ति के कारण ही द्व्यणुक और त्र्यणुक के परिमाण को परिमाण-जन्य न मान कर संख्याजन्य माना जाता है और परमाणु तथा द्व्यणुक के अतीन्द्रिय होने से उनमें हम जैसे लोगों की अपेक्षाबुद्धि से संख्या की उत्पत्ति सम्भव न होने से ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि से उनमें क्रम से द्वित्व और बहुत्व संख्या की उत्पत्ति मानी जाती है।

परमाणु में ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति मानने पर शंका हो सकती कि यदि परमाणु में द्वित्व की उत्पत्ति ईश्वर की अपेक्षा बुद्धि से होगी तो उस द्वित्व का नाश न हो सकेगा क्योंकि द्वित्वनाश के दो ही कारण होते हैं—अपेक्षाबुद्धि का नाश अथवा आश्रयका नाश। किन्तु प्रकृत में ये दोनों कारण सम्भव नहीं हैं क्योंकि ईश्वरीय अपेक्षाबुद्धि और द्वित्व का आश्रय परमाणु—ये दोनों ही नित्य हैं। इस शङ्का का समाधान यह है कि इस बात में कोई प्रमाण नहीं है कि अपेक्षाबुद्धि अथवा आश्रय के नाश से ही द्वित्व का नाश हो, अतः परमाणु के द्वित्व के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसका नाश उसके कार्य से होता है अर्थात् जब द्व्यणु का परिमाण-रूप उसका कार्य उत्पन्न हो जाता है तब उसका अन्य कोई प्रयोजन न होने से वह (परमाणु-गत द्वित्व) अपने कार्य (द्व्यणुकपरिमाण) से ही नष्ट कर दिया जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि नाश्य द्वित्व परमाणु में रहता है और नाशक परिमाण द्व्यणुक में रहता है फिर इन व्यधिकरण पदार्थों में नाश्यनाशकभाव कैसे हो सकता है? उत्तर यह है कि द्व्यणुक का परिमाण समवाय सम्बन्ध से परमाणुगत न होने पर भी स्वाश्रय-समवायरूप परम्परासम्बन्ध से परमाणुगत होता है अतः जैसे अवयवगत एकत्व को परम्परा-सम्बन्ध से अवयवी-गत द्वित्व का उत्पादक माना जाता है उसी प्रकार अवयवी गत परिमाण को परम्परा सम्बन्ध से अवयवगत द्वित्व का नाशक भी माना जा सकता है।

७. पृथक्त्वं पृथग्व्यवहारासाधारणं कारणम्। तच्च द्विविधम्। एकपृथक्त्वं, द्विपृथक्त्वादिकं च। तत्राद्यं नित्यगतं नित्यम्, अनित्यगतम् अनित्यम्। द्विपृथक्त्वादिकं चानित्यमेव।

दीर्घ और ह्रस्व परिमाण—

परिमाण के अभी चार भेद बताये गए हैं—अणु, महत्, दीर्घ तथा ह्रस्व। प्रश्न होता है कि महत् और दीर्घ में तथा अणु और ह्रस्व में क्या अन्तर है? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि सभी महत् परिमाण को दीर्घ तथा सभी अणु परिमाण को ह्रस्व नहीं कहा जा सकता क्योंकि आकाश आदि विभु द्रव्यों को महान् तो कहा जाता है पर दीर्घ नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार परमाणु के परिमाण को अणु कहा जाता है पर ह्रस्व नहीं कहा जा सकता, क्यों कि किसी भी द्रव्य में दीर्घत्व और ह्रस्वत्व का जो व्यवहार होता है वह मुख्यतया उसके अवयवों की दीर्घता—बड़ाई और ह्रस्वता—छोटाई पर निर्भर होता है। अतः विभु और परमाणु द्रव्यों के निरवयव होने से उनमें दीर्घ और ह्रस्व का व्यवहार नहीं हो सकता। इस प्रकार विचार करने से ऐसा ज्ञात होता है कि दीर्घ और ह्रस्व—ये दोनों जन्य महत् परिमाण के परस्परसापेक्ष अवान्तर भेद हैं, न कि सामान्यतः महत् और अणु के समकक्ष स्वतन्त्र परिमाण हैं। यही कारण है कि परिमाण का वर्गीकरण करते समय दीर्घ और ह्रस्व का नाम तो लिया गया पर बाद में विशेष रूप से उनकी कोई चर्चा नहीं की गई।

यदि परिमाण का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाय तो अधिक उपयुक्त हो सकता है। परिमाण के दो भेद हैं अणु और महत्। उन दोनों के दो भेद हैं नित्य और अनित्य। अनित्य महत् के दो भेद हैं दीर्घ और ह्रस्व और वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं।

७. पृथक्त्व—

'यह द्रव्य इस द्रव्य से पृथक् है' इस प्रकार के व्यवहार का जो असाधारण कारण होता है उसे पृथक्त्व कहा जाता है। यह सभी द्रव्यों का सामान्य गुण है। इसके दो भेद हैं—एकपृथक्त्व और द्विपृथक्त्व आदि। नित्यद्रव्य में रहने वाला एकपृथक्त्व नित्य और अनित्यद्रव्य में रहने वाला एकपृथक्त्व अनित्य होता है। द्विपृथक्त्व आदि जितने पृथक्त्व हैं वह सब अनित्य ही होते हैं।

भेद से पृथक्त्व की अनन्यथासिद्धता—

कुछ विद्वानों का कथन है कि पृथक्त्व को गुण मानने की आवश्यकता नहीं है क्यों कि उसके कार्य 'पृथग् व्यवहार' की उपपत्ति 'भेद' से हो सकती है। 'यह इससे पृथग् है' इस व्यवहार को 'यह इससे भिन्न है' इस रूप में वर्णित किया जा सकता है, क्यों

८. संयोगः संयुक्तव्यवहारहेतुर्गुणः । स द्रव्याश्रयोऽव्याप्यवृत्तिश्च । स त्रिविधः । अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, संयोगजश्चेति । तत्राऽन्यतरकर्मजो यथा क्रियावता श्येनेन सह निष्क्रियस्य स्थाणोः संयोगः । अस्य हि श्येनक्रिया असमवायिकारणम् । उभयकर्मजो यथा सक्रिययोर्मल्लयोः संयोगः । संयोगजो यथा कारणाकारणसंयोगात् कार्याकार्यसंयोगः, यथा हस्ततरुसंयोगेन कायतरुसंयोगः !

कि परस्परभिन्न द्रव्यों में ही पृथग्व्यवहार देखा जाता है। परन्तु विचार करने पर यह कथन समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्यों कि भेद का व्यवहार सर्वदा सावधिक ही होता है किन्तु पृथक्त्व का व्यवहार सदा सावधिक ही नहीं होता, वह तो 'यह द्रव्य इस द्रव्य से पृथक् है' इस रूप में जैसे कभी सावधिक होता है वैस ही 'यह एक पृथग् द्रव्य है' इस रूप में कभी निरवधिक भी होता है ; अतः सदा सावधिक प्रतीत होने वाले भेद से कदाचित् निरवधिक भी प्रतीत होने वाले पृथक्त्व की स्वतन्त्र सत्ता आवश्यक है और अन्य पदार्थों में उसका अन्तर्भाव सम्भव न होने से उसे गुण मानना भी उचित ही है।

८. संयोग—

यह सभी द्रव्यों में होने वाला एक सामान्य गुण है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

'यह द्रव्य इस द्रव्य से संयुक्त है' इस व्यवहार का असाधारणकारणभूत जो गुण है उसे संयोग कहा जाता है। जब दो द्रव्य इस प्रकार समीपस्थ होते हैं कि उनके बीच कोई व्यवधायक द्रव्य नहीं रह जाता तब उन द्रव्यों का परस्पर संयोग होता है।

प्रश्न हो सकता है कि जब दो द्रव्यों में संयोग का जन्म उसी समय होता है जब उनके बीच कोई व्यवधान नहीं रहता तब व्यवधानाभाव को ही संयोग क्यों नहीं मान लिया जाता, उससे भिन्न संयोगनामक गुणान्तर की कल्पना क्यों मानी जाती है ?

उत्तर यह है कि यदि व्यवधानाभाव से भिन्न संयोग का अस्तित्व न माना जायगा तो किंचिद् दूरस्थ द्रव्यों में भी व्यवधानाभाव की दशा में संयोगव्यवहार होने लगेगा, पर ऐसा कभी नहीं होता, अतः व्यवधानाभाव से अतिरिक्त संयोग की कल्पना आवश्यक है और अन्य पदार्थों में उसका अन्तर्भाव सम्भव न होने से उसे गुण मानना भी उचित है।

संयोग के तीन भेद हैं—अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और संयोगज।

अन्यतरकर्मज का अर्थ है संयुक्त होने वाले द्रव्यों में किसी एक ही द्रव्य के कर्म से उत्पन्न होने वाला। जैसे श्येन—बाज पक्षी के कर्म से उत्पन्न होने वाला निष्क्रिय

स्थाणु—ठूठे वृक्ष के साथ श्येन पक्षी का संयोग। श्येन का कर्म इस संयोग का असमवायिकारण होता है। यह कर्म समवाय सम्बन्ध से श्येन में और आभिमुख्य सम्बन्ध से स्थाणु में रह कर श्येन और स्थाणु में होने वाले संयोग का कारण होता है।

उभयकर्मज का अर्थ है दोनों द्रव्यों के कर्म से उत्पन्न होनेवाला। जैसे दो मल्लों का संयोग। यह संयोग उस समय होता है जब अखाड़े में दो मल्ल एक दूसरे पर झपटते हैं अतः यह उभयकर्मज होता है।

संयोगज का अर्थ है–संयोग से उत्पन्न होने वाला। कारण और अकारण के परस्पर संयोग से उत्पन्न होने वाला कार्य और अकार्य का परस्पर संयोग संयोगज संयोग होता है। जैसे वृक्ष के साथ मनुष्य के हस्त के संयोग से उत्पन्न होने वाला वृक्ष के साथ मनुष्य के शरीर का संयोग। इसमें मनुष्य का हस्त मनुष्य के शरीर का अवयव होने से उसका कारण है और वृक्ष उसका अकारण है अतः वृक्ष के साथ मनुष्य के हस्त का संयोग कारण और अकारण का संयोग है इस संयोग से वृक्ष के साथ मनुष्य के शरीर का संयोग उत्पन्न होता है। इसमें मनुष्य का शरीर मनुष्य के हस्त का अवयवी होने से उसका कार्य है और वृक्ष उसका अकार्य है। अतः यह संयोग कार्य और अकार्य का संयोग है।

शङ्का होती है कि आकाश, काल आदि विभु द्रव्यों का संयोग अजन्य होने के कारण उक्त संयोगों में अन्तर्भूत नहीं होता, अतः संयोग का उक्त वर्गीकरण असंगत है। इसका समाधान यह है कि संयोग का उक्त वर्गीकरण वैशेषिक दर्शन की दृष्टि से किया गया है। वैशेषिकदर्शन को आकाश, काल आदि का नित्य संयोग अभीष्ट नहीं है किन्तु उस दर्शन को संयोगमात्र की जन्यता ही अभिमत है। अतः संयोग के उक्त वर्गीकरण में कोई असंगति नहीं है।

प्रश्न होता है कि आकाश, काल आदि विभु द्रव्यों के बीच जब कोई व्यवधान नहीं है तब उनका परस्पर संयोग मानने में क्या बाधा है? तर्कसंगत तो यही है कि उनमें परस्पर संयोग माना जाय, क्यों कि यदि उनमें संयोग न माना जायगा तो परस्पर में विप्रकर्ष—व्यवधान या दूरी मानना होगा, क्यों कि यह नियम है कि जो द्रव्य परस्पर में संयुक्त नहीं होते उनमें विप्रकर्ष होता है जैसे विन्ध्य और हिमालय में। संयोग की मान्यता को टालने के लिये उनमें विप्रकर्ष को स्वीकृति नहीं दी जा सकती, क्यों कि विप्रकृष्ट द्रव्यों में अविभुत्व का नियम होने से उनके विभुत्व का भङ्ग हो जायगा।

उत्तर में कहा जा सकता है कि विभु द्रव्यों में परस्पर संयोग तो नहीं माना जा सकता क्यों कि संयोग उन्हीं द्रव्यों में होता है जिन में युतसिद्धि हो। युतसिद्धि का अर्थ है पृथक्सिद्धि और पृथक्सिद्धि का अर्थ है संयोग के आश्रयरूप में विचारणीय द्रव्यों में एक या दोनों का पृथग्

९. विभागोऽपि विभक्तप्रत्ययहेतुः । संयोगपूर्वको द्व्याश्रयः । स च त्रिविधोऽन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजो, विभागजश्चेति । तत्र प्रथमो यथा श्येनक्रियया शैलश्येनयोर्विभागः । द्वितीयो यथा मल्लयोर्विभागः । तृतीयो यथा हस्ततरुविभागात् कायतरुविभागः ।

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ, विभागे च विभागजे ।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः ॥

गतिमान् होना अथवा पृथग् आश्रय में आश्रित होना । दो परमाणुओं में, परमाणु और विभुद्रव्यों में पहले प्रकार की युतसिद्धि होती है । दो जन्य मूर्तद्रव्यों में, जन्य मूर्तद्रव्य और अजन्य मूर्तद्रव्यों में तथा जन्य मूर्तद्रव्य और विभु द्रव्यों में पहले और दूसरे प्रकार की दोनों युतसिद्धियां होती हैं अतः उनमें परस्पर संयोग हो सकता है ।

दो विभुद्रव्यों में युतसिद्धि के उक्त दोनों प्रकारों में कोई भी प्रकार नहीं होता अतः उनमें संयोग का अस्तित्व नहीं सिद्ध हो सकता ।

विभुद्रव्यों में परस्पर संयोग न मानने पर परस्पर विप्रकर्ष और विप्रकर्ष से विभुत्वभङ्ग की जो आपत्ति दी गई है, वह ठीक नहीं है, क्यों कि असंयुक्त द्रव्यों में परस्पर विप्रकर्ष होने का नियम सिद्ध नहीं है । यदि सिद्ध भी होगा तो वह मूर्त द्रव्यों तक ही सीमित होगा, विभुद्रव्यों में तो उसकी कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती, क्यों कि विप्रकर्ष का अर्थ होता है एक से संयुक्त स्थान में दूसरे का संयुक्त न होना । जैसे विन्ध्य से संयुक्त भूखण्ड में हिमवान् का संयोग न होने से उनमें विप्रकर्ष होता है । एक विभुद्रव्य से संयुक्त स्थान में दूसरे विभुद्रव्य का संयोग अवश्य होता है, क्यों कि यदि ऐसा न हो तो उसमें सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगरूप विभुत्व ही न होगा । अतः दो विभुद्रव्यों में विप्रकर्ष असम्भव है । कहने का आशय यह है कि असंयुक्तत्व से विप्रकर्ष का आपादन और विप्रकर्ष से विभुत्वभङ्ग का आपादन नहीं हो सकता ।

न्यायदर्शन की दृष्टि से विचार करने पर उक्त शंका का यह समाधान किया जा सकता है कि उक्त वर्गीकरण संयोगसामान्य का नहीं है किन्तु जन्य संयोग का है । न्यायदर्शन के अनुसार संयोग का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—संयोग के दो भेद हैं—जन्य और अजन्य । जन्य संयोग के तीन भेद हैं—अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और संयोगज । अजन्य संयोग का कोई अवान्तर भेद नहीं है, वह विभु द्रव्यमात्र में रहता है ।

संयोगनाश—

संयोगनाश के दो कारण होते हैं—संयुक्त द्रव्यों का परस्पर विभाग और संयोग के आश्रयभूत द्रव्य का नाश । जैसे आकाश आदि के साथ परमाणु के, आत्मा के साथ

मन के संयोग का नाश उन द्रव्यों के परस्पर विभाग से उत्पन्न होता है और वह विभाग परमाणु तथा मन के कर्म से उत्पन्न होता है। जन्य द्रव्यों के परस्पर संयोग का नाश कभी उन द्रव्यों के परस्पर विभाग से और कभी उनमें से किसी एक के अथवा दोनों के नाश से होता है।

९. विभाग--

जो गुण 'इदं द्रव्यम् अस्माद् द्रव्याद् विभक्तम्--यह द्रव्य इस द्रव्य से विभक्त है' इस शब्द से अभिहित होने वाली प्रतीति का असाधारण कारण होता है उसे विभाग कहा जाता है। जैसे शैल–पर्वतखण्ड से श्येन–बाज के उड़ने पर शैल और श्येन के बीच अलगाव होने से 'श्येन शैल से विभक्त हो गया' इस प्रकार की प्रतीति का उदय होता है। तो इस प्रतीति के पूर्व शैल और श्येन का जो परस्पर अलगाव होता है वही शैल के साथ श्येन का विभाग है।

विभाग संयोगपूर्वक होता है अर्थात् जिन द्रव्यों का पहले से परस्पर संयोग रहता है उन्हीं का परस्पर विभाग होता है। विभाग दो द्रव्यों में आश्रित होता है, अर्थात् जो द्रव्य परस्परसंयुक्त रहते हैं वे ही परस्पर विभक्त होते हैं, अतः विभाग एक द्रव्यमात्र में आश्रित न होकर उभयाश्रित होता है।

विभाग के तीन भेद हैं–अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और विभागज। जिन दो द्रव्यों का परस्पर विभाग होना है उनमें से किसी एकमात्र के कर्म से उत्पन्न होने वाला विभाग अन्यतरकर्मज है, क्यों कि वह अपने आश्रयभूत दो द्रव्यों में अन्यतर के कर्म से जन्म प्राप्त करता है। जैसे शैल और श्येन, इन दो में केवल श्येन के कर्म से उत्पन्न होने वाला शैल के साथ श्येन का विभाग। अपने आश्रयभूत दोनों द्रव्यों के कर्म से उत्पन्न होने वाला विभाग उभयकर्मज है। जैसे अखाड़े में लड़ते दो मल्लों का पैतरा बदलने के लिए जो परस्परविभाग होता है, वह दोनों मल्लों के पीछे हटने के कर्म से उत्पन्न होने के कारण उभयकर्मज है। हस्त और वृक्ष के परस्पर विभाग से शरीर और वृक्ष का जो परस्पर विभाग होता है वह विभागज विभाग है।

यह एक प्रसिद्ध उक्ति है कि द्वित्व संख्या, पाकज गुण की उत्पत्ति तथा विभागज विभाग, इन तीनों के विषय में जिसकी बुद्धि का स्खलन नहीं होता, विद्वज्जन उसे वैशेषिक दर्शन का वेत्ता मानते हैं।

इस उक्ति के अनुसार विभागज विभाग एक रहस्यपूर्ण विषय प्रतीत होता है, किन्तु उसका जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है उससे उसकी कोई गम्भीरता नहीं प्रतीत होती, अतः उसके सम्बन्ध में थोड़ी और चर्चा कर लेना उचित प्रतीत होता है।

विभागज विभाग दो कारणों से होता है कभी कारणमात्र के विभाग से और कभी कारण और अकारण के विभाग से। कारणमात्र के विभाग से होने वाले विभाग को इस प्रकार समझा जा सकता है—

जब तन्तुओं में पट के रहते उनमें से किसी एक तन्तु में कर्म उत्पन्न होता है, तब दूसरे क्षण उस कर्म से उस तन्तु का अन्य तन्तु से विभाग होता है। तीसरे क्षण पटोत्पादक तन्तुसंयोग का नाश होता है। चौथे क्षण पट का नाश होता है। पाँचवे क्षण सक्रिय तन्तु का विभाग उस आकाशभाग से होता है जो पट का नाश होने के पूर्व पट से संयुक्त रहा है। यह विभाग पट के कारण तन्तु और अकारण आकाशभाग के बीच होता है और इसकी उत्पत्ति सक्रिय तन्तु और निष्क्रिय तन्तु के परस्पर विभाग से होती है जो पट के कारण तन्तुमात्र में आश्रित है। अतः सक्रिय तन्तु का पटसंयुक्त आकाश-भाग के साथ का उक्त विभाग कारणमात्र के विभाग से उत्पन्न होने वाला विभाग है।

प्रश्न हो सकता है कि जिस क्षण जिस तन्तुकर्म से उस कर्म के आश्रय तन्तु का अन्य तन्तु से विभाग उत्पन्न होता है उस क्षण उस कर्म से ही उस तन्तु का पटसंयुक्त आकाशभाग के साथ भी विभाग हो सकता है फिर पाँचवे क्षण में कारणमात्र में आश्रित विभाग से उस विभाग की उत्पत्ति मानने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि तन्तुवों का परस्परविभाग पटोत्पादक तन्तुसंयोग का नाशक होता है और तन्तु-आकाशभाग का परस्परविभाग पटानुत्पादक तन्तु-आकाशभाग के परस्पर-संयोग का नाशक होता है अतः इन विभागों की उत्पत्ति एक कारण से नहीं मानी जा सकती, क्यों कि द्रव्योत्पादक तथा द्रव्यानुत्पादक संयोग के नाशक विभागों की उत्पत्ति यदि एक कारण से होगी तो कमल के खिलते समय उसका नाश हो जायगा, क्यों कि सूर्यकिरण के सम्पर्क से होने वाली कमलदलों की जो क्रिया उनके कमलानुत्पादक संयोग के नाशक विभाग को उत्पन्न कर कमल को विकसित करती है उसी से कमलदलों के कमलोत्पादक संयोग के नाशक विभाग की उत्पत्ति हो जाने से कमल का नाश हो जायगा। अतः तन्तुकर्म से तन्तुवों के विभाग के समय उसी से आकाशभाग के साथ तन्तु के विभाग की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। पाँचवे क्षण में भी इस विभाग की उत्पत्ति पहले क्षण में उत्पन्न तन्तुकर्म से नहीं मानी जा सकती, क्यों कि कर्म अपने अव्यवहितउत्तरक्षण में ही विभाग का उत्पादक होता है। अतः विभाग के उत्पादन के लिये पाँचवा क्षण उसके लिये अनुपयुक्त है।

कारणमात्राश्रित विभाग से उक्त प्रकार के विभाग की उत्पत्ति मानने पर एक यह प्रश्न हो सकता है कि तन्तुकर्म से उत्पन्न होने वाला सक्रिय तन्तु और निष्क्रिय तन्तु का विभाग तो उन दोनों तन्तुवों में रहता है, तो फिर वह जैसे सक्रिय तन्तु को पट-

संयुक्त आकाशभाग से विभक्त करता है वैसे निष्क्रिय तन्तु को भी उस आकाशभाग से विभक्त क्यों नहीं करता ? इसका उत्तर यह है कि यदि निष्क्रिय तन्तु का आकाशभाग के साथ विभाग होगा तो वह उस तन्तु का अन्य स्थान के साथ संयोग कराने में सक्षम तो होगा नहीं क्यों कि संयोग का कोई उत्पादक उस तन्तु में नहीं है। फलतः वह विभाग निरर्थक होगा क्यों कि विभक्त होने वाले द्रव्य का स्थानान्तर के साथ संयोग कराने में सहायक होने के अतिरिक्त दूसरी कोई सार्थकता विभाग की होती नहीं, अतः निरर्थक होने के कारण इस विभाग की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती।

कारणाकारण के विभाग से जन्य विभाग—

कारण और अकारण के विभाग से कार्य और अकार्य के विभाग की उत्पत्ति होती है। जैसे मनुष्य जब अपने हाथ को किसी एक दिशा में फैलाना चाहता है तब उसके प्रयत्न से उसके हाथ में क्रिया होती है। दूसरे क्षण उस हाथ का उस आकाशभाग से, जहाँ से उसे आगे बढ़ाना है, विभाग होता है। यह शरीर का अवयव होने से उसके कारण हाथ और अकारण आकाशभाग में आश्रित होने से कारणाकारणविभाग कहा जाता है। इस विभाग से हाथ का अवयवी होने से उसके कार्य शरीर का उसके अकार्य उक्त आकाशभाग से विभाग उत्पन्न होता है। यही कार्याकार्य का विभाग है। यदि इसकी उत्पत्ति न मानी जायगी तो हाथ का नये आकाशभाग के साथ संयोग होने पर उस भाग के साथ शरीर का संयोग न हो सकेगा क्यों कि हाथ से संयुक्त पूर्व आकाश-भाग के साथ विभाग होकर जब तक उसके साथ शरीर के संयोग का नाश न हो जायगा तब तक नये आकाशभाग के साथ उसका संयोग न हो सकेगा। इस लिये उक्त प्रकार से कारणाकारण के विभाग से कार्याकार्य के विभाग की कल्पना अनिवार्य है।

विभागनाश—

विभाग का नाश दो कारणों से होता है—एक कारण है विभक्त होने वाले द्रव्य का नये स्थान के साथ संयोग, जिसे उत्तरसंयोग शब्द से अभिहित किया जाता है। इस संयोग से विनाश्य विभाग क्षणिक होता है। दूसरा कारण है विभाग के आश्रय-भूत द्रव्य का नाश। जैसे दो तन्तुवों से बने पट के कारण एक तन्तु के अवयव अंशु में कर्म उत्पन्न हो कर अन्य अंशु से उसके विभाग के समय जब दूसरे तन्तु में क्रिया उत्पन्न होती है तब उस तन्तुक्रिया के दूसरे क्षण दोनों अंशुवों के परस्पर संयोग का नाश और दोनों तन्तुवों का परस्पर विभाग, ये दो कार्य एक साथ उत्पन्न होते हैं। तीसरे क्षण तन्तुवों के संयोग का नाश और उस तन्तु का नाश, जिसके अवयवभूत अंशुवों के परस्पर संयोग का नाश दूसरे क्षण हो चुका है, ये दो कार्य एक साथ होते हैं। चौथे क्षण आश्रयभूत एक तन्तु के नाश से तन्तुवों के परस्पर विभाग का नाश होता है।

१०-११. परत्वाऽपरत्वे पराऽपरव्यवहारासाधारणकारणे। ते तु द्विविधे दिक्कृते, कालकृते च। तत्र दिक्कृतयोरुत्पत्तिः कथ्यते। एकस्यां दिश्यवस्थितयोः पिण्डयोः 'इदमस्मात् सन्निकृष्टम्' इति बुद्ध्याऽनुगृहीतेन दिक्पिण्डसंयोगेनाऽपरत्वं सन्निकृष्टे जन्यते। विप्रकृष्टबुद्ध्या तु परत्वं विप्रकृष्टे जन्यते। सन्निकर्षस्तु पिण्डस्य द्रष्टुः शरीरापेक्षया संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वम्। तद्भूयस्त्वं विप्रकर्ष इति।

आश्रय के नाश से इस प्रकार नष्ट होने वाला विभाग भी क्षणिक ही होता है क्यों कि यह भी अपने जन्म से तीसरे क्षण में ही नष्ट हो जाता है।

कारणाकारण के संयोग से कार्याकार्य का संयोग और कारणाकारण के विभाग से कार्याकार्य के विभाग की उत्पत्ति मानने पर यह शंका होती है कि यदि हस्त और वृक्ष के संयोग से भिन्न शरीर और वृक्ष का संयोग माना जायगा तथा हस्त और वृक्ष के विभाग से भिन्न शरीर और वृक्ष का विभाग माना जायगा, तब हस्त और शरीर में युतसिद्धि-पृथक्सिद्धि की आपत्ति होगी, क्यों कि वृक्ष से हस्त का संयोग और विभाग हो जाने पर शरीर तब तक वृक्ष से संयुक्त या विभक्त नहीं माना जाता, जब तक वृक्ष से उसका स्वतन्त्र संयोग और विभाग नहीं हो जाता। अतः वृक्ष के साथ हस्त के संयोग—विभाग से शरीर के संयोग—विभाग को भिन्न मानना अनुचित होने से कारणाकारण के संयोग-विभाग से कार्याकार्य के संयोग-विभाग की कल्पना असंगत है।

इस शंका का समाधान यह है कि जिस युतसिद्धि की चर्चा पहले की गई है और जो अवयव-अवयवी के बीच मान्य नहीं है, उक्त संयोग और विभाग की कल्पना से हस्त और शरीर में उसकी आपत्ति नहीं हो सकती, क्यों कि हस्त और शरीर न तो पृथग् गतिमान् होते और न पृथग् आश्रय में आश्रित ही होते।

१०-११ परत्व और अपरत्व—

'यह इससे पर—दूर या ज्येष्ठ है' इस प्रकार के व्यवहार के असाधारण कारणभूत गुण को परत्व और 'यह इससे अपर-समीप या कनिष्ठ है' इस प्रकार के व्यवहार के असाधारणकारणभूत गुण को अपरत्व कहा जाता है। परत्व और अपरत्व के दो भेद हैं—दिक्कृत और कालकृत। दिक्कृत परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति का वर्णन निम्न प्रकार से किया जाता है।

एक दिशा में स्थित दो द्रव्यों में 'यह द्रव्य इस द्रव्य से सन्निकृष्ट है' इस बुद्धि के सहयोग से दिग्-द्रव्य के परस्परसंयोग से सन्निकृष्ट द्रव्य में अपरत्व की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार 'यह द्रव्य इस द्रव्य से विप्रकृष्ट है' इस बुद्धि के सहयोग से दिग्-द्रव्य

कालकृतयोस्तु परत्वाऽपरत्वयोरुत्पत्तिः कथ्यते। अनियतदिगवस्थितयोर्युव-स्थविरपिण्डयोः 'अयमस्मादल्पतरकालसंबद्धः' इत्यपेक्षाबुद्धयाऽनुगृहीतेन कालपिण्डसंयोगेनासमवायिकारणेन यूनि अपरत्वम्। 'अयमस्माद् बहुतरकाल-संबद्धः' इति धिया स्थविरे परत्वम्।

के संयोग से विप्रकृष्ट द्रव्य में परत्व की उत्पत्ति होती है। यह परत्व और अपरत्व दिग् से उत्पन्न होने के कारण दिक्कृत परत्व-अपरत्व कहे जाते हैं।

अपरत्व की उत्पत्ति का साधनभूत सन्निकर्ष तथा परत्व की उत्पत्ति का साधनभूत विप्रकर्ष क्रम से अल्पतर संयुक्तसंयोग और बहुतर संयुक्तसंयोगरूप है। संयुक्तसंयोग की अल्पता और अधिकता अपरत्व और परत्व के आश्रयभूत द्रव्यों में उनके द्रष्टा मनुष्य के शरीर की अपेक्षा ली जाती है। कहने का आशय यह है कि जो मनुष्य जिस द्रव्य को अपने सन्निकृष्ट-समीपस्थ समझता है उस द्रव्य और उस मनुष्य के बीच के संयुक्तसंयोग अल्प होते हैं और जिस द्रव्य को अपने से विप्रकृष्ट—दूरस्थ समझता है उस द्रव्य और उस मनुष्य के बीच के संयुक्तसंयोग अधिक होते हैं। अल्प संयुक्तसंयोग वाले द्रव्य में दिक्कृत अपरत्व और अधिक संयुक्तसंयोग वाले द्रव्य में दिक्कृत परत्व की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न हो सकता है कि संयुक्तसंयोग में संयुक्त शब्द से दिक् का ही ग्रहण हो सकता है, अतः द्रव्य के साथ संयुक्त दिक् का संयोग तो एक ही होगा। फिर उसमें अल्पता और अधिकता कैसे हो सकती है? उत्तर में कहा जा सकता है, कि यह ठीक है, कि दिग्-द्रव्य का संयोग एक ही है अतः उसमें अल्पता या अधिकता की कल्पना सम्भव नहीं है, पर द्रव्य को सन्निकष्ट वा विप्रकृष्टरूप में देखने वाले मनुष्य के स्थान और उस द्रव्य के बीच अवस्थित मूर्त द्रव्यों का दिक् के साथ जो संयोग होता है, जिसका आश्रय होने से संयुक्तसंयोग में संयुक्त शब्द से दिक् का ग्रहण होता है, वह संयोग तो अनेक है। अतः उसमें अल्पता और अधिकता के सम्भावित होने से उसकी अल्पता और अधिकता के द्वारा संयुक्तसंयोग 'दिग्-द्रव्यसंयोग' को अल्प वा अधिक कहने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

कालकृत परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति का वर्णन निम्न प्रकार से किया जाता है।

अनियत दिशा में अवस्थित अर्थात् कभी एक दिशा में और कभी विभिन्न दिशाओं में अवस्थित युवा और वृद्ध मनुष्य के शरीर में 'यह शरीर इस शरीर की अपेक्षा अल्पतर काल से सम्बद्ध हैं' इस अपेक्षाबुद्धिरूप निमित्तकारण के सहयोग से कालशरीरसंयोगरूप असमवायिकारण से युवा मनुष्य के शरीररूप आश्रय—समवायि-कारण में कालकृत अपरत्व-कनिष्ठत्व की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार 'यह शरीर इस

१२. गुरुत्वम् आद्यपतनाऽसमवायिकारणम्। पृथिवीजलवृत्ति। यथोक्तम्—संयोगवेगप्रयत्नाभावे सति गुरुत्वात् पतनमिति।

१३. द्रवत्वम् आद्यस्यन्दनासमवायिकारणम्। भूतेजोजलवृत्ति। भूतेजसोर्घृतादिसुवर्णयोरग्निसंयोगेन द्रवत्वं नैमित्तिकम्। जले नैसर्गिकं द्रवत्वम्।

१४. स्नेहः चिक्कणता। जलमात्रवृत्तिः, कारणगुणपूर्वको गुरुत्वादिवद् यावद्द्रव्यभावी।

शरीर की अपेक्षा अधिकतर काल से सम्बद्ध है' इस अपेक्षाबुद्धिरूप निमित्तकारण के सहयोग से कालशरीरसंयोगरूप असमवायिकारण से वृद्ध मनुष्य के शरीररूप आश्रय-समवायिकारण में परत्व-ज्येष्ठत्व की उत्पत्ति होती है।

यह अपरत्व और परत्व काल-द्वारा उत्पन्न होने के कारण कालकृत कहे जाते हैं। जिन द्रव्यों में इनकी उत्पत्ति होने को होती है उनमें अल्पतर तथा बहुतर सूर्यक्रिया-रूप गौण कालके स्वाश्रय 'सूर्य' संयुक्त (मुख्य काल) संयोगरूप परम्परा-सम्बन्ध का ज्ञान होने पर उन द्रव्यों में इनकी उत्पत्ति होती है।

१२—गुरुत्व—

किसी वस्तु के ऊपर से नीचे की ओर जाने की क्रिया का नाम पतन है। यह क्रिया जिस वस्तु में होती है वह उसका समवायिकारण होती है और उस वस्तु का भारीपन उसका असमवायिकारण होता है। वस्तु का यह भारीपन ही गुरुत्व है। उसका लक्षण है 'उक्त प्रकार की आद्य क्रिया का असमवायिकारण'। लक्षण से आद्यपद को निकाल देने पर गिरने वाली वस्तु के वेग में अतिव्याप्ति होगी क्यों कि पहली पतन क्रिया से वस्तु में जो वेग उत्पन्न होता है वह बाद की पतनक्रिया का असमवायिकारण होता है।

पतन के ये दोनों कारण पहले से ही सन्निहित रहते हैं। अतः जिस आगन्तुक कारण से उस क्रिया की उत्पत्ति होती है वह उसका निमित्तकारण होता है। जैसे वृन्त में लगा हुआ फल और उसका गुरुत्व, ये दोनों पहले से रहते हैं। तीव्र वायु के झटके से या लोष्ट वा दण्ड के आघात से जब वृन्त के साथ फल के संयोग का नाश होता है तब वृन्तसंयोगाभावरूप नये कारण का सन्निधान होने से फल के पतन का आरम्भ होता है। फल इस पतन का समवायिकारण' फलगत गुरुत्व असमवायिकारण और वृन्त फलसंयोगाभाव निमित्तकारण होता है! वृन्त से टूट कर भूमि पर पहुँचने तक फल में अनेक पतनक्रियायें होती हैं, उन में पहली पतन क्रिया का असमवायिकारण फलका गुरुत्व होता है और बाद की पतनक्रियाओं का असमवायिकारण पहली पतनक्रिया से उत्पन्न फलगत वेग होता है।

प्रश्न हो सकता है कि जैसे पहली पतनक्रिया का असमवायिकारण फलगत गुरुत्व को माना जाता है वैसे बाद की पतनक्रियावों का भी असमवायिकारण उसी को क्यों नहीं माना जाता ? इसका उत्तर यह है कि यदि बाद की पतनक्रियावों का भी असमवायिकारण फलगत गुरुत्व को ही माना जायगा तब गिरने वाले फल का नाश न होने तक पतनक्रिया का सातत्य बना रहेगा, क्यों कि उसके समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण का सातत्य तब तक अक्षुण्ण रहेगा। और जब बादकी पतनक्रियावों का असमवायिकारण फलगत वेग को माना जायगा तब भूमि के साथ फल का संयोग होने पर वेग का नाश हो जाने के कारण असमवायिकारण का अभाव हो जाने से पतन के सातत्य की आपत्ति न होगी।

गुरुत्व पृथिवी और जल में रहता है। परमाणु का गुरुत्व नित्य होता है। परमाणु से भिन्न पृथिवी और जल का गुरुत्व अनित्य होता है। अनित्य गुरुत्व अपने आश्रय द्रव्य के समवायिकारणों में रहने वाले गुरुत्व से उत्पन्न होता है और अपने आश्रय के नाश से नष्ट होता है।

वैशेषिक दर्शन में बताया गया हैं कि संयोग, वेग और प्रयत्न, ये तीन पतन के प्रतिबन्धक होते हैं। जैसे वृन्त के साथ फल का संयोग फल के पतन का, वाण का वेग वाण के पतन का, आकाश में उड़ते पक्षी आदि का प्रयत्न उनके शरीर के पतन का प्रतिबन्धक होता है। इन प्रतिबन्धकों का अभाव होने पर फल, वाण और पक्षी आदि के शरीर में विद्यमान गुरुत्व से उनका पतन होता है।

१३—द्रवत्व—

किसी तरल वस्तु के चूने, टपकने या बहने को स्यन्दन कहा जाता है। जो वस्तु एक स्थान से दूर के दूसरे स्थान तक बह कर रुक जाती है उसमें पहले स्थान से उस दूसरे स्थान तक पहुँचने में अनेक स्पन्दन-क्रियायें होती हैं। उन क्रियावों में पहली क्रिया का जो असमवायिकारण होता है उसे द्रवत्व–तरलता कहा जाता है। पहली क्रिया के बाद की सम्पूर्ण स्यन्दन-क्रिया पहली क्रिया से उत्पन्न वेग द्वारा सम्पादित होती है। अतः बाद की सम्पूर्ण स्यन्दन-क्रिया का असमवायिकारण वेग होता है। उसमें द्रवत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति न हो, इस उद्देश्य से उसके लक्षण में स्यन्दनसामान्य का प्रवेश न कर आद्य स्यन्दन का प्रवेश किया गया है।

द्रवत्व पृथिवी, जल और तेज इन तीनों द्रव्यों में रहता है। घी आदि पार्थिव द्रव्य एवं सुवर्ण आदि तैजस द्रव्यों में द्रवत्व की उत्पत्ति अग्निसंयोगरूप निमित्त से होती है अतः पृथिवी और तेज का द्रवत्व नैमित्तिक होता है। जल का द्रवत्व नैसर्गिक, स्वाभाविक या सांसिद्धिक होता है। वह अग्निसंयोग जैसे किसी निमित्त की अपेक्षा न कर अपने आश्रय जल के समवायिकरणों में विद्यमान नैसर्गिक द्रवत्व से ही उत्पन्न होता है।

१५. शब्दः श्रोत्रग्राह्यो गुणः। आकाशस्य विशेषगुणः।

ननु कथमस्य श्रोत्रेण ग्रहणम्? यतो भेर्यादिदेशे शब्दो जायते, श्रोत्रं तु पुरुषदेशेऽस्ति। सत्यम्। भेरीदेशे जातः शब्दो वीचीतरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा सन्निहितं शब्दान्तरमारभते। स च शब्दः शब्दान्तरमिति क्रमेण श्रोत्रदेशे जातोऽन्त्यः शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते, न त्वाद्यो नापि मध्यमः। एवं वंशे पाट्यमाने दलद्वयविभागदेशे जातः शब्दः शब्दान्तरारम्भक्रमेण श्रोत्रदेशेऽन्त्यं शब्दं जनयति। सोऽन्त्यः शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते नाद्यो न मध्यमः। 'भेरीशब्दो मया श्रुतः' इति मतिस्तु भ्रान्तैव।

भेरीशब्दोत्पत्तौ भेर्याकाशसंयोगोऽसमवायिकारणम्। भेरीदण्डसंयोगो निमित्तकारणम्।

१४. स्नेह

वस्तु में जो चिकनापन होता है, जिसके कारण चिकनी वस्तु के सम्पर्क से आंटे आदि चूर्ण-वस्तुओं का पिण्ड बनता है, वस्तु का वह चिकनापन ही स्नेह है। वह जल मात्र में रहता है। परमाणु में रहने वाला स्नेह नित्य और अन्य जल में रहने वाला स्नेह अनित्य होता है। अनित्य स्नेह अपने आश्रय के समवायिकारण में विद्यमान स्नेह से उत्पन्न होता है। इसीलिये अनित्य स्नेह को कारणगुणपूर्वक गुण माना जाता है। गुरुत्व आदि के समान स्नेह भी यावद्द्रव्यभावी होता है। उसका आश्रय द्रव्य जब तक रहता है तब तक वह अपने आश्रय में बना रहता है, जब आश्रय का नाश होता है तब आश्रयनाशरूप कारण से उसका भी नाश होता है।

१५. शब्द—

श्रोत्र से जिस गुण का प्रत्यक्ष होता है उसे शब्द कहा जाता है। वह आकाश का विशेष गुण है। उसका लक्षण है 'श्रोत्रग्राह्यगुणत्व'। इस लक्षण से 'श्रोत्र' को निकाल देने पर 'ग्राह्यगुणत्व' मात्र ही शेष होगा और यदि उतने मात्र को ही शब्द का लक्षण माना जायगा तो रूप आदि जितने ग्राह्य गुण हैं, उनमें उसकी अतिव्याप्ति होगी। इसी प्रकार लक्षण से 'ग्राह्य' को निकाल कर यदि 'श्रोत्रगुणत्व' मात्र को लक्षण माना जायगा तब श्रोत्रगत संख्या, परिमाण आदि गुणों में अतिव्याप्ति होगी और यदि लक्षण से गुणत्व अंश को निकाल कर 'श्रोत्रग्राह्यत्व' मात्र को लक्षण माना जायगा तब शब्दगत जाति और शब्दाभाव में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि 'येन इन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनैव इन्द्रियेण तद्गता जातिः तदभावश्चापि गृह्येते—जिस इन्द्रिय से जिस पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है उसी इन्द्रिय से उस पदार्थ में रहने वाली जाति और उस पदार्थ के अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है' इस न्याय के अनुसार शब्दगत जाति और शब्दाभाव

में अतिव्याप्ति होगी, क्यों कि यह दोनों भी शब्द के ग्राहक श्रोत्र से ग्राह्य हैं।

लक्षण में 'ग्राह्य' का अर्थ 'प्रत्यक्षविषय' न कर' प्रत्यक्षयोग्य' करना होगा, यदि ऐसा न किया जायगा तो जो शब्द श्रोत्र तक नहीं पहुँच पाता उसमें शब्दलक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि वह श्रोत्रजन्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। 'ग्राह्य' शब्द का 'प्रत्यक्षयोग्य' अर्थ करने पर यह दोष न होगा क्योंकि जो शब्द श्रोत्र तक नहीं पहुँच पाता उसमें भी श्रोत्र से प्रत्यक्ष होने की योग्यता तो रहती ही है, प्रत्यक्षविषयता तो श्रोत्र का सन्निकर्ष न होने के कारण नहीं हो पाती, क्योंकि प्रत्यक्ष में विषयेन्द्रिय-सन्निकर्ष कारण होता है।

प्रश्न होता है कि श्रोत्र से शब्द का प्रत्यक्ष कैसे होगा? क्योंकि शब्द उस स्थान में उत्पन्न होता है जहाँ भेरी आदि वाद्य बजाये जाते हैं और श्रोत्र उस स्थान में होता है जहाँ श्रोता मनुष्य विद्यमान होता है, अतः शब्द और श्रोत्र के दूरवर्ती विभिन्न स्थानों में होने से शब्द के साथ श्रोत्र का सन्निकर्ष नहीं हो सकता, और सन्निकर्ष के अभाव में प्रत्यक्ष का होना दुर्घट है।

उत्तर यह है कि यह ठीक है कि शब्द की उत्पत्ति श्रोत्र से दूर होती है अतः शब्द के साथ श्रोत्र का सन्निकर्ष न हो सकने से श्रोत्र से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, पर वस्तु-स्थिति यह है कि जो शब्द श्रोत्र से दूर उत्पन्न होता है और श्रोत्र से सन्निकृष्ट नहीं हो पाता उसका प्रत्यक्ष नहीं ही होता, प्रत्यक्ष तो उस शब्द का होता है जो प्रथम शब्द के उत्पत्तिस्थान से श्रोत्र तक प्रवाहित होनेवाली शब्द की धारा का घटक हो श्रोत्र में उत्पन्न होता है। उसकी उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है—

भेरी नाम का बाजा किसी स्थान में रखा है, उसे बजाया गया, उससे उस स्थान में एक शब्द उत्पन्न हुआ, वह शब्द वीचीतरङ्गन्याय या कदम्बमुकुलन्याय से अपने स्थान से थोड़ा आगे अपने ही समान एक दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है, वह दूसरा शब्द अपने स्थान से थोड़ा और आगे अपने ही समान तीसरे शब्द को उत्पन्न करता है। शब्द की उत्पत्ति का यह क्रम मनुष्य के श्रोत्र तक चल कर समाप्त होता है, इस क्रम से जो शब्द मनुष्य के श्रोत्र में उत्पन्न होता है, श्रोत्र से उसी का प्रत्यक्ष होता है। प्रथम शब्द और मध्यम शब्दों का प्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रकार श्रोत्र से जिस शब्द का प्रत्यक्ष होता है वह श्रोत्र से दूर नहीं होता और जो दूर होता है श्रोत्र से उसका प्रत्यक्ष ही नहीं होता। अतः श्रोत्र से शब्द का प्रत्यक्ष मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

वीचीतरङ्गन्याय और कदम्बमुकुलन्याय से शब्द की उत्पत्ति अभी बतायी गयी है, उनका स्पष्टीकरण आवश्यक है जो इस प्रकार हो सकता है।

एवं वंशोत्पाटनाच्चटचटाशब्दोत्पत्तौ वंशदलाकाशविभागोऽसमवायिकारणम्। दलद्वयविभागो निमित्तकारणम्। इत्थमाद्यः शब्दः संयोगजो विभागजो वा। अन्त्यमध्यमशब्दास्तु शब्दासमवायिकारणका अनुकूलवातनिमित्तकारणकाः। यथोक्तम्—'संयोगात्, विभागात्, शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः' इति (वै. सू. २-२-३१)। आद्यादीनां सर्वशब्दानामाकाशमेकमेव समवायिकारणम्।

वीचीतरङ्गन्याय—

जलाशय में कंकड़ फेंकने पर उसके चारों ओर एक लहर उठती है, उसे वीची कहा जा सकता है, उस लहर से दूसरी और दूसरी से तीसरी इस प्रकार अनेक लहरें उत्पन्न होती हैं, इन सभी लहरों को 'वीचीतरङ्ग' शब्द से अभिहित किया जाता है। जल में कंकड़ डालने पर उठने वाली ये लहरें जैसे कंकड़ के चारो ओर उत्तरोत्तर बढ़ती चलती हैं ठीक उसी प्रकार पहला शब्द उत्पन्न होता है, वह जितने आकाशभाग में उत्पन्न होता है, उससे उत्पन्न होने वाला दूसरा शब्द उससे और अधिक आकाशभाग में उत्पन्न होता है। तीसरा शब्द उससे भी विस्तृत आकाशभाग में उत्पन्न होता है। शब्द के फैलने का, शब्द के अधिकाधिक भाग में उत्पन्न होने का यह क्रम 'वीचीतरङ्गन्याय' शब्द से व्यवहृत होता है।

कदम्बमुकुलन्याय—

कदम्ब का कुड्मल जब विकसित होने लगता है तब उसके चारों ओर अनेक पुष्पदलों की एक पंक्ति बनती है, फिर उस पंक्ति के चारों ओर भिन्न भिन्न पुष्पदलों की दूसरी पंक्ति और दूसरी पंक्ति के चारों ओर भिन्न भिन्न पुष्पदलों की तीसरी पंक्ति बनती है। इस क्रम से भिन्न भिन्न पुष्पदलों की अनेक पंक्तियों का एक पूरा पुष्प खिल कर तयार होता है, ठीक इसी प्रकार किसी स्थान में बाजा बजने पर एक शब्द उत्पन्न होता है, वह शब्द अपनी परिधि के चारों ओर अपने जैसे अनेक शब्द उत्पन्न करता है, ये शब्द भी अपनी परिधि के चारों ओर अपने जैसे भिन्न भिन्न शब्द उत्पन्न करते हैं, शब्द की उत्पत्ति का यह क्रम 'कदम्बमुकुलन्याय' शब्द से अभिहित होता है।

उक्त दोनों न्यायों से शब्द की उत्पत्ति मानने में यह स्पष्ट अन्तर है कि पहले न्याय से जो शब्द उत्पन्न होता है वह सभी दिशाओं में एक होता है। और दूसरे न्याय से जो शब्द उत्पन्न होता है वह भिन्न भिन्न दिशावों में भिन्न भिन्न होता है।

जिस प्रकार भेरी आदि बाद्यों के बजने पर उत्पन्न होने वाला शब्द–व्यक्ति तथा उससे उत्पन्न होने वाले उसके सदृश वे शब्द, जो उसके जन्मस्थल और श्रोता के बीच के स्थान में उत्पन्न होते हैं, श्रोत्र से असन्निकृष्ट होने के कारण नहीं सुनाई देते। किन्तु उसके द्वारा श्रोत्र में उत्पन्न होने वाला शब्द ही सुनाई पड़ता है। उसी

प्रकार किसी बाँस को फाड़ने पर उसके दोनों खण्डों के विभाग से उत्पन्न होने वाला शब्द तथा उससे उत्पन्न होने वाले बीच के शब्द भी नहीं सुनाई देते किन्तु उससे आरम्भ होने वाली शब्दधारा का जो शब्द श्रोत्र में उत्पन्न होता है उस अन्त्य शब्द का ही श्रोत्र से प्रत्यक्ष होता है। इस स्थिति में यह स्पष्ट है कि भेरी से दूर खड़े मनुष्य को जो यह प्रतीति होती है कि 'मैंने भेरी का शब्द सुना' वह भ्रमरूप है, क्यों कि जिस शब्द को वह सुनता है वह भेरी से साक्षात् उत्पन्न न होकर उससे उत्पन्न होने वाली शब्दधारा का शब्दज शब्द होता है।

भेरी से उत्पन्न होने वाले शब्द का समवायिकारण होता है भेरी से अवच्छिन्न आकाश, असमवायिकारण होता है भेरी-आकाशसंयोग। निमित्तकारण होता है भेरीदण्ड-संयोग–दण्ड से भेरी का अभिघात।

इसी प्रकार बांस फाड़ने पर उत्पन्न होने वाले 'चट, चट' शब्द का समवायिकारण होता है बांस के दोंनों खण्डों से अवच्छिन्न आकाश, असमवायिकारण होता है बांस के दोनों खण्डों का आकाश के साथ विभाग और निमित्तकारण होता है बांस के दोनों खण्डों का परस्पर विभाग।

इस प्रकार पहला शब्द संयोगज अथवा विभागज होता है। अन्त्य और बीच के सभी शब्दों का असमवायिकारण होता है उनके पूर्व का शब्द और निमित्त कारण होता है अनुकूल वायु।

शब्द के उक्त तीनों असमवायिकारण वैशेषिकदर्शन २, २, ३१ में इस प्रकार कहे गये हैं—

'संयोगाद् विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः'

संयोग, विभाग और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है।

आद्य, मध्यम और अन्त्य जितने भी शब्द होते हैं उन सबके असमवायिकारण और निमित्तकारण तो भिन्न भिन्न अवश्य होते हैं पर उन सभी का समवायिकारण एक ही होता और वह है आकाश।

प्रश्न हो सकता है कि भेरी आदि से उत्पन्न होने वाले आद्य शब्द का समवायिकारण होता है भेरी आदि से अवच्छिन्न आकाश। मध्यमशब्द का समवायिकारण होता है पूर्वशब्दरूप असमवायिकारण अथवा अनुकूलवायुरूप निमित्त कारण से अवच्छिन्न आकाश तथा अन्त्य शब्द का समवायिकारण होता है कर्णशष्कुली–कान के पर्दे से अवच्छिन्न आकाशरूप श्रोत्र। तो इस प्रकार आद्य, मध्यम और अन्त्य शब्द के समवायिकारणों की भिन्नता जब स्पष्ट है तब उन सभी शब्दों का एक ही समवायिकारण होता है, यह कथन कैसे संगत हो सकता है। उत्तर यह है कि उक्त सभी समवायिकारण एक

कर्मबुद्धिवत्त्रिक्षणावस्थायित्वम् । तत्राद्य-मध्यम-शब्दाः कार्यशब्दनाश्याः, अन्त्यस्तूपान्त्येन, उपान्त्यस्त्वन्त्येन सुन्दोपसुन्दन्यायेन विनाश्यते । इदं त्वयुक्तम् । उपान्त्येन त्रिक्षणावस्थायिनाऽन्त्यस्य द्वितीयक्षणमात्रानुगामिना, तृतीयक्षणे चाऽसताऽन्त्यनाशजननासंभवात् । तस्मादुपान्त्यनाशादेवान्त्यनाश इति ।

आकाश-रूप ही हैं, एक से अवच्छिन्न आकाश में अन्य से अवच्छिन्न आकाश का मौलिक भेद नहीं है, भेद केवल उसके अवच्छेदक भेरी आदि उपाधियों में है, अतः भेरी आदि से अवच्छिन्न आकाश में जो भेद का व्यवहार होता है वह औपाधिक है। भेद से उपहित होनेवाले मूलभूत वस्तु के स्वरूप में कोई भेद नहीं होता । इस लिये उपर्युक्त सभी प्रकार के शब्दों को आकाशरूप एक समवायिकारण से जन्य कहने में कोई असंगति नहीं है ।

शब्द कर्म और बुद्धि के समान त्रिक्षणावस्थायी—तीन क्षण ठहरने वाला है ।

यहाँ यह बात ज्ञातव्य है कि न्यायवैशेषिक के अन्य ग्रन्थों में शब्द तथा अपेक्षाबुद्धि से अन्य समस्त जन्य ज्ञान का तीसरे क्षण में नाश मान कर उन्हें क्षणद्वयमात्रस्थायी कहा गया है और कर्म को उत्तरसंयोग से नाश्य मान कर चतुःक्षणावस्थायी कहा गया है। किन्तु तर्कभाषाकार ने कर्म और बुद्धि को त्रिक्षणावस्थायी बताते हुए उन्हीं के समान शब्द को भी त्रिक्षणावस्थायी कहा है। इस स्थिति में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि शब्द, कर्म और बुद्धि तीनों को त्रिक्षणावस्थायी बताने में तर्कभाषाकारका क्या अभिप्राय है ?

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यह ठीक है कि कर्म का नाश उत्तर संयोग से होता है और उत्तर संयोग कर्म के चौथे क्षण में उत्पन्न होता है क्यों कि उसके उत्पन्न होनेका क्रम यह है कि पहले क्षण में कर्म उत्पन्न होता है। दूसरे क्षण में कर्मयुक्त द्रव्य का पूर्वसंयोगी द्रव्य से विभाग होता है। तीसरे क्षण में पूर्वसंयोग का नाश होता है। चौथे क्षण में कर्मयुक्त द्रव्य का द्रव्यान्तर के साथ संयोग होता है और उसके अगले क्षण—पाँचवें क्षण में कर्म का नाश होता है। इस लिये कर्म का चतुःक्षणावस्थायित्व स्पष्ट है । अतः उसे त्रिक्षणावस्थायी कहना असंगत सा जान पड़ता है। पर थोड़ा विचार करने से इसमें कोई असंगति नहीं प्रतीत होती क्यों कि नाश्य और नाशक में सहानवस्थान और वध्यघातकभावरूप दो प्रकार के विरोध का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उक्त विरोधों में कर्म और उत्तरसंयोग में यदि पहले प्रकार का ही विरोध माना जायगा तो उत्तरसंयोग के समय कर्म का अवस्थान नहीं होगा । फलतः उत्तरसंयोग के उत्पत्तिकाल में ही कर्म का नाश हो जायगा। अतः चौथे क्षण में ही नष्ट हो जाने से कर्म को त्रिक्षणावस्थायी कहने में तर्कभाषाकार का यही अभिप्राय बताया जा सकता

है कि उन्हें कर्म और उत्तरसंयोग में सहानवस्थानरूप विरोध ही मान्य है। वध्यघातकभावरूप विरोध मान्य नहीं है।

बुद्धि और शब्द को त्रिक्षणावस्थायी कहने में तर्कभाषाकार का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि बुद्धि और शब्द का उनके नाशक उत्तरवर्ती गुण के साथ वध्यघातकभावरूप विरोध है, सहानवस्थानरूप विरोध नहीं है, क्योंकि उनमें यदि सहानवस्थानरूप विरोध माना जायगा तब वे अपने दूसरे क्षण भी अवस्थित न हो सकेंगे क्योंकि उनके दूसरे क्षण ही उनके नाशक विशेष गुण का उदय हो जाता है और उस स्थिति में प्रत्यक्ष में विषय के कार्यसहभावेन कारण होने से दूसरे क्षण उनका प्रत्यक्ष न हो सकेगा क्योंकि सहानवस्थानरूप विरोध मानने पर उस क्षण में वे विद्यमान न रह सकेंगे। पहले क्षण—उनके उत्पत्तिक्षण में भी उनका प्रत्यक्ष न होगा क्योंकि विषयेन्द्रियसन्निकर्ष कार्यपूर्ववर्ती होकर प्रत्यक्ष का कारण होता है और वह विषयभूत बुद्धि और शब्द की उत्पत्ति के पूर्व हो नहीं सकता। फलतः बुद्धि और शब्द का उनके नाशक के साथ सहानवस्थानरूप विरोध मानने पर उनका प्रत्यक्ष असम्भव हो जायगा।

शंका हो सकती है कि उक्त युक्ति से बुद्धि और शब्द का उनके नाशक के साथ सहानवस्थानरूप विरोध भले न हो, पर वध्यघातकभावरूप विरोध मानने में तो उक्त प्रकार की कोई बाधा है नहीं, फिर उस विरोध को स्वीकार करने पर भी तो उनका तीसरे क्षण में ही नाश हो जायगा अतः उन्हें त्रिक्षणावस्थायी कहना तो असंगत ही है। इसका समाधान यह है कि बुद्धि और शब्द को त्रिक्षणावस्थायी मानना आवश्यक है क्योंकि यदि तीसरे क्षण उनकी अवस्थिति न मानी जायगी तो उनका सविकल्पक प्रत्यक्ष न हो सकेगा, क्योंकि सविकल्पक प्रत्यक्ष के उदय का वही काल है और उस समय उनका अस्तित्व है नहीं। किन्तु प्रश्न यह है कि जब उनके नाशक गुण का जन्म दूसरे ही क्षण हो जाता है तब तीसरे क्षण में उन का नाश अनिवार्य होने से तीसरे क्षण उनका अस्तित्व किस प्रकार होगा? विचार करने से इस प्रश्न का यह उत्तर प्रतीत होता है कि नाश के प्रति प्रतियोगी के कारण होने से बुद्धि और शब्द भी अपने नाश के कारण होंगे, तो यदि उन्हें अपने नाश का कार्यसहभावेन कारण मान लिया जाय तो वे अपने नाश के उत्पत्तिक्षण में भी रह सकेंगे और इस प्रकार उनके त्रिक्षणावस्थायी होने से तीसरे क्षण उनके सविकल्पक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में कोई अड़चन न होगा।

यदि कहें कि प्रतियोगी को अपने नाश का कार्यसहभावेन कारण मानने पर प्रतियोगी और नाश का सह अवस्थान हो जाने से नाशोदय के उत्तरक्षणों में भी प्रतियोगी का अवस्थान प्रसक्त होगा, फलतः नाश का जन्म ही निरर्थक हो

जायगा, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतियोगी के नाशक को नाशोत्पत्तिक्षण के उत्तर क्षणों में प्रतियोगी के असत्त्व का सम्पादक मानने से नाश की सार्थकता होने में कोई बाधा न होगी। हाँ, तो बुद्ध और शब्द को त्रिक्षणावस्थायी कहने में तर्कभाषाकार का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि बुद्धि और शब्द का उनके नाशक उत्तरवर्ती गुण के साथ वध्यघातकभावरूप विरोध है और वे अपने नाश के स्वयं भी कार्य-सहभावेन कारण हैं तथा इनका उनके नाश के साथ सहानवस्थानरूप विरोध नहीं है किन्तु उत्तरानवस्थानरूप विरोध है, इसलिये वे त्रिक्षणावस्थायी हैं।

शब्द का नाश कैसे होता है?

भेरी आदि के स्थान से मनुष्य के कान तक जिस शब्दधारा के प्रवाहित होने की बात कही गई है उस धारा में तीन प्रकार के शब्द होते हैं, आद्य—जो भेरी बजने पर पहले पहल उत्पन्न होता है। मध्यम—उक्त धारा के प्रथम और अन्तिम शब्द के बीच के शब्द। अन्त्य—श्रोत्र में उत्पन्न और श्रोत्र से श्रुत होने वाला धारा का अन्तिम शब्द। इन तीन प्रकार के शब्दों में आद्य तथा मध्यम शब्द का नाश उनके कार्यभूत शब्दों से होता है और अन्त्य शब्द का नाश उसके कारणभूत शब्द से होता है। उस कारणभूत शब्द को अन्त्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में उत्पन्न होने से समीपवर्ती होने के कारण उपान्त्य कहा जाता है। इन अन्त्य और उपान्त्य शब्दों में सुन्द—उपसुन्द जैसा विरोध है। अतः जैसे सुन्द—उपसुन्द नाम के राक्षस परस्पर विरोधी होने से आपस में लड़कर एक साथ ही नष्ट हो गये उसी प्रकार अन्त्य और उपान्त्य शब्द भी परस्परविरोधी—एक दूसरे का नाशक होने से एक साथ ही नष्ट हो जाते हैं।

अन्त्य और उपान्त्य शब्दों का यह परस्पर नाश्यनाशकभाव तर्कभाषाकार को अभिमत नहीं है। उनका कहना है कि उपान्त्य शब्द अधिक से अधिक अन्त्य शब्द के दूसरे क्षण तक ठहर सकता है, तीसरे क्षण तो कथमपि नहीं रह सकता। अतः वह तीसरे क्षण में होने वाले अन्त्य शब्द के नाश का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि जिस क्षण में जो स्वयं नहीं रहता उस क्षण में वह किसी कार्य का कारण कैसे हो सकता है? इसलिये यही मानना उचित है कि अन्त्य शब्द का नाश उपान्त्य शब्द से नहीं होता अपि तु उपान्त्य शब्द के नाश से होता है क्योंकि उपान्त्य शब्द का नाश अन्त्य शब्द के दूसरे क्षण उत्पन्न होकर उसके तीसरे क्षण में भी रहता है अतः उसे तीसरे क्षण में होने वाले अन्त्यशब्दनाश का कारण मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

विनाशित्वं च शब्दस्यानुमानात् । तथा हि अनित्यः शब्दः, सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाद् घटवदिति । शब्दस्यानित्यत्वं साध्यम्, अनित्यत्वं च विनाशावच्छिन्नस्वरूपत्वं, न तु विनाशावच्छिन्नसत्तायोगित्वं, प्रागभावे सत्ताहीनेऽनित्यत्वाभावप्रसङ्गात् । सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रिय-ग्राह्यत्वं हेतुः । इन्द्रियग्राह्यत्वादित्युच्यमान आत्मनि व्यभिचारः स्याद्, अत उक्तं बाह्येति । एवमपि तेनैव योगिबाह्येन्द्रियेण ग्राह्ये परमाण्वादौ व्यभिचारः स्याद्, अतो योगिनिरासार्थमुक्तमस्मदादीति ।

मीमांसा दर्शन में शब्द को नित्य माना गया है, शब्द के उच्चारण को उसका उत्पादक न मान कर उसका अभिव्यञ्जक माना गया है । अतः उस मत के खण्डनार्थ ग्रन्थकार ने न्यायमत की दृष्टि से शब्द के अनित्यत्व—विनाशित्व का साधन किया है । उनका आशय है कि शब्द की अनित्यता अनुमान प्रमाण से सिद्ध है अतः उसके नित्यत्व की कल्पना असंगत है । शब्द में अनित्यत्व साधक अनुमान का प्रयोग इस प्रकार है ।

'शब्द अनित्य है, क्योंकि सामान्य का आश्रय होते हुये हम जैसे मनुष्यों की बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य है, जैसे घट' । इस अनुमान से शब्दरूप पक्ष में अनित्यत्व साध्य है । अनित्यत्व का अर्थ है विनाशावच्छिन्नस्वरूपत्व, जिसके स्वरूप का विनाश हो, वह अनित्य होता है । विनाशावच्छिन्नसत्तायोगित्व को अनित्यत्व का अर्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसके अनुसार जो विनाश से अवच्छिन्न और सत्ता से युक्त होगा वह अनित्य होगा और इसका दुष्परिणाम यह होगा कि प्रागभाव के अनित्यत्व का लोप हो जायगा, क्योंकि वह विनाशावच्छिन्न तो है पर सत्ता से युक्त नहीं है ।

इस अनुमान में हेतु है 'सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्व'—सामान्य का आश्रय होते हुये हम जैसे मनुष्यों को बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्षयोग्य होना । दृष्टान्त है घट । दृष्टान्त से स्पष्ट है कि जैसे सामान्य का आश्रय होते हुये हम जैसे मनुष्यों को बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्षयोग्य होने के कारण घड़ा अनित्य है, ठीक उसी प्रकार शब्द भी शब्दत्व, गुणत्व, सत्ता आदि जातियों का आश्रय तथा हम जैसे मनुष्यों को बाह्य इन्द्रिय–श्रोत्र से ग्राह्य होने के कारण अनित्य है ।

उक्त हेतु में से यदि बाह्य अंश को निकाल दिया जाय तो आत्मा में हेतु अनित्यत्व का व्यभिचारी हो जायगा, क्योंकि आत्मा सामान्य का आश्रय होते हुये हम जैसे मनुष्यों को इन्द्रिय–मन से ग्राह्य है । इसी प्रकार हेतु में से यदि 'अस्मदादि' को

किं पुनर्योगिसद्भावे प्रमाणम् ? उच्यते। परमाणवः कस्यचित् प्रत्यक्षाः, प्रमेयत्वाद्, घटवदिति । तथापि सामान्यादिना व्यभिचारः, अत उक्तं सामान्यवत्त्वे सतीति। सामान्यादित्रयस्य निःसामान्यत्वात् ।

१६. अर्थप्रकाशो बुद्धिः । नित्या, अनित्या च । ऐशी बुद्धिः नित्या, अन्यदीया तु अनित्या ।

निकाल दिया जायगा तो परमाणु आदि नित्य पदार्थों में हेतु अनित्यत्व का व्यभिचारी हो जायगा, क्यों कि वह सामान्य का आश्रय होते हुये योगियों को बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य होता है।

स्पष्ट है कि उक्त हेतु में अस्मदादि अंश के निवेश की सार्थकता तभी हो सकती है जब योगी जनों का अस्तित्व हो, अतः उन्हीं के विषय में प्रश्न होता है कि उनके अस्तित्व में क्या प्रमाण है ? उत्तर है कि योगी जनों के अस्तित्व में अनुमान प्रमाण है और उसका प्रयोग इस प्रकार है—

'परमाणु किसी पुरुष को प्रत्यक्षग्राह्य हैं' क्योंकि वे प्रमेय हैं, जो प्रमेय होता है वह अवश्य ही किसी पुरुष को प्रत्यक्षग्राह्य होता है जैसे घड़ा' इस अनुमान से परमाणु को प्रत्यक्ष देखने वाले पुरुष की सिद्धि होती है। तो जो पुरुष परमाणुवों को प्रत्यक्ष देखता है, जिसमें परमाणुओं के प्रत्यक्षज्ञान का उदय होता है वह हम जैसे साधारण मनुष्यों से विलक्षण कोई योगी ही हो सकता है।

उक्त हेतु के शरीर से 'सामान्यवत्त्व' को निकाल देने पर जो अंश बच जाता है, यदि केवल उतने को ही उक्त अनुमान में हेतु माना जायगा तो सामान्य तथा शब्दध्वंस में हेतु अनित्यत्व—विनाशावच्छिन्नस्वरूपत्वका व्यभिचारी हो जायगा, और जब 'सामान्यवत्त्व' अंश हेतु के शरीर में रहेगा तब सामान्य आदि में व्यभिचार नहीं होगा क्योंकि सामान्य, विशेष और समवाय के सामान्यहीन होने के कारण सामान्य में 'सामान्यवत्त्व' से घटित हेतु न रहेगा। अतः सामान्य आदि में उक्त हेतु अनित्यत्व का व्यभिचारी न होगा।

उक्त हेतु के निर्दोष होने से उसके द्वारा अनुमान प्रमाण से शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि हो जाने से मीमांसकों का शब्दनित्यत्ववाद अनायास ही धराशायी हो जाता है।

१६ बुद्धि—

बुद्धि आत्मा का एक विशेष गुण है। इसका लक्षण है 'अर्थविषयक प्रकाश'। जो प्रकाश अर्थविषयक हो वह बुद्धि है। इस लक्षण में से 'प्रकाश' अंश को निकाल देने

१७. प्रीतिः सुखम् । तच्च सर्वात्मनामनुकूलवेदनीयम् ।

१८. पीडा दुःखम् । तच्च सर्वात्मनां प्रतिकूलवेदनीयम् ।

१९. राग इच्छा ।

२०. क्रोधो द्वेषः ।

२१. उत्साहः प्रयत्नः ।

बुद्ध्यादयः षण् मानसप्रत्यक्षाः ।

पर 'अर्थो बुद्धिः' इतना ही शेष होगा और यदि इतने को ही बुद्धि का लक्षण माना जायगा तो बुद्धि से अन्य वस्तुमात्र में अतिव्याप्ति होगी। क्यों कि बुद्धि के समान अन्य सम्पूर्ण वस्तुयें भी 'अर्थ' शब्द से संगृहीत होती हैं। इसी प्रकार यदि 'अर्थ' अंश को लक्षण से निकाल दिया जायगा तब 'प्रकाशो बुद्धिः' इतना ही लक्षण का स्वरूप होगा, और उतने मात्र को लक्षण मानने पर प्रदीप आदि के प्रकाश में अतिव्याप्ति होगी। किन्तु जब 'अर्थ' अंश को लक्षण का घटक बनाया जायगा तब 'अर्थविषयकः प्रकाशो बुद्धिः' यह लक्षण बनेगा, अतः प्रदीप आदि के प्रकाश में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्यों कि बुद्धि-रूप प्रकाश ही अर्थविषयक होता है तैजस प्रकाश तो निर्विषयक होता है। 'अर्थ-विषयिणी बुद्धिः' जो अर्थविषयक हो वह बुद्धि है इतने को भी बुद्धि का लक्षण नहीं माना जा सकता क्यों कि अर्थविषयक इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और संस्कार में अतिव्याप्ति हो जायगी।

'तर्कसंग्रह' आदि ग्रन्थों में बुद्धि का एक अन्य लक्षण बताया गया है जो आपाततः उक्त लक्षण की अपेक्षा अधिक हृदयस्पर्शी प्रतीत होता है। वह लक्षण है—'सर्वव्यवहार-हेतुर्गुणो ज्ञानम्—सम्पूर्ण व्यवहार के असाधारणकारणभूत गुण का नाम है ज्ञान'। ज्ञान बुद्धि का ही नामान्तर है। यह लक्षण अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होता है क्यों कि संसार में जितना भी व्यवहार होता है वह किसी न किसी वस्तु के सम्बन्ध में होता है और वह तभी होता है जब व्यवहरणीय वस्तु का ज्ञान होता है। वस्तु जब तक ज्ञात नहीं होती तब तक उसके सम्बन्ध में व्यवहार का उदय नहीं होता। अतः उक्त लक्षण की उपयुक्तता अत्यन्त स्पष्ट है। किन्तु तर्कभाषाकार ने इस प्रकार का लक्षण न कर 'अर्थप्रकाशो बुद्धिः' इस प्रकार का लक्षण किया है। इससे ज्ञात होता है कि उनकी दृष्टि में 'तर्कसंग्रह' में बताये गये लक्षण जैसा लक्षण अवश्य ही किसी दोष से युक्त है, और वह दोष सम्भवतः यही है कि निर्विकल्पक ज्ञान में उक्त लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है क्यों कि उससे किसी प्रकार के व्यवहार का साक्षात् उदय नहीं होता।

यहाँ यह बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि सांख्य शास्त्र में 'अन्तःकरण' को 'बुद्धि', बुद्धि के 'अर्थाकार परिणाम' को 'ज्ञान' और 'आत्मामें उस ज्ञान के प्रतिबिम्ब' को 'उपलब्धि' कहा गया है। वेदान्त आदि दर्शनों में भी अन्तःकरण को बुद्धि, बुद्धि के अर्थाकार परिणाम को 'वृत्तिरूप गौण ज्ञान' तथा आत्मा को 'मुख्य ज्ञान' कहा गया है। पर न्याय-वैशेषिक दर्शन को यह सब मत मान्य नहीं है, उसकी दृष्टि में बुद्धि आत्मा का एक विशेष गुण है। ज्ञान, बोध, प्रतीति, प्रत्यय, उपलब्धि आदि उसी के नामान्तर हैं।

बुद्धि के दो भेद हैं–नित्य और अनित्य। ईश्वर की बुद्धि नित्य है। उसका जन्म और विनाश नहीं होता। वह एक और सर्वविषयक होती है। जीव की बुद्धि अनित्य है। स्वस्थ शरीर में जीव और मन का संयोग होने पर अन्य कारणों के सन्निधान में जीव में बुद्धि का उदय होता है और दूसरे क्षण जीव में उत्पन्न होने वाले गुण से तीसरे क्षण उसका नाश हो जाता है। इस क्रम का अपवाद केवल अपेक्षाबुद्धि के विषय में माना जाता है, क्यों कि द्वित्व के प्रत्यक्ष के अनुरोध से द्वित्व के दूसरे क्षण में उत्पन्न होने वाले द्वित्वगत सामान्य के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से अपने जन्म से चौथे क्षण में उसके नाशकी उत्पत्ति मानी जाती है।

नैयायिकों ने अनित्य बुद्धि को 'अनुभव' और 'स्मृति इन दो वर्गों में विभक्त कर अनुभव को 'प्रमा' और 'अप्रमा' के दो वर्गों में बांटा है और 'स्मृति' को उनका अनुगामिनी माना है। प्रमा का उदय गुणसहकृत प्रमाण और अप्रमा का उदय दोषसहकृत प्रमाण से मान कर अप्रमा को 'संशय', 'विपर्यय' और 'आहार्य' इन तीन श्रेणियों में विभाजित किया है।

संशय—

वैशेषिकों ने बुद्धि के 'विद्या और अविद्या' यह दो भेद बताकर अविद्या को 'संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और स्वप्न' इन चार श्रेणियों में विभाजित किया है।

प्रमा का लक्षण पहले बताया जा चुका है। प्रमा से भिन्न ज्ञान को अप्रमा या अविद्या कहा जाता है। उसके उक्त भेदों में 'संशय' उस ज्ञान का नाम है जो एक धर्मी में परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को ग्रहण करता है, जैसे 'अयं स्थाणुर्न वा' इत्याकारक ज्ञान। यह ज्ञान पुरोवर्ती वस्तु में परस्परविरोधी स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभाव को ग्रहण करने से 'संशय' है।

विपर्यय—

जो ज्ञान किसी वस्तु को उससे शून्य धर्मी में ग्रहण करता है किन्तु उसके अभाव को नहीं ग्रहण करता उसे 'विपर्यय' कहा जाता है, जैसे शुक्ति में रजतत्व का 'इदं रजतम्'

इत्याकारक निश्चय। यह ज्ञान रजतत्व से शून्य शुक्ति में रजतत्व को ग्रहण करने और रजतत्वाभाव को ग्रहण न करने से 'विपर्यय' है।

अनध्यवसाय—

जो ज्ञान किसी वस्तु को उसके किसी विशेषरूप में ग्रहण न कर केवल सामान्यरूप में ग्रहण करता है, जिसे 'इदं यत्किञ्चित्—यह कुछ है' इस शब्द से अभिहित किया जाता है। जिससे उसके विषयभूत वस्तु के सम्बन्ध में 'किमिदम्—यह क्या है?' इस प्रकार की जिज्ञासा का उदय होता है, उस ज्ञान को 'अनध्यवसाय' कहा जाता है। उसे 'आलोचनमात्र' शब्द से भी व्यवहृत किया जाता है।

स्वप्नज्ञान—

जो ज्ञान स्वप्न की अवस्था में उत्पन्न होता है उसे 'स्वप्नज्ञान' कहा जाता है। जब समस्त इन्द्रियाँ निर्व्यापार हो जाती हैं, इन्द्रियों के साथ मन का कोई सम्पर्क नहीं रह जाता, मन शरीर के इन्द्रियशून्य भाग में चला जाता है, उस समय आत्मा के साथ मन का जो संयोग होता है उसी को 'स्वाप' या 'स्वप्न' कहा जाता है। इस संयोग तथा जागरणकाल के अनुभव से उत्पन्न संस्कार—इन दो कारणों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को स्वप्नावस्था में जायमान होने से 'स्वप्नज्ञान' कहा जाता है। यह ज्ञान अपने विषय के देशस्थ, कालस्थ और बुद्धिस्थ न होने पर भी केवल संस्कारस्थ होने मात्र से उत्पन्न होने के कारण 'अविद्या' में परिगणित होता है। इसके तीन विशेष कारण हैं—संस्कारपाटव, धातुवैषम्य और अदृष्ट। प्रत्येक स्वप्नज्ञान की उत्पत्ति में इन तीनों की अपेक्षा होती है, इन तीनों में एक कोई कभी मुख्य होता है और अन्य दो उसके सहायक होते हैं। जो स्वप्नज्ञान ज्ञेय अर्थ के संस्कार की तीव्रता से उत्पन्न होता है उसे 'संस्कारपाटवज' कहा जाता है, जैसे क्रोधी, कामी और लोभी पुरुष को स्वप्न की अवस्था में उत्पन्न होने वाला अपराधी, नारी तथा धन का ज्ञान। जो स्वप्नज्ञान वात, पित्त, कफ, इन तीन धातुवों के वैषम्य से उत्पन्न होता है उसे 'धातुज' या 'धातुवैषम्यज' कहा जाता है, जैसे वातप्रधान मनुष्य को विमान से आकाश में उड़ने का ज्ञान, पित्त-प्रधान मनुष्य को आग की ज्वाला, सोने के ढेर आदि का ज्ञान और कफप्रधान मनुष्य को नदी तैरने, हिमपात आदि होने का ज्ञान।

जिस स्वप्नज्ञान के उदय में संस्कारपाटव या धातुवैषम्य की प्रधानता नहीं होती उसे 'अदृष्टज' कहा जाता है। इस श्रेणी में जागरणकाल में अघटित घटना के ज्ञान की गणना की जा सकती है, जैसे वाराणसी में अवस्थित मनुष्य को प्रयाग में घटनाओं के घटित होने का ज्ञान। स्पष्ट है कि जागरणकाल में किसी भी मनुष्य को ऐसा ज्ञान कभी नहीं होता कि वह देखे कि वह स्वयं तो वाराणसी में अवस्थित है पर घटनायें उसके

सन्मुख प्रयाग में घटित हो रही हैं। किन्तु स्वप्न की अवस्था में ऐसे ज्ञान के होने में किसी की कोई विमति नहीं है।

स्वप्नान्तिक—

स्वप्न की अवस्था में एक प्रकार का एक ज्ञान और होता है जो स्वप्न के पूर्व भाग में उत्पन्न होने वाले ज्ञान के विषय में स्वप्न के उत्तर भाग में प्रादुर्भूत होता है, उसे 'स्वप्नान्तिक' कहा जाता है, उसका परिगणन अविद्या में न होकर विद्या में किया जाता है क्यों कि वह स्वप्नज्ञान के विषय का यथार्थ ज्ञान होता है।

आहार्य—

विरोधी निश्चय के रहते इच्छा के बल उत्पन्न होने वाले ज्ञान को 'आहार्य' कहा जाता है। जैसे 'ह्रदोनिर्वह्निः—जलाशय वह्नि से शून्य है' इस निश्चय के रहते 'ह्रदे वह्निज्ञानं जायताम्—जलाशय में वह्नि का ज्ञान हो' इस इच्छा से उत्पन्न होने वाला 'निर्वह्निः ह्रदो वह्निमान्–वह्नि से शून्य जलाशय में वह्नि है' यह ज्ञान। आहार्य ज्ञान प्रत्यक्षात्मक ही होता है। परोक्ष नहीं होता, अतः अनुमिति आदि को न्यायमत में आहार्य नहीं माना जाता।

१७. सुख—

प्रीति का नाम है सुख। उसका लक्षण है 'सर्वेषामनुकूलवेदनीयम्—जिसे सब लोग अनुकूलरूप में ही अनुभव करें, जो सब लोगों को काम्य ही हो'। संसार में सुख ही एक ऐसी वस्तु है जिसे सब लोग अनुकूल ही मानते हैं, जिसकी सब लोगों को कामना ही होती है। न्यायवैशेषिक दर्शन की दृष्टि में यह जीवात्मा का एक विशेष गुण है। उसका उदय धर्म—पुण्य से होता है। वेदान्त आदि कतिपय दर्शनों में नित्य सुख की भी सत्ता मानी गई है जो न्यायवैशेषिक दर्शन को मान्य नहीं है।

दुःख—

पीड़ा का नाम है दुःख। उसका लक्षण है 'सर्वात्मनां प्रतिकूलवेदनीयम्—जो सभी प्राणियों को प्रतिकूल ही जान पड़े, जो सबके लिये त्याज्य ही हो'। संसार में दुःख ही एक ऐसी वस्तु है जिसे सब लोग प्रतिकूल ही समझते हैं, जिसका सब लोग त्याग ही करना चाहते हैं।

१९. इच्छा—

राग का नाम है इच्छा। लालसा, कामना, स्पृहा, अभिलाष आदि उसी के नामान्तर हैं। इसके दो भेद हैं—नित्य और अनित्य। ईश्वर की इच्छा नित्य होती है। वह सर्वविषयक और एक होती है। जीव की इच्छा अनित्य होती है। अनित्य इच्छा के

दो भेद होते हैं–फलेच्छा–फल की इच्छा और उपायेच्छा–फल के साधनों की इच्छा। फल की इच्छा फल के स्वरूपज्ञानमात्र से उत्पन्न होती है। फल के भी दो भेद होते हैं–भावात्मक और अभावात्मक। भावात्मक फल है सुख और अभावात्मक फल है दुःख की निवृत्ति। इन दोनों का स्वरूपज्ञान होते ही इनकी इच्छा का उदय होता है। इन दो फलों से भिन्न जितने भी कार्य हैं वह सब साक्षात् अथवा परम्परया इन फलों के साधन होते हैं। उन साधनों की इच्छा का उदय फलसाधनता के ज्ञान से होता है। इच्छा के अनन्तर इष्यमाण वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न होता है। इस प्रयत्न को 'प्रवृत्ति' कहा जाता है। इस प्रवृत्ति के द्वारा इच्छा का यह लक्षण किया जाता है कि 'प्रवृत्ति के साक्षात् कारण एवं प्रवृत्ति के समानविषयक गुण में रहने वाली गुणत्वव्याप्य जाति का जो आश्रय हो' उसका नाम है 'इच्छा'। उपर्युक्त संकेतानुसार प्रवृत्ति का साक्षात् कारण एवं प्रवृत्ति का समानविषयक गुण है 'इच्छा', उसमें रहने वाली गुणत्व-व्याप्य जाति है 'इच्छात्व'। यह जाति नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की इच्छाओं में रहने तथा इच्छा से अन्य में न रहने से इच्छा का लक्षण है। यही मनुष्य के भोग और मोक्ष का मूल है। जब मनुष्य को विषयों की इच्छा होती है तब वह उनके संग्रह के लिये यत्नशील हो विविध प्रकार के आविष्कारों द्वारा संसार का संवर्धन कर उसमें लिप्त हो दुखी होता है। और जब उसे विषयों की इच्छा न हो कर अपने वास्तव स्वरूप को एवं भगवत्स्वरूप को जानने की इच्छा होती है तब वह संसार के विविध व्यापारों में न पड़ कर आत्माभिमुख और परमात्माभिमुख हो सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है। किसी भक्त कवि ने कितना सुन्दर कहा है कि—

> प्रसरति विषयेषु येषु रागः परिणमते विगतेषु तेषु शोकः।
> त्वयि रुचिरुचिता नितान्तकान्ते रुचिपरिणामशुचामगोचरोऽसि ॥

जिन विषयों में मनुष्य का राग बढ़ता है, उनका वियोग होने पर वह राग मनुष्य के शोक का मूल बन जाता है। अतः मनुष्य के लिये विषयों में राग न कर परमकान्त परमेश्वर में ही राग करना उचित है, क्यों कि परमेश्वर शाश्वत है, उसका वियोग कभी सम्भव नहीं है। अतः उसमें किया गया राग कभी शोक का मूल नहीं बन सकता।

२० द्वेष—

क्रोध का नाम है द्वेष। यह जीव का विशेष गुण है। इसके दो भेद हैं–दुःखद्वेष और दुःखसाधनद्वेष। दुःखद्वेष का उदय दुःख के स्वरूपज्ञान-मात्र से होता है। दुःख-साधनद्वेष दुःखसाधनता के ज्ञान से उत्पन्न होता है।

२१ प्रयत्न—

उत्साह का नाम है प्रयत्न। इसके दो भेद हैं–नित्य और अनित्य। ईश्वर का प्रयत्न

२२–२३ धर्माऽधर्मौ सुखदुःखयोरसाधारणकारणे। तौ चाऽप्रत्यक्षावप्यागमगम्यावनुमानगम्यौ च। तथाहि देवदत्तस्य शरीरादिकं देवदत्तविशेषगुणजन्यं, कार्यत्वे सति देवदत्तस्य भोगहेतुत्वाद्, देवदत्तप्रयत्नजन्यवस्तुवत्। यश्च शरीरादिजनक आत्मविशेषगुणः, स एव धर्मोऽधर्मश्च। प्रयत्नादीनां शरीराद्यजनकत्वादिति।

नित्य है, वह एक और सर्वविषयक है। अनित्य प्रयत्न के तीन भेद हैं–प्रवृत्ति, निवृत्ति और जीवनयोनि। इनमें 'प्रवृत्ति' का उदय राग से, 'निवृत्ति' का उदय द्वेष से और 'जीवनयोनि' का उदय जीवनादृष्ट—प्रारब्धकर्म से होता है। इन प्रयत्नों में पहले के दो प्रयत्न केवल जागरणकाल में होते हैं और उस समय भी कादाचित्क होते हैं, किन्तु तीसरा प्रयत्न अनवरत होता रहता है। जब तक प्राणी के प्रारब्धकर्मों का भोग समाप्त नहीं होता तब तक इस प्रयत्न की धारा प्रवाहित होती रहती है। प्रारब्ध कर्म उस कर्मसमूह–धर्माधर्मसमूह को कहा जाता है जिसके फलभोग के लिये प्राणी को एक शरीर की प्राप्ति होती है। उस कर्म का फलभोग जब तक पूरा नहीं हो जाता तब तक प्राणी का उस शरीर में जीवित रहना आवश्यक होता है। जीवन के लिये श्वास–प्रश्वास की गति आवश्यक होती है। अतः उसके निर्वाहार्थ पूरे जीवन भर इस प्रयत्न का होते रहना अनिवार्य है।

बुद्धि–निर्विकल्पक से भिन्न सम्पूर्ण जन्य ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न–प्रवृत्ति–निवृत्ति, ये छः गुण मानस प्रत्यक्ष के विषय हैं। ये गुण जिस आत्मा में उत्पन्न होते हैं उसे इन गुणों का मन इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है।

२२-२३ धर्म और अधर्म—

'धर्म' का दूसरा नाम है पुण्य या सुकृत और 'अधर्म' का दूसरा नाम है पाप या दुष्कृत। यह दोनों जीव के विशेषगुण हैं। इनमें धर्म का लक्षण है–'सुख का असाधारणकारणभूत आत्मा का विशेषगुण' और अधर्म का लक्षण है 'दुःख का असाधारणकारणभूत आत्मा का विशेषगुण'। यह लक्षण इस मान्यता पर आधारित है कि प्राणी को जो सुख होता है वह उसके धर्म–पुण्य से होता है और जो दुःख होता है वह उसके अधर्म–पाप से होता है। यह दोनों गुण यद्यपि अप्रत्यक्ष हैं तथापि अप्रामाणिक नहीं हैं क्यों कि आगम और अनुमान प्रमाण से सिद्ध हैं। उन्हें सिद्ध करने वाले अनुमान का प्रयोग इस प्रकार हो सकता है—

देवदत्त के शरीर आदि देवदत्त के विशेषगुण से जन्य हैं, क्यों कि वह कार्य होते हुये देवदत्त के भोग–सुख–दुःख के साक्षात्कार के साधन हैं, जैसे देवदत्त के गृह आदि।

इस अनुमान में 'देवदत्त का शरीर आदि' पक्ष है। 'देवदत्तविशेषगुणजन्यत्व' साध्य है। 'कार्यत्वे सति देवदत्तभोगसाधनत्व' हेतु है। साध्य के शरीर में गुणसामान्य का निवेश न कर विशेष गुण का सन्निवेश किया गया है। यदि ऐसा न किया जाता तो देवदत्त के शरीर में, उसके आरम्भक परमाणुवों के साथ देवदत्त का जो संयोग होता है, तज्जन्यत्व के सिद्ध रहने से सिद्धसाधन हो जाता। कहने का आशय यह है कि शरीराम्भक परमाणुवों में देवदत्त के संयोग से क्रिया का उदय होने पर परमाणुवों का परस्पर संयोग होता है और उस संयोग से द्वचणुक आदि के क्रम से शरीर का निर्माण होता है। अतः विशेषगुण का प्रवेश न करने पर सिद्धसाधन अनिवार्य है।

या, यों भी कहा जा सकता है कि शरीर के हस्त, पाद आदि अवयवों का निर्माण हो जाने पर उन अवयवों में देवदत्त–आत्मा के संयोग से क्रिया होती है, उस क्रिया से अवयवों का संयोग होने पर शरीर की रचना सम्पन्न होती है, अतः देवदत्त के शरीर में देवदत्त के उक्त संयोगरूप गुण की जन्यता सिद्ध है, अतः 'देवदत्तगुणजन्यत्व' का अनुमान करने पर सिद्धसाधन की प्रसक्ति होगी, किन्तु जब 'देवदत्तविशेषगुणजन्यत्व' का अनुमान किया जायगा तब सिद्धसाधन की आपत्ति न होगी, क्यों कि देवदत्त के शरीर को देवदत्त के धर्म-अधर्म से जन्य मानने पर ही उसमें 'देवदत्तविशेषगुणजन्यत्व' सम्भव है और वह उक्त अनुमान के पूर्व असिद्ध है।

हेतु में यदि 'कार्यत्व' का निवेश न होगा तो 'देवदत्तभोगसाधनत्व' देवदत्त के मन और आत्मा में देवदत्तविशेषगुणजन्यत्व का व्यभिचारी हो जायगा। यदि हेतु में देवदत्त का प्रवेश न कर केवल 'कार्यत्वे सति भोगसाधनत्व' को हेतु माना जायगा तो देवदत्त के भोग का साधन न होकर यज्ञदत्त के भोग का साधन करने वाले यज्ञदत्त के शरीर में उक्त हेतु 'देवदत्तविशेषगुणजन्यत्व' का व्यभिचारी हो जायगा, अतः हेतु को उक्त रूप में ही रखना अनिवार्य है।

इस अनुमान से देवदत्त के शरीर में देवदत्त के जिस विशेषगुण का जन्यत्व सिद्ध होता है वह धर्म-अधर्म से भिन्न नहीं हो सकता, क्यों कि धर्म-अधर्म से अन्य प्रयत्न आदि कोई भी विशेष गुण शरीर-रचना के पूर्व विद्यमान नहीं होता।

धर्म-अधर्म के बोधक आगम का उल्लेख ग्रन्थकार ने नहीं किया है। इसके दो कारण हैं एक तो यह कि उन्हें बताने वाले आगम के वचन अनेक हैं, उनमें किसी का उल्लेख करना और किसी का न करना उचित नहीं है और सब का उल्लेख करना सम्भव नहीं है। दूसरा कारण यह है कि आगम अनुमान-निरपेक्ष होकर धर्म-अधर्म का बोध नहीं करा सकते, क्यों कि वे धर्म-अधर्म का नामतः प्रतिपादन न कर किसी कर्म का विधान और किसी कर्म का निषेध करते हैं। जिस कर्म का आगम में विधान

२४. संस्कारव्यवहारासाधारणकारणं संस्कारः। संस्कारस्त्रिविधो वेगो, भावना, स्थितिस्थापकश्च। तत्र वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिः। स च क्रियाहेतुः। भावनाख्यस्तु संस्कार आत्ममात्रवृत्तिरनुभवजन्यः स्मृतिहेतुः। स चोद्बुद्ध एव स्मृतिं जनयति। उद्बोधश्च सहकारिलाभः। सहकारिणश्च संस्कारस्य सदृशदर्शनादयः। यथोक्तम्। 'सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः' इति। स्थितिस्थापकस्तु स्पर्शवद्द्रव्यविशेषवृत्तिः। अन्यथाभूतस्य स्वाश्रयस्य धनुरादेः पुनस्तादवस्थ्यापादकः।

एते च बुद्ध्यादयोऽधर्मान्ता भावना च आत्मविशेषणगुणाः। गुणा उक्ताः।

है वह कालान्तर में इष्ट फल का सम्पादन करता है और जिस कर्म का आगम में निषेध है वह कालान्तर में अनिष्ट फल का सम्पादन करता है। कालान्तर में होने वाले इष्ट-अनिष्ट फलों के पूर्व विहित और निषिद्ध कर्म स्वरूपतः नहीं रहते, अतः उनके व्यापार की कल्पना की जाती है। विहित कर्म के व्यापार को 'धर्म' तथा निषिद्ध कर्म के व्यापार को 'अधर्म' कहा जाता है। व्यापार की यह कल्पना अनुमान से सम्पादित होती है। अतः स्पष्ट है कि आगम से धर्म-अधर्म का बोध सीधे न होकर अनुमान के माध्यम से होता है। अतः उनके अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये आगम का उल्लेख न कर अनुमान का उल्लेख किया गया, किन्तु अनुमान के माध्यम से आगम भी उनकी सिद्धि का सम्पादक होता है अतः उनकी आगमगम्यता का निर्देश कर दिया गया।

२४ संस्कार—

संस्कार का लक्षण है 'संस्कारव्यवहार का असाधारणकारण'। इसका अर्थ यह है कि— 'जो व्यवहार संस्कारमूलक हैं उनके असाधारण कारण को संस्कार कहा जाता है'। जैसे पूर्वानुभूत विषय की कालान्तर में जो शाब्दिक चर्चा होती है, निश्चय ही वह उस विषय के संस्कार के ही कारण होती है, क्यों कि जिस वस्तु के अनुभव से उसके विषय में किसी प्रकार के संस्कार का उदय नहीं होता, कालान्तर में उसके सम्बन्ध में कुछ कहा सुना नहीं जाता।

अथवा 'संस्कारव्यवहारासाधारणकारण' की व्याख्या इस प्रकार भी की जा सकती है—जो 'संस्कार' इस व्यवहार का—'संस्कार' शब्द के प्रयोग का असाधारणकारण होता है वह 'संस्कार' है। इसका अभिप्राय यह है कि संसार में जितने भी शब्द प्रयुक्त होते हैं वह सब किसी अर्थ के बोधनार्थ प्रयुक्त होते हैं। ऐसा कोई शब्द नहीं होता जिसका कुछ अर्थ न हो। और जो जिस शब्द का अर्थ होता है वह उस शब्द के

व्यवहार का असाधारणकारण होता है। इस नियम के अनुसार 'संस्कार' शब्द का कुछ अर्थ होना और उस अर्थ का उसके व्यवहार का असाधारण कारण होना अनिवार्य है। इस प्रकार 'संस्कार' इस व्यवहार का असाधारणकारणभूत जो संस्कारशब्द का अर्थ है उसीका नाम है 'संस्कार'।

संस्कार के तीन भेद हैं—वेग, भावना और स्थितिस्थापक। उनमें 'वेग' पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन में रहता है। वह इन द्रव्यों में क्रिया का जनक होता है।

'भावना' नामक संस्कार केवल आत्मा-मात्र में रहता है। वह अनुभव से उत्पन्न होता है और स्मृति का उत्पादक होता है। वह जब उद्बुद्ध होता है तभी उससे स्मृति का उदय होता है। संस्कार के उद्बुद्ध होने का अर्थ है संस्कार को सहकारी का सन्निधान। उसके सहकारी होते हैं 'सदृशदर्शन' आदि। जैसा कि कहा गया है—

सादृश्य, अदृष्ट, चिन्ता आदि स्मृति के जनक संस्कार के उद्बोधक–सहकारी होते हैं।

आशय यह है कि पूर्वानुभव से जिस वस्तु का संस्कार उत्पन्न हो आत्मा में सुप्तवत् पड़ा रहता है। उस वस्तु के सदृश किसी अन्य वस्तु का जब दर्शन होता है तब इस सदृशदर्शनरूप सहकारी का सन्निधान प्राप्त होने से उक्त संस्कार से उस वस्तु की स्मृति होती है।

मनुष्य को पूर्व जन्म के अनुभव से स्तन्यपान में इष्टसाधनता का संस्कार पहले से ही रहता है। नये जन्म में शिशु होकर जब वह उत्पन्न होता है तब अदृष्टरूप सहकारी के सहयोग से उसे उस संस्कार से स्तन्यपान में इष्टसाधनता की स्मृति होती है।

विद्यार्थी पाठ्यग्रन्थ का अभ्यास कर पाठ्य विषय के संस्कार से सम्पन्न हो जब परीक्षा में प्रविष्ट होता है तब अधीत विषयों के चिन्तनरूप सहकारी के सहयोग से उस संस्कार से उसे अधीत विषयों की स्मृति होती है।

'स्थितिस्थापक' संस्कार स्पर्श के आश्रयभूत विशेषद्रव्यों में रहता है। यह धनुष आदि जिस आश्रय में रहता है वह आश्रय खींचने के कारण कुछ देर के लिये यदि किसी अन्य प्रकार की स्थिति में हो जाता है तो यह संस्कार उसे उसकी पूर्व स्थिति में पुनः पहुँचा देता है।

बुद्धि से लेकर अधर्मपर्यन्त और भावना अर्थात् बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावनानामक संस्कार, ये नव आत्मा—जीवात्मा के विशेष गुण हैं।

गुण का निरूपण पूर्ण हुआ।

अब कर्म का निरूपण किया जायगा।

३. कर्माणि उच्यन्ते। चलनात्मकं कर्म। गुण इव द्रव्यमात्रवृत्ति। अविभुद्रव्यपरिमाणेन मूर्तत्वापरनाम्ना सहैकार्थसमवेतं, विभागद्वारा पूर्वसंयोगनाशे सत्युत्तरदेशसंयोगहेतुश्च। तच्च उत्क्षेपण-अपक्षेपण-आकुञ्चन-प्रसारण-गमन-भेदात् पञ्चविधम्। भ्रमणादयस्तु गमनग्रहणेनैव गृह्यन्ते।

४. अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्। द्रव्यादित्रयवृत्ति। नित्यम्, एकम्, अनेकानुगतं च। तच्च द्विविधं परमपरं च। परं सत्ता बहुविषयत्वात्। सा चाऽनुवृत्तिप्रत्ययमात्रहेतुत्वात् सामान्यमात्रम्। अपरं द्रव्यत्वादि, अल्पविषयत्वात्। तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद् विशेषः।

कर्म—

चलने का नाम है 'कर्म'। वह गुण के समान द्रव्यमात्र में रहता है, विभुभिन्न द्रव्य के 'मूर्तत्व' परिमाण के साथ एक अर्थ में समवेत होता है। अर्थात् विभु द्रव्यों में उत्पन्न न होकर मूर्त द्रव्यों में उत्पन्न होता है। वह जिस द्रव्य में उत्पन्न होता है उसे पूर्वस्थान से विभक्त एवं उसके साथ विद्यमान उसके पूर्वसंयोग को नष्ट कर दूसरे स्थान के साथ उसे संयुक्त करता है।

कर्म के पांच भेद हैं (१) उत्क्षेपण—अपने आश्रय द्रव्य को ऊपर की ओर ले जाने वाली क्रिया, (२) अपक्षेपण—अपने आश्रय को नीचे की ओर ले जाने वाली क्रिया। (३) आकुञ्चन—अपने आश्रय को संकुचित करने वाली क्रिया। (४) प्रसारण—अपने आश्रय को फैलाने वाली क्रिया और गमन—साधारण ढंग का चलन। भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, ऊर्ध्वज्वलन और तिर्यग्गमन पांचवें कर्म 'गमन' में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। अतः उन सबों को मिला कर 'कर्म' को दशविध नहीं कहा जा सकता।

सामान्य—

अनुवृत्ति प्रत्यय—अनुगत प्रतीति-एकाकार बुद्धि के कारण का नाम है 'सामान्य'। सामान्य का अर्थ है—समानानां भावः-सदृश पदार्थों में—एक ढंग की वस्तुवों में रहने वाला एक धर्म। जैसे सैकड़ों घट में रहने वाला घटत्व-धर्म। सैकड़ों घड़ों में 'अयं घटः—यह घट है', 'अयं घटः-यह घट है' इस प्रकार की प्रतीति और उन प्रतीतियों की एकाकारता प्रायः सर्वसम्मत है। यह एकाकारता धर्मी—घट को लेकर सम्भव नहीं है क्यों कि उन प्रतीतियों का धर्मी एक नहीं है। अतः यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि प्रतीतियों की यह एकाकारता धर्म को लेकर है। घट के अनेक होने पर भी उनमें घटत्वरूप एक धर्म के होने के कारण अनेक घटों की एकाकार प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं होती है।

सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थों में रहता है। उसका दूसरा लक्षण है 'नित्यत्वे एकत्वे च सति अनेकानुगतत्व'। इसके अनुसार सामान्य नित्य, एक और अनेकवृत्ति होता है। उसके दो भेद हैं—पर और अपर। 'सत्ता' जाति पर है' क्यों कि वह बहुविषयक है, उसके आश्रय बहुत हैं। वह अनुगताकार प्रतीतिमात्र का ही कारण होने से सामान्यमात्र है। द्रव्यत्व आदि जातियाँ अपर हैं क्यों कि वे अल्पविषयक हैं। उनके आश्रय सत्ता के आश्रयों की अपेक्षा अल्प हैं। वह व्यावृत्ति— भेदबुद्धि का भी कारण होने से सामान्य होते हुये विशेषरूप भी हैं। अतः उन्हें केवल सामान्य अथवा केवल विशेष न कह कर 'सामान्यविशेष' शब्द से अथवा 'परापर' शब्द से अभिहित किया जाता है। सामान्य का नामान्तर है 'जाति'। जातिको तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। पर, अपर, परापर, अथवा सामान्य, विशेष, सामान्यविशेष। जो जाति किसी जाति की अपेक्षा व्याप्य–न्यूनवृत्ति नहीं होती उसे 'पर' कहा जाता है, जैसे 'सत्ता' जाति किसी जाति की अपेक्षा न्यूनवृत्ति न होने से 'पर' है। जो जाति किसी जाति की अपेक्षा व्यापक–अधिकवृत्ति नहीं होती उसे 'अपर' कहा जाता है, जैसे घटत्व, पटत्व आदि जातियां किसी जाति की अपेक्षा व्यापक न होने से 'अपर' हैं। जो जाति किसी जाति का व्याप्य और किसी जाति का व्यापक होती है उसे 'परापर' कहा जाता है, जैसे द्रव्यत्व, गुणत्व आदि जातियां सत्ता जाति का व्याप्य तथा पृथ्वीत्व, रूपत्व आदि जातियों का व्यापक होने से 'परापर' हैं। 'पर' जाति को अनुगत प्रतीतिमात्र का साधक होने से 'सामान्य', 'अपर' जाति को भेदबुद्धिमात्र का साधक होने से 'विशेष' और 'परापर' जाति को अनुगत प्रतीति और भेदबुद्धि दोनों का साधक होने से 'सामान्यविशेष' कहा जाता है।

जाति की सिद्धि चार रूपों में होती है। (१) अनुगत प्रतीति के नियामकरूप में तथा (२) कारणता, (३) कार्यता अथवा (४) वाच्यता के अवच्छेदकरूप में। किन्तु उक्त रूप में सिद्ध होने वाले धर्म को जाति मानने में यदि कोई बाधक होता है तो उक्त रूप में सिद्ध होने पर भी उन्हें जाति नहीं माना जाता।

जातिबाधक—

जाति के बाधक छः हैं, जैसे—

> व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।
> रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः॥

(१) व्यक्ति का अभेद—आश्रय की एकता। जिस धर्म का आश्रय केवल एक ही व्यक्ति होता है उसे जाति नहीं माना जाता, जैसे आकाशत्व को एक व्यक्ति आकाशमात्र में आश्रित होने से जाति नहीं माना जाता।

(२) तुल्यत्व—समनियतत्व—दो धर्मों का समनियत होना। यह जातिभेद का बाधक होता है। इसके अनुसार जो दो धर्म समनियत होते हैं उन्हें भिन्न दो जाति के रूप में स्वीकृत नहीं किया जाता, जैसे घटत्व और कलशत्व धर्म समनियत हैं क्यों कि जो घट है वही कलश है और जो कलश है वही घट है, यह दोनों धर्म परस्पर समनियत होने के कारण परस्पर भिन्न दो जाति नहीं माने जाते। इसका तात्पर्य यह है कि घटत्व और कलशत्व इन दो शब्दों से परस्पर भिन्न दो जाति का बोध नहीं होता किन्तु दोनों शब्दों से एक ही जाति का बोध होता है। उस एक जाति को चाहे 'घटत्व' कह लिया जाय और चाहे 'कलशत्व' कह लिया जाय।

(३) संकर—एक दूसरे के अभाव के साथ रहने वाले दो धर्मों का किसी एक आश्रय में रहने को 'संकर' कहा जाता है।

यह संकर जिन धर्मों में होता है उन्हें जाति नहीं माना जाता, जैसे भूतत्व 'आकाश' में मूर्तत्वाभाव के साथ और मूर्तत्व 'मन' में भूतत्वाभाव के साथ रहता है, अतः यह दोनों एक दूसरे के अभाव के साथ रहने वाले धर्म हैं और वह दोनों पृथिवी आदि चार द्रव्यों में एक साथ भी रहते हैं, इसलिये संकरग्रस्त होने से उन्हें जाति नहीं माना जाता।

(४) अनवस्था—अनवस्था का अर्थ है अवस्था—कल्पना की अवधि का अभाव—कल्पना का आनन्त्य। यह जाति को जाति का आश्रय मानने में बाधक है। जैसे 'घटत्वं जातिः, पटत्वं जातिः, मठत्वं जातिः' इन अनुगताकार प्रतीतियों के अनुरोध से घटत्व आदि जातियों को 'जातित्व' नाम की जाति का आश्रय नहीं माना जाता, क्यों कि उक्त अनुगताकार प्रतीति के अनुरोध से घटत्व आदि जातियों में यदि 'जातित्व' नाम की जाति की कल्पना की जायगी तो 'घटत्वं जातिः' आदि प्रतीतियों के समान 'जातित्वं जातिः' इस प्रतीति के अनुरोध से 'जातित्व' नामक एक और ऐसी जाति की कल्पना करनी होगी जो घटत्व, पटत्व, जातित्व आदि समस्त जातियों में रहे। इस द्वितीय 'जातित्व' नामक जाति का अस्तित्व मान लेने पर भी इस कल्पना का अन्त न होगा, क्यों कि इस द्वितीय 'जातित्व' नामक जाति में भी 'जातिः' यह प्रतीति होगी, अतः उसकी उपपत्ति के लिये इस जातित्व में भी 'जातित्व' नामक तीसरी जाति की कल्पना करनी होगी, इस प्रकार जाति को जाति का आश्रय मानने में 'जातित्व' नामक अनन्त जातियों की कल्पना करने का संकट खड़ा होगा, अतः इस अनवस्था के कारण जाति को जाति का आश्रय नहीं माना जा सकता।

(५) रूपहानि—रूपहानि का अर्थ है स्वरूपहानि या लक्षणहानि। यह विशेष पदार्थ को जाति का आश्रय मानने में बाधक है, क्यों कि विशेष पदार्थ में यदि 'विशेषत्व' नामक

जाति या अन्य कोई जाति मान ली जायगी तो उसके 'स्वतोव्यावृत्तत्व-स्वतोभिन्नत्वरूप' लक्षण की हानि हो जायगी, क्यों कि कोई भी जातिमान् पदार्थ स्वतोव्यावृत्त नहीं होता। आशय यह है कि अवयवों के भेद से अवयवी द्रव्यों का भेद बताते हुये जब ऐसे अवयवों पर पहुँचा जाता है जिनमें न कोई अवयव होता और न जातिकृत भेद होता, जैसे पृथिवी के परमाणु, तब उन परमाणुभूत अवयवों के विषय में प्रश्न उठता है कि उन्हें एक दूसरे से भिन्न कैसे समझा जाय? इस प्रश्न के समाधानार्थ उन परमाणुवों में 'विशेष' नामक अतिरिक्त पदार्थ की कल्पना की जाती है। एक परमाणु में रहने वाला विशेष दूसरे परमाणु में नहीं रहता, अतः प्रत्येक परमाणु स्वगत विशेष के द्वारा अन्य परमाणु से भिन्न समझा जाता है। पुनः प्रश्न होता है कि विशेष पदार्थ द्वारा परमाणुवों के परस्पर भेद की सिद्धि तभी हो सकती है जब एक परमाणु में रहने वाला विशेष दूसरे परमाणु में रहने वाले विशेष से भिन्न हो, पर परमाणुगत विशेषों की परस्परभिन्नता को सिद्ध करने का कोई उपाय नहीं है, अतः विशेषद्वारा भी परमाणुवों के परस्पर भेद का साधन कैसे होगा? इस प्रश्न के उत्तर में यह कल्पना की गई है कि विशेष पदार्थ स्वतोव्यावृत्त हैं, एक विशेष को दूसरे विशेष से भिन्न सिद्ध करनेके लिये किसी अतिरिक्त भेदक की आवश्यकता नहीं है, जिस प्रमाण से विशेष की सिद्धि होती है उसीसे उनका परस्पर भेद भी सिद्ध हो जाता है, क्यों कि उनकी भिन्नता के लिये भी यदि अन्य भेदक की आवश्यकता मानी जायगी तो भेदक की कल्पना में अनवस्था होगी। इस प्रकार विशेष पदार्थ को स्वतोव्यावृत्त माना जाता है। अब यदि उसमें 'विशेषत्व' जाति या कोई अन्य जाति मानी जायगी तब उसके स्वतोव्यावृत्तत्व की हानि हो जायगी क्यों कि किसी भी जातिमान् पदार्थ को 'स्वतोव्यावृत्त' नहीं माना जाता। अतः स्वतोव्यावृत्तत्वरूप लक्षण की हानि के भय से विशेष पदार्थ को जाति का आश्रय नहीं माना जा सकता।

(६) असम्बन्ध—असम्बन्ध का अर्थ है सम्बन्ध का—समवाय का अभाव। यह अभाव पदार्थ को जाति का आश्रय मानने में बाधक है। तात्पर्य यह है कि अभाव में कोई पदार्थ समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता और न अभाव स्वयं ही कहीं समवाय सम्बन्ध से रहता, अतः अभाव अनुयोगी या प्रतियोगी किसी भी रूप में समवाय का आश्रय नहीं है। यदि कोई पदार्थ समवाय सम्बन्ध से अभाव में रहता तो अभाव समवाय सम्बन्ध का अनुयोगी होता, क्यों कि जो जिस सम्बन्ध से किसी का आश्रय होता है वह उस सम्बन्ध का अनुयोगी होता है, और जब अभाव समवाय का अनुयोगी होता तो अनुयोगी होने के नाते समवाय का आश्रय होता। इसी प्रकार अभाव स्वयं समवाय सम्बन्ध से यदि कहीं रहता तो समवाय का प्रतियोगी होता, क्यों कि जो जिस सम्बन्ध से रहता है वह उस सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है, और उस स्थिति में अभाव प्रतियोगी होने के नाते समवाय का आश्रय होता, पर यह दोनों बातें नहीं हैं, न तो

अभाव समवाय सम्बन्ध से स्वयं कहीं रहता और न अन्य कोई पदार्थ समवाय सम्बन्ध से उसी में रहता। अतः अभाव प्रतियोगी या अनुयोगी, किसी भी रूप में समवाय का आश्रय नहीं है, उसमें समवाय सम्बन्ध का अभाव है। अब यदि उसमें 'अभावत्व' जाति या अन्य कोई जाति मानी जायगी तो उसके लिए अभाव में समवाय सम्बन्ध की नूतन कल्पना करनी होगी, अतः लाघवात् यही उचित है कि उसमें जाति की कल्पना न की जाय। इस प्रकार 'असम्बन्ध—समवाय सम्बन्ध का अभाव' अभावपदार्थ को जाति का आश्रय मानने में बाधक है।

ऊपर द्रव्य, गुण और कर्म, इन तीन पदार्थों में आश्रित बता कर 'सत्ता' को पर जाति कहा गया है। इस पर प्रश्न यह होता है कि सत्ता 'इदं सत्, इदं सत्' इस प्रकार की अनुगताकार प्रतीतियों के अनुरोध से सिद्ध होती है, अतः उक्त प्रकार की प्रतीति जहाँ जहाँ होती है वहाँ सर्वत्र उसका रहना आवश्यक है। तो 'इदं सत्' यह प्रतीति जैसे द्रव्य आदि पदार्थों में होती है उसी प्रकार वह प्रतीति सामान्य, विशेष और समवाय में भी होती है। इस लिये उक्त प्रतीति के द्वारा सिद्ध होने वाली 'सत्ता' का सामान्य आदि पदार्थों में भी रहना अनिवार्य है। तो फिर उसे द्रव्य, गुण और कर्म में ही आश्रित बताना असंगत क्यों नहीं है? इसका उत्तर यह है कि सत्ता जाति की कल्पना 'इदं सत्, इदं सत्' इस अनुगताकार प्रतीति के अनुरोध से नहीं की जाती किन्तु जन्य भाव में उसके ध्वंसरूप कार्य की जो कारणता है उसके अवच्छेदकरूप में की जाती है। कहने का आशय यह है कि जन्यभाव का ध्वंस प्रतियोगिता सम्बन्ध से न तो अभाव में उत्पन्न होता और न अजन्य भाव में उत्पन्न होता किन्तु जन्यभावमात्र में ही उत्पन्न होता है। अतः प्रतियोगिता सम्बन्ध से जन्यभावध्वंस के प्रति अथवा जन्यभावनिष्ठ प्रति-योगिता सम्बन्ध से ध्वंस के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से जन्यभाव को कारण माना जाता है। जन्यभाव का अर्थ है कालिक, समवाय इस उभय सम्बन्ध से सत्तावान्। इस कार्य-कारणभाव के अनुसार जन्यभाव में ध्वंस की जो उक्त कारणता है उसका कोई न कोई अवच्छेदक मानना आवश्यक है। यह अवच्छेदक वही हो सकता है जो अभाव में तथा नित्यभाव में न रहे। विचार करने पर यही बात समझ में आती है कि उक्त कारणता का अवच्छेदक कालिक और समवाय, इस उभय सम्बन्ध से सत्ता जाति ही हो सकती है। केवल कालिक सम्बन्ध से उसे उक्त ध्वंसकारणता का अवच्छेदक नहीं माना जा सकता, क्यों कि कालिक सम्बन्ध से सत्ता ध्वंस और प्रागभाव में भी रहती है पर उक्त कारणता उनमें नहीं रहती। केवल समवाय सम्बन्ध से भी सत्ता को उक्त कारणता का अवच्छेदक नहीं माना जा सकता, क्यों कि समवाय सम्बन्ध से सत्ता नित्य भाव पदार्थों में भी रहती है पर उक्त कारणता उनमें नहीं रहती। और नियम यह है कि जो अव-

-च्छेद्य के सम्पूर्ण आश्रयों में रहे तथा अवच्छेद्य से शून्य आश्रय में न रहे वही अवच्छे-दक होता है।

यदि यह कहा जाय कि सत्ता को समवाय सम्बन्ध से केवल जन्यभाव में ही आश्रित मान लिया जाय, नित्यभाव में आश्रित न माना जाय, अतः केवल समवाय सम्बन्ध से भी उसे उक्त कारणता का अवच्छेदक मानने में कोई बाधा न होगी। तो यह ठीक नहीं है, क्यों कि सत्ता को जन्यभावमात्र में आश्रित मानने पर द्रव्यत्व आदि के साथ सांकर्य हो जायगा, जैसे द्रव्यत्व है नित्य द्रव्य में उसमें सत्ता नहीं हैं एवं सत्ता है जन्य गुण में उसमें द्रव्यत्व नहीं है और द्रव्यत्व तथा सत्ता दोनों हैं जन्य द्रव्य में। फलतः सत्ता को जन्यभावमात्र में आश्रित मानने पर उसके जातित्व का भङ्ग हो जायगा।

हाँ, तो सत्ता को जब 'इदं सत्, इदं सत्' इस अनुगताकार प्रतीति के अनुरोध से सिद्ध न मान ध्वंस की उक्त कारणता के अवच्छेदकरूप में सिद्ध माना जायगा तब सामान्य आदि में उसका अस्तित्व कैसे होगा ? क्योंकि सामान्य आदि में जब उक्त कारणता नहीं रहती तो उसमें उसका अवच्छेदक भी नहीं रह सकता। यदि कहें कि जैसे नित्य भाव में उक्त कारणता के न रहने पर भी सत्ता मानी जाती है उसी प्रकार सामान्य आदि में भी उसे मानने में कोई बाधा नहीं है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जन्यभाव मात्र में उसे मानने पर सांकर्य से उसके जातित्वभङ्ग की आपत्ति होती है अतः उसे नित्य भाव में भी आश्रित माना जाता है और अतिप्रसक्ति के निरासार्थ केवल समवाय सम्बन्ध से उसे अवच्छेदक न मान समवाय, कालिक, उभय सम्बन्ध से अवच्छेदक माना जाता है, पर सामान्य आदि में उसका अस्तित्व मानने में कोई युक्ति नहीं है, अतः उसे द्रव्य आदि तीन पदार्थों में ही आश्रित कहा गया है।

प्रश्न हो सकता है कि जन्यभाव के ध्वंस की उक्त कारणता के अवच्छेदकरूप में सिद्ध होने वाली 'सत्ता' सामान्य आदि पदार्थों में भले न रहे, पर 'इदं सत्, इदं सत्' इस अनुगताकार प्रतीति के नियामकरूप में सिद्ध होने वाली 'सत्ता' का सामान्य आदि में रहना आवश्यक है क्योंकि द्रव्य आदि में सदाकार प्रतीति के समान 'सामान्यं सत्, विशेषः सन्, समवायः सन्' इस रूप में सामान्य आदि में भी सदाकार प्रतीति का होना सर्वसम्मत है। अतः उसकी उपपत्ति के लिये उनमें भी सत्ता का अभ्युपगम अनिवार्य है, तो द्रव्यादित्रय में रहने वाली सत्ता के साथ द्रव्यादि छः पदार्थों में रहने वाली सत्ता की चर्चा क्यों नहीं की गई ? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि द्रव्यादि-त्रय में रहने वाली सत्ता को ही 'समवाय, स्वसमवायिसमवाय' अन्यतर सम्बन्ध से सदाकार प्रतीति का नियामक मान लेने से द्रव्यादि छहो पदार्थों में उक्त प्रतीति की उपपत्ति हो सकती है, क्योंकि उक्त सत्ता समवाय सम्बन्ध से जैसे द्रव्यादित्रय में रहती है उसी

अत्र कश्चिदाह—'व्यक्तिव्यतिरिक्तं सामान्यं नास्ति' इति। तत्र वयं ब्रूमः। किमालम्बना तर्हि भिन्नेषु पिण्डेष्वेकाकारा बुद्धिः विना सर्वानुगतमेकम्? यच्च तदालम्बनं तदेव सामान्यमिति।

ननु तस्यातद्व्यावृत्तिकृतैवैकाकारा बुद्धिरस्तु। तथाहि, सर्वेष्वेव हि गोपिण्डेषु अगोभ्योऽश्वादिभ्यो व्यावृत्तिरस्ति। तेनाऽगोव्यावृत्तिविषय एवाऽयमेकाकारः प्रत्ययोऽनेकेषु, न तु विधिरूपगोत्वसामान्यविषयः। मैवम्। विधिमुखेनैवैकाकारस्फुरणात्।

प्रकार स्वसमवायिसमवाय सम्बन्ध से वही सत्ता सामान्यादित्रय में भी रहती है, जैसे 'स्व' का अर्थ है द्रव्यादित्रय में रहने वाली सत्ता, उसका समवायी–समवाय सम्बन्ध से आश्रय है द्रव्यादित्रय, उनमें नित्य द्रव्य का समवाय है विशेष में, और तीनों का समवाय है सामान्य और समवाय में।

यदि यह शङ्का की जाय कि सामान्य और विशेष में स्वसमवायिसमवाय सम्बन्ध से सत्ता का रहना तो ठीक है क्योंकि सत्ता के समवायी द्रव्य के साथ उन दोनों का समवाय सम्बन्ध होता है, पर समवाय में उक्त सम्बन्ध से सत्ता का रहना सम्भव नहीं है, क्योंकि सत्ता के समवायी द्रव्यादित्रय के साथ समवाय का समवाय सम्बन्ध नहीं होता। अतः उक्तरीति से द्रव्यादित्रयवृत्ति सत्ता से समवाय में सदाकार प्रतीति का निर्वाह असम्भव है, तो इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि सत्ता के समवायी के साथ समवाय का जो स्वरूप सम्बन्ध है वही समवाय के साथ सत्ता का स्वसमवायिसमवाय सम्बन्ध है, क्योंकि समवाय का स्वरूप समवाय से भिन्न न होकर समवायात्मक ही होता है। अतः समवायगत 'स्वसमवायिस्वरूप' को 'स्वसमवायिसमवाय' शब्द से व्यवहृत करने में कोई बाधा नहीं हो सकती। उक्त प्रकार से द्रव्यादित्रय में रहने वाली सत्ता से ही जब द्रव्यादि छहों में सदाकार प्रतीति की उपपत्ति हो सकती है तब उनमें द्रव्यादित्रय में रहने वाली सत्ता से भिन्न सत्ता की कल्पना नितान्त निराधार है। अतः स्पष्ट है कि द्रव्यादित्रयवृत्ति सत्ता के साथ द्रव्यादि छः पदार्थों में रहने वाली सत्ता की चर्चा केवल इसी कारण नहीं की गई कि उसके अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है।

इस सम्बन्ध में एक दार्शनिक सम्प्रदाय—बौद्धसम्प्रदाय का यह मत है कि 'व्यक्ति से भिन्न सामान्य नहीं होता'। कहने का आशय यह है कि व्यक्ति से भिन्न सामान्य का अस्तित्व तभी हो सकता है जब उसे स्थायी माना जाय, क्योंकि यदि वह स्थायी—विभिन्न कारणों में अनुवर्तमान एक न होगा तो विभिन्न काल में होने वाले व्यक्तियों का एक समानधर्मरूप सामान्य कैसे हो सकेगा? और वस्तुस्थिति यह है कि कोई भी सत्–

1977 ५. विशेषो नित्यो नित्यद्रव्यवृत्तिः। व्यावृत्तिबुद्धिमात्रहेतुः। नित्यद्रव्याणि त्वाकाशादीनि पञ्च। पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणुरूपाः।

भावात्मक पदार्थ स्थायी—विभिन्न कालों से सम्बद्ध नहीं हो सकता, क्यों कि युक्ति और प्रमाण से भावमात्र की क्षणिकता सिद्ध है। 'सर्वं क्षणिकम्' यह एक सुपरीक्षित सिद्धान्त है। अतः प्रत्येक क्षणिक भाव ही सामान्य है। जिसे सामान्य का आश्रय कहा जाता है, सामान्य उस आश्रय से भिन्न नहीं है।

इस मत के विपरीत नैयायिकों और वैशेषिकों का कथन यह है कि अनेक व्यक्तियों में अनुगत एक धर्म की प्रामाणिकता यदि न मानी जायगी तो विभिन्नकालिक विसदृश पिण्डों में जो एकाकार बुद्धि होती है, वह निरालम्बन हो जायगी। उसकी उपपत्ति न हो सकेगी। अतः अनेकवृत्ति, एक, नित्य, धर्म के रूप में सामान्य की कल्पना अनिवार्य है और उसके फलस्वरूप 'सर्वं क्षणिकम्' यह सिद्धान्त अमान्य है।

इस पर बौद्ध विद्वानों का यह कथन है कि विभिन्नकालिक पदार्थों में जो एकाकार बुद्धि होती है वह 'सामान्यमूलक' न होकर 'अतद्व्यावृत्तिमूलक' है। कहने का तात्पर्य यह है कि विभिन्न गोपिण्डों में जो 'गोत्व' नाम का एक धर्म गृहीत होता है, वह है अवश्य, पर वह भावात्मक धर्म नहीं है किन्तु 'अपोह' रूप है। 'अपगतः—निवृत्तः ऊहः—सदसदात्मकत्वादेः वितर्कः यस्मात्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'अपोह' शब्द का अर्थ है 'सत्, असत्, सदसत्, नो सदसत्' इन चारो कोटियों से मुक्त। उसका दूसरा नाम है 'अतद्व्यावृत्ति'। जैसे गोत्व 'अपोहरूप है—अतद्व्यावृत्तिरूप है' इसमें 'तद्' का अर्थ है 'गो', 'अतद्' का अथ है 'अगो' और 'व्यावृत्ति' का अर्थ है 'भेद'। इस प्रकार गो में जो गोत्व है वह 'अगोव्यावृत्तिरूप' है, वह सम्पूर्ण गौ में विद्यमान है, वही विभिन्न पिण्डों में एकाकार प्रतीति का नियामक है। उससे भिन्न कोई भावात्मक गोत्व उक्त प्रतीतिका नियामक नहीं है।

नैयायिकों और वैशेषिकों को बौद्धों का यह कथन समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्यों कि विभिन्न पिण्डों में जो एकाकार स्फुरण होता है वह विधिमुखेन होता है, निषेधमुखेन नहीं होता। अतः गो आदि विभिन्न पिण्डों में प्रतीत होने वाले गोत्व आदि धर्मों को अतद्व्यावृत्तिरूप न मान कर भावात्मक सामान्य के रूप में स्वीकार करना ही उचित है।

विशेष—

'विशेष' पदार्थ नित्य होता है और नित्य द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहता है। उसका लक्षण है 'व्यावृत्तिबुद्धिमात्रहेतुत्व'। 'व्यावृत्ति' का अर्थ है 'भेद'। अतः 'व्यावृत्त बुद्धि' का अर्थ है 'भेदबुद्धि'। मात्रपद से निराकरणीय है 'अनुगताकारबुद्धि'। अतः पूरे

लक्षण का अर्थ है 'अनुगताकार प्रतीति का हेतु न होते हुये भेदप्रतीति का हेतु होना'। विशेष से एक परमाणु में अन्य सजातीय परमाणु के भेदमात्र की प्रतीति होती है, कोई अनुगताकार प्रतीति नहीं होती, अतः उसमें उक्त लक्षण का समन्वय सम्पन्न होता है। यह लक्षण एक संकेतमात्र है। सर्वथा उपयुक्त लक्षण इस प्रकार हो सकता है। 'जिसमें स्वभिन्न लिङ्ग से स्वसजातीय अन्य के भेद की अनुमिति न हो वह विशेष है'। विशेष को स्वतः भिन्न माना जाता है। उसमें किसी अन्य भेदक का अस्तित्व नहीं माना जाता। अतः एक विशेष में दूसरे विशेष के भेद की अनुमिति किसी विशेषभिन्न लिङ्ग से नहीं होती, इस लिये विशेष में उक्त लक्षण का समन्वय निर्बाध है। प्रश्न होता है कि सर्वत्र एक पदार्थ में सजातीय अन्य पदार्थ के भेद की सिद्धि जब किसी अतिरिक्त भेदक द्वारा ही होती है तब एक विशेष में दूसरे विशेष के भेद की सिद्धि भी स्वतः कैसे होसकती है? इसका उत्तर वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य के अनुसार यह है कि जैसे अन्य वस्तुयें अपवित्र मांस के सम्पर्क से अपवित्र होती हैं किन्तु मांस किसी अन्य मांस के सम्पर्क से अपवित्र नहीं होता, अपि तु स्वतः अपवित्र होता है, उसी प्रकार एकजातीय नित्य द्रव्यों का परस्पर भेद 'विशेष' से होता है और 'विशेष' का परस्पर भेद स्वतः होता है, यह मानने में कोई अनौचित्य नहीं है। आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन यह पाँच, तथा पृथिवी, जल, तेज और वायु के परमाणु—यह चार, इस प्रकार कुल नव द्रव्य नित्य हैं। विशेष पदार्थ इन्हीं द्रव्यों में आश्रित होता है।

प्रश्न हो सकता है कि परमाणु, आत्मा और मन में विशेष की कल्पना तो आवश्यक है, क्यों कि परमाणु में यदि विशेष का अस्तित्व न होगा तो एक जाति के जितने परमाणु हैं उनके गुणधर्म समान होने से उनमें परस्पर भेद की सिद्धि न हो सकेगी। इसी प्रकार आत्मा में यदि विशेष न रहेगा तो उन सभी के गुण धर्म समान होने से उनमें भी परस्पर भेद की सिद्धि न होगी। मन में भी यदि विशेष का अस्तित्व न होगा तो सभी मन के समानगुणधर्मक होने से उनमें भी परस्पर भेद की उपपत्ति न हो सकेगी। किन्तु आकाश, काल और दिक् तो एक ही एक होते हैं। उनका कोई सजातीय नहीं होता। अतः उनमें सजातीय अन्य के भेद के उपपादन की आवश्यकता नहीं होती, और उन तीनों के परस्परभेद की उपपत्ति उनके गुणधर्म से ही हो सकती है, क्यों कि उनके गुणधर्म समान नहीं होते। तो फिर उन तीनों में विशेष पदार्थ का अस्तित्व मानने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर में कहा जा सकता है कि आकाश में शब्द एक ऐसा गुण है जो काल और दिक् में नहीं रहता, अतः उस गुण से आकाश में काल और दिक् के भेद की सिद्धि तो हो सकती है, पर काल और दिक् तो समानगुणधर्मक हैं, क्यों कि दोनों में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग, यह पांच ही गुण रहते हैं। अतः

६. अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः, स चोक्त एव ।

नन्ववयवाऽवयविनावप्ययुतसिद्धौ, तेन तयोः सम्बन्धः समवाय इत्युक्तम् । न चैतद्युक्तम्, अवयवातिरिक्तस्याऽवयविनोऽभावात् । परमाणव एव बहवस्तथाभूताः सन्निकृष्टाः 'घटोऽयं, घटोऽयम्' इति गृह्यन्ते ।

अत्रोच्यते । अस्त्येकः स्थूलो घट इति प्रत्यक्षा बुद्धिः । न च सा परमाणुष्वनेकेष्वस्थूलेष्वतीन्द्रियेषु भवितुमर्हति । भ्रान्तेयं बुद्धिरिति चेत् । न । बाधकाभावात् ।

उनमें परस्परभेद की सिद्धि उनके गुणधर्म से सम्भव न होने के कारण उनमें विशेष पदार्थ की कल्पना आवश्यक है। रही आकाश में विशेष पदार्थ की कल्पना की बात, सो उसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि आकाश में विशेष पदार्थ की कल्पना उसमें अन्य के भेद की सिद्धि करने के लिये नहीं की जाती किन्तु उसमें शब्दकारणता की उपपत्ति के लिये की जाती है। तात्पर्य यह है कि आकाश में शब्द की समवायिकारणता होती है और कारणता विना अवच्छेदक के मान्य नहीं हो सकती, क्यों कि यह नियम है कि जो जो कारणता होती है वह सब किसी धर्म से अवच्छिन्न-नियन्त्रित होती है। अतः आकाश में रहने वाली शब्दकारणता का भी कोई अवच्छेदक मानना आवश्यक है। यह अवच्छेदक आकाशमात्र में आश्रित कोई गुण नहीं हो सकता, क्योंकि आकाशमात्र में आश्रित गुण तीन हैं परिमाण, एकत्व और एकपृथक्त्व, अतः इन तीनों में किसे शब्दसमवायिकारणता का अवच्छेदक माना जाय, इसमें कोई विनिगमना नहीं है, इसलिये उक्त कारणता के अवच्छेदक-रूप में आकाश में विशेष पदार्थ की कल्पना आवश्यक है।

समवाय तथा अवयवी—

अयुतसिद्ध—अपृथक् सिद्ध दो पदार्थों के बीच जो सम्बन्ध होता है, उसका नाम है 'समवाय'। उसका वर्णन प्रसङ्गवश पहले ही कर दिया गया है। शङ्का होती है कि पहले यह भी कहा गया है कि अवयव और अवयवी भी अयुतसिद्ध होते हैं अतः उनमें भी समवाय सम्बन्ध होता है, पर यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि अवयव से भिन्न अवयवी में कोई प्रमाण नहीं है। जिसे घट, पट आदि अवयवी के रूप में समझा जाता है वह विशेष प्रकार से सन्निकृष्ट बहुत से परमाणुओं का एक पुञ्जमात्र है, अन्य कुछ नहीं है, क्योंकि परमाणुओं का पुञ्ज परमाणुओं से भिन्न नहीं होता। इस शङ्का के समाधान में यह कहा जा सकता है कि 'यह एक स्थूल घट है' इस प्रकार की प्रत्यक्षात्मिका बुद्धि का होना सर्वसम्मत है। इस बुद्धि में घटरूप में भासित होने वाले पदार्थ को परमाणुओं का पुञ्ज नहीं कहा जा सकता, क्यों कि यह बुद्धि घट में एकत्व और स्थूलत्व को ग्रहण करती है। किन्तु घट यदि परमाणुपुञ्जरूप होगा तो उसमें एकत्व और स्थूलत्व का ग्रहण नहीं हो सकता,

तदेवं षट् पदार्था द्रव्यादयो वर्णिताः। ते च विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वाद् भावरूपा एव।

७. इदानीं निषेधमुखप्रमाणगम्योऽभावरूपः सप्तमः पदार्थः प्रतिपाद्यते। स चाभावः संक्षेपतो द्विविधः—संसर्गाभावोऽन्योन्याभावश्चेति। संसर्गाभावोऽपि त्रिविधः—प्रागभावः, प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावश्चेति।

क्योंकि परमाणु अनेक और अस्थूल होते हैं अतः उनके पुञ्ज में एकत्व और स्थूलत्व बाधित है। घट को परमाणुपुञ्जरूप मानने में एक और बाधा है, वह यह कि, घट यदि परमाणुपुञ्जरूप होगा तो उसका प्रत्यक्ष न हो सकेगा, क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय होते हैं अतः उनका पुञ्जरूप घट भी अतीन्द्रिय ही होगा, किन्तु होता है एक और स्थूलरूप में घट का प्रत्यक्ष, इसलिये परमाणुपुञ्ज से भिन्न एक और स्थूल रूप में उनके अस्तित्व का अभ्युपगम अनिवार्य है।

यदि यह कहा जाय कि घट में एकत्व और स्थूलत्व की बुद्धि भ्रमरूप है अतः उक्त बुद्धि के विषयभूत घट को परमाणुपुञ्जरूप मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'घट एक और स्थूल नहीं होता' इस प्रकार की बाधक बुद्धि न होने से घट में एकत्व और स्थूलत्व की बुद्धि को भ्रमरूप बताना अयुक्त है।

इस प्रकार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, इन छः पदार्थों का वर्णन किया गया। यह छहो पदार्थ भावरूप हैं क्योंकि यह सब विधिमुख प्रत्यय से ग्राह्य हैं। 'विधिमुख प्रत्यय' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—विधिः—सत्ता, तद्बोधकः शब्दः विधिः—'सद्' इति शब्दः, स मुखम् अभिलापको यस्य स विधिमुखः, स चासौ प्रत्ययः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका अर्थ है 'सत्' शब्द से अभिलाप किया जाने वाला ज्ञान, वह ज्ञान, जो 'नञ्' शब्द के अर्थ का उल्लेख न कर विधि—सत् शब्द के अर्थ का उल्लेख करता है। जैसे 'द्रव्यं सत्' 'गुणः सन्' इत्यादि। इस प्रकार के ज्ञान का जो विषय होता है वह भावरूप होता है। द्रव्य आदि छहो पदार्थ ऐसे ही ज्ञान के विषय होते हैं, अतः वे भावरूप हैं।

अभाव—

अब अभावरूप सातवें पदार्थ का निरूपण किया जायगा। उसका लक्षण है 'निषेध-मुखप्रमाणगम्यत्व'। उसकी व्युत्पत्ति है—'निषेधः—निषेधार्थकः 'नञ्' शब्दः, मुखम् अभिलापकः यस्य, तच्चेदं प्रमाणं—प्रत्ययः, तेन गम्यत्वम्—वेद्यत्वम्'। इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका अर्थ है 'नञ् शब्द से अभिलाप किये जाने वाले ज्ञान का विषय होना'। जैसे 'इदम् इह नास्ति' 'इदम् इदं न भवति' इस प्रकार के ज्ञान निषेधमुख प्रत्यय हैं। इन प्रत्ययों में 'नञ्' शब्द से जिस पदार्थ का उल्लेख होता है

वही अभाव है। संक्षेप में उसके दो भेद हैं--संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव, संसर्गाभाव के तीन भेद होते हैं-प्रागभाव, प्रध्वंस और अत्यन्ताभाव।

संसर्गाभाव—

संसर्गाभाव का अर्थ है संसर्गविरोधी अभाव। यह तीनों अभाव अपने प्रतियोगी के संसर्ग के विरोधी हैं। यह अभाव जब जहाँ रहते हैं तब वहाँ इनके प्रतियोगी का संसर्ग नहीं होता। जैसे तन्तु में जब पट का प्रागभाव होता है तब पट के अनुत्पन्न रहने से तन्तु में पट का संसर्ग नहीं रहता, इसलिये अपने प्रतियोगी के संसर्ग का विरोधी होने से पट का 'प्रागभाव' संसर्गाभाव है। इसी प्रकार तन्तुवों का संयोग नष्ट होने पर जब पट का प्रध्वंस होता है तब तन्तुवों में पट का संसर्ग नहीं रहता, इसलिये अपने प्रतियोगी के संसर्ग का विरोधी होने से पट का 'प्रध्वंस' संसर्गाभाव है। जहाँ पट का अत्यन्ताभाव होता है वहाँ भी पट का संसर्ग नहीं रहता जैसे कपाल में पट का अत्यन्ताभाव रहता है, पट का संसर्ग--समवाय नहीं रहता; अतः अपने प्रतियोगी पट के संसर्ग का विरोधी होने से पट का 'अत्यन्ताभाव' संसर्गाभाव हैं।

अन्योन्याभाव—

अन्योन्याभाव का अर्थ है अन्योन्यत्व—तादात्म्य का विरोधी अभाव। जो अभाव अपने आश्रय में अपने प्रतियोगी के अन्योन्यत्व—तादात्म्य का विरोधी होता है वह अभाव 'अन्योन्याभाव' है। जैसे घट में पट का भेद रहता है, पट का तादात्म्य नहीं रहता, अतः अपने प्रतियोगी के तादात्म्य का विरोधी होने से घट में रहने वाला 'पटभेद' पट का 'अन्योन्याभाव' है।

'अन्योन्याभाव' को 'संसर्गाभाव' नहीं कहा जा सकता, क्यों कि वह अपने आश्रय में अपने प्रतियोगी के संसर्ग का विरोधी नहीं होता। जैसे तन्तु में पट का संसर्ग—समवाय रहते तन्तु में पट का अन्योन्याभाव—भेद रहता है, भूतल में घट का संसर्ग—संयोग रहते भूतल में घट का अन्योन्याभाव—भेद रहता है।

यदि यह कहा जाय कि पट का भेद पट के तादात्म्य का विरोधी है और पट का तादात्म्य पट का संसर्ग है, अतः पटभेद भी अपने प्रतियोगी के संसर्ग का विरोधी हुआ, इसलिए वह भी संसर्गाभाव हो जायगा। तो यह ठीक नहीं है, क्यों कि 'संसृज्यते—एकं वस्तु अन्यवस्तुना आश्रीयते येन असौ संसर्गः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार संसर्ग वही होता है, जिसके द्वारा एक वस्तु अन्य वस्तु का आश्रय होती है। जैसे संयोग, समवाय आदि। क्यों कि इनके द्वारा एक वस्तु अन्यवस्तु का आश्रय होती है। जैसे भूतल संयोग-द्वारा घट का और तन्तु समवाय-द्वारा पट का आश्रय होता है। संसर्ग शब्द की उक्त

उत्पत्तेः प्राक् कारणे कार्यस्याभावः प्रागभावः। यथा तन्तुषु पटाभावः। स चाऽनादिरुत्पत्तेरभावात्। विनाशी च, कार्यस्यैव तद्विनाशरूपत्वात्।

व्युत्पत्ति के अनुसार 'तादात्म्य' संसर्ग नहीं हो सकता क्यों कि उसके द्वारा एक वस्तु अन्य वस्तु का आश्रय नहीं होती। जैसे तत्पट में तत्पट का तादात्म्य होता है पर इस तादात्म्य के द्वारा तत्पट तत्पट का आश्रय नहीं बनता, क्यों कि एक वस्तु में आश्रयाश्रयिभाव नहीं होता।

'अन्योन्याभाव' और 'संसर्गाभाव' को एक अन्य प्रकार से भी लक्षित किया जा सकता है, जैसे—'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव' अन्योन्याभाव है और 'तादात्म्यसम्बन्धानवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव' संसर्गाभाव है। अर्थात् जो अभाव अपने प्रतियोगी के तादात्म्य का विरोधी हो वह अन्योन्याभाव है और जो अपने प्रतियोगी के तादात्म्य का विरोधी न हो वह संसर्गाभाव है। पटभेद पट के तादात्म्य का विरोधी होने से अन्योन्याभाव है। घट का अत्यन्ताभाव घट में घट के तादात्म्य का विरोधी न होने से संसर्गाभाव है। प्रागभाव और प्रध्वंस के समय प्रतियोगी के न रहने से उसके तादात्म्य की प्रसक्ति ही नहीं होती, अतः वे भी अपने प्रतियोगी के तादात्म्य के विरोधी नहीं होते अतः वे भी संसर्गाभाव हैं।

प्रागभाव—

कार्य की उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य का अभाव होता है, यह अभाव ही 'प्रागभाव' है। पट बुने जाने के पूर्व तन्तुवों में पट का अभाव होता है, यह अभाव तन्तु में पट का प्रागभाव है। प्रागभाव अनादि होता है, क्यों कि उसकी उत्पत्ति नहीं होती। उत्पत्ति के समय से ही वस्तु की सत्ता का आरम्भ होता है, अतः उत्पन्न होने वाली वस्तु सादि होती है पर जिस वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती उसकी सत्ता का कोई आरम्भ नहीं होता। वह वस्तु कब से है, नहीं कहा जा सकता। अतः अनुत्पन्न वस्तु का कोई आदि न होने से वह अनादि होती है। पट की उत्पत्ति न होने तक पट का अभाव—प्रागभाव है, यह अभाव कब से है, नहीं कहा जा सकता, अतः यह अभाव अनादि है।

प्रागभाव की उत्पत्ति नहीं होती। इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि उसका विनाश भी नहीं होता। प्रागभाव का विनाश अवश्य होता है, क्यों कि पट के प्रागभाव का यदि विनाश न होगा तो पट की उत्पत्ति हो जाने पर भी पट का प्रागभाव बना रहेगा और उस स्थिति में तन्तुवों में पट का प्रत्यक्ष होने के समय पट के प्रागभाव के भी प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। पट की उत्पत्ति होने पर भी पट के प्रागभाव का नाश न मानने पर एक दूसरी भी आपत्ति होगी। वह आपत्ति है 'उत्पन्न पट के पुनः उत्पत्ति की आपत्ति'। आशय यह है कि यदि प्रागभाव को विनाशी न माना जायगा, तो पट की

उत्पत्ति के समय भी पट का प्रागभाव बना रहेगा, उसका परिणाम यह होगा कि उस समय पट को उत्पन्न करने वाली पूरी सामग्री सुलभ हो जायगी, क्यों कि तन्तु, तन्तु-संयोग और पट का प्रागभाव, पट के ये समस्त कारण उस समय उपस्थित रहेंगे। इसका फल यह होगा कि पट की उत्पत्ति हो जाने के बाद पुनः उसकी उत्पत्ति की आपत्ति होगी।

यदि यह कहा जाय कि पट की उत्पत्ति के समय पट के प्रागभाव का नाश मानने पर पट के प्रत्यक्ष के समय पटप्रागभाव के नाश के भी प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी, पर पटप्रागभाव के नाश का प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः यही मानना उचित है कि पट की उत्पत्ति के समय पटप्रागभाव का नाश नहीं होता, तो यह ठीक नहीं है, क्यों कि पट-प्रागभाव का नाश पट से भिन्न नहीं होता। पट ही पटप्रागभाव का विनाश है, अतः जब पट का प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है तब पटप्रागभाव के नाश का भी प्रत्यक्ष हो ही जाता है। इस लिये पट की उत्पत्ति के समय पटप्रागभाव का नाश मानने में कोई बाधा नहीं हो सकती। प्रागभाव उत्पन्न न होने पर भी नश्वर है। इसी आधार पर उसका लक्षण किया जाता है 'अजन्यत्वे सति विनाशित्वे च सति अभावत्वम्—अजन्य होते हुये नष्ट होने वाला अभाव।

सत्कार्यवादी का आक्षेप और उसका उत्तर—

सांख्य आदि कतिपय दर्शन सत्कार्यवादी हैं। उनका कथन है कि कार्य की उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य का अभाव नहीं माना जा सकता। क्यों कि जिस कार्य का जहाँ अभाव है वहाँ यदि उसकी उत्पत्ति मानी जायगी तो बालू से भी तेल की उत्पत्ति की आपत्ति होगी, क्यों कि जैसे उत्पत्ति के पूर्व तिल में तेल न रहने पर भी तिल से तेल की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार बालू में तेल न रहने पर भी बालू पेरने से भी तेल की उत्पत्ति होनी चाहिए। अतः यह तथ्य स्वीकार करना चाहिये कि कारण में कार्य अव्यक्त रूप से रहता है। तेल तिल में अव्यक्त रूप से रहने के कारण ही तिल से उत्पन्न होता है और बालू में न रहने के कारण बालू से नहीं उत्पन्न होता। अतः उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य का प्रागभाव अप्रामाणिक है।

इस आक्षेप के उत्तर में असत्कार्यवादी न्याय-वैशेषिक दर्शन का यह कथन है कि उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य की अव्यक्त सत्ता मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्यों कि कारण में कार्य का प्रागभाव मानने पर भी कोई आपत्ति नहीं होती है। तिल के समान बालू से भी तेल की उत्पत्ति की जो आपत्ति दी गई है वह नहीं हो सकती, क्यों कि तिल और बालू में तेल का अभाव समान नहीं है, तिल में उसका प्रागभाव है और बालू में उसका अत्यन्ताभाव है। नियम यह है कि जिसमें जिस कार्य का प्रागभाव होता

है उसी से उसकी उत्पत्ति होती है, अतः तिल से हीं तेल उत्पन्न हो सकता है, बालू से नहीं उत्पन्न हो सकता।

यदि पूंछा जाय कि तिल में तेल का प्रागभाव है किन्तु बालू में नहीं है, इसमें क्या प्रमाण है ? तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का प्रश्न सत्कार्यवाद में भी उठ सकता है। उस वाद में भी यह पूंछा जा सकता है कि तिल में तेल अव्यक्त रूप से है और बालू में नहीं है, इसमें क्या प्रमाण है ? यदि इसके उत्तर में सत्कार्यवाद की ओर से यह कहा जाय कि यतः तिल से तेल उत्पन्न होता है, बालू से नहीं उत्पन्न होता, अतः यह कल्पना की जा सकती है कि तिल में तेल अव्यक्त रूप से विद्यमान है और बालू में नहीं है। तो इसके प्रतिवाद में यह कहा जा सकता है कि इस उत्तर से सत्कार्यवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस प्रकार का उत्तर असत्कार्यवाद में भी दिया सकता है। उस वाद में भी यह कहा जा सकता है कि यतः तिल से ही तेल उत्पन्न होता है, बालू से नहीं उत्पन्न होता अतः निर्बाध रूप से यह कहा जा सकता है कि तेल का प्रागभाव तिल में ही होता है, बालू में नहीं होता।

यदि यह शंका की जाय कि उत्पत्ति के पूर्व तेल का अभाव तिल में भी है बालू में भी है, और अभाव की कोई मूर्ति या कोई गुणधर्म नहीं होता, ऐसी स्थिति में यह मानने का कोई आधार नहीं है कि तिल में तेल का अभाव अन्य है और बालू में तेल का अभाव अन्य है। तिल में रहने वाला तेल का अभाव प्रागभाव है और बालू में तेल का अभाव तेल का अत्यन्ताभाव है। तो यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि अभाव की यद्यपि कोई मूर्ति नहीं होती, उसका कोई गुणधर्म नहीं होता, तथापि उसका अपना एक स्वरूप होता है। वह खरहे की सींग जैसा अलीक–निस्स्वरूप नहीं होता। अतः उसमें स्वरूपभेदमूलक भेद का होना अनिवार्य है। अभाव के स्वरूप की निष्पत्ति प्रतियोगी और आश्रय पर निर्भर होती है। जिस अभाव का प्रतियोगी और आश्रय प्रमाणसिद्ध होता है वह अभाव मान्य होता है और जिसका उक्त दोनों में से एक अप्रामाणिक होता है वह अभाव मान्य नहीं होता। जैसे ज्ञेयत्व, वाच्यत्व आदि केवलान्वयी धर्मों का अभाव आश्रय की अप्रामाणिकता के कारण तथा शशशृङ्ग का अभाव प्रतियोगी की अप्रामाणिकता के कारण अमान्य है। जो अभाव मान्य होते हैं उनमें प्रतियोगिता के भेद से भेद होता है। प्रतियोगिता के भेद के कई कारण होते हैं, जैसे प्रतियोगी का भेद, प्रतियोगिता के अवच्छेदक धर्म या सम्बन्ध का भेद आदि। घटत्वेन पटो नास्ति, घटत्वेन मठो नास्ति, इन प्रतीतियों के विषय भूत अभावों की प्रतियोगिता प्रतियोगी के भेद से भिन्न होती है। गुरुत्ववान् नास्ति, रसवान् नास्ति, इन प्रतीतियों के विषयभूत अभावों की प्रति-

उत्पन्नस्य कारणेऽभावः प्रध्वंसाभावः। प्रध्वंसो विनाश इति यावत्। यथा भग्ने घटे कपालमालायां घटाभावः। स च मुद्गरप्रहारादिजन्यः। स चोत्पत्तिमानप्यविनाशी नष्टस्य कार्यस्य पुनरनुत्पत्तेः।

योगिता अवच्छेदक धर्म के भेद से भिन्न होती है। संयोगेन घटो नास्ति, समवायेन घटो नास्ति, इन प्रतीतियों के विषयभूत अभावों की प्रतियोगिता अवच्छेदक सम्बन्ध के भेद से भिन्न होती है।

उत्पत्ति के पूर्व तिल में विद्यमान तैलाभाव और बालू में विद्यमान तैलाभाव में भेद है, क्यों कि उनकी प्रतियोगितावों में भेद है। जैसे तिल में विद्यमान तैलाभाव–तैलप्रागभाव की तैलनिष्ठ प्रतियोगिता बालू में विद्यमान तैलाभाव की तैलनिष्ठ प्रतियोगिता से भिन्न है, क्यों कि पहले अभाव की प्रतियोगिता किसी धर्म या सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं है और दूसरे अभाव की प्रतियोगिता सम्बन्ध और धर्म से अवच्छिन्न होती है। इस लिए उक्त प्रतियोगितावों के भेद से उक्त प्रतियोगितावों के निरूपक अभावों में भेद का होना अपरिहार्य है।

प्रध्वंस––

किसी वस्तु की उत्पत्ति के बाद उसके कारण में उस वस्तु का जो अभाव होता है वह 'प्रध्वस' नामक अभाव है। 'प्रध्वंस' का अर्थ है विनाश। जैसे कपाल में घट की उत्पत्ति के पश्चात् घट पर मुद्गर का अभिघात होने के फलस्वरूप कपाल में जो घट का अभाव होता है वह घट की उत्पत्ति के बाद का कारणगत अभाव होने से घट का 'प्रध्वंस' है। वह उत्पत्तिमान् होने पर भी अविनाशी होता है। अर्थात् प्रध्वंस का जन्म तो होता है, पर नाश नहीं होता। इसीलिये उसका लक्षण किया जाता है—जन्य होते हुये नष्ट न होने वाला अभाव।

प्रश्न हो सकता है कि प्रध्वंस जब जन्य वस्तु है तब अन्य जन्य वस्तुवों के समान उसका भी विनाश होना आवश्यक है, जैसा कि भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है **'जातस्य हि ध्रुवोमृत्युः'** उत्पन्न होने वाले का विनाश ध्रुव है, तो फिर जननशील 'प्रध्वंस'को अविनाशी मानने का क्या कारण है? उत्तर यह है–यदि प्रध्वंस विनाशी होगा तो प्रध्वंस का नाश होने पर प्रध्वस्त पदार्थ के पुनः अस्तित्व की आपत्ति होगी, क्यों कि जैसे प्रागभाव का नाश होने पर प्रागभाव का प्रतियोगी अपने विरोधी के न रहने से अस्तित्व में आ जाता है उसी प्रकार प्रध्वंस का नाश होने पर प्रध्वस के प्रतियोगी का भी उसका कोई विरोधी न रह जाने से अस्तित्व में आ जाना न्यायप्राप्त है। पर ऐसा कभी होता नहीं। ध्वस्त वस्तु कभी पुनः अस्तित्व में आती नहीं। अतः यही मानना उचित प्रतीत होता है कि 'प्रध्वंस' का विनाश नहीं होता।

त्रैकालिकोऽभावोऽत्यन्ताभावः। यथा वायौ रूपाभावः।

अन्योन्याभावस्तु तादात्म्यप्रतियोगिकोऽभावः। 'घटः पटो न भवति' इति।

तदेवमर्था व्याख्याताः।

ननु ज्ञानाद् ब्रह्मणो वा अर्था व्यतिरिक्ता न सन्ति। मैवम्, अर्थानामपि प्रत्यक्षादिसिद्धत्वेनाशक्यापलापत्वात्।

अत्यन्ताभाव—

जो अभाव त्रैकालिक हो—भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों काल में रहे, उस संसर्गाभाव का नाम है 'अत्यन्ताभाव'। उसकी व्युत्पत्ति है—अन्तम् अभावम् अतीतः अत्यन्तः, स चासौ अभावः। इसका अर्थ है अभाव को अतिक्रान्त करने वाला अभाव अर्थात् जिस अभाव का कभी अभाव न हो। जैसे वायु में रूप का अभाव। वायु में रूप कभी नहीं होता, उसमें रूप का अभाव सदैव रहता है, अतः वायु में रहने वाला रूपाभाव रूप का अत्यन्ताभाव है।

अन्योन्याभाव—

जो अभाव अपने प्रतियोगी के तादात्म्य का विरोधी होता है उसे अन्योन्याभाव कहा जाता है। दो वस्तुवों में अन्योन्यप्रतियोगिक और अन्योन्यानुयोगिक होने से इसका नाम अन्योन्याभाव है। जैसे 'घटः पटो न भवति' एवं 'पटः घटो न भवति' इस प्रकार प्रतीत होने वाला घट में पट का और पट में घट का भेद। यह भेद घट और पट में अन्योन्यप्रतियोगिक और अन्योन्यानुयोगिक होने से अन्योन्याभाव कहा जाता है। संसर्गाभाव में यह बात नहीं होती, वह अन्योन्यप्रतियोगिक और अन्योन्यानुयोगिक नहीं होता। जैसे घट और रूप के बीच रूप में घट का अत्यन्ताभाव होता है, पर घट में रूप का अत्यन्ताभाव नहीं होता। एवं घट में रूप का प्रागभाव और प्रध्वंस होता है, पर रूप में घट का प्रागभाव या प्रध्वंस नहीं होता, अतः संसर्गाभाव को अन्योन्याभाव नहीं कहा जाता।

इस प्रकार वैशेषिक दर्शन के द्रव्य आदि सात पदार्थों का वर्णन समाप्त हुआ।

द्रव्य आदि सात पदार्थों का निरूपण कर देने पर इस एक मुख्य बात का विचार कर लेना आवश्यक है कि इन पदार्थों की बाह्य सत्ता है या नहीं? क्यों कि कतिपय दार्शनिक सम्प्रदायों में इनकी बाह्य सत्ता नहीं मानी गई है। ऐसे सम्प्रदायों में बौद्ध-दर्शन और शांकर वेदान्त के सम्प्रदाय मुख्य हैं।

बौद्ध मत के चार दार्शनिक सम्प्रदाय हैं—सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक। इन चारो सम्प्रदायों में, विश्व में जो कुछ भाव रूप में ज्ञेय

है, उस सबको क्षणिक माना गया है। 'सर्वं क्षणिकम्' यह उन सभी सम्प्रदायों द्वारा उद्घोषित एक 'आर्यसत्य' है। उनमें प्रथम दो सम्प्रदाय बाह्यार्थवादी हैं, अर्थ की बाह्य सत्ता मानने वाले हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि सौत्रान्तिक मत में अर्थ प्रत्यक्षवेद्य है और वैभाषिकमत में अनुमेय है। योगाचार मत में एकमात्र 'ज्ञान' ही प्रमाणसिद्ध वस्तु है। 'अर्थ' उसी का आकार है। उससे पृथक् अर्थ की कोई सत्ता नहीं है। इसीलिये योगाचार के सिद्धान्त को 'साकार ज्ञानवाद' के नाम से व्यवहृत किया जाता है। माध्यमिक मत में ज्ञान की भी सत्ता अस्वीकृत कर दी गई है। ज्ञान और अर्थ दोनों का कल्पित माना गया है। उसकी दृष्टि में 'सर्वशून्यता' ही तथ्य है। 'सर्वं शून्यम्' यही उस सम्प्रदाय का स्वीकृत 'आर्यसत्य' है। ज्ञान और ज्ञान से भिन्न सब कुछ 'शून्यात्मक' तत्त्व में परिकल्पित है। यह शून्यात्मक तत्त्व 'सत्, असत्, सदसत्, नो सदसत्' इन चारो कोटियों से मुक्त है। संवृति—ज्ञानवासना और अर्थवासना प्रावाहिक रूप से अनादि है। उसी द्वारा ज्ञान और अर्थ का आभास होता है। संवृति के दो भेद हैं—तथ्यसंवृति और मिथ्यासंवृति। प्रामाणिक माने जाने वाले घट, पट आदि सारे पदार्थों का अवगम तथ्यसंवृति-द्वारा सम्पन्न होता है और अप्रामाणिक माने जाने वाले रज्जुसर्प, शुक्तिरजत आदि का अवगम मिथ्यासंवृति द्वारा सम्पन्न होता है। तथ्यसंवृति से होने वाला अर्थबोध टिकाऊ तथा व्यवहारोपयोगी होता है और मिथ्यासंवृति से होने वाला अर्थबोध क्षणिक एवं व्यवहारानुपयोगी होता है।

इन चारो मतों में योगाचार का साकारज्ञान-वाद अपेक्षाकृत अधिक तर्कसगत और मनोवैज्ञानिक होने से विशेष प्रचलित है। अतः तर्कभाषाकार ने उसी मत का उल्लेख और निराकरण किया है।

शांकर वेदान्त का ब्रह्मवाद योगाचार के विज्ञानवाद के बहुत निकट है। क्यों कि ब्रह्म और विज्ञान दोनों ही ज्ञान हैं और जगत् उसमें उदित होने वाली एक कल्पनामात्र है। अन्तर केवल इतना ही है कि योगाचार का विज्ञान क्षणिक एवं साकार है और शांकरवेदान्त का ब्रह्म नित्य एवं निराकार है। अर्थ की बाह्य सत्ता दोनों ही मतों में अमान्य है। इसीलिए ग्रन्थकार ने दोनों मतों का एक साथ उल्लेख कर एक ही युक्ति से उनका निराकरण कर दिया है, और अत्यन्त स्पष्ट भाषा में कह दिया है कि ज्ञान से भिन्न अर्थ यतः प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध है अतः उसका अपलाप नहीं किया जा सकता। उनकी प्रमाणसिद्ध बाह्य सत्ता को स्वीकार करना ही होगा। ग्रन्थकार का सुस्पष्ट आशय यह है कि जैसे प्रमाणसिद्ध होने से ज्ञान के अस्तित्व का अपलाप नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार प्रमाणसिद्ध होने से अर्थ की बाह्य सत्ता का भी अपलाप नहीं किया जा सकता।

यदि यह पूछा जाय कि अर्थ की बाह्य सत्ता में क्या प्रमाण है ? तो उत्तर में 'भूतले घटः अस्ति' इत्यादि प्रत्यक्ष को प्रस्तुत किया जा सकता है, क्यों कि यह प्रत्यक्ष भूतल में घट की सत्ता को विषय करता है और भूतल निश्चित रूप से बाह्य अर्थ है। यदि यह कहा जाय कि भूतल भी बाह्य पदार्थ नहीं है वह भी ज्ञान का आकाररूप होने से आन्तर ही है, और वही क्यों, जो भी ज्ञानगम्य पदार्थ है वह सब ज्ञानाकार होने से आन्तर है। अतः किसी भी अर्थ की सत्ता बाह्य नहीं हो सकती, तो यह ठीक नहीं है, क्यों कि ज्ञान और उसके विषयभूत घट आदि पदार्थ दोनों यदि समान रूप से आन्तर होंगे, तो उनमें यह व्यवहारभेद कैसे होगा कि 'घट' आदि का 'अय घटः' इत्यादि रूप में अङ्गुल्या निर्देश हो और 'ज्ञान' का अङ्गुल्या निर्देश न हो।

दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि यदि ज्ञान और उसके विषय समान रूप से आन्तर हैं। विषय की बाह्य सत्ता नहीं है। तो विषय की खोज शरीर के बाहर क्यों की जाती है ? ज्ञान के समान उसे भी शरीर के भीतर ही क्यों नहीं उपलब्ध किया जाता ? जल यदि ज्ञानाकार है तब तो उसे ज्ञाता को अपने भीतर ही सुलभ होना चाहिये, उसके लिये नल, कूप या नदी तक दौड़ने की क्या आवश्यकता है ? अतः ज्ञान और विषय के बीच इन विषमतावों को देखते हुये दोनों में अन्तर मानना आवश्यक है और वह अन्तर यही हो सकता है कि ज्ञान एक आन्तर वस्तु है और उसके विषय घट, पट आदि पदार्थ बाह्य वस्तु हैं।

ब्रह्म ही एक सत्य वस्तु है, जगत् उसका 'विवर्त' है। 'विवर्त' का अर्थ है वह कार्य जो अपने कारण को किंचित् भी विचलित न करते हुये उसमें प्रादुर्भूत होता है। जैसे धुंधले प्रकाश में रास्ते में पड़ी रस्सी की पहचान न होने की दशा में उसके वास्तव स्वरूप को किंचित् भी विचलित न करते हुये उसकी पहचान न होने की अवधि तक उसमें एक सांप उत्पन्न हो दिखाने देने लगता है, इसलिये वह सांप उस रस्सी का 'विवर्त' होता है। ठीक उसी प्रकार ब्रह्म की पहचान न होने की दशा में उसके स्वरूप को किंचित् भी विचलित न करते हुये उसकी पहचान न होने की अवधि तक के लिये उसमें जगत् के उत्पन्न होने और दिखाई देने की कल्पना न्यायप्राप्त है और इसीलिये 'जगत् ब्रह्म का विवर्त है' इस विवर्तवाद में भी अर्थ की वास्तव बाह्य सत्ता नहीं सिद्ध होती। तर्कभाषाकार को यह वाद भी मान्य नहीं है, क्यों कि रस्सी में दिखने वाले सांप को और जगत् को एक तुला पर तौलना उचित नहीं हो सकता, क्यों कि रस्सी का सांप कुछ ही क्षणों में समाप्त हो जाता है पर जगत् तो युग-युगों तक नहीं समाप्त होता। दूसरी बात यह कि रस्सी एक दिखने वाली वस्तु है अतः कारणवश किसी समय अपने निज रूप में न दिखने पर कुछ कारणों से उसमें दिखने वाले सांप की उत्पत्ति मानने में कोई बाधा नहीं जान पड़ती, पर ब्रह्म तो अतीन्द्रिय तत्त्व है, दिखने वाली वस्तु नहीं है। फिर

५. बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इत्यादिभिः पर्यायशब्दैर्याऽभिधीयते सा बुद्धिः। अर्थप्रकाशो वा बुद्धिः। सा च संक्षेपतो द्विविधा। अनुभवः स्मरणं च। अनुभवोऽपि द्विविधो यथार्थोऽयथार्थश्चेति।

तत्र यथार्थोऽर्थाविसंवादी। स च प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्जन्यते! यथा चक्षुरादिभिरदुष्टैः घटादिज्ञानम्। धूमलिङ्गकमग्निज्ञानम्। गोसादृश्यदर्शनाद् गवयशब्दवाच्यताज्ञानम्। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिवाक्याज् ज्योतिष्टोमस्य स्वर्गसाधनताज्ञानं च।

उसमें दिखने वाली दूसरी वस्तुवों का जन्म कैसे माना जा सकता है? अतः जगत् को ब्रह्म का 'विवर्त' कहना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता।

फलतः वेदान्त के ब्रह्म और योगाचार के विज्ञान से अतिरिक्त अर्थ की सत्ता प्रमाणसिद्ध है, अतः 'अर्थ' के बारे में जो निरूपण किया गया वह अत्यन्त समीचीन है।

न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का उल्लेख जिस क्रम से किया गया है उसी क्रम से तर्कभाषा की रचना की गई है। उस क्रम के अनुसार प्रमाण का निरूपण कर आत्मा, शरीर आदि बारह प्रमेयों के निरूपण के प्रसङ्ग में चौथे प्रमेय 'अर्थ' के अन्तर्गत वैशेषिक दर्शन के अभिमत द्रव्य, गुण आदि सात पदार्थों का निरूपण अब तक किया गया, अब पांचवें प्रमेय 'बुद्धि' के निरूपण का अवसर है। किन्तु उसके सम्बन्ध में बहुत-सी बातें वैशेषिक शास्त्रोक्त रूप, रस आदि चौबिस गुणों का निरूपण करते समय ही कह दी गयी हैं। अतः इस अवसर पर अब थोड़ा ही कहना है, जो इस प्रकार है।

बुद्धि—

बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, प्रत्यय आदि शब्दों से जिस आत्मगुण का अभिधान होता है उसका नाम है 'बुद्धि'। अथवा 'अर्थ के बोध' का नाम है 'बुद्धि'। वह संक्षेप से दो प्रकार की है—अनुभव और स्मरण। अनुभव के दो भेद हैं—यथार्थ और अयथार्थ।

यथार्थ—

जो अनुभव अर्थ का अविसंवादी होता है, जो अर्थ के बारे में उसके वास्तव स्वरूप के विपरीत कोई बात नहीं बताता किन्तु जो अर्थ जैसा होता है उसे वैसा ही बताता है, उसे उसके निजी रूप में ही ग्रहण करता है, उस अनुभव को 'यथार्थ' कहा जाता है। यह अनुभव प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, इन चार प्रमाणों से उत्पन्न होता है। जैसे चक्षु, घट और आत्मा में कोई दोष न रहने पर घट के साथ चक्षु के संयोग से उत्पन्न होने वाला घट का प्रत्यक्ष अनुभव, पर्वत में वह्निव्याप्यधूम के यथार्थ सम्बन्धज्ञान से उत्पन्न होने वाला पर्वत में वह्नि का अनुमिति रूप अनुभव, गवय

अयथार्थस्तु अर्थव्यभिचारी, अप्रमाणजः। स त्रिविधः--संशयः, तर्कों, विपर्ययश्चेति। संशयतर्कौ वक्ष्येते।

विपर्ययस्तु अतस्मिंस्तद्ग्रहः। भ्रम इति यावत्। यथा पुरोवर्तिन्यरजते शुक्त्यादौ रजतारोपः 'इदं रजतम्' इति।

के उपदेष्टा आरण्यक पुरुष के 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य के 'गोसदृश गवयपद का वाच्य है' इस अर्थ का स्मरण होने पर 'पशुविशेष में गोसादृश्य के दर्शन' से उत्पन्न होने वाला 'गोसदृश में गवयपदवाच्यत्व का उपमितिरूप अनुभव' और 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत—स्वर्ग चाहने वाला पुरुष स्वर्ग के साधन ज्योतिष्टोम याग को करे' इस वेदवाक्य से उत्पन्न होने वाला 'ज्योतिष्टोम याग में इष्टसाधनता—स्वर्गसाधनता का शाब्दबोधरूप अनुभव'।

अयथार्थ—

जो अनुभव, जैसा अर्थ होता है वैसा न होकर, उसके विपरीत होता है उसे 'अयथार्थ' कहा जाता है। यह अर्थ का व्यभिचारी होता है, क्यों कि जो अर्थ जहाँ नहीं होता यह वहाँ भी उत्पन्न होता है। जैसे सीपी में चांदी नहीं होती पर चांदी का अयथार्थ अनुभव उसमें भी होता है। यह 'अप्रमाणज' होता है। अप्रमाणज का अर्थ है—अपूर्ण प्रमाण से उत्पन्न होने वाला। अपूर्ण प्रमाण का अर्थ है—वह प्रमाण जिसे उसके वास्तव सहयोगी 'गुण' का सन्निधान न होकर उसके बदले किसी 'दोष' का सन्निधान हो जाता है। यह दोषसहकृत प्रमाण ही अप्रमाण या प्रमाणाभास कहा जाता है। इसीसे अयथार्थ अनुभव का उदय होता है। जैसे चांदी के प्रत्यक्ष अनुभव के लिये प्रमाणभूत चक्षु को चांदी के साथ उसके संयोगात्मक सन्निकर्षरूप 'गुण' की अपेक्षा है, पर जब चांदी के सन्निहित न होने से उसके साथ चक्षु का संयोग नहीं हो पाता किन्तु सूर्य के प्रखर प्रकाश में सीपी में चांदी की चमचमाहट देख चांदी का स्मरण हो जाता है, और वह स्मरण ही दोष के रूप में चक्षु का सहयोगी बन जाता है तब चक्षु इस दोष के सहयोग से सीपी को ही चांदी के रूप में प्रदर्शित करता है। तो इस प्रकार चांदी के रूप में जो सीपी का प्रत्यक्ष अनुभव होता है वह दोषसहकृत चक्षुरूप अप्रमाण से उत्पन्न होने के कारण अयथार्थ होता है।

अयथार्थ अनुभव के तीन भेद हैं—संशय, तर्क और विपर्यय। संशय और तर्क का वर्णन आगे किया जायगा। इस समय केवल विपर्यय का ही वर्णन करना है जो संक्षेप में इस प्रकार है।

विपर्यय—

जहाँ जिस वस्तु का अभाव होता है, वहाँ यदि उस वस्तु का अनुभव हो तो उस अनुभव का नाम होता है 'विपर्यय'। इसका दूसरा प्रसिद्ध नाम है 'भ्रम'। जैसे पुरोवर्ती रजतभिन्न शुक्तिका में रजत का आरोप। शुक्तिका में तादात्म्य सम्बन्ध से रजत का अभाव होता है अतः कदाचित् यदि शुक्तिका में तादात्म्य सम्बन्ध से रजत का अनुभव होता है तो वह शुक्तिका में रजत का विपर्यय कहा जाता है। उस विपर्यय को 'इदं रजतम्—पुरोवर्ती वस्तु रजत है' इस शब्द से व्यवहृत किया जाता है। इस अनुभव में पुरोवर्ती शुक्ति में तादात्म्य सम्बन्ध से रजत का भान होने से धर्मी के पारतन्त्र्य से उसके धर्म रजतत्व का भी उसमें समवाय सम्बन्ध से भान होता है। अतः यह अनुभव जैसे पुरोवर्ती शुक्ति में रजत का विपर्यय है उसी प्रकार शुक्ति में रजतत्व का भी विपर्यय है।

विपर्यय के स्वरूप और सामग्री के विषय में विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मत हैं। उन सभी मतों को पाँच रूपों में विभक्त कर 'ख्याति' के नाम से अभिहित किया गया है। दार्शनिक जगत् में इस ख्यातिपञ्चक की चिर प्रसिद्धि है। उनका संग्रह निम्न कारिका में इस प्रकार किया गया है।

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
तथाऽनिर्वचनख्यातिरित्येतत् ख्यातिपञ्चकम्॥

मुख्य ख्यातियाँ पाँच हैं—आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति और अनिर्वचनीयख्याति।

आत्मख्याति—

यह बौद्धदर्शन की अभिमत ख्याति है। इसकी स्थापना विज्ञानवादी योगाचार ने की है। इसका आशय यह है कि भ्रमस्थल में भ्रान्त व्यक्ति के आत्मा—ज्ञान की ही पुरोवर्ती—रूप में ख्याति होती है। भ्रान्त व्यक्ति अपने अन्तःस्थित ज्ञान को ही बाहर देखता है। सामने चमकती सीपी के ऊपर अपने अन्तःसुप्त रजताकार ज्ञान को ही 'इदं रजतम्' इस शब्द से व्यवहृत करता है। तात्पर्य यह है कि पहले कभी रजत का दर्शन हो रजताकार वासना जिसके हृदय में अवस्थित रहती है, वह कालान्तर में जब कभी रजत जैसी चमकीली सीपी को देखता है तब उसकी वह वासना जाग्रत हो रजताकार स्मरण उत्पन्न करती है। फिर उस स्मरणात्मक ज्ञान के आकारभूत रजत का अनुभव 'अहं रजतम्' अथवा 'अहं रजतं स्मरामि' इस रूप में न होकर 'इदं रजतम्' इस रूप में होने लगता है। स्मरणात्मक ज्ञान के आकारभूत रजत को ग्रहण करने वाले

इस अनुभव को ही 'भ्रम' कहा जाता है। यह भ्रम यतः 'ज्ञान' के आत्मभूत आकार को ग्रहण करने वाली ख्याति है। अतः इसे 'आत्मख्याति' कहा जाता है।

'आत्मख्याति' के इस विवेचन पर यह प्रश्न हो सकता है कि योगाचार के मत में बाह्य अर्थ नहीं माना जाता अतः उस मत में सर्वत्र ज्ञान ही विभिन्न अर्थों के रूप में भासित होता है। तो फिर जैसे भ्रमस्थल में ज्ञानात्मभूत अर्थ का ही बाह्य आभास होता है और उस आभास को ही आत्मविषयक-ज्ञानात्मभूत अर्थ-विषयक होने से 'आत्मख्याति' कहा जाता है। उसी प्रकार उक्त मत में प्रमास्थल में भी ज्ञानात्मभूत अर्थ का ही बाह्य आभास होता है, अतः प्रमास्थलीय आभास को भी अर्थात् प्रमा को भी 'आत्मख्याति' कहना ही उचित है, ऐसी स्थिति में केवल भ्रम को ही आत्मख्याति कहने का क्या औचित्य है ?

उत्तर में कहा जा सकता है कि यतः रजतभ्रम के पूर्व नियमेन रजताकार स्मरण उत्पन्न होता है। वह स्मरण प्रकटज्ञानात्मक होने से आत्मरूप है, उसका आकारभूत रजत भी उससे भिन्न न होने के कारण आत्मरूप है। भ्रम उस आत्मभूत रजत को विषय करने से आत्मविषयक है अतः उसे 'आत्मख्याति' कहना उचित है। किन्तु रजतप्रमा के पूर्व रजतस्मरण होने का नियम नहीं है इसलिये प्रमा प्रकट ज्ञान के आकारभूत रजत को विषय न कर अप्रकट ज्ञानात्मक वासना के ही आकारभूत रजत को विषय करती है। अप्रकटज्ञान को ज्ञान न कहकर वासना कहने के कारण आत्मा नहीं कहा जाता, अतः उसके आकार को विषय करने वाला प्रमात्मक ज्ञान आत्मविषयक नहीं होता। इसलिये प्रमा को 'आत्मख्याति' नहीं कहा जा सकता।

असत्ख्याति—

यह भी बौद्धदर्शन की अभिमत ख्याति है। इसकी उद्भावना माध्यमिक-आचार्यों ने की है। 'असत्ख्याति' का अर्थ है--असद् को ग्रहण करने वाला ज्ञान। भ्रमस्थल में असद् अर्थ का ही ज्ञान होता है। जैसे रजत सीपी में असद् है। फिर भी कारण-विशेषवश सीपी में रजत का भ्रम होता है। यह भ्रम असद्विषयक होने से 'असत्ख्याति' है।

प्रश्न हो सकता है कि माध्यमिक मत में 'शून्यता' ही पारमार्थिक है। उससे भिन्न जो कुछ बुद्धिगोचर होता है वह सब असत् है। 'शून्यता' ही सर्वत्र भिन्न-भिन्न सद् के रूप में भासित होती है। इस स्थिति में जैसे लोकसिद्ध भ्रम असद्ग्राही है उसी प्रकार लोकसिद्ध प्रमा भी असद्ग्राही है। अतः भ्रम और प्रमा दोनों में जब असद्ग्राहित्व समान है तब एक को (भ्रमको) 'असत्ख्याति' कहने और दूसरे को—प्रमा को 'असत्ख्याति' न कहने का कोई औचित्य नहीं है। उत्तर में कहा जा सकता है कि यह

ठीक है कि जैसे भ्रम का विषय असत् है उसी प्रकार प्रमा का भी विषय असत् है, फिर भी दोनों के असद्ग्राहित्व में भेद है, वह भेद यह है कि प्रमात्मक ज्ञान वस्तुदृष्ट्या असत् किन्तु लोकदृष्ट्या सत् अर्थ को ग्रहण करता है और भ्रमात्मक ज्ञान वस्तु तथा लोक दोनों ही दृष्टि से असद् अर्थ को ग्रहण करता है, इसीलिये 'भ्रम' को 'असत्ख्याति' कहा जाता है किन्तु 'प्रमा' को असत्ख्याति' नहीं कहा जाता।

अख्याति—

यह मीमांसादर्शन के प्रभाकर सम्प्रदाय की अभिमत ख्याति है। इसका अर्थ है—विशिष्ट की अख्याति। 'विशिष्ट की अख्याति' का अर्थ है–धर्मविशिष्ट धर्मी अथवा विशेषण–विशिष्ट विशेष्य की अख्याति अर्थात् धर्मी के साथ धर्म के या विशेष्य के साथ विशेषण के सम्बन्ध की अख्याति। कहने का आशय यह है कि धर्मी और धर्म के परस्पर सम्बन्ध को ग्रहण न करने वाला किन्तु धर्मी और धर्म को स्वरूपतः ग्रहण करनेवाला ज्ञान ही 'अख्याति' शब्द से प्रतिपादित होता है। इस मत में भ्रमस्थल में विशिष्टग्राही एक ज्ञान का जन्म नहीं होता किन्तु धर्मी का अनुभव और धर्म का स्मरण, ऐसे दो ज्ञान का जन्म होता है। दोनों ज्ञान के विषयों में असम्बन्ध तथा दोनों ज्ञानों में भेद होता है किन्तु दोषवश उनका ज्ञान नहीं होता। इस ज्ञान के न होने के कारण ही भ्रमस्थल में होने वाले विशिष्ट अग्राही ज्ञानद्वय को विशिष्टग्राही एक ज्ञान के रूप में व्यवहृत किया जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि भ्रमस्थल में उक्तरीत्या जब धर्मी और धर्म के दो ज्ञान होंगे तब उनमें कोई भी ज्ञान 'तदभाववान् में तत्प्रकारक' तो होगा नहीं, तो फिर उन दोनों को अथवा उनमें किसी एक को भ्रम शब्द से कैसे व्यवहृत किया जायगा? क्योंकि कोई भी ज्ञान 'भ्रम' शब्द से व्यवहृत होने का भाजन तभी होता है जब वह 'तदभाववान् धर्मी में तत्प्रकारक' हो। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि भ्रमस्थल में होने वाले दोनों ही ज्ञानों को भ्रम शब्द से व्यवहृत करने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि भ्रमस्थल में विभिन्न ज्ञान के विषयों में भी विशेष्यविशेषणभाव मान्य है। इसलिये भ्रमस्थल के 'इदम्' इस अनुभव में उस स्थल के 'रजतम्' इस स्मरण की रजतत्वगत प्रकारता से निरूपित विशेष्यता, और 'रजतम्' इस स्मरण में 'इदम्' इस अनुभव की शुक्तिगत विशेष्यता से निरूपित प्रकारता के रहने से 'इदम्' यह अनुभव रजतत्वगतप्रकारतानिरूपित शुक्तिगतविशेष्यताशाली तथा 'रजतम्' यह स्मरण शुक्तिगत विशेष्यतानिरूपित रजतत्वगत प्रकारताशाली होने से भ्रम शब्द से व्यवहृत होने का भाजन हो जायगा। इस बात को 'गदाधर भट्टाचार्य' ने 'तत्त्वचिन्तामणि', प्रत्यक्षखण्ड के प्रामाण्यवाद में **'गुरूणान्तु स्वातन्त्र्येण प्रामाण्योपस्थितौ धर्मिज्ञानम्'** इस दीधिति की व्याख्या करते हुये इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

स्वतन्त्रोपस्थिताप्रामाण्यनिष्ठप्रकारतानिरूपित—धर्मिनिष्ठविशेष्यतानिरूपक-तज्ज्ञानगोचरानुभवरूपज्ञानान्तरमित्यर्थः' ।

गुरुमत में कोई भी ज्ञान अप्रमाण नहीं होता। उस मत में एक पदार्थ का अन्य पदार्थ के रूप में ज्ञान कदापि नहीं होता। अतः तज्ज्ञान में अप्रामाण्य के सम्बन्ध को विषय करने वाला एक ज्ञान न होकर अप्रामाण्य का स्मरण और तज्ज्ञान का अनुभवरूप ज्ञानद्वय होता है। भिन्न ज्ञानों की विषयतावों में भी निरूप्यनिरूपकभाव होने से वह अनुभव 'अप्रामाण्यनिष्ठप्रकारतानिरूपित-तज्ज्ञाननिष्ठविशेष्यताशाली' होता है।

प्रश्न हो सकता है कि भ्रमस्थल में होने वाले दोनों ज्ञानों की विषयतावों में जब निरूप्यनिरूपकभाव मान्य है तब दो ज्ञान मानने की क्या आवश्यकता है? दो के स्थान में एक ही ज्ञान क्यों नहीं मान लिया जाता? उत्तर यह है कि भ्रमस्थल में दो ज्ञान इसलिये नहीं माने जाते कि दो मानने की कोई आवश्यकता है, किन्तु दो इसलिये माने जाते हैं कि दोनों के विषयों को ग्रहण करने वाले एक ज्ञान का जन्म नहीं हो सकता, जैसे रजत-शून्य शुक्तिदेश में रजतत्व के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष न होने से शुक्ति के 'इदम्' इत्याकारक प्रत्यक्षानुभव के साथ रजत या रजतत्व का अनुभव नहीं हो सकता और रजताकार संस्कार के उद्बोध के समय शुक्ति के इदमाकार संस्कार का उद्बोध न होने से रजत के स्मरण के साथ शुक्ति के इदमाकार स्मरण का उदय नहीं हो सकता।

पुनः प्रश्न हो सकता है कि जब प्रभाकरमत में भी रजतत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपित-शुक्तिनिष्ठविशेष्याशाली ज्ञान मानना आवश्यक हो गया तो प्रभाकर भी अन्यथा-ख्यातिवादी हो गये, तो फिर उन्हें अख्यातिवादी या सर्वज्ञान-याथार्थ्यवादी कहना कैसे संगत होगा? इसका उत्तर यह है कि यतः प्रभाकर को, जिस धर्मी में जो धर्म जिस सम्बन्ध से नहीं रहता उस धर्मी में उस धर्म के उस सम्बन्ध का ज्ञान अमान्य है, अतः उन्हें अन्यथाख्यातिवादी न कह कर अख्यातिवादी कहने और इस प्रकार का भ्रमात्मक ज्ञान मान्य न होने से सर्वज्ञानयाथार्थ्यवादी कहने में कोई असंगति नहीं है।

प्रश्न होता है कि जब प्रभाकर के मतानुसार भ्रमस्थल में शुक्ति में रजतत्व के सम्बन्ध का ज्ञान अमान्य है तब उस मत के अनुसार रजत चाहने वाले पुरुष की भ्रमस्थल में शुक्ति को हस्तगत करने में प्रवृत्ति कैसे होगी? इसके उत्तर में दो बातें कही जा सकती हैं, एक तो यह कि रजतार्थी पुरुष किसी वस्तु को हस्तगत करने के लिये जो प्रवृत्त होता है वह इसलिये नहीं कि वह उस वस्तु को रजत समझता है, किन्तु इसलिये प्रवृत्त होता है कि वह शुक्तिको रजत से भिन्न नहीं समझता। इसका अर्थ यह हुआ कि रजत की कामना से किसी वस्तु को ग्रहण करने की प्रवृत्ति के प्रति उस वस्तु में रजतत्व का संसर्गज्ञान कारण नहीं है अपितु रजतत्व के असंसर्ग का अज्ञान कारण है। यह अज्ञान ही उस वस्तु का

अनुभव और रजत का स्मरण होने पर उस वस्तु के ग्रहणार्थ पुरुष को प्रवृत्त करता है। दूसरी बात यह है कि किसी वस्तु को ग्रहण करने के लिये रजतार्थी पुरुष की प्रवृत्ति के प्रति उस वस्तु में रजतत्व का संसर्गज्ञान कारण नहीं है किन्तु उस वस्तु में रजतत्व का ज्ञान कारण है, और उस वस्तु में रजतत्वज्ञान का अर्थ है—रजतत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपित-तद्वस्तुनिष्ठविशेष्यताकज्ञान। यह ज्ञान शुक्ति में रजतत्वसंसर्ग के भान के बिना भी उपर्युक्त रीति से सम्भव है। अतः भ्रमस्थल में रजतस्मरण के साथ होने वाले शुक्ति के इदमाकार प्रत्यक्ष अनुभव में भी 'स्मरणीयरजतत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपित शुक्तिनिष्ठविशेष्यता-कत्व' होने से उससे शुक्ति में रजतार्थी की प्रवृत्ति के होने में कोई बाधा नहीं हो सकती।

अन्यथाख्याति—

यह न्यायवैशेषिक दर्शन की अभिमत ख्याति है। इसका अर्थ है एक वस्तु का अन्यवस्तु के रूप में ज्ञान। जैसे शुक्ति का रजतत्वेन, रज्जु का सर्पत्वेन, 'इदं रजतम्' 'अयं सर्पः' इत्यादि ज्ञान। इस प्रकार के ज्ञान को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता, क्यों कि इनके उदय के बाद 'इदं रजतत्वेन जानामि' इमं सर्पत्वेन जानामि' इस रूप में इन ज्ञानों का अनुभव होता है।

प्रश्न होता है, कि शुक्तिस्थल में रजत और रज्जुस्थल में सर्प का सन्नि-धान न होने से रजतत्व और सर्पत्व के साथ चक्षु का 'संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष सम्भव नहीं है। फिर सन्निकर्ष के विना शुक्ति में रजतत्व का और रज्जु में सर्पत्व का प्रत्यक्ष कैसे होगा? उत्तर यह है कि शुक्ति में रजतत्व का और रज्जु में सर्पत्व का जो प्रत्यक्ष होता है वह लौकिक प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु अलौकिक प्रत्यक्ष है। रजतत्व आदि के साथ चक्षु के 'संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष की अपेक्षा उसके लौकिक प्रत्यक्ष में होती है न कि अलौकिक। प्रत्यक्ष में अलौकिक प्रत्यक्ष तो धर्मी में उन धर्मों का प्रत्यक्ष होने में कोई प्रतिबन्धक न होने पर उन धर्मों की उपस्थितिमात्र से ही सम्पन्न हो जाता है। अतः शुक्ति आदि में रजतत्व आदि का प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है। यह अन्यथाख्याति ही न्यायवैशेषिक मत में 'भ्रम' या 'विपर्यय' है।

अनिर्वचनीयख्याति—

यह वेदान्तदर्शन में शांकर सम्प्रदाय की अभिमत ख्याति है। इसका आशय यह है कि भ्रमस्थल में जिस वस्तु की ख्याति होती है वह 'अनिर्वचनीय' है। 'अनिर्वचनीय का अर्थ है—सद् और असद् से विलक्षण। जिसे न सत् कहा जा सके और न असत् कहा जा सके वह 'अनिर्वचनीय' होता है। जैसे सीपी में दीख पड़ने वाली चाँदी को 'सत्' नहीं कहा जा सकता क्योंकि सीपी की पहचान होते ही उसमें दीख पड़ने वाली चांदी सदा के लिये समाप्त हो जाती है। उसे 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि

स्मरणमपि यथार्थमयथार्थं चेति द्विविधम्। तदुभयं जागरे। स्वप्ने तु सर्वमेव ज्ञानं स्मरणमयथार्थं च। दोषवशेन तदिति स्थान इदमित्युदयात्।

वह शशश्रृङ्ग के समान तुच्छ नहीं है। क्योंकि वह जब तक प्रतीत होती है तब तक उसके लिये लोगों में दौड़, धूप, मारपीट तक हो जाती है।

सीपी में दीख पड़ने वाली चांदी बाजार की चांदी से भिन्न होती है। दोनों के पैदा होने और प्रत्यक्ष होने की प्रणाली में पर्याप्त अन्तर है। बाजार की चांदी बड़े श्रम से खान से निकाली जाती है, शुद्ध और स्वच्छ की जाती है। इन्द्रियसन्निकर्ष आदि से उसका प्रत्यक्ष होता है। अच्छे मूल्यों में उसका क्रय-विक्रय होता है। मनुष्य संसार से जब तक विरक्त नहीं हो जाता तब तक उसके लिये उसकी उपादेयता बनी रहती है। अद्वैत वेदान्त के शब्द में उसे 'व्यावहारिक' चांदी कहा जाता है। क्योंकि चांदी के विशेषज्ञ चांदी के रूप में उसका व्यवहार करते हैं, उसका आदान प्रदान करते हैं, अतः विशेषज्ञों द्वारा व्यवहार में लिये जाने के कारण उसे 'व्यावहारिक' कहा जाता है।

सीपी में दीख पड़ने वाली चांदी का जन्म और प्रत्यक्ष अनायास ही हुआ करता है। सूर्य के प्रखर प्रकाश में चमकती सीपी पर जब आँख पड़ती है और सहसा उसके वास्तव स्वरूप की पहचान नहीं हो पाती किन्तु, चांदी जैसी चकमक देखकर चांदी का स्मरण हो जाता है, तब 'इदं' रूप में दीख पड़ने वाली सीपी में उसकी वास्तविकता के अज्ञान से थोड़े समय के लिये चांदी और चांदी के प्रत्यक्ष अनुभव की साथ ही उत्पत्ति होती है, और ज्यों ही सीपी की वास्तविकता का ज्ञान होता है त्यों ही उस चांदी का कारणभूत अज्ञान, वह चांदी और उसका प्रत्यक्ष, तीनों का सर्वदा के लिये अवसान हो जाता है। सीपी में दीख पड़ने वाली यह चांदी अद्वैत वेदान्त के शब्द में 'प्रातिभासिक' कही जाती है क्योंकि जितने समय तक सीपी में चांदी का प्रतिभास होता है उतने ही समय तक उस चांदी का अस्तित्व होता है।

इन प्रसिद्ध ख्यातियों से कुछ भिन्न ख्यातियाँ भी हैं। जैसे सत्ख्याति, सदसत्ख्याति, प्रसिद्धार्थख्याति, अलौकिक ख्याति, विपरीतवस्तुख्याति आदि। इनमें पहली ख्याति रामानुज दर्शन में वर्णित है। दूसरी ख्याति अनेकान्तवादी जैनों की मानी जाती है। अन्तिम तीन ख्यातियां जैनदर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'स्याद्वादरत्नाकर' में बड़े अच्छे ढंग से वर्णित हैं। जिनमें पहली दो का अन्यमत के रूप में तथा तीसरी का अपने मत के रूप में उल्लेख किया गया है।

तर्कभाषाकार को इन ख्यातियों में 'अन्यथाख्याति' ही मान्य है क्योंकि वह अन्य सभी ख्यातियों की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत और बुद्धिग्राह्य है।

स्मरण—

संस्कारमात्र से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का नाम है 'स्मरण'। 'स्मरण' के दो भेद हैं—

यथार्थ और अयथार्थ। स्मरण अनुभवानुसारी होता है, अतः जब अनुभव 'यथार्थ' और 'अयथार्थ' दो प्रकारका होता है तब उसी के अनुसार उत्पन्न होने वाले स्मरण का 'यथार्थ' और 'अयथार्थ' रूप में दो भेद होना उचित ही है। जाग्रत्काल में दोनों प्रकार के स्मरण का उदय होता है। पर स्वप्नावस्था का सारा ज्ञान स्मरणात्मक और अयथार्थ होता है। प्रश्न होता है कि स्वप्नावस्था का ज्ञान यदि स्मरणरूप होता है तब उसमें 'तत्ता' का उल्लेख क्यों नहीं होता ? और अनुभव के समान 'इदन्ता' का उल्लेख कैसे होता है ? उत्तर यह है कि जिस दोष से स्वप्नकालिक ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसी से 'तत्ता' के उल्लेख का प्रतिबन्ध और 'इदन्ता' के उल्लेख का उदय होता है।

स्मरण अपने विषय के पूर्वानुभव के अनुसार उत्पन्न होता है। यह अभी कहा गया है। उसकी इस प्रकार की उत्पत्ति के लिये ही पूर्वानुभव और उत्तरकालीन स्मरण के बीच एक व्यापार की कल्पना की जाती है जिसे 'भावना' नामक संस्कार कहा जाता है। यह संस्कार उस निश्चयात्मक अनुभव से उत्पन्न होता है जो अपने विषय में उपेक्षात्मक नहीं होता। यदि रास्ते चलते कभी किसी विषय का उपेक्षात्मक अनुभव हो जाता है तब उससे संस्कार का उदय नहीं होता; अतः उस अनुभव के विषय का कभी स्मरण नहीं होता है।

अनुभवजन्य संस्कार भी सदैव स्मरण का उत्पादक नहीं होता, किन्तु जब कभी उद्बुद्ध होता है, जब उसे नये सहकारी का सन्निधान होता है तभी स्मरण का उत्पादक होता है। उसके उद्बोधक की कोई नियत संख्या और कोई नियत स्वरूप नहीं है। स्मरणरूप फल के उदय से उसकी कल्पना कर ली जाती है। जब जिस नये आगन्तुक कारण के सन्निधान में किसी पूर्वानुभूत विषय का स्मरण होता है तब उसे उस विषय के संस्कार का उद्बोधक मान लिया जाता हैं। फिर भी महर्षि गौतम ने उक्त संस्कार के उद्बोधकों की एक नामावली अपने निम्न सूत्र में अङ्कित की है।

प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः।

न्या० सू. ३।२।४२

प्रणिधान—विषयान्तर से मन का निवारण, निबन्ध–एकग्रन्थता, अभ्यास–एकविषय का पुनः पुनः चिन्तन, लिङ्ग—व्याप्य, लक्षण–चिन्ह, सादृश्य–साम्य, परिग्रह–स्वीकार, आश्रय, आश्रित, सम्बन्ध–गुरुशिष्यभाव आदि, आनन्तर्य–अव्यवधान, वियोग–विरह, एककार्य–कार्य का ऐक्य, विरोध–वैर, अतिशय–उत्कर्षाधान, प्राप्ति-लाभ, व्यवधान–आवरण, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, भय, अर्थित्व–प्रार्थिता, क्रिया–कम्पन, राग-स्नेह, धर्म और अधर्म, ये संस्कार के उद्बोधन में निमित्त हैं। इनसे संस्कार का उद्बोधन होने पर स्मरण का उदय होता है।

सर्वं च ज्ञानं निराकारमेव। न तु ज्ञानेऽर्थेन स्वस्याकारो जन्यते, साकार-ज्ञानवादनिराकरणात्। अत एवाकारेणार्थानुमानमपि निरस्तम्। प्रत्यक्षसिद्धत्वाद् घटादेः। सर्वं ज्ञानमर्थनिरूप्यम्, अर्थप्रतिबद्धस्यैव तस्य मनसा निरूपणात्। 'घटज्ञानवानहम्' इत्येतन्मात्रं गम्यते, न तु 'ज्ञानवानहम्' इत्येतावन्मात्रं ज्ञायते।

संस्कार के विषय में एक मत यह है कि उसका जन्म पहले तो अनुभव से ही होता है पर बाद में अनुभूत विषय के स्मरण से भी उसका उदय होता है तथा पूर्व संस्कार से उत्तरोत्तर होने वाला संस्कार दृढ़ और तीव्र होता है। यही कारण है, जिससे जिस विषय का बार बार स्मरण होता रहता है, उसका स्मरण शीघ्र उत्पन्न होता है और जिस विषय का स्मरण बार बार न हो कर यदा कदा ही होता है उसका स्मरण विलम्ब से होता है। दूसरा मत यह है कि संस्कार का जन्म अनुभव से ही होता है, स्मरण से नहीं होता। स्मरण से संस्कार को उद्बोधक का सन्निधान प्राप्त होने में सहायता अवश्य मिलती है। जिस विषय का अधिक स्मरण होता है उस विषय के संस्कार को उद्बोधक का सन्नि-धान शीघ्र प्राप्त होता है।

स्मृतिप्रमोष—

'स्मृतिप्रमोष' का अर्थ है स्मृति होने के समय उसके कारणभूत संस्कार के किसी विषय का 'प्रमोष' हो जाना। 'प्रमोष' का अर्थ है–उद्बोधक का सन्निधान न होना। इस प्रमोष के कारण ही अनेक बार पूर्वानुभव के समस्त विषयों का स्मरण न होकर कुछ ही विषयों का स्मरण होता है, और कभी 'स मनुष्यः, स घटः, तद् रजतम्' इस रूप में न हो कर केवल 'मनुष्यः, घटः, रजतम्' इस रूप में 'तत्ता' से शून्य स्मरण का उदय होता है।

संस्कार का नाश उसके विषय के अन्तिम स्मरण, सुदीर्घकाल तक उद्बोधक के असन्निधान और गम्भीर व्याधि से होता है। जिस विषय का संस्कार नष्ट हो जाता है, उसका स्मरण तब तक नहीं होता, जब तक उसका पुनः अनुभव हो कर नये संस्कार का जन्म नहीं हो जाता।

बौद्धदर्शन के दो सम्प्रदायों में स्पष्ट रूप से ज्ञान की साकारता स्वीकृत की गई है। उनमें एक है 'योगाचार' का सम्प्रदाय, जिसमें 'ज्ञान की सहज साकारता' मान कर बाह्यार्थ–ज्ञानाकार से भिन्न अर्थ की सत्ता अस्वीकृत कर दी गई है। दूसरा सम्प्रदाय है 'वैभाषिक' का। उसकी यह मान्यता है कि ज्ञान में स्वतः कोई आकार नहीं होता फिर भी उसमें आकार का अनुभव होता है। यह अनुभूयमान आकार उसे उसके विषयभूत अर्थ से प्राप्त होता है। इस सम्प्रदाय में यह मत स्थिर किया गया है कि क्षणिक होने

६. अन्तरिन्द्रियं मनः। तच्चोक्तमेव।

७. प्रवृत्तिः धर्माऽधर्ममयी यागादिक्रिया, तस्या जगद्व्यवहारसाधकत्वात्।

८. दोषा राग-द्वेष-मोहाः। राग इच्छा। द्वेषो मन्युः क्रोध इति यावत्। मोहो मिथ्याज्ञानं विपर्यय इति यावत्।

से अर्थ इन्द्रिय का विषय नहीं हो सकता, अतः वह स्वयम् अप्रत्यक्ष है, किन्तु उसका ज्ञान क्षणिक होते हुये भी स्वप्रकाश होने से साकार रूप में प्रत्यक्ष विदित होता है। उसके आकार से उसे अपना आकार अर्पित करने वाले अर्थ का अनुमान होता है। इसी लिये इस सम्प्रदाय को 'बाह्यार्थानुमेयवादी' कहा जाता है।

तर्कभाषाकार को 'ज्ञान की साकारता' के यह दोनों पक्ष मान्य नहीं हैं, अतः उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि 'सर्वं च ज्ञानं निराकारमेव' सम्पूर्ण ज्ञान निराकार ही होता है। न वह स्वभावतः साकार है और न अपने अर्थ के अनुदान से ही साकार है। ज्ञान की साकारता किसी भी रूप में युक्तिसह नहीं है। ज्ञान 'स्वतः साकार' है अतः उसी से जगत् के सारे व्यवहार की सिद्धि हो जाने से ज्ञान से भिन्न अर्थ का अस्तित्व अनावश्यक है, एवं अर्थ अतीन्द्रिय है, ज्ञान के अनुभवसिद्ध आकार से उसका अनुमान होता है, यह दोनों बातें इस एक ही तर्क से कट जाती हैं कि जैसे ज्ञान और उसमें ग्रहीत होने वाले आकार के प्रत्यक्षसिद्ध होने से उनकी सत्ता अस्वीकार्य नहीं होती, उसी प्रकार घट, पट आदि बाह्य विषय भी प्रत्यक्षसिद्ध हैं अतः उनकी सत्ता को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रश्न यह होता है कि ज्ञान यदि निराकार है तो निराकार रूप में उसका अनुभव क्यों नहीं होता? क्यों वह घट, पट आदि के आकार में ही नियमेन ग्रहीत होता है? इसका उत्तर यह है कि सभी ज्ञान अर्थ से निरूपणीय होता है। मन उसे उसके विषभूत अर्थ के साथ ही ग्रहण करता है, क्यों कि जब भी ज्ञान का ग्रहण होता है तब सदैव 'मुझे घट का ज्ञान है, मुझे पट का ज्ञान है' इन रूपों में ही ग्रहण होता है। केवल इस रूप में कि 'मुझे ज्ञान है' ज्ञान का ग्रहण नहीं होता। तो इस प्रकार ज्ञानज्ञान के नियमेन विषय-विषयक होने से ज्ञान के साकार होने की कल्पना उठती है, पर यथार्थ में ज्ञान निराकार ही है। उसमें अनुभूयमान 'तत्तदर्थाकारता' 'तत्तदर्थविषयकत्व' से भिन्न कुछ नहीं हैं क्यों कि ज्ञान में ग्रहीत होने वाली 'तत्तदर्थविषयता' तत्तदर्थ का स्वरूपसम्बन्धविशेष है।

मन—

मन एक आन्तर इन्द्रिय है, इसी से उसे अन्तःकरण भी कहा जाता है। यह प्रति प्राणी को अलग अलग प्राप्त होता है, शरीर के भीतर रहता है, नित्य और अणु होता

है। आत्मा के साथ इसका सम्बन्ध तब तक नहीं टूटता जब तक आत्मा की मुक्ति नहीं हो जाती। आत्मा के मुक्त होने पर मन निरर्थक हो जाता है। इस निरर्थक मन को पण्डमन-नपुंसक मन कहा गया है। कभी कभी योगी जन ऐसे मन को भी काम में लगा लेते हैं। जब किसी योगी को अतिशीघ्र मुक्त होने की कामना प्रबल हो उठती है तो वह भोग द्वारा प्रारब्ध कर्मों की शीघ्र समाप्ति के लिये एक ही साथ अनेक शरीरों की रचना कर लेता है, जिसे 'कायव्यूह' कहा जाता है और उन शरीरों के लिये पूर्वमुक्त पुरुषों के इन पण्ड मनों को पकड़ कर उनके सहयोग से उन सभी शरीरों में एक साथ ही विभिन्न कर्मों का फलभोग करता है। मन सभी बाह्य इन्द्रियों का सहायक होता है और सब प्रकार के ज्ञान के उदय का सम्पादक होता है। इसके बारे में पहले भी बहुत कुछ कहा जा चुका है।

प्रवृत्ति—

धर्म, अधर्म को उत्पन्न करने वाली याग, हिंसा आदि शास्त्रों में विहित और निषिद्ध क्रियावों अथवा उन क्रियावों से होने वाले धर्म और अधर्म का नाम है 'प्रवृत्ति'। यह संसार के सम्पूर्ण व्यवहार की साधिका है। प्रवृत्ति से ही संसार का सारा व्यवहार सम्पादित होता है। पूर्व प्रवृत्तियों से नये कर्म और नये कर्मों से नयी प्रवृत्तियों का जन्म होता है। कर्म और प्रवृत्ति की इस अविच्छिन्न शृङ्खला में बंधा संसार विविध प्रकार के उत्थान और पतन के बीच अपनी यात्रा चालू रखता है। प्रवृत्ति ही प्राणी के जन्म का मूल कारण है। जन्म के बन्धन से मुक्त होने के लिये इसका उच्छेद आवश्यक समझा जाता है।

दोष—

राग, द्वेष और मोह का नाम है 'दोष'। 'राग' का अर्थ है कामना। 'द्वेष' का अर्थ है क्रोध और 'मोह' का अर्थ है मिथ्याज्ञान। इन्हीं तीनों से संसार के कारणभूत प्रवृत्ति का उदय होता है। इन्हीं को भगवद्गीता में—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

इन शब्दों में नरक का द्वार और आत्मनाश का कारण बता कर त्याज्य कहा गया है। इन तीनों में भी 'मोह' सब से बुरा है, क्यों कि वही 'राग' और 'द्वेष' की जड़ है। जैसा कि महर्षि गौतम ने कहा है—

तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्य इतरोत्पत्तेः।

मोहहीन को राग और द्वेष नहीं होता। मोह से ही उनका उदय होता है। अतः तीनों में वह सबसे बुरा है। इनकी निवृत्ति के उद्देश्य से ही प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान के हेतु 'न्यायशास्त्र' की रचना की गई है।

९. पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः। स चात्मनः पूर्वदेहनिवृत्तिः, अपूर्वदेहसङ्घातलाभः।

१०. फलं पुनर्भोगः सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः।

११. पीडा दुःखम्। तच्चोक्तमेव।

प्रेत्यभाव—

'प्रेत्य' का अर्थ है 'मृत्वा—मरकर'। 'भाव' का अर्थ है होना—पैदा होना। इस प्रकार 'प्रेत्यभाव' का अर्थ है 'मरणोत्तर भवन' अर्थात् 'पुनर्जन्म'। इसका सम्बन्ध जीवात्मा से है। जीवात्मा जब तक मुक्त नहीं होता तब तक उसका 'पुनर्जन्म' होता है। मुक्त न होने तक जीव मरता है और पैदा होता है। इसी को 'पुनरपि जननम्, पुनरपि मरणम्, पुनरपि जननीजठरे शयनम्' के रूप में 'जन्म और मरण का चक्र' कहा जाता है। जीव इस चक्र में अनादिकाल से चंक्रमण कर रहा है।

प्रश्न होता है कि जीवात्मा तो नित्य है, न उसका जन्म ही होता और न नाश ही होता, तो फिर 'पुनर्जन्म' के साथ 'जीवात्मा' का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? उत्तर यह है कि 'पुनर्जन्म' का अर्थ यदि 'स्वरूपेण नाश और स्वरूपेण उत्पत्ति' हो तो अवश्य ही 'जीवात्मा' का 'पुनर्जन्म' के साथ सम्बन्ध असम्भव होगा पर 'पुनर्जन्म' का अर्थ यह नहीं है, किन्तु उसका अर्थ है 'जीवात्मा के पूर्वशरीर की समाप्ति—निष्प्राण शरीर के साथ उसके भोगप्रयोजक अवच्छेद्यावच्छेदकभाव या विलक्षणसंयोग रूप सम्बन्ध का नाश तथा नये सेन्द्रिय, समनस्क सप्राण शरीर के साथ भोगप्रयोजक उक्त सम्बन्ध का लाभ'। अतः इस 'पुनर्जन्म' के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध होने में कोई बाधा नहीं है। तात्पर्य यह है कि जीवात्मा अनादि है। शरीर के साथ अनादि काल से उसके सम्बन्ध के टूटने और जुड़ने का क्रम चला आ रहा है। यह क्रम उसके पूर्वजन्मार्जित कर्मों द्वारा सम्पादित होता है। उसके पास ऐसे कर्मों की अनन्त राशियाँ हैं, जिनके फलभोग के लिये उसे एक शरीर का लाभ होता है। ऐसे कर्मराशि को 'प्रारब्ध कर्म' कहा जाता है। 'प्रारब्ध' कहने से यह सूचित होता है कि उस राशि के कर्मों के फलभोग का प्रारम्भ हो गया है। यह प्रारब्ध कर्म जब एक जन्म में भुक्त होता है तब उसके साथ नई कर्मराशि का संचय भी होता रहता है। इस प्रकार भोक्तव्य कर्मों का आयव्यय यथोचित रूप में सम्पन्न होता रहता है। हाँ, तो वर्तमान शरीर से भोग्य कर्मों का फलभोग पूरा हो जाने पर वर्तमान शरीर निष्प्राण हो जाता है। उसके साथ उसका सम्बन्ध टूट जाता है और उसके बाद दूसरी कर्मराशि के फलभोग के लिये उसे नये शरीर की प्राप्ति होती है। नये शरीर के साथ उसका सम्बन्ध होता है। यही जीव का पुनर्जन्म है।

१२. मोक्षोऽपवर्गः । स चैकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः । एकविंशतिप्रभेदास्तु शरीरं, षडिन्द्रियाणि, षड् विषयाः, षड् बुद्धयः, सुखं, दुःखं चेति गौणमुख्यभेदात् । सुखं दुःखमेव दुःखानुषङ्गित्वात् । अनुषङ्गोऽविनाभावः । स चायमुपचारो मधुनि विषसंयुक्ते मधुनोऽपि विषपक्षनिक्षेपवत् ।

फल— फल—

फल का अर्थ है 'भोग'। 'भोग' का अर्थ है सुख अथवा दुःख का साक्षात्कार—प्रत्यक्ष अनुभव। जीवात्मा में सुख-दुःख का उदय होने पर मन से उसका साक्षात्कार होता है। सुख-दुःख का उदय विषयों के साथ इन्द्रिय का सम्पर्क होने पर होता है। जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ! शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

यह विषयेन्द्रियसम्पर्क प्राणी के जीवनकाल में ही होता है। प्राणी के जीवन का अर्थ है सेन्द्रिय, समनस्क, सप्राण शरीर के साथ आत्मा का विलक्षण संयोग। यह उसके पूर्व कर्मों से सम्पन्न होता है। इस प्रकार 'फल' प्राणी के पूर्व कर्मों का ही परिणाम है।

दुःख—

दुःख का अर्थ है 'पीड़ा'। यह जीवात्मा का एक विशेषगुण है। इसका जन्म अधर्म—पाप से होता है। द्वादश प्रमेयों में इसे स्वतन्त्र रूप से परिगणित कर यह सूचना दी गई है कि यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है क्यों कि यही जीव को उत्पीड़ित करता है, विकल बनाता है, इसी के कारण संसार अप्रिय और हेय समझा जाता है। इसके विषय में पहले भी कहा जा चुका है। न्यायदर्शन के भाष्य, वार्तिक आदि ग्रन्थों को देखने से इसके बारे में जो जानकारी प्राप्त होती है वह संक्षेप में इस प्रकार है।

दुःख के दो भेद हैं—मुख्य और गौण। मुख्य दुःख जीवात्मा का विशेषगुण है जो स्वभावतः द्वेष्य है और अधर्म से उत्पन्न होता है। गौण दुःख बीस हैं। घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र और मन—ये छः ज्ञानेन्द्रिय, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द और योग्य आत्मगुण—ये छः उनके विषय, इन विषयों के इन्द्रिय जन्य छः अनुभव, शरीर और सुख (दुःखानुविद्ध होने से)। इस प्रकार कुल इक्कीस प्रकार के दुःख हैं। यह सब के सब त्याज्य हैं। इनकी आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय सुलभ करने के लिये ही न्याय-वैशेषिक शास्त्र की रचना हुई है।

अपवर्ग—

'अपवर्ग' का अर्थ है 'मोक्ष'। मोक्ष का अर्थ है-इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति। निवृत्ति की आत्यन्तिकता का अर्थ है-दुःखपूर्वस्वाभाव। दुःखपूर्वस्वाभाव

स पुनरपवर्गः कथं भवति ?

उच्यते। शास्त्राद्विदितसमस्तपदार्थतत्त्वस्य, विषयदोषदर्शनेन विरक्तस्य मुमुक्षोः, ध्यायिनो ध्यानपरिपाकवशात् साक्षात्कृतात्मनः क्लेशहीनस्य निष्कम-

का अर्थ है–जिस निवृत्ति में दुःख की पूर्ववर्तिता न हो। ऐसी निवृत्ति वही हो सकती है जिसके हो जाने के बाद फिर कभी दुःख का उदय न हो। अतः दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति अन्तिम जन्म के बाद ही होती है।

इक्कीस प्रकार के दुःखों की गणना दुःख का परिचय देते हुये अभी की गई है। उनमें मुख्य दुःख तो स्वभावतः दुःख है। किन्तु इन्द्रियां, विषय, विषयानुभव और शरीर उसका साधन होने से दुःख माने जाते हैं और सुख जो जीवमात्र को अत्यन्त काम्य है, जिसकी प्राप्ति के लिये ही मनुष्य सब कुछ करता है, वह सुख भी दुःख से अनुषक्त होने के कारण दुःखरूप ही है। सुख में दुःख की अनुषक्तता का अर्थ है–दुःख का अविनाभाव। अविनाभाव का अर्थ है–एक के बिना दूसरे का न होना। सुख दुःख बिना नहीं होता। इसलिए सुख में दुःख का अविनाभाव है। यह अविनाभाव निम्न प्रकार से है।

सुख सभी जन्य ही होता है। नित्य सुख की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है। उसका उदय सुखानुकूल विषयों पर मनुष्य का आधिपत्य होने से होता है। विषयों पर आधिपत्य बौद्धिक अथवा शारीरिक श्रम से साध्य है। श्रम थकाने वाली, दुःख देने वाली वस्तु है। इस प्रकार विषयों का अर्जन दुःखसाध्य है। अर्जन हो जाने पर उसके रक्षण की चिन्ता होती है। यह भय लगा रहता है कि आया हुआ विषय हाथ से निकल न जाय, इसलिये विषय के रक्षण के लिए भी श्रम की अपेक्षा है। सब कुछ सावधानी वर्तते हुये भी चञ्चल और अनित्य होने से विषयों का वियोग हो ही जाता है और फिर उस वियोग से महान् दुःख होता है। इस प्रकार सुख के साधनभूत विषयों के अर्जन, रक्षण और विनाश तीनों अवस्थाओं में दुःख ही दुःख होने से सुख में दुःख का अविनाभाव है। इसलिये जैसे विषमिश्रित मधु भी विष में ही गिना जाता है और विषवत् उसका त्याग ही किया जाता है, उसी प्रकार जब दुःखहीन सुख का लाभ सम्भव नहीं है। सारा सुख दुःख से घिरा है। तब उपचार-गौणवृत्ति से सुख को भी दुःख कहना ही ठीक है और दुःख के समान उसका त्याग करना ही उचित है।

प्रश्न है कि अपवर्ग की प्राप्ति हो कैसे ?

उत्तर है कि अपवर्ग की प्राप्ति के लिये पहला कर्तव्य है शास्त्र का यथोचित अध्ययन। शास्त्र के अध्ययन से सम्पूर्ण पदार्थों का तत्त्वज्ञान प्राप्त होगा। पदार्थों का

कर्मानुष्ठानादनागतधर्माधर्मावनर्जयतः पूर्वोपात्तं च धर्माधर्मप्रचयं योगर्द्धिप्रभावाद् विदित्वा, समाहृत्य भुञ्जानस्य पूर्वकर्मनिवृत्तौ वर्तमानशरीरापगमेऽपूर्वशरीराभावाच्छरीराद्येकविंशतिदुःखसम्बन्धो न भवति कारणाभावात्। सोऽयमेकविंशतिप्रभेदभिन्नदुःखहानिर्मोक्षः। सोऽपवर्ग इत्युच्यते।

तत्त्व जान लेने पर सांसारिक विषयों में दोष—दुःखानुविद्धता का दर्शन होगा। विषयों में दोष दर्शन हो जाने पर उनसे विरक्ति होगी। विषयों से विरक्ति होने पर उनसे मुक्त होने की इच्छा होगी। उसके फलस्वरूप विषयों का चिन्तन न कर अपने आत्मा के उस वास्तव स्वरूप के चिन्तन में प्रवृत्ति होगी, जो शास्त्र के अध्ययन से उसे विदित हुआ है। योगशास्त्र में वर्णित रीति से चिरकाल तक चिन्तन का अनुवर्तन करने पर उसकी परिपक्वता होगी। चिन्तन का परिपाक–चिन्तन के पूर्णत्व का लाभ होने पर आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होगा, आत्मा के साक्षात्कार से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशरूप पञ्चविध क्लेशों की, जिन्हें न्यायशास्त्र में राग, द्वेष और मोह इन त्रिविध दोषों के रूप में वर्णित किया गया है, निवृत्ति होगी। इन दोषों के निवृत्त हो जाने पर मनुष्य जो कुछ कर्म करेगा वह निष्काम भाव से ही करेगा। निष्काम भाव से किये गये कर्मों से नये धर्म अधर्म का संचय नहीं होगा। अब उसे केवल पूर्व जन्मों में अर्जित धर्माधर्मों से ही छुटकारा पाने की चिन्ता रह जायगी। इसके लिये वह योगाभ्यास से प्राप्त शक्ति से उन सभी धर्माधर्मों की जानकारी प्राप्त कर उन सब का एक साथ ही भोग करना चाहेगा। इसके लिये जिन-जिन योनियों के शरीर की अपेक्षा होगी उन सभी योनियों के शरीर की वह योगबल से रचना कर लेगा और उन शरीरों द्वारा पूर्व जन्मों के संचित सभी कर्मों को फल-भोग द्वारा एक साथ ही समाप्त कर देगा। प्रारब्ध कर्म जिसके फलभोग के लिये वर्तमान शरीर प्राप्त है, उसका भी भोग साथ ही सम्पन्न हो जायगा। फलस्वरूप वर्तमान शरीर का सम्बन्धविच्छेद होने और धर्म तथा अधर्मरूप कारणों का अभाव हो जाने से नये शरीर की प्राप्ति न होने से शरीर आदि इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक हानि हो जायगी। सम्पूर्ण दुःखों की इस प्रकार होने वाली यह आत्यन्तिक निवृत्ति ही अपवर्ग है। संक्षेप में अपवर्ग प्राप्त करने की यही विधि है।

अपवर्गप्राप्ति की इस प्रक्रिया में योगिक चमत्कारों की अनिवार्यता है। यदि मुमुक्षु की योगसाधना इतनी महती न हो, उसे योग की पूर्ण सिद्धि प्राप्त न हो तो वह पूर्व के असंख्य जन्मों में अर्जित कर्मराशि को तथा उसके भोगानुकूल विविध योनियों को न जान सकेगा और न उनके फल-भोग के लिये एक साथ कायव्यूह की रचना ही कर सकेगा। फलतः महान् योगी बने विना मोक्ष की प्राप्ति न की जा सकेगी। अतः शास्त्रों में मोक्षप्राप्ति की एक दूसरी प्रक्रिया भी बतायी गयी है जो इस प्रकार है।

मनुष्य के कर्म, जिनसे वह बंधा है, तीन प्रकार के हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण—वर्तमान जीवन में संचित किये जाने वाले। मोक्ष प्राप्त करने के लिये मनुष्य को पहला काम यह करना चाहिये कि वह क्रियमाण कर्मों का द्वार बन्द कर दे। उनका द्वार बन्द करने का उपाय है—काम्य कर्मों का परित्याग और नित्य, नैमित्तिक तथा निष्काम कर्मों का अनुष्ठान। जीवन की धारा को ऐसे कर्मों की ओर मोड़ देने से नये धर्म-अधर्म का संचय होना बन्द हो जाता है। अब उसे ध्यान देना रहता है संचित कर्मों के पहाड़ को तोड़ने की ओर। उसके लिये उसे शास्त्र का अध्ययन कर पदार्थों का तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिये। शास्त्रद्वारा आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान कर उसका मनन, ध्यान और साक्षात्कार करने के लिये यत्नशील होना चाहिये। इस प्रकार के अनवरत प्रयास के बाद उसे एक दिन आत्मा के तात्त्विक स्वरूप का साक्षात्कार होगा। फिर आत्मा का तत्त्वसाक्षात्कार होते ही पूर्वजन्मार्जित अनन्त कर्मों की वह महान् राशि क्षण भर में ही भस्म हो जायगी। जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ?

इस प्रकार संचित कर्मों का नाश सम्पन्न हो जाने पर अब उसे कुछ करना शेष नहीं रह जाता। वह जीवन्मुक्त की अवस्था में अपने वर्तमान जीवन की समाप्ति की प्रतीक्षा करता है। प्रारब्ध कर्मों का फलभोग पूरा होने पर यह शरीर स्वतः छूट जाता है। इस प्रकार किसी प्रकार के भोक्तव्य कर्म के शेष न रहने पर उसे विदेह मुक्ति—इक्कीस प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति-रूप अपवर्ग—मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। मोक्ष के लिये संसार छोड़ने, योगी या सन्यासी होने की आवश्यकता नहीं होती। मोक्ष के लिये इस प्रक्रिया का अनुसरण करने वाला मनुष्य गृहस्थ का सामान्य जीवन व्यतीत करते हुये भी मुक्त हो जाता है। जैसा कि कहा गया है—

न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥

न्याय से धनोपार्जन करने वाला, तत्त्वज्ञान में निष्ठा रखने वाला, अतिथि का सत्कार करने वाला, पितृजनों का श्राद्ध करने वाला, सदा सत्य बोलने वाला गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है।

किन्तु तर्कभाषाकार ने इस प्रक्रिया की चर्चा न कर पूर्व प्रक्रिया की ही चर्चा की है, वह इसलिये कि पूर्व प्रक्रिया मोक्ष का राजमार्ग है। उस मार्ग पर चलने से मोक्ष की प्राप्ति शीघ्रता और सुगमता से होती है। दूसरी प्रक्रिया विघ्नबहुला और लम्बी है, उस प्रक्रिया का अनुवर्तन करने वाले को मोक्ष की प्राप्ति बहुत बिलम्ब से होती है। उस प्रक्रिया को ही दृष्टिगत कर गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।

ज्ञानी (योगी-सन्यासी नहीं) गृहस्थ पुरुष अनेक जन्मों के बाद मुझे प्राप्त कर पाता है ।

मोक्ष का शास्त्रान्तरसम्मत स्वरूप—

अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में अनिर्वचनीया, त्रिगुणात्मिका, जगत् का 'परिणामी उपादानकारण रूपा' 'अविद्या' की निवृत्ति से उपलक्षित 'सच्चिदानन्द ब्रह्म' ही 'मोक्ष' है। इसमें उपलक्षणीय 'ब्रह्म' तो सतत सिद्ध है। उसके लिये कुछ करना नहीं है। करना है केवल अविद्यानिवृत्तिरूप उपलक्षण की सिद्धि के उपाय का सम्पादन। वह उपाय है अखण्डब्रह्म का साक्षात्कार, जो श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यों से प्रादुर्भूत होता है।

भक्तिवादी वेदान्तों के अनुसार भगवान् के सान्निध्य का अनपायी लाभ ही मोक्ष है जो भगवान् की शरणागतिरूपा भक्ति से प्राप्य है।

मीमांसा दर्शन का मुख्य मत है कि 'नित्यसुख की अभिव्यक्ति' ही मोक्ष है जो वेदविहित कर्मों के श्रद्धापूर्वक विधिवत् अनुष्ठान से साध्य है।

सांख्य दर्शन के अनुसार 'अपने वास्तव स्वरूप कूटस्थ चैतन्य में पुरुष की अवस्थिति' ही मोक्ष है, जो प्रकृति और पुरुष के विवेकसाक्षात्कार से साध्य है।

योगदर्शन को भी मोक्ष का यही स्वरूप मान्य है।

जैनदर्शन के मत से 'आत्मा के वास्तव स्वरूप को आवृत करने वाले सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होकर उसका ऊर्ध्वाभिमुख गमन' ही मोक्ष है, जो सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य के निपुणतापूर्वक निषेवण से साध्य होता है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार 'ज्ञान के विषयसम्पर्क रूप कालुष्य को निरस्त कर उसकी नितान्त निर्मल धारा को प्रवाहित करना या उसे सदा के लिये निर्वाण-समाप्त कर देना' ही मोक्ष है। यह 'सर्वं क्षणिकं, सर्वं स्वलक्षणं, सर्वं दुःखं, सर्वं शून्यम्' इस आर्यचतुष्टय को जीवन में उतारने तथा आत्मा के नित्यास्तित्व की भावना का त्याग करने से प्राप्य होता है।

चार्वाक दर्शन के अनुसार 'वर्तमान जीवन को यथासंभव सब प्रकार के लौकिक सुखों से सम्पन्न कर अन्त में सांसारिक समृद्धियों के बीच मृत्यु का आलिङ्गन करना ही' मोक्ष है, जो जीवन में धन, जन, स्वास्थ्य और अधिकार के अधिकाधिक अर्जन से लब्ध होता है।

शैवदर्शन का मुख्यमत है कि 'जीवशिवैक्य–जीव को शिवत्व की प्राप्ति ही' मोक्ष है, जो शैव सम्प्रदाय में वर्णित रीति से शिव की अनन्य उपासना से प्राप्य है।

एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानार्थावमर्शः संशयः। स च त्रिविधः-विशेषादर्शने सति समानधर्मदर्शनजः, विप्रतिपत्तिजः, असाधारणधर्मजश्चेति। तत्रैको विशेषादर्शने सति समानधर्मदर्शनजः। यथा 'स्थाणुर्वा पुरुषो वेति'। एकस्मिन्नेव हि पुरोवर्तिनि द्रव्ये स्थाणुत्वनिश्चायकं वक्रकोटरादिकं पुरुषत्वनिश्चायकं च शिरःपाण्यादिकं विशेषमपश्यतः स्थाणुपुरुषयोः समानधर्ममूर्ध्वत्वादिकं च पश्यतः पुरुषस्य भवति संशयः 'किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति।

शक्तिदर्शन के अनुसार 'जगज्जननी, भगवान् की भगवत्ता की भी मूलभूता आद्या शक्ति के आनन्दमय अङ्क की प्राप्ति' ही मोक्ष है जो अशक्त शिशु की भांति एकमात्र उसी का आश्रय लेने से लभ्य है।

मोक्षसम्बन्धी इन सभी विचारों के पर्यालोचन से न्यायवैशेषिकसम्मत मोक्ष और उसके साधन की ही श्रेष्ठता समझ में आती है, क्योंकि मोक्ष की अवस्था में दुःख की निवृत्ति का होना सर्वसम्मत सिद्धान्त है और उसके लिये अपेक्षित ज्ञान का अर्जन तथा जीवन की शुद्धता का सम्पादन आवश्यक है।

संशय—

प्रमाण आदि सोलह पदार्थों में 'प्रमेय' दूसरा पदार्थ है, उसके बारह भेदों में 'अपवर्ग' अन्तिम भेद है। उसका निरूपण कर देने से प्रमेय का निरूपण पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार अब तक 'प्रमाण' और 'प्रमेय' इन दो पदार्थों का निरूपण सम्पन्न हुआ। अब तीसरे पदार्थ 'संशय' के निरूपण का अवसर है। इसलिये अब उसका उपक्रम किया जा रहा है।

लक्षण और विभाग—

एक धर्मी में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों के अवमर्श—बोध का नाम है 'संशय'। उसके तीन भेद हैं–साधारणधर्मज, विप्रतिपत्तिज और असाधारणधर्मज। 'साधारणधर्मज' का अर्थ है 'साधारणधर्मप्रयुक्त'। 'साधारण धर्म' का अर्थ है 'परस्पर विरुद्ध दो धर्मों के साथ रहने वाला धर्म'। किसी एक धर्मी में इस धर्म का ज्ञान होने पर विशेषादर्शन-दशा में–धर्मी में किसी एक कोटि के व्याप्य धर्म का निर्णय न होने की स्थिति में जो संशय उत्पन्न होता है, वह 'साधारणधर्मज' संशय कहा जाता है, जैसे 'अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा–यह स्थाणु-ठूठा वृक्ष है अथवा पुरुष है'। इस ज्ञान में अयं–सामने दीखने वाले पदार्थ में स्थाणुत्व और पुरुषत्व का भान होता है। स्थाणुत्व और पुरुषत्व यह दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, क्योंकि यह दोनों एक दूसरे के साथ नहीं रहते। इन दोनों धर्मों के साथ रहने वाला धर्म है ऊर्ध्वता-ऊँचाई। इस ऊँचाई का, सामने दीखने वाले किसी एक धर्मी में जब इस

द्वितीयस्तु संशयो विशेषादर्शने सति विप्रतिपत्तिजः। स यथा। 'शब्दो नित्यः उत अनित्यः' इति, तथाह्येको ब्रूते 'शब्दो नित्य' इति। अपरो ब्रूते 'शब्दोऽनित्य' इति। तयोर्विप्रतिपत्त्या मध्यस्थस्य पुंसो विशेषमपश्यतो भवति संशयः 'किमयं शब्दो नित्य उतानित्य' इति।

तृतीयोऽसाधारणधर्मजस्तु संशयः। यथा नित्यादनित्याच्च व्यावृत्तेन भूमात्रासाधारणेन गन्धवत्त्वेन विशेषमपश्यतो भुवि नित्यत्वाऽनित्यत्वसंशयः। तथाहि- सकलनित्यव्यावृत्तेन गन्धवत्त्वेन योगाद् 'भूः किमनित्या उत सकलानित्यव्यावृत्तेन तेनैव योगान्नित्या' इति संशयः।

प्रकार ज्ञान होता है कि 'यह (सामने दीख पड़ने वाला पदार्थ) परस्परविरोधी स्थाणुत्व और पुरुषत्व के साथ रहने वाले धर्म ऊर्ध्वता का आश्रय है', तब यदि उस पदार्थ में विशेषदर्शन नहीं रहता अर्थात् स्थाणुत्व का निश्चय कराने वाले उसके व्याप्य धर्म कुटिल कोटर-टेढ़े मेढ़े पोल आदि का अथवा पुरुषत्व का निश्चय कराने वाले उसके व्याप्य धर्म शिर, हस्त, पैर आदि का निश्चय नहीं रहता, तब उस धर्मी के सम्बन्ध में इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'यह स्थाणु है अथवा पुरुष है'। यह इसी कारण उत्पन्न होता है कि इसमें वह ऊँचाई है जो स्थाणु में होती है और पुरुष में भी होती है और उन दोनों में किसी एक का कोई चिह्न उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार परस्परविरुद्ध दो धर्मों के समानाधिकरण धर्म से एक धर्मी में उन धर्मों का जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह समानधर्मज—'समानाधिकरणधर्मवद्धर्मिज्ञानजन्य' संशय कहा जाता है।

यह संशय परस्परविरोधी दो भावात्मक धर्मों का है। इस संशय के उदय के लिये उन दोनों धर्मों के स्वरूपज्ञान और दोनों में विरोधज्ञान की अपेक्षा होती है। जब कि इन दोनों में किसी एक के ज्ञान से दूसरे के ज्ञान में न कोई सहायता मिलती और न दोनों का विरोध ही त्वरित प्रतीत होता। अतः परस्परविरोधी भावात्मक धर्मों के ऐसे संशय कम ही होते हैं। अधिकतर संशय ऐसे होते हैं जिनमें एकधर्मी में परस्परविरुद्ध दो भावाभावात्मक धर्मों का भान होता है, जैसे 'अयं स्थाणुर्न वा-यह स्थाणु है अथवा स्थाणु नहीं है'। इस ज्ञान में 'अयं' में स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभाव का भान होता है। इन दोनों धर्मों में स्थाणुत्व के ज्ञान से स्थाणुत्वाभाव के ज्ञान में सहायता मिलती है। क्यों कि स्थाणुत्व स्थाणुत्वाभाव का प्रतियोगी है और प्रतियोगी का ज्ञान अभावज्ञान में कारण होता है। उन दोनों का विरोध भी सुस्पष्ट और सुगम होता है क्यों कि भावाभाव की परस्परविरोधिता आपामर प्रसिद्ध होती है।

विप्रतिपत्तिज—

'विप्रतिपत्तिज' का अर्थ है 'विप्रतिपत्तिप्रयुक्त'। 'विप्रतिपत्ति' का अर्थ है 'परस्पर

विरुद्ध दो धर्मों की प्रतिपत्ति–उपस्थिति का जनक शब्द'। इस प्रकार का शब्द जिस संशय के उदय में सहायक होता है उस संशय को 'विप्रतिपत्तिज' संशय कहा जाता है। जैसे शब्द एक पदार्थ है, उसके विषय में एक मनुष्य कहता है कि 'शब्द नित्य है' और दूसरा कहता है कि 'शब्द अनित्य है'। सुनने वाले मध्यस्थ पुरुष को इन वाक्यों से 'शब्दरूप धर्मी, तथा नित्यत्व और अनित्यत्व–रूप परस्पर विरुद्ध धर्मों की उपस्थिति होती है। यदि उसे शब्द में नित्यत्व अथवा अनित्यत्व के निश्चायक विशेषधर्म का निश्चय नहीं रहता तो उसे उक्त शब्दज उपस्थिति से शब्द में नित्यत्व–अनित्यत्व का मानस संशय उत्पन्न होता है। उस संशय को 'शब्दः नित्यो न वा–शब्द नित्य है अथवा अनित्य' इस शब्द से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार उत्पन्न होने वाले शब्दमूलक संशय को ही 'विप्रतिपत्तिज' संशय कहा जाता है।

असाधारणधर्मज—

'असाधारणधर्मज' का अर्थ है 'आसाधारणधर्मप्रयुक्त'। 'असाधारणधर्म' का अर्थ है 'परस्परविरुद्ध दो धर्मों में किसी के भी अधिकरण में न रहने वाला धर्म'। ऐसे धर्म का किसी एक धर्मी में ज्ञान होने पर, उन धर्मों में किसी एक धर्म के निश्चायक विशेष धर्म का निश्चय न होने की दशा में, उस धर्मी में उन परस्पर विरुद्ध धर्मों का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'असाधारणधर्मज' संशय कहा जाता है। जैसे 'गन्ध' से पृथिवी में नित्यत्व अनित्यत्व का संशय।

नित्यत्व और अनित्यत्व परस्परविरुद्ध धर्म हैं। 'गन्ध' उनमें किसी के भी अधिकरण में निश्चित नहीं है, क्यों कि न वह आकाश आदि नित्य पदार्थों में रहता और न जल आदि अनित्य पदार्थों में रहता। वही 'गन्ध' जब पृथिवी में ज्ञात होता है और पृथिवी में नित्यत्व अथवा अनित्यत्व के निश्चायक विशेष धर्म का निश्चय नहीं रहता, तब पृथिवी में नित्यत्व–अनित्य का संशय होता है। क्योंकि नित्य और अनित्य के अतिरिक्त तीसरी कोई श्रेणी पदार्थ की होती नहीं, जिसमें कि पृथिवी का समावेश किया जा सके। यह संशय नित्यत्व–अनित्यत्व इन दोनों कोटियों के असमानाधिकरण गन्धात्मक धर्म से उक्तरीत्या प्रादुर्भूत होने के कारण 'असाधारणधर्मज' संशय कहा जाता है।

'न्यायसूत्र' में संशय का वर्गीकरण 'तर्कभाषा' में किये गये संशय के वर्गीकरण से कुछ भिन्न है। जैसे वहाँ का सूत्र है।

समानानेकधर्मोपपत्तेः विप्रतिपत्तेः उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।

इसमें 'संशयः' से लक्ष्य का निर्देश है। 'विमर्शः' से लक्षण का निर्देश है। 'विशेषापेक्षः' से विशेषदर्शनाभावरूप सामान्य कारण का निर्देश है। और शेष भाग से

विशेष कारण का निर्देश कर उसके पांच भेद बताये गये हैं।

'समानधर्मोपपत्ति' का अर्थ है—'एकधर्मी में परस्परविरुद्ध कोटिद्वय के समानाधिकरण धर्म का ज्ञान'। 'अनेकधर्मोपपत्ति' का अर्थ है—'एकधर्मी में परस्परविरुद्ध कोटिद्वय के असमानाधिकरण धर्म का ज्ञान'। 'विप्रतिपत्ति' का अर्थ–है 'धर्मी तथा परस्पर विरुद्ध धर्मों का उपस्थापक शब्द'। उपलब्धि की अव्यवस्था का अर्थ है–'उपलभ्य वस्तु सत् ही होती है इस नियम का अभाव'। अनुपलब्धि की अव्यवस्था का अर्थ है–'अनुपलब्ध होने वाली वस्तु असत् ही होती है इस नियम का अभाव'। संशय के अन्तिम दो कारणों का अभिप्राय यह है कि 'सदेव उपलभ्यते–सद् वस्तु का ही उपलम्भ होता है' यह नियम नहीं है, क्योंकि ग्रीष्म के मध्याह्न में मरुभूमि में सूर्य की चमकती रश्मिमाला में जल की उपलब्धि होती है किन्तु जल वहाँ सत् नहीं होता। इसी प्रकार 'असदेव नोपलभ्यते—असत् ही अनुपलभ्यमान होता है यह भी नियम नहीं है' क्योंकि मध्याह्न के प्रकाश में आकाशमण्डल में तारायें उपलब्ध नहीं होतीं जब कि उस समय वह असत् नहीं होती हैं।

'तर्कभाषा' में संशय के न्यायसूत्रोक्त अन्तिम भेदों का उल्लेख नहीं किया गया है क्योंकि उन दोनों का समावेश 'साधारणधर्मज' संशय में ही सम्पन्न हो जाता है।

'न्यायसूत्र' में साधारणधर्मज और असाधारणधर्मज संशयों के उल्लेख के बाद विप्रत्तिपत्तिज संशय का उल्लेख किया गया है किन्तु 'तर्कभाषा' में वैसा न कर दोनों के मध्य में 'विप्रतिपत्तिज' का उल्लेख किया गया है। मध्य में उल्लेख करने से अन्य दो की अपेक्षा उसका महत्त्व सूचित होता है। वह महत्त्व यही है कि 'विप्रतिपत्तिज' संशय विचार–कथा का प्रवर्तक होता है जब कि अन्य दोनों संशय विचार के प्रवर्तक नहीं होते।

संशय और समुच्चय में भेद—

प्रश्न होता है कि जैसे संशय में एक धर्मी में परस्परविरुद्ध दो धर्मों का भान होता है उसी प्रकार समुच्चय–समूहालम्बन निश्चय में भी होता है। तो फिर दोनों में भेद क्या है? उत्तर है कि दोनों में भेद के कारण अनेक हैं, जैसे संशय में भासित होने वाले धर्मों में संशय के पूर्व परस्पर में विरोध का ज्ञान होता है किन्तु समुच्चय के पूर्व नहीं होता। संशय में उन दोनों धर्मों में परस्पर विरोध का भान होता है जब कि समुच्चय में ऐसा नहीं होता। संशय में भासित होने वाले विरुद्धधर्मों में 'कोटिता' नाम की एक नयी विषयता होती है, जिसका आश्रय होने से उन धर्मों को 'कोटि' कहा जाता है। समुच्चय में ऐसी कोई विषयता नहीं होती। संशय में प्रकारताद्वय से निरूपित एक

येन प्रयुक्तः पुरुषः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्। तच्च सुखदुःखावाप्तिहानी। तदर्था हि प्रवृत्तिः सर्वस्य।

वादिप्रतिवादिनोः संप्रतिपत्तिविषयोऽर्थो दृष्टान्तः। स द्विविधः। एकः साधर्म्यदृष्टान्तो यथा धूमवत्त्वस्य हेतोर्महानसम्। द्वितीयस्तु वैधर्म्यदृष्टान्तः, यथा तस्यैव हेतोर्महाह्रद इति।

विशेष्यता होती है जब कि समुच्चय में प्रकारता के भेद से विशेष्यता का भेद अनिवार्य है इत्यादि।

संशय का भेद एक अन्य प्रकार से भी किया जाता है। जैसे संशय के दो भेद हैं सामान्य संशय और विशेष संशय। सामान्य संशय वे ही हैं जिनकी चर्चा अब तक की गयी है। विशेष संशय का नाम है 'सम्भावना'। 'सम्भावना' का लक्षण है 'उत्कट एक-कोटिक संशय'। जिस संशय में एक कोटि सम्भावित रहती है। एक कोटि की ओर झुकाव रहता है। उसे सम्भावनात्मक संशय कहा जाता है।

प्रयोजन—

तत्त्वतः ज्ञातव्य सोलह पदार्थों में 'प्रयोजन' चौथा पदार्थ है। प्रयुज्यते—प्रवर्त्यतेऽनेन इति 'प्रयोजनम्'। प्रयोजन शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रयोजन' का अर्थ है 'प्रवर्तक'। उसका लक्षण है—

जिससे प्रेरित होकर मनुष्य संसार के विभिन्न कर्मों में प्रवृत्त होता है उसका नाम है 'प्रयोजन'। वह है सुख की प्राप्ति और दुःख का परिहार। समस्त प्राणिवर्ग की प्रवृत्ति इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये ही होती है। यह एक ऐसा महनीय पदार्थ है जिसका प्रभाव सारे संसार पर है। उसके सम्बन्ध में भाष्यकार 'वात्स्यायन' ऋषि का निम्न वचन सर्वथा सत्य है।

'येन प्रयुक्तः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्। यमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा कर्मारभते तेनानेन सर्वे प्राणिनः, सर्वाणि कर्माणि, सर्वाश्च विद्या व्याप्ताः, तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्तते'।

न्या० सू० अवतरणभाष्य।

दृष्टान्त—

यह मूलभूत सोलह पदार्थों में पांचवा पदार्थ है। इसका लक्षण इस प्रकार है। जिस अर्थ में वादी और प्रतिवादी की समान प्रतिपत्ति हो अर्थात् जो अर्थ दोनों को समान रूप से मान्य हो वह अर्थ 'दृष्टान्त' है। जैसे उत्पत्तिमत्त्व हेतु से शब्द में अनित्यत्व का अनुमान करने के लिये उत्पत्तिमत्त्व में अनित्यत्व की व्याप्ति अपेक्षित है। उस व्याप्ति के बोधनार्थ घट, पट आदि पदार्थों को दृष्टान्तरूप में इस प्रकार प्रस्तुत

प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः। स चतुर्धा सर्वतन्त्र-प्रतितन्त्र-अधिकरण-अभ्युपगमसिद्धान्तभेदात्। तत्र सर्वतन्त्रसिद्धान्तो यथा 'धर्मिमात्र-सद्भावः'[1]। द्वितीयो यथा नैयायिकस्य मते 'मनस इन्द्रियत्वम्'। तद्धि समानतन्त्रे वैशेषिके सिद्धम्। तृतीयो यथा 'क्षित्यादिकर्तृसिद्धौ कर्तुः सर्वज्ञत्वम्'। चतुर्थो यथा 'जैमिनीयस्य नित्याऽनित्यत्वविचारो' यथा भवतु 'तावच्छब्दो गुणः' इति।

किया जाता है—'शब्दः अनित्यः, उत्पत्तिमत्त्वात्, घटादिवत्'। शब्द उत्पत्तिमान् क्यों होता है? इसी लिये न, कि वादी–शब्दको अनित्य मानने वाले और प्रतिवादी––शब्द को नित्य माननेवाले दोनों ही, घट आदि को उत्पत्तिमान् और अनित्य मानते हैं।

दृष्टान्त के दो भेद हैं––साधर्म्यदृष्टान्त और वैधर्म्यदृष्टान्त। इनमें पहले का दूसरा नाम है अन्वयी दृष्टान्त तथा दूसरे का दूसरा नाम है व्यतिरेकी दृष्टान्त। साधर्म्यदृष्टान्त का अर्थ है––पक्ष का समानधर्मा दृष्टान्त। यह वह दृष्टान्त है जहाँ हेतु में साध्य के सहचार का बोध होता है। जैसे धूम-हेतु से पर्वत–पक्ष में वह्नि–साध्य के अनुमान में महानस पर्वत का समानधर्मा दृष्टान्त है। धूम और अग्नि पक्ष-पर्वत के भी धर्म हैं और दृष्टान्त–महानस के भी धर्म हैं। महानस एक ऐसा स्थल है जहाँ धूम में वह्नि के सहचार का ग्रहण होता है।

वैधर्म्यदृष्टान्त का अर्थ है–पक्ष का विधर्मा दृष्टान्त। यह एक ऐसा दृष्टान्त है जिसमें साध्याभाव में हेत्वभाव के सहचार का अवगम होता है। जैसे धूम से पर्वत में वह्नि के अनुमान में ह्रद—जलाशय। ह्रद पक्ष–पर्वत का विधर्मा है। क्यों कि पर्वत में धूम और अग्नि है किन्तु जलाशय में दोनों का अभाव है। जलाशय एक ऐसा स्थान है जहाँ वह्न्यभाव में धूमाभाव के सहचार का अवगम होता है।

सिद्धान्त—

यह उक्त सोलह पदार्थों में छठां पदार्थ है। इसका लक्षण इस प्रकार है—जो अर्थ प्रामाणिक रूप से स्वीकृत होता है उसे 'सिद्धान्त' कहा जाता है। सिद्धान्त के चार भेद होते हैं—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम।

सर्वतन्त्र—

जो सिद्धान्त सब शास्त्रों को मान्य होता है उसे सर्वतन्त्रसिद्धान्त कहा जाता है। जैसे धर्मी की स्वरूपसत्ता। इसका आशय यह है कि जब किसी पदार्थ के विषय में विचार होता है तब उस पदार्थ की स्वरूपसत्ता—उसका अस्तित्व सर्वसम्मत होता है। उसमें किसी को विवाद नहीं होता। अतः यह अंश विचारणीय नहीं होता। विवाद

होता है उसके धर्मों के विषय में। अतः उसके धर्म विचारणीय होते हैं। जैसे शब्द के नित्यानित्यत्व की चर्चा में शब्द धर्मी है, उसका अस्तित्व सर्वसम्मत है। उसके होने में किसी को कुछ विवाद नहीं है। अतः वह स्वरूपतः विचारणीय नहीं है। विवाद है उसकी नित्यता और अनित्यता के सम्बन्ध में। अतः उसकी नित्यता और अनित्यता विचारणीय है। इसलिए उक्त चर्चा का विषयभूत धर्मी 'शब्द' सर्वतन्त्रसिद्धान्त है।

प्रतितन्त्र—

जो सिद्धान्त एक शास्त्र में और उसके समान शास्त्रान्तर में स्वीकृत होता है उसे प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहा जाता है। जैसे मन का इन्द्रियत्व। न्यायशास्त्र ने मन के इन्द्रियत्व का प्रतिपादन किया है। समानतन्त्र वैशेषिक ने उसे स्वीकार किया है। अतः वह प्रतितन्त्र सिद्धान्त है।

अधिकरण—

अधिक्रियते नान्तरीयकतया प्राप्यते यत् तद् अधिकरणं तच्चासौ सिद्धान्तः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका लक्षण इस प्रकार हो सकता है—जिस सिद्धान्त के विना अभिमत सिद्धान्त की प्रतिष्ठा न हो, अभिमत सिद्धान्त जिस सिद्धान्त को लिये विना प्रतिष्ठित न हो सके वह अधिकरणसिद्धान्त है। जैसे क्षिति, अङ्कुर आदि जगत् में सकर्तृकत्व न्यायशास्त्र का अभिमत सिद्धान्त है। किन्तु यह सिद्धान्त क्षिति आदि के कर्ता को सर्वज्ञ माने विना नहीं प्रतिष्ठित हो सकता क्यों कि जो जगत् को तथा उसके कारणों को न जानेगा वह उसका कर्ता नहीं हो सकता। इस प्रकार सर्वज्ञत्व के विना जगत्कर्तृत्व का साधन शक्य न होने से जगत्कर्ता के साधनार्थ प्रयुक्त अनुमान प्रमाण से ही जगत्कर्ता का सर्वज्ञत्व सिद्ध हो जाता है अतः जगत्कर्ता की सर्वज्ञता अधिकरण-सिद्धान्त है।

अभ्युपगम—

'अभ्युपगम' का अर्थ है–मान लेना। जो अर्थ अपनी दृष्टि से सिद्धान्तभूत न होने पर भी प्रयोजनवश कुछ समय के लिये सिद्धान्तरूप में मान लिया जाता है उसे 'अभ्युपगम' सिद्धान्त कहा जाता है। जैसे शब्द के नित्यत्व और अनित्यत्व के सम्बन्ध में विचार चल सके, इस प्रयोजन के लिये, वह द्रव्य है या गुण इस झगड़े में न पड़ कर मीमांसक लोग थोड़े समय के लिये यदि यह मान लें कि 'अस्तु तावत् शब्दः गुण एव किन्तु स नित्योऽनित्यो वेति न निर्णीयते'। शब्द में स्वीकृत किया जाने वाला यह गुणत्व मीमांसक का 'अभ्युपगम' सिद्धान्त होगा।

अनुमानवाक्यस्यैकदेशा अवयवाः। ते च प्रतिज्ञादयः पञ्च। तथा च न्यायसूत्रम्—'प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण-उपनय-निगमनानि अवयवाः' (गौ. न्या. सू. १।१।३२)· इति। तत्र साध्यधर्मविशिष्टपक्षप्रतिपादकं वचनं प्रतिज्ञा। यथा 'पर्वतोऽयं वह्निमान्' इति।

तृतीयान्तं पञ्चम्यन्तं वा लिङ्गप्रतिपादकं वचनं हेतुः। यथा धूमवत्त्वेन धूमवत्त्वादिति वा।

सव्याप्तिकं दृष्टान्तवचनम् उदाहरणम्। यथा 'यो यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानसम्' इति।

पक्षे लिङ्गोपसंहारवचम् उपनयः। यथा 'वह्निव्याप्यधूमवांश्चायम्' इति 'तथा चायम्' इति वा।

पक्षे साध्योपसंहारवचनं निगमनम्। यथा 'तस्मादग्निमान्' इति 'तस्मात् तथा' इति वा। एते च प्रतिज्ञादयः पञ्च अनुमानवाक्यस्याऽवयवा इव अवयवाः, न तु समवायिकारणं शब्दस्याकाशसमवेतत्वादिति।

अवयव—

यह सातवां पदार्थ है। इसका लक्षण है–अनुमानवाक्य का एकदेश। अनुमानवाक्य को 'न्याय' भी कहा जाता है। इसलिये इन वाक्यों को 'न्यायावयव' वाक्य भी कहा जाता है। न्याय के अवयवभूत वाक्य पांच हैं–प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। जैसा कि न्यायसूत्र में स्पष्ट कहा गया है।

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः।

न्या. सू. १।१।३२

प्रतिज्ञा—

साध्यविशिष्ट पक्ष का—पक्ष के साथ साध्य के सम्बन्ध का प्रतिपादन करने वाला वाक्य 'प्रतिज्ञा' है। जैसे 'अयं पर्वतो वह्निमान्—यह पर्वत वह्नि से सम्बद्ध है'। यह वाक्य पक्ष—पर्वत के साथ साध्य–वह्नि–संयोगी के तादात्म्यका—वह्नि के संयोग संबन्ध का प्रतिपादन करने से 'प्रतिज्ञा' है। इस वाक्य को 'प्रतिज्ञा' कहने का स्वारस्य यह है कि इस वाक्य के प्रयोग से वादी की यह प्रतिज्ञा सूचित होती है कि उसे पक्ष में साध्य का सम्बन्ध सिद्ध करना है।

हेतु—

शुद्ध लिङ्ग का—व्याप्ति आदि से अविशेषित लिङ्ग का प्रतिपादन करने वाला तृतीयाविभक्त्यन्त अथवा पञ्चमीविभक्त्यन्त वाक्य 'हेतु' है। जैसे 'अयं पर्वतो वह्निमान्'

इस प्रतिज्ञावाक्य के बाद प्रयुक्त होने वाला 'धूमवत्त्वेन' अथवा 'धूमवत्त्वात्' यह वाक्य। इस वाक्य से शुद्धलिङ्ग का प्रतिपादन होता है और यह तृतीयान्त या पञ्चम्यन्त है। अतः हेतुवाक्य है।

उदाहरण—

हेतु में साध्य की अथवा साध्याभाव में हेत्वभाव की व्याप्ति का दृष्टान्तद्वारा बोधन करने वाला वाक्य 'उदाहरण' है। जैसे 'अयं पर्वतो वह्निमान्, धूमात्, इन दोनों अवयवों के प्रयोग के पश्चात् प्रयुक्त होने वाला 'यो यो धूमवान् सोऽग्निमान्' यथा-महानसम्' अथवा 'यो यो न अग्निमान् स न धूमवान् यथा ह्रदः'। इनमें पहला वाक्य महानस के दृष्टान्त से धूम में अग्नि की व्याप्ति और दूसरा वाक्य ह्रद के दृष्टान्त से अग्नि के अभाव में धूम के अभाव की व्याप्ति का प्रतिपादन करता है।

उपनय—

जिस वाक्य से पक्ष में लिङ्ग का उपसंहार किया जाता है अर्थात् जिस वाक्य से पक्ष के साथ साध्यव्याप्तिविशिष्ट हेतु के सम्बन्ध का प्रतिपादन होता है वह वाक्य 'उपनय' है। जैसे प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण का प्रयोग करने के अनन्तर प्रयुक्त किया जाने वाला 'तथा चायम्' अथवा 'साध्यव्याप्यहेतुमान् अयम्' यह वाक्य।

यह वाक्य उदाहरण का अनुसरण करता है। इस लिये उदाहरण से यदि अन्वय-व्याप्ति बोधित होती है तो इससे पक्ष में साध्य की अन्वयव्याप्ति से विशिष्ट हेतु का ही बोध होता है और यदि उदाहरण से व्यतिरेकव्याप्ति बोधित होती है तो इससे व्यतिरेकव्याप्तिविशिष्ट हेतु का बोध होता है। इसीलिये इसका स्वरूप कभी 'तथा चायम्' और कभी 'न च नायं तथा' इस प्रकार होता है।

निगमन—

जिस वाक्य से पक्ष में साध्य का उपसंहार किया जाता है। अर्थात् जो वाक्य उदाहण और उपनय द्वारा बोधित व्याप्ति और पक्षधर्मता के साथ हेतु के अबाधित-साध्यकत्व और असत्प्रतिपक्षत्व का प्रतिपादन करते हुये उस हेतु के बल से पक्ष की साध्यवत्ता का प्रतिपादन करता है वह 'निगमन' है। जैसे अनुमानवाक्य का अन्तिम 'तस्माद् वह्निमान्' यह वाक्य। इस वाक्य में तत्पद से लक्षणाद्वारा अबाधितसाध्यक, असत्प्रतिपक्षित, साध्यव्याप्य, पक्षवृत्ति हेतु की उपस्थिति होती है। निगमन में उपनय से पक्षबोधक 'अयं' पद का अनुकर्षण किया जाता है। और इस सब के फलस्वरूप इस वाक्य से पक्ष में अबाधितसाध्यक, असत्प्रतिपक्षित, साध्यव्याप्य, पक्षवृत्ति हेतु से ज्ञाप्य साध्य के सम्बन्ध का बोध होता है। अतः पक्ष में साध्य के उपसंहार का साधन होने से 'तस्माद् वह्निमान्' यह वाक्य 'निगमन' है।

तर्कोऽनिष्टप्रसङ्गः। स च सिद्ध-व्याप्तिकयोर्धर्मयोर्व्याप्याङ्गीकारेण अनिष्ट-व्यापकप्रसञ्जनरूपः। यथा 'यद्यत्र घटोऽभविष्यत् तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यत' इति। स चायं तर्कः प्रमाणानामनुग्राहकः। तथाहि 'पर्वतोऽयं साग्निः उतानग्निः' इति सन्देहानन्तरं यदि कश्चिन्मन्येतानग्निरयमिति, तदा तं प्रति यद्ययमनग्नि-

ये प्रतिज्ञा आदि पांचों वाक्य अनुमानवाक्य के वास्तव अवयव नहीं हैं, क्यों कि किसी का वास्तव अवयव तो वह होता है जो उसका समवायिकारण होता है, जैसे घट का कपाल, पट का तन्तु आदि। अनुमानवाक्य तो शब्द है और शब्द आकाश में समवेत होता है, अतः आकाश ही उसका समवायिकारण है। प्रतिज्ञा आदि वाक्य उसके समवायिकारण नहीं हैं। अतः प्रतिज्ञा आदि को अनुमानवाक्य का जो अवयव कहा जाता है वह मुख्यवृत्ति से नहीं किन्तु गौणवृत्ति से। प्रतिज्ञा आदि वाक्य अनुमानवाक्य का घटक होने से अवयवसदृश हैं। अतः उन्हें उसका अवयव कहा जाता है।

न्यायभाष्य में अवयवसूत्र की व्याख्या करते हुये दशावयव न्याय की प्राचीन मत के रूप में चर्चा की गयी है। उपर्युक्त से भिन्न जिन पांच वाक्यों के अवयवत्व का निराकरण किया गया है वे हैं—जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास। भाष्यकार के अनुसार सूत्रकार ने अर्थ का साधक न होने से इन्हें न्याय का अवयव नहीं माना है।

मीमांसा और वेदान्त में प्रतिज्ञा आदि आरम्भ के तीनों वाक्य अथवा उदाहरण आदि अन्त के तीन वाक्यों को ही अनुमानवाक्य बता कर त्र्यवयव न्याय माना गया है। बौद्धदर्शन में उदाहरण और उपनय को ही अवयव मान कर द्व्यवयव न्याय को मान्यता दी गई है। जैनदर्शन में अवयवों की कोई नियत संख्या न मान कर प्रयोजनानुसार न्याय को कभी पञ्चावयव कभी द्व्यवयव, कभी त्र्यवयव, कभी एकावयव माना गया है। तर्कभाषाकार को अनुमानवाक्य के अवयवभूत वाक्य के सम्बन्ध में यह सब मत मान्य नहीं हैं, इसलिये अनुमानवाक्य के अवयवभूत वाक्य पांच ही हैं, न पांच से न्यून हैं और न पांच से अधिक। इस बात के सूचनार्थ ग्रन्थकार ने 'पञ्च' शब्द का उल्लेख करते हुये 'प्रतिज्ञादयः पञ्च' इस रूप में अवयवों की नियत पांच संख्या का स्पष्ट निर्देश कर दिया है।

तर्क

'अनिष्ट प्रसङ्ग' का नाम है 'तर्क'। जिन दो धर्मों में व्याप्यव्यापकभाव सिद्ध होता है उनमें एक व्याप्य होता है और एक व्यापक होता है। जिस धर्मी में इन दोनों में से व्यापक का होना अनिष्ट है उस धर्मी में व्याप्य को अङ्गीकार करने से व्यापक की जो

भविष्यत् तदानग्नित्वादधूमोऽप्यभविष्यदित्यधूमवत्त्वप्रसञ्जनं क्रियते। स एष प्रसङ्गस्तर्क इत्युच्यते। अयं चाऽनुमानस्य विषयशोधकः प्रवर्तमानस्य विषयमग्निमनुजानाति। अनग्निमत्त्वस्य प्रतिक्षेपात्। अतोऽनुमानस्य भवत्यनुग्राहक इति। अत्र कश्चिदाह। 'तर्कः संशय एवान्तर्भवति' इति। तन्न। एककोटिनिश्चितविषयत्वात् तर्कस्य।

आपत्ति होती है उसे ही 'तर्क' कहा जाता है। जैसे घट का सद्भाव और घट का दर्शन। इस दोनों धर्मों में व्याप्यव्यापकभाव सिद्ध है। इनमें घट का सद्भाव व्याप्य है और घट का दर्शन व्यापक है। घटशून्य भूतलरूप धर्मी में घटदर्शनरूप व्यापक का होना अनिष्ट है। अत्र यदि उक्त भूतल में घट के सद्भावरूप व्याप्य को अङ्गीकार कर लिया जाय तो उससे घटदर्शनरूप अनिष्ट की इस प्रकार आपत्ति हो सकती है कि 'यदि इस भूतल में घट का सद्भाव होता तो यहाँ घट का दर्शन भी होता'। तो इस प्रकार घटशून्य भूतल में घट का अस्तित्व स्वीकार करने से होने वाली घटदर्शन की आपत्ति 'अनिष्टप्रसङ्ग' रूप होने से 'तर्क' है।

तर्क के उपर्युक्त वर्णन से उसके तीन कारण समझ में आते हैं, (१) धर्मी में आपाद्याभाव का निश्चय, (२) आपादक में आपाद्यव्याप्ति का निश्चय और (३) धर्मी में आपादक का आहार्य निश्चय। उक्त तर्क में 'घटशून्य भूतल' धर्मी है। 'घट का सद्भाव' आपादक है और 'घट' का दर्शन' आपाद्य है। उक्त भूतल रूप धर्मी में घटदर्शनरूप आपाद्य के अभाव का निश्चय, घटसद्भाव में घटदर्शन की व्याप्ति का निश्चय और धर्मी में घटसद्भावरूप आपादक का आहार्य निश्चय होने से उक्त तर्क का जन्म होता है।

तर्क स्वयं कोई प्रमाण नहीं है किन्तु अन्य प्रमाणों का अनुग्राहक—सहायक है। जैसे 'यह पर्वत अग्निमान् है या अग्निहीन है' इस प्रकार सन्देह होने पर यदि कोई यह मान बैठे कि 'पर्वत अग्निहीन है' तो उसकी इस मान्यता के निराकरणार्थ इस प्रकार के तर्क की सहायता ली जा सकती है कि 'यदि पर्वत अग्निहीन होता तो धूमहीन भी होता' क्यों कि जहाँ अग्नि का अभाव होता है वहाँ धूम का भी अभाव होता है। अग्निहीनत्व से पर्वत में होने वाली धूमहीनत्व की इस आपत्ति को 'तर्क' कहा जाता है। इस तर्क से धूम से होने वाले वह्नि के अनुमान के विषय-वह्नि का शोधन होता है। धूम से होने वाले अनुमान के विषयभूत अग्नि का समर्थन होता है।

प्रश्न हो सकता है कि उक्त तर्क से पर्वत में अग्नि के सम्बन्ध का बोध तो होता नहीं, फिर उससे पर्वत में अग्नि के सम्बन्ध का समर्थन कैसे होगा? उत्तर यह है कि तर्क का पर्यवसान तर्क के स्वरूप तक ही सीमित नहीं होता किन्तु उसका पर्यवसान

निर्णयोऽवधारणज्ञानम्। तच्च प्रमाणानां फलम्।

तत्त्वबुभुत्सोः कथा वादः। स चाऽष्टनिग्रहाणामधिकरणम्। ते च न्यून-अधिक-अपसिद्धान्ताः, हेत्वाभासपञ्चकं च, इत्यष्टौ निग्रहाः।

उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः। स च यथासंभवं सर्वनिग्रहाणामधिकरणम्। परपक्षे दूषिते स्वपक्षस्थापनप्रयोगावसानश्च।

स एव स्वपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा। सा च परपक्षदूषणमात्रपर्यवसाना। नास्य वैतण्डिकस्य स्थाप्यः पक्षोऽस्ति। कथा तु नानावक्तृकपूर्वोत्तरपक्षप्रातिपादकवाक्यसन्दर्भः।

विपरीतानुमान में होता है। जो तर्क विपरीतानुमान में फलित नहीं होता वह 'सत् तर्क' न हो कर 'तर्काभास' होता है। इस लिये 'यदि यह पर्वत अग्निहीन होता तो धूमहीन भी होता' इस तर्क का उदय होने पर इस प्रकार का विपरीत अनुमान होता है कि 'यतः 'पर्वत धूमहीन नहीं है अतः अग्निहीन भी नहीं है'।

इस विपरीतानुमानद्वारा पर्वत में अग्निहीनत्व का प्रतिषेध होने से उक्त तर्क से पर्वत में अग्नि के सम्बन्ध का समर्थन होना स्पष्ट है। इस लिये तर्क अनुमान का सहायक होता है, यह कथन सर्वथा समुचित है।

किसी का कहना है कि तर्क का अन्तर्भाव संशय में ही हो जाता है, संशय से पृथक् उसका अस्तित्व नहीं है। कहने का आशय यह है कि 'यदि पर्वत अग्निहीन होता तो धूमहीन भी अवश्य होता'। इस प्रकार के तर्क का उदय होने पर भी 'पर्वत धूमहीन है' इस प्रकार पर्वत में धूमहीनता का निश्चय नहीं होता, किन्तु 'धूमहीन होता' इस प्रकार धूमहीनत्व की सम्भावना ही विदित होती है। अतः तर्क अतिरिक्त ज्ञान न होकर संशयरूप ही हो सकता है। तर्कभाषाकार की दृष्टि में यह कथन असंगत है, क्यों कि उक्त तर्क में निश्चितरूप से धूमहीनत्व रूप एक ही कोटि का भान होता है, और संशय में परस्परविरुद्ध दो कोटियों का भान अनिवार्य है। उक्त तर्क यदि 'धूमहीन होता अथवा धूमवान् होता' इस रूप में उदित होता तो उसकी संशयरूपता कदाचित् सोची जाती, पर वह तो निश्चितरूपेण धूमहीनत्वरूप एक ही कोटि को ग्रहण करता है, अतः संशय में उसके अन्तर्भाव की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती।

'न्यायसूत्र' के तर्कलक्षणसूत्र की विश्वनाथीय वृत्ति में तर्क के अनेक भेद बताये गये हैं जिन्हें वहीं से समझा जाना चाहिये।

निर्णय—

यह उक्त सोलह पदार्थों में नवां पदार्थ है। इसका लक्षण है—अवधारणात्मक ज्ञान। किसी वस्तु के अवधारण का नाम है 'निर्णय'। निश्चय उसी का नामान्तर है। यह प्रमाणों का फल है। इसका उदय प्रमाणों द्वारा सम्पन्न होता है।

वाद—

यह दशवां पदार्थ है। तत्त्व की जिज्ञासा से जो कथा-किसी विषय की विचारचर्चा की जाती है उसका नाम है 'वाद'। यह मुख्य रूप से गुरु और शिष्य के बीच होता है। इसका उद्देश्य विशुद्धरूप से तत्त्वनिर्णय ही होता है। इसी लिये इस वादात्मक कथा में जो कुछ भी कहा सुना जाता है वह सब प्रमाणपूर्वक ही होता है। इसमें किसी की बौद्धिक दुर्बलता या प्रबलता प्रदर्शित करने की तनिक भर भी भावना नहीं होती। इस कथा में केवल उन्हीं निग्रहस्थानों का उद्भावन किया जाता है जिनके कारण तत्त्वनिर्णय में बाधा पहुँचती है। वे निग्रहस्थान आठ हैं। जैसे—न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त और पांच हेत्वाभास।

जल्प—

विजय की कामना से जो कथा की जाती है तथा जिसमें पक्ष-प्रतिपक्ष-दोनों पक्षों का साधन किया जाता है, उस कथा का नाम है 'जल्प'। यह कथा यतः अपने विरोधी पर विजय प्राप्त करने के लिए की जाती है, अतः इसमें प्रमाण, प्रमाणाभास, तर्क, तर्काभास, सब का प्रयोग किया जा सकता है। प्रतिपक्षी को मूक करने के लिए, उसे पराजित करने के लिए सभ्य ढंग के सभी सम्भव उपाय किये जा सकते हैं। इस कथा में यथासम्भव सभी निग्रहस्थानों का उद्भावन होता है। परपक्ष का खण्डन कर अपने पक्ष की स्थापना करने से इस कथा की सार्थकता और समाप्ति होती है।

वितण्डा—

जिस कथा में अपने पक्ष की स्थापना न कर केवल परपक्ष का खण्डन ही किया जाता है, उस कथा का नाम है 'वितण्डा'। यह कथा भी 'जल्प' जैसी ही होती है, दोनों में अन्तर केवल इतना ही होता है कि 'जल्प' में परपक्ष का खण्डन कर अपने पक्ष की स्थापना भी करनी पड़ती है और 'वितण्डा' में एक मात्र पर-पक्ष का खण्डन ही किया जाता है, अपने किसी भावात्मक पक्ष की स्थापना नहीं की जाती। वैतण्डिक—वितण्डा कथा करने वाले का अपना कोई स्थापनीय पक्ष नहीं होता।

वाद, जल्प, वितण्डा, जिनकी चर्चा अभी की गई है, उन तीनों का सामान्य नाम है 'कथा'। कथा का लक्षण है 'पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का प्रतिपादन करने के लिये अनेक वक्तावों के द्वारा प्रयुक्त होने वाला वाक्यसमूह'।

आयुर्वेद के महान् ग्रन्थ 'चरकसंहिता' में कथा को 'सम्भाषा' कहा गया है और उसके दो भेद बताये गये हैं—'सन्धाय सम्भाषा' और 'विगृह्य सम्भाषा'। 'सन्धाय सम्भाषा' का अर्थ है सन्धि से—सौमनस्य से किया जाने वाला विचारविनिमय। यह

उक्तानां पक्षधर्मत्वादिरूपाणां मध्ये येन केनापि रूपेण हीना अहेतवः। तेऽपि कतिपयहेतुरूपयोगाद्धेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः। ते असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-प्रकरणसम--कालात्ययापदिष्टभेदात् पञ्चैव। अत्रोदयनेन 'व्याप्तस्य हेतोः पक्षधर्मतया प्रतीतिः सिद्धिः, तदभावोऽसिद्धिः' इत्यसिद्धिलक्षणमुक्तम्। तच्च यद्यपि विरुद्धादिष्वपि संभवतीति साङ्कर्यं प्रतीयते। तथापि यथा न साङ्कर्यं तथोच्यते। यो हि यत्र साधने पुरा परिस्फुरति समर्थश्च दुष्टज्ञप्तौ, स एव दुष्टज्ञप्तिकारको दूषणमिति यावत्, नान्य इति। तेनैव पुरावस्फूर्तिकेन दुष्टौ ज्ञापितायां कथापर्यवसाने जाते तदुपजीविनोऽन्यस्यानुपयोगात्। तथा च सति यत्र विरोधः साध्यविपर्ययव्याप्त्याख्यो दुष्टज्ञप्तिकारकः स एव विरुद्धो हेत्वाभासः। एवं यत्र व्यभिचारादयस्तथाभूतास्तेऽनैकान्तिकादयस्त्रयः। ये पुनर्व्याप्तिपक्ष-धर्मताविशिष्टहेतुत्वप्रज्ञप्त्यभावेन पूर्वोक्ता असिद्धयादयो दुष्टज्ञप्तिकारका दूषणानीति यावत्। तथाभूतः सोऽसिद्धः।

न्यायशास्त्र की 'वाद' कथा है। 'विगृह्य सम्भाषा' का अर्थ है विग्रह–संघर्ष–जयपराजय की भावना से किया जाने वाला विचारविनिमय। इसमें न्यायशास्त्र में वर्णित जल्प और वितण्डा का समावेश होता है।

जैन दर्शन में कथा का एक ही प्रकार स्वीकृत है और वह है 'वाद'। जल्प और वितण्डा को कथा न कह कर कथाभास कहा गया है और उसे त्याज्य माना गया है। बौद्धदर्शन के पूर्ववर्ती अनेक तार्किकों ने तो कथा के उपर्युक्त तीनों भेद माने थे पर पश्चाद्वर्ती विद्वानों ने जल्प, वितण्डा को कथा के क्षेत्र से पृथक् कर जैनाचार्यों के समान 'वाद' मात्र को ही कथा के रूप में मान्यता प्रदान की है।

विचार करने पर कथा का त्रैविध्य-पक्ष ही उचित प्रतीत होता है क्योंकि महर्षि गौतम ने जल्प और वितण्डा की जो उपयोगिता बतायी है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनका कथन है कि अपने प्रमाणसिद्ध सुपरीक्षित सिद्धान्त के रक्षणार्थ जल्प और वितण्डा का उपयोग आवश्यक है।

'तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्'

न्या० सू० ४।२।५०

हेत्वाभास—

अनुमान का निरूपण करते समय यह कहा जा चुका है कि हेतु की अनुमापकता के सम्पादक रूप पाँच हैं—पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितसाध्यकत्व और

असत्प्रतिपक्षत्व। इन रूपों में किसी भी एक रूप से जो हीन होता है वह अहेतु हो जाता है। अहेतु ही हेतु के कतिपय रूपों से युक्त होने के कारण हेतु के समान आभासित-प्रतीत होने से 'हेत्वाभास' कहा जाता है। हेत्वाभास के पांच भेद हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक—व्यभिचारी, प्रकरणसम—सत्प्रतिपक्ष, और कालात्ययापदिष्ट-बाधित।

'उदयनाचार्य' ने असिद्ध का लक्षण बताते हुए कहा है कि 'साध्यव्याप्तिविशिष्ट हेतु में पक्षसत्त्व की प्रतीति का नाम है 'सिद्धि' और उसके अभाव का नाम है असिद्धि'। यह दोष के अर्थ में एक हेत्वाभास है। यह जिस हेतु में रहे वह दुष्ट हेतु 'असिद्ध' हेत्वाभास होता है। इस लक्षण के विषय में यह शंका होती है कि 'विरोध' आदि के साथ इस लक्षण का सांकर्य है, अतः 'विरुद्ध' आदि अन्य हेत्वाभासों में अतिव्याप्त होने से 'असिद्ध' का यह लक्षण असंगत है। 'तर्कभाषा' के अनुसार उस शंका का समाधान इस प्रकार है।

जिससे हेतु में दुष्टता का ज्ञान हो उसे दोष या दूषण कहा जाता है। इसके अनुसार हेतु में जो पहले ज्ञात हो और दुष्टता के ज्ञापन में समर्थ हो, वही दोष होता है। अन्य अर्थात् जो बाद में ज्ञात होने से दुष्टता के ज्ञापन में अनुपयुक्त होता है वह दोष नहीं होता। क्यों कि जो पहले ज्ञात होता है उसी से दुष्टता का ज्ञान हो जाने से कथा की पूर्ति हो जाती है, जय-पराजय का निर्णय हो जाता है। अतः बाद में ज्ञात होने वाले दोष की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती, इस लिये जो दोष जहाँ बाद में—एक दोष के ज्ञान के बाद ज्ञात होता है वह अन्यत्र दोष भले हो, पर वहाँ दोष नहीं होता।

इस स्थिति में जहाँ पहले साध्याभावव्याप्तिरूप विरोध का ज्ञान होकर हेतु में दुष्टता की प्रतीति होगी वहाँ 'विरोध' ही दोष माना जायगा। बाद में व्याप्तिविशिष्ट हेतु में पक्षधर्मत्व के सिद्ध्यभावरूप असिद्धि की उपस्थिति होने पर भी उसकी उपयोगिता न रह जाने से वहाँ उसे दोष नहीं माना जायगा। इसी प्रकार जहाँ व्यभिचार, सत्प्रतिपक्ष और बाध पहले ज्ञात होकर पहले ही हेतु की दुष्टता का ज्ञापन कर देंगे वहाँ व्यभिचार आदि ही दोष माने जायंगे। असिद्धि और विरोध बाद में उपस्थित होने पर भी दुष्टता के ज्ञापन में अनुपयोगी होने से दोष नहीं माने जायंगे। किन्तु जहाँ व्याप्तिपक्षधर्मता-विशिष्ट हेतु की सिद्धि न होने से असिद्धिद्वारा ही हेतु में दुष्टता का ज्ञान होगा वहाँ असिद्धि ही दोष होगा, अन्यदोष न होंगे।

इस रीति से विचार करने पर कहीं भी किसी दोष में दोषान्तर का सांकर्य नहीं हो सकता। अतः दोष तथा दुष्ट का पञ्चविधत्व और उनका अपना अपना लक्षण सब सुसंगत और समुचित है।

स (असिद्धः) च त्रिविध आश्रयासिद्ध-स्वरूपासिद्ध-व्याप्यत्वासिद्धभेदात् । यस्य हेतोराश्रयो नावगम्यते स आश्रयासिद्धः । यथा गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत् । अत्र हि गगनारविन्दमाश्रयः । स च नास्त्येव ।

अयमप्याश्रयासिद्धः । तथाहि 'घटोऽनित्यः, कार्यत्वात्, पटवद्' इति ।

नन्वाश्रयस्य घटादेः सत्त्वात् कार्यत्वादिति हेतुर्नाश्रयासिद्धः, सिद्धसाधकस्तु स्यात्, सिद्धस्य घटानित्यत्वस्य साधनात् । मैवम् । न हि स्वरूपेण कश्चिदाश्रयो भवत्यनुमानस्य, किन्तु सन्दिग्धधर्मबाधेन । तथा चोक्तं भाष्ये —'नाऽनुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थेऽपि तु सन्दिग्धेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते' (गौ. न्या. वा. भा. १-१-१) । न च घटे नित्यत्वसन्देहोऽस्ति । अनित्यत्वस्य निश्चितत्वात् । तेन यद्यपि स्वरूपेण घटो विद्यते, तथाप्यनित्यत्वसन्देहाभावान्नासावाश्रयः । आश्रयासिद्धत्वादहेतुः ।

असिद्ध के तीन भेद हैं—आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध ।

आश्रयासिद्ध—

जिस हेतु का आश्रय सिद्ध न हो, वह हेतु आश्रयासिद्ध होता है । जैसे 'गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्—अकाशकमल सुगन्धयुक्त है, कमल होने से, सर में उत्पन्न कमल के समान' इस प्रकार अनुमान प्रयोग करने पर अरविन्दत्व हेतु आश्रयासिद्ध होता है क्यों कि उसका आश्रय आकाशकमल असत् है—सिद्ध नहीं है । नव्यन्याय के विदग्ध विद्वानों ने 'आश्रयासिद्ध' का लक्षण अन्य प्रकार से किया है । उनके अनुसार 'पक्ष में पक्षतावच्छेदक का अभाव' असिद्धि है । यह अभाव 'स्वविषयकज्ञानविषयप्रकृतहेतुतावच्छेदकवत्त्व' सम्बन्ध से जिस हेतु में रहे वह आश्रयासिद्ध है । उक्त अनुमान में कमलरूप पक्ष में गगनीयत्व—आकाशोत्पन्नत्व का अभाव असिद्धि है और वह उक्त सम्बन्ध से अरविन्दत्व हेतु में है । जैसे उक्त सम्बन्ध में 'स्व' का अर्थ है 'कमल में आकाशीयत्व का अभावरूप आश्रयासिद्धि, स्वविषयक ज्ञान है 'कमलम् आकाशीयत्वाभाववद् अरविन्दत्ववच्च—कमल आकाशीयत्वाभाव और अरविन्दत्व का आश्रय है' यह ज्ञान । इस ज्ञान में अरविन्दत्व में विशेषण के रूप में भासित होने से अरविन्दत्वत्व इस ज्ञान का विषय है । वही प्रकृतहेतुतावच्छेदक भी है । इस लिये 'स्वविषयकज्ञानविषयप्रकृतहेतुतावच्छेदकवत्त्व' सम्बन्ध से उक्त आश्रयासिद्धि का आधार होने से उक्त अनुमान में 'अरविन्दत्व' हेतु आश्रयासिद्ध है ।

प्राचीन नैयायिकों के मत में आश्रयासिद्ध का एक यह भी उदाहरण है—'घटोऽनित्यः, कार्यत्वात्, पटवत्—घट अनित्य है, कार्य होने से, पट के समान' । इस अनुमान

स्वरूपासिद्धस्तु स उच्यते यो हेतुराश्रये नावगम्यते ! यथा 'सामान्यमनित्यं कृतकत्वादिति' कृतकत्वं हि हेतोराश्रये सामान्ये नास्त्येव। भागासिद्धोऽपि स्वरूपासिद्ध एव। यथा 'पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणवो नित्या गन्धवत्त्वाद्' इति। गन्धवत्त्वं हि पक्षीकृतेषु सर्वेषु नास्ति पृथिवीमात्रवृत्तित्वात्। अत एव भागे स्वरूपासिद्धः।

में कार्यत्व हेतु आश्रयासिद्ध है। प्रश्न होता है कि इस अनुमानका हेतु कैसे असिद्ध होगा ? क्यों कि इस अनुमान में हेतु के आश्रयरूप में प्रयुक्त घट प्रत्यक्षसिद्ध है। हाँ, वह सिद्धसाध्यक--सिद्धसाधनदोष से ग्रस्त हो सकता है, क्यों कि घट में सिद्ध अनित्यत्व का ही साधन करने के लिये प्रयुक्त है, पर आश्रयासिद्ध तो कथमपि नहीं हो सकता। उत्तर यह है कि घट यदि अपने स्वरूप से हेतुका आश्रय होता तो आश्रयासिद्धि की सम्भावना सचमुच होती। पर किसी भी अनुमान में पक्ष अपने स्वरूप से हेतु का आश्रय नहीं माना जाता किन्तु सन्दिग्धसाध्यक होने से हेतु का आश्रय माना जाता है। उक्त अनुमान में घट भी सन्दिग्धसाध्यक होने से ही हेतुका आश्रय हो सकता है किन्तु घट में अनित्यत्व का निश्चय होने से सन्दिग्धसाध्यकत्व नहीं है। अतः सन्दिग्धसाध्यक घट का अस्तित्व न होने से उक्त अनुमान का भी हेतु आश्रयासिद्ध है। अनुमान में सन्दिग्ध-साध्यक ही हेतु का आश्रय होता है। यह बात न्यायसूत्र के अवतरणभाष्य में इस प्रकार कही गयी है--

'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते किन्तु सन्दिग्धे'

अनुपलब्ध—स्वरूपेण अज्ञात तथा निर्णीत–निश्चितसाध्यक धर्मी में न्याय–अनुमान नहीं प्रवृत्त होता, किन्तु सन्दिग्ध में–सन्दिग्धसाध्यक धर्मी में प्रवृत्त होता है।

घट में नित्यत्व का सन्देह नहीं है क्यों कि उसका अनित्यत्व निश्चित है। इस लिए घट यद्यपि स्वरूपेण सिद्ध है तथापि उसमें अनित्यत्व का सन्देह न होने से वह हेतु काआश्रय नहीं हो सकता, अतः उसमें साध्य के साधनार्थ प्रयुक्त 'कार्यत्व' आश्रयासिद्ध होने से अहेतु है।

65 स्वरूपासिद्ध—

जो हेतु आश्रय में ज्ञात नहीं होता, उसे स्वरूपासिद्ध कहा जाता है। जैसे— 'सामान्यम् अनित्यं–सामान्य–जाति अनित्य है, कृतकत्वात्–कृतक–उत्पन्न होने से'। इस अनुमान में कृतकत्व स्वरूपासिद्ध है क्यों कि सामान्य के अजन्मा होने से उसमें कृतकत्व नहीं ज्ञात होता।

तथा विशेषणासिद्ध-विशेष्यासिद्ध-असमर्थविशेषणासिद्ध-असमर्थविशेष्यासिद्धादयः स्वरूपासिद्धभेदाः। तत्र विशेषणासिद्धो यथा 'शब्दो नित्यो द्रव्यत्वे सत्यस्पर्शत्वात्'। अत्र हि द्रव्यत्वविशिष्टमस्पर्शत्वं हेतुर्नास्पर्शत्वमात्रम्। शब्दे च द्रव्यत्वं विशेषणं नास्ति, गुणत्वाद्, अतो विशेषणासिद्धः। न चासति विशेषणे द्रव्यत्वे तद्विशिष्टमस्पर्शत्वमस्ति। विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावात्। यथा दण्डमात्राभावे पुरुषाभावे वा दण्डविशिष्टस्य पुरुषस्याभावः। तेन सत्यप्यस्पर्शत्वे द्रव्यत्वविशिष्टस्य हेतोरभावात् स्वरूपासिद्धत्वम्।

विशेष्यासिद्धो यथा 'शब्दो नित्योऽस्पर्शत्वे सति द्रव्यत्वाद्' इति। अत्रापि विशिष्टो हेतुः। न च विशेष्याभावे विशिष्टं स्वरूपमस्ति। विशिष्टश्च हेतुर्नास्त्येव।

असमर्थविशेषणासिद्धो यथा 'शब्दो नित्यो गुणत्वे। सति अकारणकत्वात्' इति। अत्र हि विशेषणस्य गुणत्वस्य न किञ्चित् सामर्थ्यमस्तीति। विशेष्यस्याकारणकत्वस्यैव नित्यत्वसाधने सामर्थ्यात्। अतोऽसमर्थविशेषणता। स्वरूपासिद्धत्वं तु विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावात्। ननु विशेषणं गुणत्वं, तच्च शब्देऽस्त्येव, तत् कथं विशेषणाभावः? सत्यमस्त्येव गुणत्वम्। किन्तु न तद्विशेषणम्। तदेव हि हेतोर्विशेषणं भवति, यदन्यव्यवच्छेदेन प्रयोजनवत्। गुणत्वं तु निष्प्रयोजनमतोऽसमर्थमित्युक्तमेव।

असमर्थविशेष्यो यथा तत्रैव तद्वैपरीत्येन प्रयोगः। तथाहि 'शब्दो नित्योऽकारणकत्वे सति गुणत्वाद' इति। अत्र तु विशेषणमात्रस्यैव नित्यत्वसाधने समर्थत्वाद् विशेष्यमसमर्थम्। स्वरूपासिद्धत्वं तु विशेष्याभावे विशिष्टाभावाद् विशिष्टस्य च हेतुत्वेनोपादानात्। शेषं पूर्ववत्।

यह हेतु पूरे आश्रय में—सम्पूर्ण सामान्य में असिद्ध होने से स्वरूपासिद्ध है। कोई कोई हेतु सम्पूर्ण आश्रय में असिद्ध न होकर आश्रय के किसी भागमात्र में ही असिद्ध होता है, वह भागासिद्ध हेतु भी स्वरूपासिद्ध ही है। जैसे—

'पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणवो नित्याः, गन्धवत्त्वात्–पृथिवी आदि चारो द्रव्यों के परमाणु नित्य हैं, गन्धवान् होने से'। इस अनुमान में गन्ध हेतु पृथिवी परमाणु में रहने के कारण सम्पूर्ण आश्रय में असिद्ध न हो कर आश्रय के जलपरमाणु आदि भागमात्र में ही असिद्ध होने से भागासिद्ध–स्वरूपासिद्ध है।

स्वरूपासिद्ध के और भी कई भेद हैं, जैसे—विशेषणासिद्ध, विशेष्यासिद्ध, असमर्थविशेषणासिद्ध, असमर्थविशेष्यासिद्ध आदि।

विशेषणासिद्ध—

जिस हेतु का विशेषणभाग आश्रय-पक्ष में नहीं रहता, वह विशेषणासिद्ध होता है। जैसे—'शब्दः नित्यः, द्रव्यत्वे सति अस्पर्शत्वात्-शब्द नित्य है, द्रव्यत्वविशिष्ट अस्पर्शत्व का आश्रय होने से'। इस अनुमान में अस्पर्शत्वमात्र हेतु नहीं है किन्तु 'द्रव्यत्वविशिष्ट अस्पर्शत्व' हेतु है। इसमें अस्पर्शत्व-स्पर्शशून्यत्व विशेष्य है और द्रव्यत्व विशेषण है। पक्षभूत शब्द गुण है, उसमें उक्त हेतु का द्रव्यत्वरूप विशेषणभाग नहीं रहता। अतः उक्त हेतु विशेषणासिद्ध है और विशेषणासिद्ध होने से स्वरूपासिद्ध है।

प्रश्न होता है कि उक्त हेतु का विशेषणासिद्ध होना तो ठीक है, पर वह स्वरूपासिद्ध कैसे हो सकता है? क्यों कि स्वरूपासिद्ध होने के लिए पक्ष में हेतु के अभाव का होना आवश्यक होता है, जो प्रकृत में नहीं है। उत्तर में यह कहा जा सकता है कि पक्षभूत शब्द में द्रव्यत्वरूप विशेषण का अभाव होने से द्रव्यत्वविशिष्ट अस्पर्शत्व का भी अभाव है क्यों कि विशेषण के अभाव से विशिष्ट का भी अभाव होता है। यह तथ्य दण्डविशिष्टपुरुषाभाव के उदाहरण से समझा जा सकता है। दण्डविशिष्ट पुरुष में दण्ड विशेषण है और पुरुष विशेष्य है। दण्डविशिष्ट पुरुष का अभाव दण्ड के अभाव से भी होता है और पुरुष के अभाव से भी होता है। तो जैसे पुरुषरूप विशेष्य के रहने पर भी दण्डरूप विशेषणमात्र के अभाव से दण्डविशिष्ट पुरुष का अभाव होता है, उसी प्रकार शब्द-पक्ष में अस्पर्शत्वरूप विशेष्य के रहने पर भी द्रव्यत्वरूप विशेषण का अभाव होने से 'द्रव्यत्वविशिष्ट अस्पर्शत्व' रूप हेतु का अभाव हो सकता है। अतः पक्ष में असिद्ध होने के कारण उक्त अनुमान में 'द्रव्यत्व-विशिष्ट अस्पर्शत्व' स्वरूपासिद्ध है।

विशेष्यासिद्ध—

जिस हेतु का विशेष्यभाग आश्रय-पक्ष में नहीं रहता वह विशेष्यासिद्ध होता है। जैसे—'शब्दः नित्यः, अस्पर्शत्वे सति द्रव्यत्वात्-शब्द नित्य है, अस्पर्शत्वविशिष्ट द्रव्यत्व का आश्रय होने से'। इस अनुमान में अस्पर्शत्वविशिष्ट द्रव्यत्व हेतु है। इसका विशेष्यभाग द्रव्यत्व शब्दरूप गुणात्मक पक्ष में नहीं रहता। विशेष्य का अभाव होने पर विशिष्ट का भी अभाव होता ही है। अतः शब्द-पक्ष में अस्पर्शत्वरूप विशेषण के रहने पर भी द्रव्यत्वस्वरूप विशेष्य का अभाव होने से 'अस्पर्शत्वविशिष्ट द्रव्यत्व' का अभाव है, इसलिये यह हेतु शब्दात्मक पक्ष में विशेष्यासिद्ध होने से स्वरूपासिद्ध है।

असमर्थविशेषणासिद्ध—

इसका अर्थ है—असमर्थविशेषणक स्वरूपासिद्ध। असमर्थविशेषणक का अर्थ है—व्यर्थविशेषणक। इसका लक्षण इस प्रकार है—

जिस हेतु का विशेषण भाग असमर्थ हो, व्यर्थ हो, साध्यसाधन में अनुपयुक्त हो, साथ ही विशेषण का अभाव होने से जिसका पक्ष में अभाव भी हो, वह असमर्थविशेषणासिद्ध होता है। जैसे—शब्दो नित्यः, गुणत्वे सति अकारणकत्वात्—शब्द नित्य है, गुणत्वविशिष्ट अकारणकत्व का आश्रय होने से'। इस अनुमान में 'गुणत्वविशिष्ट अकारणकत्व' हेतु है। इसमें गुणत्व–विशेषण असमर्थ–व्यर्थ है, क्यों कि नित्यत्व के साधन में अकेला अकारणकत्व ही पर्याप्त है। गुणत्व–विशेषण की नित्यत्व के साधन में कोई सार्थकता नहीं है और आश्रय–शब्द में विशेषण के अभाव से विशिष्ट का अभाव भी है, अतः उक्त हेतु असमर्थविशेषणासिद्ध होने से स्वरूपासिद्ध है।

प्रश्न होता है कि शब्दात्मक पक्ष में उक्त हेतु का विशेषण–गुणत्व तो रहता ही है तो फिर उसमें गुणत्वरूप विशेषण का अभाव तथा उसके कारण विशिष्ट हेतु का अभाव कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि शब्द गुण है अतः यह ठीक ही है कि उसमें गुणत्व का अभाव नहीं रह सकता, पर साथ ही यह भी ठीक है कि गुणत्व यहां विशेषण नहीं हो सकता, क्यों कि हेतु में वही विशेषण हो सकता है जो अन्य की व्यावृत्ति कर सप्रयोजन हो सके। किन्तु गुणत्व ऐसा नहीं है क्यों कि अकारणकत्व से ही नित्यत्व का साधन सम्भव होने से गुणत्व–विशेषण का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। इसीलिए वह असमर्थ भी होता है, यह पहले ही कह दिया गया है। तो फिर जब गुणत्व विशेषण ही नहीं हो सकता तब शब्द में स्वरूप से उसके रहने पर भी विशेषणात्मना उसका अभाव होने में कोई बाधा नहीं हो सकती। अतः शब्दात्मक पक्ष में विशेषणात्मना गुणत्व का अभाव होने से 'गुणत्वविशिष्ट अकारणकत्व' का अभाव निर्बाध है। इसलिए वह उक्त अनुमान में असमर्थविशेषणासिद्ध है।

असमर्थविशेष्यासिद्ध—

जिस हेतु का विशेष्यभाग असमर्थ—व्यर्थ होता है और विशेष्य का अभाव होने से पक्ष में जिसका अभाव होता है वह 'असमर्थविशेष्यासिद्ध' होता है। जैसे उक्त स्थल में ही विशेष्य—विशेषण का विपरीत प्रयोग करने पर हेतु 'असमर्थविशेष्यासिद्ध' होता है। उसे निम्न उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है।

'शब्दः नित्यः, अकारणकत्वे सति गुणत्वात्—शब्द नित्य है, अकारणकत्वविशिष्ट गुणत्व का आश्रय होने से'। इस अनुमान में अकारणकत्वविशिष्ट गुणत्व

व्याप्यत्वासिद्धस्तु स एव यत्र हेतोर्व्याप्तिर्नावगम्यते। स द्विविधः। एकः साध्येनासहचरितः, अपरस्तु सोपाधिकसाध्यसम्बन्धी। तत्र प्रथमो यथा 'यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः। संश्च विवादास्पदीभूतः शब्दादिः' इति। अत्र हि शब्दादिः पक्षः, तस्य क्षणिकत्वं साध्यं, सत्त्वं हेतुः। न चास्य हेतोः क्षणिकत्वेन सह व्याप्तौ प्रमाणमस्ति।

इदानीम् उपाधिसहितो व्याप्यत्वासिद्धः प्रदर्श्यते। तद्यथा 'स श्यामो मैत्रीतनयत्वात्, परिदृश्यमानमैत्रीतनयस्तोमवद्' इति। अत्र हि मैत्रीतनयत्वेन श्यामत्वं साध्यते। न च मैत्रीतनयत्वं श्यामत्वे प्रयोजकं, किन्तु शाकाद्यन्नपरिणाम एवात्र प्रयोजकः। प्रयोजकश्चोपाधिरुच्यते। अतो मैत्रीतनयत्वेन श्यामत्वेन सम्बन्धे शाकाद्यन्नपरिणाम एव उपाधिः। यथा वा अग्नेर्धूमसंबन्ध आर्द्रेन्धनसंयोगः। अत एवोपाधिसम्बन्धाद् व्याप्तिर्नास्तीति व्याप्यत्वासिद्धोऽयं मैत्रीतनयत्वादिर्हेतुः।

तथा परोऽपि व्याप्यत्वासिद्धः। यथा 'क्रत्वन्तर्वर्तिनो हिंसा अधर्मसाधनं, हिंसात्वात्, क्रतुबाह्यहिंसावद्'इति'। न च हिंसात्वमधर्मे प्रयोजकं, किन्तु निषिद्धत्वमुपाधिरिति पूर्ववदुपाधिसद्भावाद् व्याप्यत्वासिद्धोऽयं हिंसात्वं हेतुः।

ननु 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापको यः स उपाधिः' इत्युपाधिलक्षणम्। तच्च निषिद्धत्वे नास्ति। तत् कथं 'निषिद्धत्वमुपाधिः ? इति। मैवम्। निषिद्धत्वेऽप्युपाधिलक्षणस्य विद्यमानत्वात्। तथाहि साध्यस्य अधर्मजनकत्वस्य व्यापकं निषिद्धत्वम्। यत्र यत्राधर्मसाधनत्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वमिति निषिद्धत्वस्य विद्यमानत्वात्। न च यत्र यत्र हिंसात्वं, तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वं; क्रत्वङ्गहिंसायां व्यभिचारात्। अस्ति हि क्रत्वङ्गहिंसायां हिंसात्वं, न चाऽत्र निषिद्धत्वमिति तदेवं त्रिविधाऽसिद्धो दर्शितः।

हेतु है। इस हेतु के विशेषणभाग अकारणकत्वमात्र से ही नित्यत्व का साधन हो सकने से गुणत्वरूप विशेष्य असमर्थ–व्यर्थ है। अन्य का व्यावर्तक होकर सप्रयोजन न होने से गुणत्व विशेष्य नहीं हो सकता, अतः स्वरूपेण उस के रहने पर भी विशेष्यात्मना उसका अभाव होने से विशिष्ट हेतु के अभाव का होना अपरिहार्य है। इसलिए वह असमर्थविशेष्यासिद्ध होने सेस्वरूपासिद्ध है।

65 ✓ व्याप्यत्वासिद्ध—

जिस हेतु में व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता वह 'व्याप्यत्वासिद्ध' होता है। उसके दो भेद हैं—एक है 'साध्यासहचरित' और दूसरा है 'सोपाधिकसाध्यसंम्बन्धी'। इनमें पहले को निम्न उदाहरण से समझा जा सकता है।

'यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः, संश्च विवादास्पदीभूतः शब्दादि :— जो सत् होता है वह क्षणिक होता है जैसे मेघ। विवाद का विषय शब्द आदि भी सत् है'। बौद्धों के इस अनुमानप्रयोग में शब्द आदि पक्ष है, उसमें क्षणिकत्व साध्य है और सत्त्व हेतु है। यहाँ सत्त्व हेतु में क्षणिकत्व की व्याप्ति होने में कोई प्रमाण नहीं है, अतः सत्त्व में क्षणिकत्व की व्याप्तिका ज्ञान न होने से उक्त क्षणिकत्वानुमान में सत्त्व हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है।

प्रश्न हो सकता है कि साध्यासहचरित का अर्थ होता है साध्य के साथ न रहने वाला। सत्त्व तो ज्ञान, इच्छा आदि पदार्थों में क्षणिकत्व के साथ रहता है क्योंकि आत्मा के योग्य विशेषगुण न्यायवैशेषिक मत में क्षणिक होते हैं, अतः ज्ञान आदि में क्षणिकत्व भी है और सत्त्व भी है। तो फिर सत्त्व को क्षणिकत्वरूप साध्य के असहचरित व्याप्यत्वासिद्ध के रूप में कैसे उदाहृत किया गया? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि ज्ञान आदि में न्यायवैशेषिक को जो क्षणिकत्व मान्य है वह तृतीयक्षण में होने वाले ध्वंस का प्रतियोगित्वरूप है, किन्तु बौद्धदर्शन को जो क्षणिकत्व मान्य है वह द्वितीयक्षण में होने वाले ध्वंस का प्रतियोगित्वरूप है, क्यों कि बौद्धमतानुसार प्रत्येक भाव का उसके दूसरे क्षण ही नाश हो जाता है, और यह क्षणिकत्व ज्ञान आदि में न्यायवैशेषिक दर्शन के मतानुसार नहीं है, क्योंकि उनके मत में इन गुणों का नाश इनके तीसरे क्षण में उत्पन्न होता है।

यदि यह कहा जाय कि बौद्धसम्मत क्षणिकत्व भी न्यायवैशेषिक दर्शन को एक शब्दधारा के अन्तिम शब्द में मान्य है, क्योंकि उपान्त्य शब्द से नाश्य होने के कारण वह अपने दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाता है, तो यह ठीक नहीं है, क्यों कि शब्द-निरूपण के प्रसङ्ग में यह बताया जा चुका है कि अन्त्य शब्द का नाश उपान्त्य शब्द से नहीं होता, किन्तु उसके नाश से होता है। उसका नाश तो अन्त्य शब्द के जन्म क्षण में न होकर उसके दूसरे क्षण होता है, अतः अन्त्य शब्द का भी नाश उसके तीसरे ही क्षण होता है, इसलिये उसमें भी बौद्धसम्मत क्षणिकत्व के सिद्ध न होने से कहीं भी सत्त्व क्षणिकत्व का सहचरित नहीं होता, अतः साध्यासहचरित व्याप्यत्वासिद्ध के रूप में उसे उदाहृत करने में कोई असंगति नहीं है।

इस पर शंका हो सकती है कि जब बौद्धदर्शन को द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रति-योगित्वरूप क्षणिकत्व साध्य है और वह न्यायवैशेषिक दर्शन को किसी पदार्थ में मान्य नहीं है तब तो साध्य अपने स्वरूप से ही असिद्ध हो जायगा, अतः क्षणिकत्व के साधनार्थ प्रयुक्त हेतु को असिद्धसाधक व्याप्यत्वासिद्ध कहना चाहिये न कि साध्यासहचरित

व्याप्यत्वासिद्ध । इसका उत्तर यह है कि यहाँ 'साध्यासहचरित' शब्द असिद्ध-साध्यक अर्थ के ही बोधनार्थ प्रयुक्त है ।

उपाधियुक्त व्याप्यत्वासिद्ध का प्रदर्शन इस प्रकार किया जा सकता है ।

जिस हेतु में उपाधि होने के कारण व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता, वह सोपाधि व्याप्यत्वासिद्ध होता है । जैसे—

'स श्यामः; मैत्रीतनयत्वात्, परिदृश्यमानमैत्रीतनयस्तोमवत्—वह (मैत्री का आठवां तनय) श्याम है, मैत्री का तनय होने से, मैत्री के दृश्यमान अन्य तनयों के समान' । इस अनुमानद्वारा पक्षभूत तनय में मैत्रीतनयत्व हेतु से श्यामत्व का साधन किया जाता है, किन्तु मैत्रीतनयत्व श्यामत्व का प्रयोजक नहीं है, अपि तु शाक आदि खाद्य पदार्थों का परिणाम प्रयोजक है । कहने का आशय यह है कि मैत्री के जो तनय श्याम हैं वे इसलिये नहीं कि वे मैत्री के तनय हैं किन्तु इसलिये हैं कि उनके गर्भ में रहते समय उनकी माता शाक आदि का अधिक सेवन करती थी, अतः उसके रक्त में श्यामता आ गयी और उस श्याम रक्त से उत्पन्न होने के कारण उन बच्चों के शरीर श्याम हुये । इस प्रकार उन बच्चों के श्यामत्व का प्रयोजक मैत्रीतनयत्व नहीं किन्तु शाकादि के अधिक आहार के परिपाक से उत्पन्न होना है । प्रयोजक को ही उपाधि कहा जाता है । इसलिये मैत्रीतनयत्व के साथ श्यामत्व के सम्बन्ध में शाक आदि खाद्य पदार्थों का परिणाम ही उपाधि है । इस प्रकार उपाधियुक्त होने से मैत्रीतनयत्व में श्यामत्व की व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता । अतः इस अनुमान में मैत्रीतनयत्व व्याप्यत्वासिद्ध है ।

प्रश्न होता है कि हेतु में उपाधि का सम्बन्ध भले हो, पर उससे व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्ध क्यों होगा ? और उसके होने से हेतु व्याप्यत्वासिद्ध क्यों होगा ? उत्तर यह है कि प्राचीनमत में निरुपाधिकत्व को व्याप्ति माना जाता है, अतः हेतु में उपाधि का ज्ञान होने पर निरुपाधिकत्वरूप व्याप्तिका ज्ञान नहीं हो सकता । इसलिये प्राचीन मत में सोपाधिक हेतु का व्याप्यत्वासिद्ध होना सुस्पष्ट है । नवीन मत में भी हेतुके व्याप्यत्वासिद्ध होने में कोई बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि नवीन मत में जो व्याप्तियां मानी जाती हैं उनके साथ उपाधि का यद्यपि सीधा विरोध नहीं होता, फिर भी साध्यव्यापक उपाधि के व्यभिचार से हेतु में साध्यव्यभिचार का अनुमान हो जाता है और साध्य-व्यभिचार का साध्यव्याप्ति के साथ प्रत्यक्ष विरोध होने के कारण व्यभिचारके अनुमान से व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्ध हो जाता है । इस प्रकार उपाधि से परम्परया व्याप्तिज्ञान का विरोध हो जाने से नवीन मत में भी सोपाधि हेतु व्याप्यत्वासिद्ध हो जाता है ।

इसी प्रकार अग्नि से धूम के अनुमान का प्रयास करने पर आर्द्र इन्धनसंयोग-

२ सम्प्रति विरुद्धः कथ्यते। साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुः विरुद्धः। यथा 'शब्दो नित्यः कृतकत्वाद्' इति। अत्र हि नित्यत्वं साध्यं, कृतकत्वं हेतुः। यद्विपर्ययेण चाऽनित्यत्वेन कृतकत्वं व्याप्तं, यतो यद्यत् कृतकं तत्तत् खल्वनित्यमेव। अतः साध्यविपर्ययव्याप्तत्वात् कृतकत्वं हेतुः विरुद्धः।

गीली लकड़ी का सम्पर्क उपाधि होता है, क्यों कि धूम की उत्पत्ति केवल अग्नि से न हो कर अग्नि के साथ आर्द्र इन्धन के संयोग से होती है, अतः धूम का प्रयोजक केवल अग्नि नहीं होता, किन्तु अग्नि के साथ आर्द्रेन्धन का नसंयोग होता है। इस उपाधि के होने से धूम में अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो पाता, इसलिये अग्नि हेतु धूमानुमान मे व्याप्यत्वासिद्ध हो जाता है।

सोपाधिक व्याप्यत्वासिद्ध का एक दूसरा भी उदाहरण है। जैसे—'क्रत्वन्तर्वर्त्तिनी हिंसा अधर्मसाधनम्, हिंसात्वात्, क्रतुबाह्यहिंसावत्—यज्ञ में होने वाली हिंसा अधर्म का जनक है, हिंसा होने से, यज्ञ के बाहर होने वाली हिंसा के समान'। इस अनुमान में निषिद्धत्व उपाधि है क्यों कि यज्ञबाह्य हिंसा के अधर्मजनकत्व का प्रयोजक हिंसात्व नहीं होता, अपि तु निषिद्धत्व होता है। अतः उपाधि के सद्भाव से यह हेतु भी व्याप्यत्वासिद्ध है।

प्रश्न होता है कि उपाधि का लक्षण है, 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्व'। उसका अर्थ है—'साध्य का व्यापक होते हुये साधन का अव्यापक होना'। यह लक्षण निषिद्धत्व में नहीं है अतः उसे उपाधि कहना उचित नहीं है। उत्तर यह है कि निषिद्धत्व में भी उक्त उपाधिलक्षण है। जैसे—निषिद्धत्व अधर्मजनकत्वरूप साध्य का व्यापक है क्यों कि जो जो क्रिया अधर्मजनक होती है उसमें निषिद्धत्व अवश्य होता है। वह साधन—हिंसात्व का अव्यापक भी है क्यों कि यज्ञबाह्य हिंसा में हिंसात्वरूप साधन तो है पर निषिद्धत्व नहीं है।

विरुद्ध—

साध्यविपर्यय—साध्याभाव का व्याप्य हेतु विरुद्ध कहा जाता है। जैसे—'शब्दः नित्यः, कृतकत्वात्—शब्द नित्य है, कृतक—उत्पन्न होने से'। इस अनुमान में नित्यत्व साध्य है। कृतकत्व हेतु है। यह हेतु अनित्यत्वरूप साध्याभाव का व्याप्य है, क्योंकि जो जो कृतक होता है वह सब अनित्य होता है, यह व्याप्ति है। इसलिये अनित्यत्वरूप साध्याभाव का व्याप्य होने से कृतकत्व 'विरुद्ध' है।

३ साध्यसंशयहेतुरनैकान्तिकः सव्यभिचार इति वा उच्यते। स द्विविधः— साधारणानैकान्तिकः, असाधारणानैकान्तिकश्चेति। तत्र प्रथमः पक्ष-सपक्ष-विपक्षवृत्तिः। यथा 'शब्दो नित्यः प्रमेयत्वादिति'। अत्र प्रमेयत्वं हेतुः पक्षे शब्दे, सपक्षे नित्ये व्योमादौ, विपक्षे चानित्ये घटादौ विद्यते, सर्वस्यैव प्रमेयत्वात्। तस्मात् प्रमेयत्वं हेतुः साधारणानैकान्तिकः।

असाधारणानैकान्तिकः स एव यः सपक्षविपक्षाभ्यां व्यावृत्तः पक्ष एव वर्तते। यथा 'भूर्नित्या गन्धवत्त्वाद्' इति। अत्र हि गन्धवत्त्वं हेतुः। स च सपक्षान्नित्याद् व्योमादेः विपक्षाच्चानित्याज्जलादेर्व्यावृत्तो, गन्धवत्त्वस्य पृथिवीमात्रवृत्तित्वादिति।

अनैकान्तिक—

जो हेतु साध्यसंशय का जनक होता है, उसे अनैकान्तिक या सव्यभिचार कहा जाता है। उसके दो भेद होते हैं—साधारण अनैकान्तिक और असाधारण अनैकान्तिक।

साधारण अनैकान्तिक—

जो हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहता है वह साधारण अनैकान्तिक है। सपक्ष का अर्थ है-निश्चितसाध्यक धर्मी, और विपक्ष का अर्थ है—निश्चितसाध्याभावक धर्मी। इसके अनुसार सपक्ष और विपक्ष में रहने वाला हेतु साधारण अनैकान्तिक होता है। जसे—'शब्दः नित्यः, प्रमेयत्वात्—शब्द नित्य है, प्रमेय होने से'। इस अनुमान में नित्यत्व साध्य है। प्रमेयत्व हेतु है। प्रमेयत्व का अर्थ है-यथार्थज्ञानविषयत्व। यह हेतु पक्षभूत शब्द में, नित्य होने से सपक्षभूत आकाश आदि में और अनित्य होने से विपक्षभूत घट आदि में रहता है, क्योंकि शब्द, आकाश, घट आदि सारे पदार्थ प्रमेय हैं। इस प्रकार सपक्ष और विपक्ष में वृत्ति होने से नित्यत्वानुमान में प्रमेयत्व साधारण अनैकान्तिक होता है।

असाधारणानैकान्तिक—

जो हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनों से व्यावृत्त होकर—दोनों में न रह कर पक्षमात्र में रहता है वह असाधारण अनैकान्तिक होता है। जैसे—भूः नित्या, गन्धवत्त्वात्—भूमि नित्य है, गन्धवान् होने से'। इस अनुमान में भूमि पक्ष में नित्यत्व साध्य है। गंध हेतु है। यह हेतु सपक्षभूत नित्य आकाश आदि और विपक्षभूत अनित्य जल आदि में न रह कर केवल पक्षमात्र-भूमिमात्र में रहता है। अतः इस नित्यत्वानुमान में गन्ध असाधारण अनैकान्तिक है।

व्यभिचारस्तु लक्ष्यते। सम्भवत्सपक्षविपक्षस्य हेतोः सपक्षवृत्तित्वे सति विपक्षाद् व्यावृत्तिरेव नियमो गमकत्वात्। तस्य च साध्यविपरीतताव्याप्तस्य तन्नियमाभावो व्यभिचारः। स च द्वेधा सम्भवति, सपक्ष–विपक्षयोर्वृत्तौ, ताभ्यां व्यावृत्तौ च।

४ यस्य प्रतिपक्षभूतं हेत्वन्तरं विद्यते स प्रकरणसमः। स एव सत्प्रतिपक्ष इति चोच्यते। तद्यथा 'शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मानुपलब्धेः', 'शब्दो नित्योऽनित्यधर्मानुपलब्धेः' इति। अत्र हि साध्यविपरीतसाधकं समानबलमनुमानान्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते। यः पुनरतुल्यबलो न स प्रतिपक्षः।

व्यभिचार—

अनैकान्तिक का दूसरा नाम बताया गया है सव्यभिचार। सव्यभिचार का अर्थ है व्यभिचार का आश्रय। किन्तु अनैकान्तिक का जो लक्षण अभी बताया गया है उससे 'व्यभिचार' के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता। अतः उसका लक्षण बताना आवश्यक है। वह लक्षण है 'नियमाभाव'। हेतु जिस नियम के बल से गमक–साध्य का अनुमापक होता है, उस नियम का अभाव ही 'व्यभिचार' है। जैसे–जिस हेतु के सपक्ष और विपक्ष दोनों होते हैं उस हेतु की 'गमकता' के मूलभूत नियम दो हैं। यदि वह हेतु सपक्षवृत्ति होता है तो 'विपक्षावृत्तित्व' नियम होता है और यदि वह विपक्ष में अवृत्ति होता है तो 'सपक्षवृत्तित्व' नियम होता है। इन नियमों के अभाव को ही व्यभिचार कहा जाता है। यह अभाव दो प्रकार से होता है—सपक्ष और विपक्ष में वृत्ति होने से तथा सपक्ष और विपक्ष दोनों में अवृत्ति होने से। सपक्ष और विपक्ष दोनों में वृत्ति होने से पहले नियम 'सपक्षवृत्ति हेतु में विपक्षावृत्तित्व' का अभाव होता है, क्योंकि जब हेतु विपक्षवृत्ति होगा तब उसमें विपक्षावृत्तित्व का अभाव ध्रुव है। सपक्ष और विपक्ष दोनों में अवृत्ति होने से दूसरे नियम 'विपक्षावृत्ति हेतु में सपक्षवृत्तित्व' का अभाव होता है, क्यों कि जब हेतु सपक्ष-विपक्ष दोनों में अवृत्ति होगा तब उसमें सपक्षवृत्तित्व का अभाव अनिवार्य है। नियमाभावरूप व्यभिचार के उक्त दो ही मूल होने के कारण सव्यभिचार के दो ही भेद सम्भव हैं जिन्हें 'साधारण अनैकान्तिक' और 'असाधारण अनैकान्तिक' के नाम से अभिहित किया गया है।

प्रकरणसम—

जिस हेतु का प्रतिपक्षभूत अन्य हेतु होता है, वह प्रकरणसम होता है। उसे सत्प्रतिपक्ष भी कहा जाता है। जैसे—

'तथाहि विपरीतसाधकानुमानं त्रिविधं भवति—उपजीव्यम्, उपजीवकम्, अनुभयं चेति। तत्राद्यं बाधकं बलवत्त्वात्। यथा 'अनित्यः परमाणुः मूर्तत्वाद् घटवद्' इत्यस्य परमाणुसाधकानुमानं नित्यत्वं साधयदपि न प्रतिपक्षः, किन्तु बाधकमेवोपजीव्यत्वात्। तच्च धर्मिग्राहकत्वात्। न हि प्रमाणेनागृह्यमाणे धर्मिणि परमाणावनित्यत्वानुमानमिदं सम्भवति आश्रयासिद्धेः। अतोऽनेनानुमानेन परमाणुग्राहकस्य प्रामाण्यमप्यनुज्ञातमन्यथा अस्योदयासंभवात्। तस्मादुपजीव्यं बाधकमेव। उपजीवकं तु दुर्बलत्वाद्बाध्यम्। यथेदमेवानित्यत्वानुमानम्। तृतीयं तु सत्प्रतिपक्षं समबलत्वात्।

'शब्दः अनित्यः, नित्यधर्मानुपलब्धेः—शब्द अनित्य है क्यों कि उसमें नित्यधर्म-नित्यत्वनियत धर्म की उपलब्धि नहीं होती ।

'शब्दः नित्यः, अनित्यधर्मानुपलब्धेः—शब्द नित्य है क्यों कि उसमें अनित्यधर्म-अनित्यत्वनियत धर्म की उपलब्धि नहीं होती। इन दो अनुमानों का विभिन्नवादियों द्वारा सह प्रयोग करने पर एक हेतु अन्य हेतु से सत्प्रतिपक्ष हो जाता है। ऐसी स्थिति में दोनों अनुमानों का प्रयोग निरर्थक हो जाता है क्यों कि एक से दूसरे के कार्य का प्रतिबन्ध हो जाने से किसी का कार्य नहीं होता। परस्पर के कार्य का प्रतिबन्धक होने से ही सत्प्रतिपक्ष को दुष्ट माना जाता है।

रत्नकोषकार आदि कतिपय प्राचीन नैयायिकोंने सत्प्रतिपक्ष की स्थिति में दोनों अनुमानों को सम्भूय 'संशयात्मक अनुमिति' का जनक माना है। उनके अनुसार संशायक होने से ही सत्प्रतिपक्षको दुष्ट माना जाता है।

प्रकरणसमका दूसरा नाम सत्प्रतिपक्ष बताया गया है। सत्प्रतिपक्षका अर्थ है प्रतिपक्ष से युक्त होना। पर प्रतिपक्ष का कोई स्वरूप प्रकरणसम के उक्त लक्षण से स्पष्ट नहीं हो पाता। अतः सत्प्रतिपक्षका लक्षण बताना आवश्यक है, जो इस प्रकार है।

साध्यविपरीत—साध्याभाव—के साधक, समानबलशाली अनुमानान्तर को प्रतिपक्ष कहा जाता है, ऐसा अनुमानान्तर जिस अनुमान के समय सन्निहित होता है वह सत्प्रतिपक्ष होता है। साध्यविपरीत का साधक अनुमानान्तर यदि साध्य के साधक अनुमान का तुल्यबल नहीं होता तो वह प्रतिपक्ष नहीं होता। उसके सन्निधान से साध्यसाधक हेतु सत्प्रतिपक्ष नहीं होता।

साध्यविपरीत का साधक अनुमान तुल्यबल न होने पर प्रतिपक्ष नहीं होता, इस बातको समझने के लिए उसके भेद समझना आवश्यक है। उसके तीन भेद होते हैं—उपजीव्य, उपजीवक और अनुभय—उपजीव्य-उपजीवक दोनों से भिन्न। इनमें पहला—

५ यस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणेन पक्षे साध्याभावः परिच्छिन्नः स कालात्ययापदिष्टः। स एव बाधितविषय इत्युच्यते। यथा 'अग्निरनुष्णः कृतकत्वाज्जलवत्'। अत्र कृतकत्वं हेतुः। तस्य च यत् साध्यमनुष्णत्वं तस्याभावः प्रत्यक्षेणैव परिच्छिन्नः, त्वगिन्द्रियेणाग्नेरुष्णत्वपरिच्छेदात्।

उपजीव्यभूत विपरीतानुमान साध्यानुमान से बलवान् होता है। अतः वह साध्यानुमान का बाधक ही होता है। जैसे—

'परमाणुः अनित्यः, मूर्तत्वाद्, घटवत्—परमाणु अनित्य है, मूर्त होने से, घटके समान'। इस अनुमान से नित्यत्वसाधक परमाणुग्राहक अनुमान बाध्य नहीं होता, प्रत्युत उपजीव्य होने से पूर्वानुमान का बाधक ही होता है, क्यों कि वह पूर्वानुमान के धर्मी परमाणु का साधक है, अतः पूर्वानुमान में अपेक्षित धर्मी की सिद्धि के लिये प्रथम प्रवृत्त होने वाले परमाणुसाधक अनुमान के परमाणु की नित्यता का ग्राहक होने से उसके द्वारा पूर्वानुमान का बाध होना न्याय्य है, क्यों कि यह निर्विवाद है कि प्रमाणद्वारा परमाणुरूप धर्मी का ग्रहण हुए विना पूर्वानुमान नहीं हो सकता, क्यों कि धर्मी का ग्रहण न होने की दशा में आश्रयासिद्धि हो जायगी। इसलिए परमाणुधर्मिक पूर्वानुमान से परमाणुसाधक अनुमान के बाधित होने की बात तो दूर रही, उलटे उससे इस अनुमान के प्रामाण्य का अनुमोदन होता है, क्यों कि यह अनुमान यदि प्रमाण न होगा तो परमाणुरूप धर्मी के सिद्ध न होने से परमाणुधर्मिक अनुमान का उदय असम्भव हो जायगा। इसलिए उपजीव्य सदा बाधक ही होता है, बाध्य कभी नहीं होता, और उपजीवक दुर्बल होने के नाते सर्वदा बाध्य ही होता है, बाधक कभी नहीं होता। इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध है कि साध्य और साध्याभाव के साधनार्थ सह-प्रयुक्त होने वाले दो अनुमानों में किसी एक के दूसरे का उपजीव्य या उपजीवक होने पर सत्प्रतिपक्षता नहीं होती, किन्तु अनुभय–उपजीव्य–उपजीवक से भिन्न अनुमानों का प्रयोग होने पर ही दोनों के समबल होने से सत्प्रतिपक्षता होती है।

कालात्ययापदिष्ट—

जिस हेतु के साध्य का अभाव पक्ष में प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से निश्चित होता है वह हेतु कालात्ययापदिष्ट होता है। उसे बाधितविषयक भी कहा जाता है। जैसे—

'अग्निः अनुष्णः कृतकत्वाद, जलवत्—अग्नि अनुष्णत्व—उष्णस्पर्शाभाव का आश्रय है, कृतक—कार्य होने से, जल के समान'। इस अनुमान में अनुष्णत्व—उष्णस्पर्शाभावरूप साध्य का अभाव उष्णस्पर्श पक्ष–अग्नि में प्रत्यक्ष—त्वगिन्द्रियरूप प्रमाण से निश्चित है। अतः अग्नि में अनुष्णत्व के साधनार्थ प्रयुक्त कृतकत्व हेतु काला-त्ययादिष्ट है।

तथा परोऽपि कालात्ययापदिष्टः। यथा घटस्य क्षणिकत्वे साध्ये प्रागुक्तं सत्त्वं हेतुः। तस्यापि च यत् साध्यं क्षणिकत्वं तस्याऽभावोऽक्षणिकत्वं प्रत्यभिज्ञा-तर्कादिलक्षणेन प्रत्यक्षेण परिच्छिन्नम्। 'स एवायं घटो यो मया पूर्वमुपलब्धः' इति प्रत्यभिज्ञया पूर्वानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन्द्रियप्रभवया पूर्वापरकालाकलनया घटस्य स्थायित्वपरिच्छेदादिति।

एते चासिद्धादयः पञ्च हेत्वाभासा यथाकथंचित् पक्षधर्मत्वाद्यन्यतमरूपहीनत्वाद् अहेतवः स्वसाध्यं न साधयन्तीति।

येऽपि लक्षणस्य केवलव्यतिरेकिहेतोः त्रयो दोषा अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असंभवास्तेऽप्यत्रैवान्तर्भवन्ति, न तु ते पञ्चभ्योऽधिकाः। तथाहि अतिव्याप्तिः व्याप्यत्वासिद्धिः विपक्षमात्रादव्यावृत्तत्वात् सोपाधिकत्वाच्च। यथा गोलक्षणस्य पशुत्वस्य। गोत्वे हि सास्नादिमत्त्वं प्रयोजकं, न तु पशुत्वम्। तथा अव्याप्तिः भागासिद्धत्वम्। यथा गोलक्षणस्य शाबलेयत्वस्य। एवम् असम्भवोऽपि स्वरूपासिद्धिः। यथा गोलक्षणस्यैकशफत्वस्येति।

लक्षण के दोष भी हेत्वाभास ही हैं—

कालात्यापदिष्ट का एक दूसरा प्रकार भी है, जैसे—

घटपक्षक, क्षणिकत्वसाध्यक, सत्त्वहेतुक बौद्धोक्त अनुमान में सत्त्व हेतु कालात्यापदिष्ट है, क्यों कि इस अनुमान में क्षणिकत्व साध्य है, उसका अभाव है अक्षणिकत्व, वह घटमें पूर्वापरकाल के सम्बन्ध को ग्रहण करने वाले प्रत्यभिज्ञात्मक प्रत्यक्ष से सिद्ध है। 'स एवायं घटः यो मया पूर्वमुपलब्धः—यह वही घट है जिसे मैंने पहले देखा है' यह प्रत्यभिज्ञा उस घट के पूर्वानुभव से उत्पन्न संस्कार के सहयोग से इन्द्रियद्वारा उत्पन्न होती है और घट में पूर्वकाल और उत्तरकाल के सम्बन्ध को भी ग्रहण करती है। अतः इस प्रत्यभिज्ञात्मक प्रत्यक्ष से घट के स्थायित्व का निश्चय होने में कोई बाधा नहीं होती।

उक्त असिद्ध आदि पांचों हेत्वाभास सपक्षसत्त्व आदि रूपों में अन्यतम रूप से हीन होने के कारण अहेतु होते हैं और इसी लिये अपने साध्यका साधन नहीं कर पाते।

लक्षण से लक्ष्य में इतर भेद—अलक्ष्यभेद का अनुमान होता है। यह केवलव्यतिरेकी हेतु होता है। अतः जैसे अन्य अनुमानों के हेतु में होने वाले दोष हेत्वाभास कहे जाते हैं उसी प्रकार लक्षणात्मक हेतु के दोषों को भी हेत्वाभास कहना उचित है। लक्षणात्मक हेतु में तीन प्रकार के दोष होते हैं—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। इनमें अतिव्याप्ति को व्याप्यत्वासिद्धि, अव्याप्ति को भागासिद्धि और असम्भव को स्वरूपासिद्धि में अन्तर्भूत कर उन्हें इन नामों से व्यवहृत किया जा सकता है जैसे—

अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्याऽर्थान्तरं परिकल्प्य दूषणाभिधानं छलम्। यथा 'नवकम्बलोऽयं देवदत्तः' इति वाक्ये नूतनाभिप्रायेण प्रयुक्तस्य नवशब्द-स्यार्थान्तरमाशङ्क्य कश्चिद् दूषयति। नाऽस्य नव कम्बलाः सन्ति दरिद्रत्वात्। न ह्यस्य द्वयमपि संभाव्यते। कुतो नव इति?। स च वादी छलवादितया ज्ञायते।

अतिव्याप्ति—

अलक्ष्य में लक्षणगमन का नाम है 'अतिव्याप्ति'। अलक्ष्य इतरभेद–अलक्ष्यभेदरूप साध्य से शून्य होने के कारण इतरभेदानुमान में विपक्ष होता है, अतः कोई लक्षण यदि अलक्ष्यगामी होता है तो वह विपक्षवृत्ति हो जाता है। विपक्षवृत्ति हो जाने से उसमें विपक्षावृत्तित्व–साध्याभाववदवृत्तित्वरूप व्याप्ति की सिद्धि नहीं हो पाती। इस प्रकार अलक्ष्य में लक्षण की अतिव्याप्ति का अर्थ हो जाता है लक्षणात्मक हेतु में इतरभेदात्मक साध्य की व्याप्यत्वासिद्धि। जैसे गौ का लक्षण यदि किया जाय 'पशुत्व'। तो यह लक्षण अलक्ष्य महिषी आदि में रहने से विपक्षव्यावृत्त न होगा। अतः वह स्वयं 'गोत्व' का प्रयोजक न हो कर उसके प्रयोजक 'सास्नादि' से सोपाधि हो जायगा। सोपाधि होने से उसका व्याप्यत्वासिद्ध होना अनिवार्य है।

अव्याप्ति—

अव्याप्ति का अन्तर्भाव भागासिद्धि में होता है, क्यों कि लक्ष्य के एक भाग में लक्षण के असम्बन्ध का नाम है 'अव्याप्ति' और पक्ष के एकभाग में हेतु के असम्बन्ध का नाम है 'भागासिद्धि'। इतरभेदानुमान में लक्ष्य पक्ष होता है, लक्षण हेतु होता है, अतः लक्ष्य के एकभाग में लक्षण के अभाव के पक्ष के एकभाग में हेतु का अभावरूप होने से अव्याप्ति की भागासिद्धिरूपता स्पष्ट है। जैसे गौ का लक्षण यदि किया जाय 'शाबलेयत्व'—चित्रत्व, तो यह लक्षण अव्याप्त या भागासिद्ध होगा, क्यों कि यह लक्षण सपूर्ण गौ में न रह कर केवल चित्र गौ में ही रहता है। अतः लक्ष्यरूप पक्ष के एक भाग में असिद्ध है।

असम्भव—

असम्भव का अन्तर्भाव स्वरूपासिद्धि में होता है, क्यों कि सम्पूर्ण लक्ष्य में लक्षण के अभाव को 'असम्भव' कहा जाता है। और सम्पूर्ण पक्ष में हेतु के अभाव को स्वरूपासिद्धि कहा जाता है। असम्भवस्थल में इतरभेदानुमान में सम्पूर्ण लक्ष्यात्मक पक्ष में लक्षणात्मक हेतु का अभाव होता है अतः असम्भव और स्वरूपासिद्धि का ऐक्य स्पष्ट है। जैसे गौ का एकशफत्व—एक खुरका होना—लक्षण किसी भी गौ में न रहने से असम्भवग्रस्त है और इसी लिये लक्ष्यात्मक पक्ष में इतरभेद के अनुमान में स्वरूपासिद्ध है।

असदुत्तरं जातिः। सा च उत्कर्षसमा-अपकर्षसमा-आदिभेदेन बहुविधा। विस्तरभिया नेह कृत्स्नोच्यते। तत्राऽव्याप्तेन दृष्टान्तगतधर्मेण साध्ये पक्षे अव्यापकधर्मस्याऽपादनम् उत्कर्षसमा जातिः। यथा 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद्, घटवद्' इत्युक्ते, कश्चिदेवमाह 'यदि कृतकत्वेन हेतुना घटवच्छब्दोऽनित्यः स्यात्, तर्हि तेनैव हेतुना तद्वदेव शब्दः सावयवोऽपि स्यात्'।

अपकर्षसमा तु दृष्टान्तगतेन धर्मेणाऽव्याप्तेनाऽव्यापकस्य धर्माभावस्याऽपादनम्। यथा पूर्वस्मिन् प्रयोगे कश्चिदेवमाह 'यदि कृतकत्वेनं हेतुना घटवच्छब्दोऽनित्यः स्यात्, तेनैव हेतुना घटवदेव हि शब्दः श्रावणोऽपि न स्यात। न हि घटः श्रावण' इति।

छल—

एक अर्थ के तात्पर्य से प्रयुक्त किये गये शब्द के किसी दूसरे अर्थ की कल्पना कर किये जाने वाले दोषकथन को 'छल' कहा जाता है। जैसे 'नवीन' अर्थ के तात्पर्य से 'नव' शब्द का प्रयोग करते हुये कोई व्यक्ति देवदत्त के बारे में कहता है—'नवकम्बलोऽयं देवदत्तः—देवदत्त के पास नया कम्बल है'। इस कथन को सुन कर दूसरा व्यक्ति यदि 'नव' शब्द के 'नवसंख्याक' अर्थ को ग्रहण कर उक्त कथन में इस प्रकार दोष बताता है कि 'देवदत्त तो दरिद्र है, उसके पास तो दो कम्बल भी सम्भव नहीं हैं, तो फिर उसके पास नव कम्बल कैसे होंगे? अतः यह कहना असत्य है कि 'देवदत्त के पास नव कम्बल हैं'। छल में उक्त लक्षणानुसार यह दोषकथन 'छल' है। किसी के कथन में इस प्रकार अपने मन-गढ़न्त अर्थ की कल्पना कर दोष बताने वाला व्यक्ति छलवादी समझा जाता है।

न्यायसूत्र में उसका लक्षण किया गया है 'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्'—अर्थविकल्प—अर्थभेद को ग्रहण कर वादी के वचन का जो खण्डन किया जाता है उसका नाम है 'छल'। सूत्रकार ने उसके तीन भेद बताये हैं—वाक्छल, सामान्यच्छल और उपचारच्छल।

यह ग्रन्थ न्यायशास्त्र में बालकों के प्रवेश के लिये रचित है अतः उन पर अधिक बोझ न पड़े, इस दृष्टि से उन भेदों का वर्णन इस ग्रन्थ में नहीं किया गया।

जाति—

असद् उत्तर को 'जाति' कहा जाता है। उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा आदि उसके अनेक भेद हैं। न्यायसूत्र में उसका लक्षण किया गया है—'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः'—किसी वादी-द्वारा प्रयुक्त पक्ष का जब केवल साधर्म्य अथवा केवल वैधर्म्य के बल से खण्डनात्मक उत्तर दिया जाता है तब वह उत्तर 'जाति' नामक उत्तर होता है'।

परोक्त हेतु में जायमान होने से उसे 'जाति' शब्द से अभिहित किया जाता है। उसके चौबीस भेद बताये गये हैं। जैसे—

(१) साधर्म्यसमा (२) वैधर्म्यसमा (३) उत्कर्षसमा (४) अपकर्षसमा (५) वर्ण्यसमा (६) अवर्ण्यसमा (७) विकल्पसमा (८) साध्यसमा (९) प्राप्तिसमा (१०) अप्राप्तिसमा (११) प्रसङ्गसमा (१२) प्रतिदृष्टान्तसमा (१३) अनुत्पत्तिसमा (१४) संशयसमा (१५) प्रकरणसमा (१६) हेतुसमा (१७) अर्थापत्तिसमा (१८) अविशेषसमा (१९) उपपत्तिसमा (२०) उपलब्धिसमा (२१) अनुपलब्धिसमा (२२) नित्यसमा (२३) अनित्यसमा (२४) कार्यसमा।

न्यायदर्शन के पांचवें अध्याय के प्रथम आह्निक में इन सबों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। विस्तार के भय से उन सबों का प्रतिपादन न कर 'तर्कभाषा' में उनमें से केवल दो उत्कर्षसमा और अपकर्षसमा के लक्षण और उदाहरण प्रदर्शित किये गये हैं, जो इस प्रकार हैं।

उत्कर्षसमा—

दृष्टान्त में रहने वाले अव्याप्यधर्म से साध्य—अनुमितिविशेष्यत्वेन अभिमत पक्ष में अव्यापकधर्म के आपादन का नाम है 'उत्कर्षसमा'। जैसे—'शब्दः अनित्यः, कृतकत्वाद्, घटवत्—शब्द अनित्य है, कृतक—उत्पन्न होने से, घट के समान'। इस प्रकार के अनुमान का प्रयोग होने पर उसके खण्डन की बुद्धि से यदि कोई यह कहे कि 'यदि कृतकत्व हेतु से शब्द के समान घट अनित्य है, तो उसी हेतु से उसे घट के समान सावयव भी होना चाहिये' क्यों कि इस बात का कोई नियामक नहीं है कि घट में अनित्यत्व और सावयवत्व दोनों के साथ समानरूप से रहने वाला कृतकत्व शब्द में अपने एक साथी अनित्यत्व को ही लेकर रहे और दूसरे साथी सावयवत्व को छोड़ दे। तो उसका यह कथन कृतकत्व से घट में अनित्यत्वानुमान के विरोध में दिया गया असद् उत्तर होगा। इसे 'उत्कर्षसमा' इस लिये कहा जाता है कि इससे घट में एक नये धर्म सावयवत्व के आपादन से घट में उत्कर्ष का आपादन होता है, और कृतकत्व हेतु अनित्यत्व और सावयवत्व दोनों का साधन करने में समान है।

दृष्टान्तमें रहने वाले अव्याप्य धर्म से अव्यापकीभूत धर्माभाव के आपादन का नाम है 'अपकर्षसमा'। जैसे 'शब्दः अनित्यः, कृतकत्वाद, घटवत्—शब्द अनित्य है, कृतक होने से, घटके समान'। इस पूर्वोक्त प्रयोग के सम्बन्ध में यदि कोई ऐसा कहे कि 'कृतकत्व हेतु से घट के समान शब्द यदि अनित्य है—शब्द में नित्यत्व का अभाव है तो उसी हेतु से घटके समान उसे अश्रावण भी होना चाहिये, उसमें श्रोत्रग्राह्यत्व का अभाव भी होना चाहिये, क्यों कि घट जैसे अनित्य है वैसे ही श्रोत्र से अग्राह्य भी

है, और इस बात का कोई नियामक नहीं है कि दृष्टान्तभूत घट में रहने वाला कृतकत्व अपने साथी घट के अनित्यत्व और अश्रावणत्व दो धर्मों में से एक (अनित्यत्व) को अपने साथ शब्द में ले जाय और दूसरे (अश्रावणत्व) को अपने साथ वहां न ले जाय'। तो उसका यह कथन कृतकत्व हेतु से घट में अनित्यत्वानुमान के विरोध में दिया गया असद् उत्तर होगा। इस असद् उत्तर को 'अपकर्षसमा जाति' के नाम से व्यवहृत किया जाता है। इसे 'अपकर्षसमा' शब्द से अभिहित करने का कारण यह है कि इससे शब्द में उसी के धर्म श्रावणत्व के अभाव का आपादन होने से उसमें अपकर्ष का—न्यूनता का आपादन होता है तथा वह (आपादक कृतकत्व) अनित्यत्व और श्रावणत्व दोनों का सम साथी है।

प्रश्न हो सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ मुख्यतया 'न्यायदर्शन' के अनुसार रचित है, और 'न्यायदर्शन' में 'साधर्म्यसमा' आदि के क्रम से 'जाति' उत्तरों का परिगणन कर उसी क्रम से उनके लक्षण और उदाहरण प्रदर्शित किये गये हैं, अतः इस ग्रन्थ में भी उसी क्रम का अनुसरण करना उचित था, किन्तु ऐसा न कर इस में 'उत्कर्षसमा' आदि के क्रम से परिगणन, लक्षण और उदाहरणों का प्रदर्शन किया गया है। तो ऐसा करने में ग्रन्थकार का क्या आशय है ?

उत्तर में कहा जा सकता है कि अन्य सभी 'जाति' उत्तरों की अपेक्षा 'उत्कर्षसमा' और 'अपकर्षसमा' का असद् उत्तरत्व सुस्पष्ट है, क्यों कि उनके नामों से ही विदित हो जाता है कि उनसे पक्ष में अनभीष्ट उत्कर्ष और अपकर्ष का आपादन होता है। अतः असद् उत्तर का निरूपण करते समय यह स्वाभाविक है कि जिसका असद्-उत्तरत्व सुस्पष्ट हो उसका उल्लेख एवं निरूपण पहले हो और अन्योंका बाद में हो।

इस उत्तर पर यह शङ्का हो सकती है कि तो फिर सूत्रकार ने इस स्वाभाविक औचित्य की उपेक्षा क्यों की ? इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि सूत्रकार ने 'जाति'का लक्षण किया है 'साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः'। अतः जब 'जाति' के विभाजन और विशेष रूप से निरुपण का अवसर आया तब उन्हें उक्त लक्षण का स्मरण हो आया। इसलिए लक्षण के प्राणभूत अंश साधर्म्य और वैधर्म्य के नाम से अभिहित होने वाले 'जाति' उत्तरों का पहले उल्लेख और निरूपण करना उचित समझ उन्होंने साधर्म्यसमा और वैधर्म्यसमा का प्रतिपादन पहले किया और असद् उत्तरत्व की सुस्पष्टता के कारण उन दोनों के बाद 'उत्कर्ष समा' आदि का ही प्रतिपादन किया।

तर्कभाषाकार ने 'असदुत्तरं जातिः' यह लक्षण किया है, अतः उन्होंने असदुत्तरत्व की सुस्पष्टता को ही आधार मान 'उत्कर्षसमा' आदि का प्रतिपादन पहले किया।

पराजयहेतुः निग्रहस्थानम्। तच्च न्यून-अधिक-अपसिद्धान्त-अर्थान्तर-अप्रतिभा-मतानुज्ञा-विरोध-आदिभेदाद् बहुविधमपि विस्तरभयान्नेह कृत्स्नमुच्यते। यद्विवक्षितार्थे किञ्चिदूनं तन्न्यूनम्। विवक्षितात् किञ्चिदधिकम् अधिकम्। सिद्धान्तादपध्वंसः अपसिद्धान्तः। प्रकृतेनानभिसम्बन्धार्थवचनम् अर्थान्तरम्। उत्तरापरिस्फूर्तिः अप्रतिभा। पराभिमतस्यार्थस्य स्वप्रतिकूलस्य स्वयमेवाभ्यनुज्ञानं स्वीकारो मतानुज्ञा। इष्टार्थभङ्गो विरोधः।

फिर प्रश्न हो सकता है कि उक्त कारणसे 'उत्कर्षसमा' आदि के क्रमसे ही 'जाति' उत्तरों का निरूपण भले हो पर निरूपण तो सबका किया जाना चाहिये था, किन्तु वैसा न करके केवल दो ही का निरूपण कर उस प्रकरण को ही समाप्त कर दिया गया है, तो ऐसा क्यों किया गया ? इसके उत्तर में यह कहना उचित प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ न्यायशास्त्र में बालकों के प्रवेशार्थ ही निर्मित है। अतः सभी अवान्तर विषयों के अविकल वर्णन को आवश्यक न समझ कर 'जाति' का परिचय दे उसके दो मुख्य अवान्तर भेदों का वर्णन कर विस्तार के भय से अन्यों की ओर संकेतमात्र कर दिया गया है।

'जाति' के विषय में अन्य मत—

न्यायदर्शन के समान अन्य दर्शनों में भी 'जाति' को असदुत्तर माना गया है और उसके अवान्तर भेदों की संख्या न्यायदर्शन में स्वीकृत संख्या से अधिक मानी गयी है। जैसे बौद्धदर्शन में (१) कार्यभेद (२) अनुक्ति, तथा (३) स्वार्थविरुद्ध, यह तीन अधिक हैं। जैनदर्शनमें (१) भेदाभेद (२) प्रश्नबाहुल्य-उत्तराल्पता (३) प्रश्नाल्पता-उत्तरबाहुल्य (४) हेतुसम (५) व्याप्तिसम (७) विरुद्ध (८) अविरुद्ध (९) असंशय (१०) श्रुतिसम और (११) श्रुतिभिन्न, ये ग्यारह अधिक हैं। इस विषयमें विशेष जानकारी के लिए बौद्धदर्शन के 'प्रामाण्य समुच्चय' और जैनदर्शन के 'उपाय-हृदय' आदि ग्रन्थों का अवलोकन किया जाना चाहिये।

निग्रहस्थान—

'निग्रहस्थान' का अर्थ है 'पराजय की स्थिति'। जिस स्थिति में पहुंचने पर, जिस बात को कहने पर मनुष्य पराजित समझा जाता है, उसका नाम है 'निग्रहस्थान'। इसी आधार पर उसका लक्षण किया गया है 'पराजयहेतुः निग्रहस्थानम्'—पराजय का हेतु निग्रहस्थान है।

न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त, अर्थान्तर, अप्रतिभा, मतानुज्ञा, विरोध आदि के रूप में उसके बहुत भेद हैं। जैसा कि न्यायदर्शन, पञ्चम अध्याय, द्वितीय आह्निक, प्रथम सूत्र में निम्न प्रकार से कहा गया है—

(१) प्रतिज्ञाहानिः (२) प्रतिज्ञान्तरम् (३) प्रतिज्ञाविरोधः (४) प्रतिज्ञासंन्यासः (५) हेत्वन्तरम् (६) अर्थान्तरम् (७) अविज्ञातार्थम् (८) अपार्थकम् (९) अप्राप्तकालम् (१०) न्यूनम् (११) अधिकम् (१२) पुनरुक्तम् (१३) अननुभाषणम् (१४) अज्ञानम् (१५) अप्रतिभा (१६) विक्षेपः (१७) मतानुज्ञा (१८) पर्यनुयोज्योपेक्षणम् (१९) निरनुयोज्यानुयोगः (२०) अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासाः—(२१) अनैकान्तिकः—सव्यभिचारः (२२) विरुद्धः (२३) असिद्धः (२४) सत्प्रतिपक्षः (२५) कालात्ययापदिष्टः—बाधितः ।

न्यायदर्शन १।१।६१ में इन सबका यह सामान्यलक्षण किया गया है कि 'विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् '—विप्रतिपत्ति—विनिन्दित प्रतिपत्ति–ज्ञान और अप्रतिपत्ति–प्रतिपत्ति का अभाव अर्थात् साधनाभास और दूषणाभास में साधनत्व और दूषणत्व का ज्ञान तथा अपने हेतु में प्रतिवादी द्वारा उद्भावित दोषों के परिहार का अज्ञान 'निग्रहस्थान' है ।

इस ग्रन्थ में विस्तार के भय से उपर्युक्त सभी निग्रहस्थानों का प्रतिपादन न कर उनमें से 'न्यून' आदि केवल सात निग्रहस्थानों का ही प्रतिपादन किया गया है, जो निम्न प्रकार से है ।

न्यून—

विवक्षित अर्थ को पूरा न कह कर कुछ कम कहने का नाम है 'न्यून' । न्यायदर्शन में इसका लक्षण किया गया है 'हीनम् अन्यतमेनापि अवयवेन न्यूनम्' न्या-द० ५, २, १२ । इसका आशय यह है कि किसी पक्ष के साधनार्थ 'प्रतिज्ञा' आदि पांचों न्यायावयवों का प्रयोग आवश्यक होता है, अतः जब कभी उनमें से किसी एकका प्रयोग नहीं किया जाता तो प्रयोक्तव्य न्यायवाक्य में न्यूनता–कमी हो जानेसे 'न्यून' नामक निग्रहस्थान होता है । ऐसा करने वाला वादी पराजित मान लिया जाता है ।

अधिक—

जितना अर्थ विवक्षित है उससे कुछ अधिक कहने का नाम है 'अधिक' । न्यायदर्शनमें इसका लक्षण किया गया है 'हेतूदाहरणाधिकम् अधिकम्' ५।२।१३ । आशय यह है कि किसी पक्ष का साधन करने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले न्यायवाक्य के प्रयोग में एक ही 'हेतु' और एक ही 'उदाहरण'का प्रयोग उचित माना जाता है, अतः जब कभी न्याय का प्रयोग करते हुए दो 'हेतु' अथवा दो 'उदाहरण' का प्रयोग कर दिया जाता है, तब 'अधिक' नामक निग्रहस्थान होता है । ऐसा प्रयोग करने वाला वादी भी पराजित माना जाता है ।

अपसिद्धान्त—

स्वीकृत सिद्धान्त से च्युत होने का नाम है 'अपसिद्धान्त'।

न्यायदर्शनमें इसका लक्षण किया गया है 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य अनियमात् कथा-प्रसङ्गः अपसिद्धान्तः ५।२।२४। आशय यह है कि कथा—विचारविनिमय प्रारम्भ होने के पूर्व अपना कोई सिद्धान्त घोषित कर यदि नियम से उस सिद्धान्त के अनुसार कथा नहीं की जाती किन्तु कथा के बीच उसे त्याग दिया जाता है तो 'अपसिद्धान्त' नामक निग्रहस्थान होता है।

अर्थान्तर—

जिस अर्थ का कहना अभीष्ट है, उसे न कह कर किसी अन्य अर्थ को कहने का नाम है 'अर्थान्तर'।

न्यायदर्शन में इसका लक्षण किया गया है 'प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धम् अर्थान्तरम्' ५।२।७। प्रकृत अर्थ से असम्बद्ध अर्थ का कथन 'अर्थान्तर' है। किसी पक्ष को सिद्ध करने के लिए किसी हेतु का प्रयोग करने पर उस हेतु के सम्बन्ध में कुछ कहना प्रकृत है—अभीष्ट है, किन्तु उस हेतु के विषय में कुछ न कह कर यदि 'हेतु' इस शब्द की सिद्धि बतायी जानी लगे या और कुछ असम्बद्ध बात कही जानी लगे तो 'अर्थान्तर' नामक निग्रहस्थान होता है। कथा में इस प्रकार बोलने वाला वादी पराजित समझा जाता है।

अप्रतिभा—

उत्तर न सूझने का नाम है 'अप्रतिभा'।

न्यायदर्शन में इसका लक्षण किया गया है 'उत्तरस्य अप्रतिपत्तिः अप्रतिभा' ५।२।१९। जब वादी अपनी स्थापना के खण्डन में कही गयी बातों का उत्तर नहीं दे पाता अथवा दूसरे की स्थापना में दोष प्रदशन नहीं कर पाता तब उसकी 'अप्रतिभा' समझी जाती है। ऐसी स्थिति में वादी 'अप्रतिभा' नामक निग्रहस्थान में आ जाने से पराजित माना जाता है।

मतानुज्ञा—

दूसरे को अभिमत और अपने को अनभिमत अर्थ को स्वयं स्वीकार कर लेने का नाम है 'मतानुज्ञा'।

न्यायदर्शन में इसका लक्षण किया गया है 'स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा' ५।२।२१। इसका आशय यह है कि जब वादी अपने पक्ष में प्रदर्शित किये गये दोष का उद्धार न कर दूसरे के पक्ष में दोष का प्रदर्शन करने लगता है तब ऐसा

मान लिया जाता है कि उसने अपने पक्ष में प्रदर्शित किये गये दोषों को स्वीकार कर लिया। अतः ऐसा करने वाला वादी 'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान में आजाने से पराजित समझा जाता है।

विरोध —

अपने अभीष्ट अर्थ का स्वयं खण्डन कर देने का नाम है 'विरोध'। न्यायदर्शन में इसे 'प्रतिज्ञाविरोध' नाम से अभिहित कर इसका लक्षण किया गया है 'प्रतिज्ञाहेत्वोः विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः' ५।२।४। आशय यह है कि जब वादी प्रतिज्ञावाक्य-द्वारा कहे गये अर्थ के विरुद्ध अर्थ का हेतुवाक्यद्वारा कथन करता है तब 'प्रतिज्ञाविरोध' नामक निग्रहस्थान होता है। ऐसा करनेवाला वादी अपने इष्ट अर्थ का स्वयं खण्डन कर देने के कारण 'विरोध' नामक निग्रहस्थान में आजाने से पराजित समझा जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि न्यायदर्शन के अनुसार 'प्रतिज्ञाहानि' 'प्रतिज्ञान्तर' आदि के क्रम से निग्रहस्थानों का निर्देश न कर 'न्यून', 'अधिक' आदि के क्रम से उनके निर्देश करने तथा 'प्रतिज्ञाहानि' आदि का लक्षण न बता कर 'न्यून' आदि का लक्षण बताने में ग्रन्थकार का क्या अभिप्राय है ? उत्तर में कहा जा सकता है कि विस्तारभय से समस्त निग्रहस्थानों का वर्णन न कर कुछ ही निग्रहस्थानों का वर्णन करना अभीष्ट है। अतः जिनका निग्रहस्थानत्व सुस्पष्ट हो उन्हीं का वणन करना उचित है। 'प्रतिज्ञाहानि' आदि की अपेक्षा 'न्यून' आदि निग्रहस्थानों का निग्रहस्थानत्व अधिक सुस्पष्ट है, इस लिये 'प्रतिज्ञाहानि' आदि का वर्णन न कर 'न्यून' आदि का ही वर्णन किया गया।

पुनः प्रश्न हो सकता है कि सूत्रकार ने इस औचित्य की उपेक्षा कर 'प्रतिज्ञाहानि' आदि के क्रम से निग्रहस्थानों का प्रतिपादन क्यों किया ? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि निग्रहस्थान 'न्यायवाक्य' पर आधारित होते हैं और 'प्रतिज्ञा' उसका प्रथम अवयव है अतः जो निग्रहस्थान 'प्रतिज्ञा' से सीधे सम्बद्ध हो उनके निरूपण को प्राथमिकता प्रदान करना उचित है। बस, इसी दृष्टि से सूत्रकार ने 'प्रतिज्ञाहानि' आदि के क्रम से निग्रहस्थानों का निरूपण किया है।

न्यायदर्शन के समान अन्य दर्शनों में भी निग्रहस्थानों को मान्यता दी गई है। बौद्धदर्शन के विश्रुत आचार्य 'धर्मकीर्ति' ने तथा जैनदर्शन के प्रसिद्ध आचार्य 'अकलङ्कदेव' ने इनके सम्बन्ध में कुछ मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं, जिनके कारण निग्रहस्थान के विषय में वैदिकन्याय, बौद्धन्याय और जैनन्याय की स्वतन्त्र तीन परम्परायें प्रतिष्ठित हो चुकी हैं। आयुर्वेद की 'चरकसंहिता' में भी इस विषय का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु उससे किसी स्वतन्त्र परम्परा की प्रतिष्ठा नहीं मानी जा सकती क्योंकि उसका प्रतिपादन न्यायदर्शन के प्रतिपादन में ही अन्तर्भुक्त हो जाता है।

छल, जाति, निग्रहस्थान के प्रयोजन—

प्रश्न यह होता है कि न्यायशास्त्र की रचना तो मोक्ष के साधन तत्त्वज्ञान के सम्पादनार्थ हुई है। अतः उसके सम्पादन में जिन विषयों का ज्ञान अपेक्षित हो, इस शास्त्र में उन्हीं विषयों का प्रतिपादन करना उचित है। इस लिये छल आदि से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में कोई सहायता न मिलने से उनका प्रतिपादन क्यों किया गया ? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि छल, जाति और निग्रहस्थान जल्प एवं वितण्डा के अङ्ग हैं। जैसा कि उनके निम्न लक्षण से प्रकट है—

'यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः'

न्या. द. १।२।२।

तथा

'स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा'

न्या. द. १।२।३।

इन लक्षणों के अनुसार जल्प और वितण्डा कथायें छल, जाति तथा निग्रहस्थानों से सम्पादित होती हैं, अतः जल्प और वितण्डा का जो प्रयोजन होगा, वही छल आदि का भी प्रयोजन हो सकता है। वह प्रयोजन है 'तत्त्वज्ञान का संरक्षण'। जैसा कि न्यायदर्शन के निम्न सूत्र से स्पष्ट है—

'तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्'

४।२।४७।

तत्त्वज्ञान के संरक्षण के लिये जल्प और वितण्डा कथायें ठीक उसी प्रकार उपादेय हैं जिस प्रकार नवजात बीजाङ्कुर की रक्षा के लिये कंटीली डालों की बाड़ उपादेय होती है।

जल्प और वितण्डा का यह 'तत्त्वज्ञानसंरक्षण' रूप प्रयोजन ही उनके अङ्गभूत छल आदि का प्रयोजन है। अतः इस प्रयोजन के निर्वाहार्थ ही छल आदि के प्रतिपादन को आवश्यक समझ कर न्यायदर्शन में एवं तदनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्हें समाविष्ट किया गया है।

न्यायभाष्य में 'वात्स्यायन' ने न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में छल आदि के प्रयोजन का प्रतिपादन एक दूसरे प्रकार से किया है, जो निम्नाङ्कित है।

'छलजातिनिग्रहस्थानानां पृथगुपदेश उपलक्षणार्थमिति। उपलक्षितानां स्ववाक्ये परिवर्जनम्, छलजातिनिग्रहस्थानानां परवाक्ये पर्यनुयोगः, जातेश्च परेण प्रयुज्यमानायाः सुलभः समाधिः, स्वयं च सुकरः प्रयोग इति'।

छल, जाति और निग्रहस्थान का स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादन उनके उपलक्षण—ज्ञान के लिये किया गया है। जब वे ज्ञात रहेंगे तब अपने वाक्य में उनका त्याग किया जा सकेगा और प्रतिपक्षी के वाक्य में उनका पर्यनुयोग-प्रदर्शन किया जा सकेगा। यदि अपने वाक्य में अन्यद्वारा 'जाति' का मिथ्या प्रदर्शन होगा तो उसकी जानकारी रहने पर सरलता से उसका समाधान किया जा सकेगा। अपने वाक्य में उसके अभाव का प्रतिपादन किया जा सकेगा, और अपनी ओर से प्रतिपक्षी के वाक्य में उनका प्रदर्शन करने पर यदि प्रतिपक्षी द्वारा अथवा मध्यस्थद्वारा यह पूछा जाय कि अमुक वाक्य में कौन सी जाति है ? और वह किस प्रकार है ? तो उसकी जानकारी रहने पर इस प्रश्न का समाधान सुकरता से प्रस्तुत किया जा सकेगा। इस प्रकार छल, जाति और निग्रहस्थानों के ज्ञान के सप्रयोजन होने से न्यायशास्त्र में तथा प्रस्तुत ग्रन्थ में उनके प्रतिपादन का औचित्य निर्विवाद है।

छल आदि के विषय में बौद्ध और जैन मत—

बौद्धदर्शन के आचार्यधुरीण 'धर्मकीर्ति' ने अपने 'वादन्याय' ग्रन्थ में तथा जैन-दर्शन के परमोच्च आचार्य 'हेमचन्द्र' ने अपने 'प्रमाणमीमांसा' ग्रन्थ में छल आदि के उक्त प्रयोजन की निस्सारता बताते हुये उनके कथाङ्गत्व का मार्मिक निराकरण किया है। 'धर्मकीर्ति' के 'वादन्याय' का निम्न वचन ध्यान देने योग्य है—

'तत्त्वरक्षणार्थं सद्भिरुपहर्तव्यमेव छलादि विजिगीषुभिरिति चेत्, नख, चपेट, शस्त्रप्रहार, दीपनादिभिरपीति वक्तव्यम्। तस्मान्न ज्यायानयं तत्त्वरक्षणोपायः'।

यह कहना, कि तत्त्ववेत्तावों को तत्त्व के रक्षण के लिये और विजयेच्छुवों को विजय के लिये छल आदि का प्रयोग करना चाहिये, उचित नहीं है, क्यों कि यदि यही लक्ष्य हो कि किसी भी प्रकार प्रतिपक्षी के कथन का खण्डन कर तत्त्व की रक्षा और विजय की प्राप्ति करनी चाहिये, तब तो जैसे छल आदि के प्रयोग को वैध कहा गया है उसी प्रकार नख से खरोचने, चपत लगाने, शस्त्र से आघात करने, आग लगा देने आदि को भी वैध कहना चाहिये, क्यों कि उन उपायों से भी प्रतिपक्षी को मूक कर तत्त्व की रक्षा और विजय की प्राप्ति की जा सकती है। अतः छल आदि के प्रयोग को तत्त्वरक्षण का प्रशस्त उपाय नहीं माना जा सकता।

आचार्य 'हेमचन्द्र' की 'प्रमाणमीमांसा' का यह वचन भी स्मरणीय है कि—

'असदुत्तरैः परप्रतिक्षेपस्य कर्तुमयुक्तत्वात्। न हि अन्यायेन जयं यशो वा महात्मानः समीहन्ते'।

असद् उत्तरों से प्रतिपक्षी के कथन का खण्डन करना उचित नहीं है। क्यों कि भले लोग अन्याय से विजय अथवा यश की कामना नहीं करते।

बौद्ध और जैन आचार्यों की इस समीक्षा के अनुसार छल आदि की अनुपादेयता प्रतीत होने से ऐसा लगता है कि न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम में उच्च कोटि की वह चारित्रिकता, आत्मिक पवित्रता, आदर्शवादिता और सहिष्णुता नहीं थी जो एक तत्त्वदर्शी के लिये अनिवार्य है तथा जो बौद्ध, जैन दर्शन के तत्त्वज्ञ महापुरुषों में विद्यमान थी; क्यों कि उन्होंने तत्त्वज्ञान के संरक्षण और प्रतिपक्षी पर विजयलाभ के लिये छल आदि का प्रयोग करने का उपदेश दिया है। पर ऐसा सोचना उचित नहीं है, क्यों कि वात्स्यायन ने न्यायदर्शन, चतुर्थ अध्याय, द्वितीय आह्निक के उपर्युक्त सूत्र के भाष्य में निम्न बात कह कर उक्त प्रकार के आलोचन और आक्षेप की सम्भावना ही समाप्त कर दी है। उनका कथन इस प्रकार है—

'अनुत्पन्नतत्त्वज्ञानानाम् अप्रहीणदोषाणां तदर्थं घटमानानाम् एतदिति' जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, जिनका तत्त्वज्ञान अपरिपक्व है और जिनके राग, द्वेष, मोहरूप दोष नष्ट नहीं हुये हैं किन्तु तदर्थ प्रयत्नशील हैं, छल आदि के प्रयोग का यह उपदेश उन्हीं लोगों के लिये है।

आशय यह है कि जिनका तत्त्वज्ञान इतना अधिक दृढ़ हो चुका है कि वह प्रतिपक्षियों के लाख कुचेष्टा करने पर भी किञ्चिन्मात्र भी म्लान नहीं हो सकता, तथा जिन्होंने ने राग, द्वेष, मोहरूप दोषों पर पूर्ण विजय प्राप्त करली है, जिन्हें राग आदि के झोंके तनिक भी विचलित नहीं कर सकते, जिन्हें न विजय की कोई अकाङ्क्षा है और न पराजय की कोई चिन्ता है, यह उपदेश उनके लिए नहीं है, उन्हें तो छल आदि की छाया का भी स्पर्श न करना चाहिये, किन्तु जो इस उच्च स्थिति में नहीं पहुँचे हैं, जिनका तत्त्वज्ञान प्रतिपक्षियों के कुतर्कों से अभिभूत हो सकता है, जिन्हें विपक्षी पर विजय प्राप्त कर अपने तत्त्वज्ञान की गरिमा के प्रख्यापन की लालसा है, छल आदि के प्रयोग का उपदेश उन्हीं लोगों के लिए है, जिससे वे कुहेतु, कुतर्क आदि द्वारा परमतखण्डन और स्वमतस्थापन करने वाले प्रतिपक्षियों से 'जैसे को तैसा' 'यथा यक्षस्तथा बलिः' 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इत्यादि नीतियों के अनुसार पूर्ण रूप से निपट सकें।

इस सन्दर्भ में जो यह बात कही गयी कि शास्त्रीय विचारों में यदि छल आदि का प्रयोग मान्य होगा तो गाली देने, खरोचने, प्रहार करने, कपड़े उतार नंगा करने आदि को भी मान्य करना होगा, वह ठीक नहीं है, क्यों कि गाली आदि का प्रयोग लोकगर्हित है, किन्तु छल आदि का प्रयोग लोकगर्हित नहीं है, प्रत्युत वह बुद्धि की तीक्ष्णता और वाचिक प्रवीणता का द्योतक है। अतः दोनों को एक तुला पर रख कर दोनों के सम्बन्ध में एक प्रकार का निर्णय लेना उचित नहीं है। 'न्यायमञ्जरी' के जातिप्रकरण में 'जयन्तभट्ट' का यह कथन सर्वथा समीचीन है कि—

......असदुत्तरकथने कथं न चपेटादिकं प्रयुज्यते ?......तस्यात्यन्तमलौकिकत्वात् । लोको हि तदा एवं मन्यते—

नूनमेष न जानाति वक्तुं सदृशमुत्तरम् ।
अन्यथा वाचमुत्सृज्य पाणिना प्रहरेत् कथम् ? ॥
खेदयद् वादिनं यस्तु हस्तपादादिचापलैः ।
स संसद्युच्यते सद्भिर्भण्ड एव न पण्डितः ॥
जात्योपक्रममाणस्तु न तथैव विहस्यते ।
न हि सन्दूषणच्छाया तत्रात्यन्तमसङ्गता ॥
तन्न कौपीनवसनापासनादिसाम्यं जात्युत्तराणामिति ।

इस सन्दर्भमें इस तथ्यको ध्यानमें रखना आवश्यक है कि सुविज्ञ वादी को जाति उत्तर-वादीके प्रति भी समीचीन उत्तरका ही प्रयोग करना चाहिये, क्यों कि वैसा न करनेपर वादी कभी 'षट्पक्षी' कथाभास में पड़ सकता है और उस स्थिति में न तो वह अपने पक्ष की स्थापना में ही सफल हो सकता और न निग्रहस्थान से मुक्ति ही पा सकता । जैसा कि जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी के जातिप्रकरण में कहा है ।

वाच्यमुत्तरमतो निरवद्यं जातिवादिनमपि प्रति तज्ज्ञैः ।
कश्मलोत्तरगिरा न तु कार्या पक्षषट्कपरिकल्पनगोष्ठी ॥

षट्पक्षी—

'षट्पक्षी' निम्न:रीतिसे प्रवृत्त होती है ।

वादी अपने पक्षकी स्थापना इस प्रकार करता है—'शब्द अनित्य—नाशवान् है, प्रयत्नका कार्य होने से, घट के समान । यह कथा का प्रथम पक्ष है । इसे स्थापनापक्ष कहा जाता है ।

इसके खण्डनमें प्रतिवादी 'कार्यसमा' जातिका प्रयोग इस प्रकार करता है ।

प्रयत्नका कार्य होने से अनित्यता का साधन नहीं किया जा सकता, क्यों कि प्रयत्न के कार्य अनेक प्रकार के होते हैं । कोई प्रयत्न से उत्पाद्य होता है । और कोई प्रयत्न से प्रकाश्य होता है । जो प्रयत्न के पूर्व नहीं रहता किन्तु प्रयत्न के बाद अस्तित्व में आता है वह प्रयत्न से उत्पाद्य होता है, जैसे घट कुम्हारका प्रयत्न होने के पूर्व नहीं रहता, किन्तु कुम्हार के प्रयत्न के बाद अस्तित्व में आता है । अतः वह प्रयत्न से उत्पाद्य है । जो प्रयत्न के पूर्व भी रहता है किन्तु अनभिव्यक्त रहता है और प्रयत्न के बाद जिसकी अभिव्यक्ति होती है वह प्रयत्न से प्रकाश्य होता है । जैसे अन्धकार में स्थित घट प्रकाशसम्पादक प्रयत्न के पूर्व स्वरूपेण विद्यमान होते हुए भी अनभिव्यक्त रहता है और उस प्रयत्न के बाद अभिव्यक्त होता है । अतः वह प्रयत्न से प्रकाश्य है । शब्दको प्रयत्न के कार्य की

दूसरी श्रेणी में मान लेने पर उसमें प्रयत्नोत्पाद्यत्व नहीं सिद्ध होता और प्रयत्नोत्पाद्य न होने पर उसे अनित्य नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रयत्नोत्पाद्यत्व ही अनित्यत्व का साधक होता है। प्रयत्नप्रकाश्यत्व तो नित्य में भी सम्भव है। अतः अनित्यत्व का व्यभिचारी होने से वह उसका साधक नहीं हो सकता।

स्थापनापक्षके खण्डन में उपन्यस्त यह पक्ष कथा का द्वितीय पक्ष है। इसे प्रतिषेध कहा जाता है।

अब वादी अपने पक्ष में प्रदर्शित दोष का परिहार न कर प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रतिषेधपक्ष में यदि इस प्रकार दोष प्रदर्शन करता है कि—

जिस प्रकार स्थापना-हेतु प्रयत्नकार्यत्व प्रयत्नप्रकाश्यरूप प्रयत्नकार्य में अनित्यत्व का व्यभिचारी होने से अनित्यत्व का साधक नहीं हो सकता, उसी प्रकार प्रतिषेधहेतु व्यभिचारित्व भी व्याप्तिभ्रम से साधक व्यभिचारी में असाधकत्व का व्यभिचारी होने से असाधकत्व का साधक नहीं हो सकता, इस प्रकार स्थापनाहेतु और प्रतिषेधहेतु दोनों में व्यभिचारित्व अंश में कोई विशेष न होने से वादी का यह उत्तर 'अविशेषसमा' जाति होता है। यह कथा का तृतीय पक्ष है, इसे विप्रतिषेधपक्ष कहा जाता है।

इस तृतीय पक्ष के खण्डन में प्रतिवादी यदि यह कहता है कि इस प्रकार विचार करने पर तो व्यभिचारित्व में असाधकत्व की साधकता का भी खण्डन नहीं किया जा सकता क्योंकि व्यभिचारित्व जब असाधकत्वका व्यभिचारी है तब उससे जैसे प्रतिषेध हेतु में असाधकत्व का साधन नहीं हो सकता, उसी प्रकार उससे विप्रतिषेध हेतु में भी असाधकत्व की असाधकता का भी साधन नहीं हो सकता। तो प्रतिवादी का यह कथन भी 'अविशेषसमा' जाति होता है। यह कथा का चतुर्थ पक्ष है, इसे प्रतिषेधविप्रतिषेध पक्ष कहा जाता है।

इस चतुर्थ पक्ष के खण्डन में वादी प्रतिवादी के प्रति यदि यह कहे कि आप के प्रतिषेधहेतु में जो दोष बताया गया उसका उद्धार न कर मेरे विप्रतिषेध हेतु में जो आपने दोष प्रदर्शित किया, उससे प्रतीत होता है कि आपने अपने हेतु में बताये गये दोष स्वीकार कर लिये, तो वादीका यह कथन प्रतिवादी के लिये 'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान होगा। यह पञ्चम पक्ष है।

इस पञ्चम पक्ष के खण्डन में वादी के प्रति प्रतिवादी यदि यह कहे कि प्रतिषेधहेतु में आप द्वारा प्रदर्शित दोष का उद्धार न कर आप के विप्रतिषेधहेतु में दोष प्रदर्शन करने से यदि मुझे मतानुज्ञा की प्रसक्ति होती है तो उसी प्रकार स्थापनाहेतु में मेरे द्वारा प्रदर्शित दोष का उद्धार न कर आप ने भी मेरे प्रतिषेधहेतु में दोषोद्भावन किया है, अतः यह प्रतीत होता है कि आपको अपने स्थापनाहेतु में मेरे द्वारा प्रदर्शित किये गये दोष स्वीकार हैं। अतः आप को भी 'मतानुज्ञा' प्रसक्त है, तो प्रतिवादी का यह

इहाऽत्यन्तमुपयुक्तानां स्वरूपभेदेन भूयः प्रतिपादनम्। यदनतिप्रयोजनं तद-लक्षणमदोषाय। एतावतैव बालव्युत्पत्तिसिद्धेः।

इति श्रीकेशवमिश्रविरचिता 'तर्कभाषा' समाप्ता।

कथन वादी के लिये 'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान होगा। यह पक्ष वादी के विरुद्ध प्रस्तुत किया गया प्रतिवादी का षष्ठ पक्ष है।

इन छः पक्षों में यह सिद्ध हो जाता है कि प्रतिवादी के चतुर्थ और षष्ठ पक्ष एव वादी के तृतीय और पञ्चम पक्ष के वक्तव्यों में कोई अन्तर न होने से पुनरुक्ति दोष है और तृतीय एवं चतुर्थ में मतानुज्ञा है, तथा प्रथम और द्वितीय में विशेष-हेत्वभाव है। इसलिये वादी और प्रतिवादी दोनों के निग्रहस्थान में आ जाने से दोनों में किसी के भी पक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती। इसीलिये 'षट्पक्षी' को कथा न मानकर कथाभास माना गया है।

यह 'षट्पक्षी' उस समय होती है जब वादी अपने स्थापनाहेतु में बताये गये दोष का उद्धार न कर प्रतिवादी के प्रतिषेधहेतु में 'प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः' कह कर समानदोषत्व का प्रसञ्जन करता है, किन्तु यदि वह ऐसा न कर स्थापनाहेतु में बताये गये दोष का इस प्रकार परिहार करे कि शब्द में प्रयत्नप्रकाश्यत्वरूप प्रयत्नकार्यत्व नहीं है किन्तु प्रयत्नोत्पाद्यत्वरूप प्रयत्नकार्यत्व ही है, क्यों कि यदि वह प्रयत्नोपाद्य न होकर प्रयत्नप्रकाश्यमात्र होता तो उसकी अनभिव्यक्ति का कोई कारण अवश्य उपलब्ध होता, यतः वैसा कोई कारण उपलब्ध नहीं है अतः वह प्रयत्नप्रकाश्य न होकर प्रयत्नोत्पाद्य ही है और जब प्रयत्नोपाद्य है तो प्रयत्नोत्पाद्यत्वमें अनित्यत्व की व्याप्ति होने से उसके द्वारा शब्द के अनित्यत्वानुमान का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता। उसके आगे प्रतिवादी यदि और कुछ नहीं कह पाता तो वहीं—तृतीय पक्ष में ही कथा की समाप्ति हो जाती है।

प्रश्न होता है कि इस ग्रन्थ में बुद्धि, हेतु, हेत्वाभास आदि अनेक विषयोंका प्रतिपादन तो कई बार किया गया है, किन्तु छल, जाति, निग्रहस्थान के कतिपय अवान्तर भेदों की पूरी उपेक्षा कर दी गयी है, तो ऐसा करना ग्रन्थकार के लिये क्या अनुचित नहीं है? इस प्रश्नका ग्रन्थकार के ही शब्दों में यह उत्तर है कि जो पदार्थ अत्यन्त उपयुक्त हैं अर्थात् न्यायशास्त्र के गहन वन में प्रवेश करने के लिये जिन पदार्थों का ज्ञान अत्यन्त उपयोगी है। स्वरूपभेद से उनका बार-बार प्रतिपादन किया गया है और जिन पदार्थों के ज्ञान का वैसा कोई महान् प्रयोजन नहीं है उनका प्रतिपादन नहीं किया गया है। ऐसा करने में कोई दोष नहीं है, क्यों कि बालकों को न्यायशास्त्रोक्त पदार्थों की सामान्य व्युत्पत्ति कराने के लिये ही इस ग्रन्थ की रचना की गयी है और वह इतने से ही सम्पन्न हो जाती है।

—❀—

Vidya Singh
C/o
Shri Shamsher Singh
Vill. Dhanapur (West Kot)
P.O. Dhanapur
Varanasi